

THE FREE INDOLOGICAL COLLECTION

WWW.SANSKRITDOCUMENTS.ORG/TFIC

FAIR USE DECLARATION

This book is sourced from another online repository and provided to you at this site under the TFIC collection. It is provided under commonly held Fair Use guidelines for individual educational or research use. We believe that the book is in the public domain and public dissemination was the intent of the original repository. We applaud and support their work wholeheartedly and only provide this version of this book at this site to make it available to even more readers. We believe that cataloging plays a big part in finding valuable books and try to facilitate that, through our TFIC group efforts. In some cases, the original sources are no longer online or are very hard to access, or marked up in or provided in Indian languages, rather than the more widely used English language. TFIC tries to address these needs too. Our intent is to aid all these repositories and digitization projects and is in no way to undercut them. For more information about our mission and our fair use guidelines, please visit our website.

Note that we provide this book and others because, to the best of our knowledge, they are in the public domain, in our jurisdiction. However, before downloading and using it, you must verify that it is legal for you, in your jurisdiction, to access and use this copy of the book. Please do not download this book in error. We may not be held responsible for any copyright or other legal violations. Placing this notice in the front of every book, serves to both alert you, and to relieve us of any responsibility.

If you are the intellectual property owner of this or any other book in our collection, please email us, if you have any objections to how we present or provide this book here, or to our providing this book at all. We shall work with you immediately.

-The TFIC Team.



जैनसाहित्यका इतिहास

प्रथम भाग

लेखक

सिद्धान्ताचार्य पण्डित कैलाशचन्द्र शास्त्री

राष्ट्रीय श्रुति-दर्शन केन्द्र

जयपुर

श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला प्रकाशन

श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला
सम्पादके और नियामके
डॉ० दरबारीलाल कौठिया

प्रकाशक

मन्त्री, श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला

१/१२८, डुमराँव कॉलोनी, अस्सी

वाराणसी-५

७

प्रथम संस्करण ११०० प्रति,

दीपावली, वी० नि० सं० २५०२

७

मूल्य ~~सैंतीस~~ पन्च रु० ५००/-

भगवान महावीरकी पच्चीसवी निर्वाण-रजतशती
तथा वर्णी-शताब्दिके मङ्गल प्रसङ्गपर

२००१.११.२५
२५.११.०१

मुद्रक

वर्द्धमान मुद्रणालय

जवाहरनगर कॉलोनी

दशमिकाद रोड वाराणसी-१

प्रकाशकीय

श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला द्वारा सन् १९६२ में जैन साहित्यका इतिहास (पूर्ववीठिका) प्रकाशित हुआ था। उसके अगले दो भागोंकी सामग्री भी ग्रन्थमालामें उसके यशस्वी लेखक श्रीमान् पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री-ने लिखकर दे दी थी। और वे दोनों भाग भी कई वर्ष पूर्व छप जाना चाहिये थे। किन्तु कई कारणों और विघ्न-बाधाओंसे वे नहीं छप पाये। हम नहीं चाहते कि उन कारणों और विघ्न-बाधाओंका यहाँ अकन किया जाय। कठिनाई यह है कि जिसे मन्त्री चुना जाता है उसे ही 'पीर ववरची भिस्ती खर' बनना पड़ता है।

सन् १९६४-६५ में हमें अध्यक्ष व अन्य सदस्योंने आर्थिक सहायता प्राप्त करानेके आश्वासनके साथ ग्रन्थमालाके नये मन्त्रित्वका दायित्व सोपा था। उस समय ग्रन्थमालाकी स्थिति ऐसी थी कि उसे भारतीय ज्ञानपीठ या अन्य प्रकाशन-संस्थाओंको दे देनेका समितिने कई बार विचार ही नहीं किया, पत्राचार भी किया। किन्तु कोई प्रकाशन-संस्था उसे ले न सकी। फलतः ग्रन्थमाला-समिति-ने १९-१०-१९६४ की कठनी बैठकमें हमें मन्त्री और हमें ग्रन्थमालाकी आर्थिक दशा सुधारनेके लिए स्वर्गीय सेठ भागचन्द्रजी डोगरगढ और उपाध्यक्ष श्रीमान् पं० जगन्मोहनलालजी शास्त्रीने प्रेरणा और आश्वासन दिया कि वे हमें अवश्य ग्रन्थमालाकी दशा सुधारनेमें सहयोग करेंगे। किन्तु हमें स्वयं उसकी स्थितिको उन्नत करनेमें लगना पड़ा और संरक्षक-सदस्यकी योजना द्वारा न केवल ग्रन्थमालाकी स्थितिको उन्नत किया, अपितु कई ग्रंथोंको प्रकाशित भी किया गया। पूज्य वर्णीजीका समयसार-प्रवचनके दो संस्करण, वर्णी-वाणी १, २, ३ के दो-दो संस्करण, मेरी जीवनगाथाका द्वितीय संस्करण, जैनदर्शनका दूसरा-तीसरा संस्करण, द्रव्यसंग्रह-भाषावचनिका, मन्दिरवेदीप्रतिष्ठा-कलशारोहणविधिका दूसरा संस्करण, सामायिकपाठ, अनेकान्त और स्याद्वादका दूसरा संस्करण, अध्यात्म-पत्रावली व सत्यकी ओर के दो-दो संस्करण, आदिपुराणमें प्रतिपादित भारत, तत्त्वार्थसार, सत्प्ररूपणासूत्र और कल्पवृक्ष इन ग्रंथोंका पिछले वर्षोंमें प्रकाशन हुआ है और इससे ग्रन्थमाला सप्रमाण हो गयी।

किन्तु हमें दुःख ही नहीं मार्मिक पीडा है कि पिछले दिनोंमें हमें जो आर्थिक सकट रहा उसे बार-बार अध्यक्षजीके सामने रखा। किन्तु हम उनसे उस सकट-निवारणमें असमर्थ रहे। सौभाग्यकी बात है कि जैनसाहित्यके इतिहासके अगले दो भागोंको स्वर्गीय डॉ० नेमिचन्द्रजी शास्त्री, श्रद्धेय पण्डित कैलाशचन्द्रजी और

हमने व्यवस्थित रूप देनेका प्रयास ही नहीं किया, आर्थिक सहयोगमें भी प्रयत्न किया है। बा० नन्दलालजी सरावगी कलकत्ता और उनकी प्रेरणासे तैयार कुछ दाताओंने भी इन भागोके प्रकाशनमें महत्त्वपूर्ण आर्थिक दान दिया। सुहृद् ५० खुशालचन्द्रजी गौरावालाकी प्रेरणाको भी हम नहीं भुल सकते, जिन्होंने भी इनके प्रकाशनमें हाथ बटाया है। अभी इन दोनों भागोकी छपाई-चाईडिंग, कामज आदिमें हमें लगभग छ हजार रुपएकी आवश्यकता है। आशा है हमारे उपर्युक्त सहयोगी तथा अन्य उदार दानी हमें उक्त छोटी-सी राशिके प्राप्त करानेमें पूरा-पूरा सहकार करेगे।

हम श्रद्धेय पण्डित कैलाशचन्द्रजी शास्त्री सिद्धान्ताचार्यके बहुत आभारी हैं, जिन्होंने ये दोनों भाग १३ वर्ष पूर्व लिखकर ग्रन्थमालाको दे दिये थे और अब तक धैर्य पूर्वक उनके प्रकाशनकी प्रतीक्षा की। किन्तु हम सकारण विवश थे इससे पूर्व छापने में। फिर उनसे क्षमा-प्रार्थी हूँ। हर कार्यकी काल-लब्धि होती है, तभी वह सम्पन्न होता है। पिछले दो वर्षोंकी एक लम्बी कहानी है, जिसे हम यहाँ छोड़ रहे हैं।

हमें इतनी ही प्रसन्नता है कि वर्द्धमान मुद्रणालयकी प्रतीक्षित सलग्नतासे अब दोनों भाग दिसम्बर १९७५ तक प्रकाशमें आ जायेंगे और सरक्षक सदस्योंको दिये आश्वासनोकी पूर्ति हो सकेगी।

जय महावीर।

भ० महावीरकी २५००वी,
निर्वाण-शताब्दी
३ नवम्बर १९७५

(डा०) दरबारीलाल कोठिया
मन्त्री, श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला,

लेखकके दो शब्द

जैन साहित्यके इतिहासकी पूर्वपीठिका सन् १९६३ में प्रकाशित हुई थी। अब बारह वर्षोंके पश्चात् जैनसाहित्यका यह करणानुयोग विषयक इतिहास प्रकाशित हो रहा है, यह भी मेरे लिये परम सन्तोष और प्रसन्नताकी बात है। मुझे तो इसके प्रकाशनकी कोई आशा ही नहीं थी, क्योंकि उक्त प्रकाशनके साथ ही श्री गणेशवर्णी ग्रन्थमालाका कार्य ठप्प जैसा हो गया था। किन्तु सौभाग्यवश उसके मन्त्रित्वका भार डॉ० प० दरवारीलालजी कोठियाने उठा लिया और उन्हींके प्रयत्नके फलस्वरूप मेरा यह श्रम रद्दीकी टोकरीमें जानेसे बच गया। यह करणानुयोगके अन्तर्गत केवल कर्मसिद्धान्त विषयक साहित्यका ही इतिहास है। लोका-नुयोग विषयक साहित्यका इतिहास इसके दूसरे भागमें आयेगा। वह भी प्रेसमें है और यदि वर्द्धमान मुद्रणालयके मालिक की कृपा दृष्टि रही तो शीघ्र ही प्रकाशित हो जायगा और मैं उसे प्रकाशित हुए अपनी आँखोंसे देख सकूँगा।

दि० जैनसमाजमें विद्वानोंकी तो कमी नहीं है किन्तु जैनसाहित्य और उसके इतिहासके प्रति विशेष अभिरुचि नहीं है। दि० जैनसमाजमें भी चरित्रके प्रति तो आदरभाव है किन्तु ज्ञानके प्रति आदरभाव नहीं है। इसीसे जहाँ दि० जैनमुनि-मार्ग वृद्धि पर है वहाँ जैन पण्डित धीरे-धीरे कालके गालमें जाते हुए समाप्तिकी ओर बढ़ रहे हैं। दि० जैनमुनिमार्ग पर धन खर्च करनेसे तो श्रीमन्तोको स्वर्ग सुखकी प्राप्तिकी आशा है किन्तु दि० जैन विद्वानोंके प्रति धन खर्च करनेसे उन्हें इस प्रकारकी कोई आशा नहीं है। फलतः निर्ग्रन्थोंके प्रति तो धनिकोंके द्रव्यका प्रवाह प्रवाहित होता है और गृही जैन विद्वानोंको आजकी महँगाईमें भी पेट भरने लायक द्रव्य भी कोई देना नहीं चाहता। इससे विद्वान् तैयार होते हैं और समाज-से विमुख होकर सार्वजनिक क्षेत्र अपना लेते हैं। वहाँ उन्हें धन-सम्मान दोनों मिलते हैं। ऐसेमें साहित्यकी सेवा तो वही कर सकता है जिसे उससे अनुराग होता है। ऐसे अनुरागी थे डॉ० हीरालाल और डॉ० उपाध्ये। किन्तु आज दोनों ही नहीं हैं। डॉ० हीरालालजीके पश्चात् डा० उपाध्येके स्वर्गत हो जानेसे दि० जैनसमाजका साहित्यिक क्षेत्र सूना जैसा हो गया है। उनकी सब साहित्यिक प्रवृत्तियाँ नि शेष हो गई हैं और ग्रन्थमालाएँ अनाथ जैसी हो गई हैं।

डॉ० उपाध्येसे पहले डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री तो एकदम असमयमें ही स्वर्ग-वासी हो गये।

मैंने यह इतिहास आजसे बीस वर्ष पहले लिखना शुरू किया था । उस समय मैं लिखता चला गया और फिर उसे व्यवस्थित करनेकी रुचि भी नहीं हुई क्योंकि प्रकाशनकी तो कोई आशा नहीं थी । लिखकर समाप्त करनेके दस वर्ष पश्चात् जब उसके प्रकाशनकी बात चली तो मैं उस लिखे विषयसे दूर चला गया था, मेरी स्मृतिमें वह नहीं था । उसमें मन भी नहीं लगता था । तब यह तय हुआ कि डॉ० नेमिचन्द शास्त्रीके साथ एक बार उसका पारायण कर लिया जाये । स्वर्गवासी होनेके तीन मास पूर्व वह कुछ दिन बनारसमें ठहरे और उनकी तथा डॉ० कोठियाकी उपस्थितिमें उसे व्यवस्थित किया गया । तब किसे कल्पना थी कि डॉ० नेमिचन्द शास्त्रीके साथ यही अन्तिम संगोष्ठी है ।

आज इसके प्रकाशनके समय उनकी स्मृति विशेष रूपसे होना स्वाभाविक है । वह भी जैनसाहित्यरूपी महलके एक स्तम्भ थे । उनके पश्चात् ही डॉ० गुलाबचन्द चौधरी भी स्वर्गवासी हो गये । जैनसाहित्य और इतिहासके वे भी एक सुलेखक विद्वान् थे । इन सबके अभावमें जैनसाहित्यका यह इतिहास प्रकाशित होनेसे भी एक तरहका दुःख ही होता है कि अब इसको आगे गति कौन देगा ?

दि० जैन समाजमें एक वर्ग ऐसा है जो अपनेमें ही मग्न रहता है और विश्वमें क्या होता है, इसे देखकर भी नहीं देखता । दि० जैनसाहित्य कितना पिछड़ गया है, सार्वजनिक क्षेत्रमें उसका मूल्यांकन करनेकी ओरसे कितना अज्ञान या उपेक्षा है इसे अनुभव करनेवाले भी इने गिने हैं । डॉ० उपाध्ये देश विदेशके जर्नल्समें जैनसाहित्यके विषयमें लिखते रहते थे । उनके पश्चात् तो कोई ऐसा विद्वान् दृष्टिगाचर नहीं होता । अतः अब यह पिछड़ना और भी बढ़ेगा । इस ओर मैं उदीयमान जैन विद्वानोंका ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ । अस्तु

कर्मसिद्धान्तका विषय सूक्ष्म है । आज तो उसके अध्येता भी अत्यन्त विरल हैं । तब मेरे इस इतिहासको कौन पढ़ेगा यह मैं नहीं जानता । किन्तु इसे देखकर भी यदि किन्हींकी साहित्यिक इतिहास विषयक रुचि जाग्रत हुई तो मैं अपने श्रमको सफल समझूँगा ।

जब पीठिकाका प्रकाशन हुआ था तो उसमें जो खर्चकी विगत दी गई थी, उसमें पारिश्रमिक मध्ये दस हजार रुपये दिखाये गये थे । उसकी कोई विगत नहीं दी गई थी और न उस विषयमें कुछ लिखा ही गया था । फलतः एक आवाज समाचार पत्रोंमें उठाई गई कि जैनसाहित्यके इतिहासकी पूर्वपीठिकाका पारिश्रमिक मुझे दस हजार रुपया दिया गया है । ग्रन्थमालाकी ओरसे उसका स्पष्टीकरण किया गया । यहाँ मैं अपने उन मित्रोंकी गलतफहमी दूर करनेके लिये यह स्पष्ट कर देना उचित समझता हूँ कि यह भाग और इसका आगामी दूसरा भाग भी पूर्व

पारिश्रमिकमें ही सम्मिलित है, इनका मैंने कोई नया पारिश्रमिक नहीं लिया है । भगवान महावीरके पच्चीससौवे निर्वाण महोत्सव वर्षकी समाप्तिके साथ ही इसका प्रकाशन विशेष आनन्दकारी है । इसमें उन्हीकी दिव्यध्वनिसे निसृत वाङ्मयका इतिहास गुम्फित है । वीरप्रभुका शासन जयवन्त रहो ।

दीपावली

कैलाशचन्द्र शास्त्री

वीर नि० स० २५०२

विषय-सूची

जैनसाहित्यका उद्गम	१	कसायपाहुड और षट्खण्डागमका	
श्रुतावतार	५	तुलनात्मक विवेचन	१४५
कषायप्राभूतके रचयिता गुणधर	८	छक्खण्डागम और पणवणा	१४९
आर्य मक्षु और नागहस्ती	९	„ और कर्मप्रकृति	१५०
गुणधर और घरसेन	२०	महाबन्ध	१५२
कषायपाहुड नाम और विषयवस्तु	२५	„ स्थितिवन्ध	१५७
अधिकारो और गाथाओका विभाग	२६	„ अनुभागबन्ध	१५९
कषायपाहुड गाथा सख्या	२८	„ प्रदेशबन्ध	१६३
„ की गाथाओका सूत्रत्व	३०	चूर्णिसूत्र साहित्य	१७०
„ शैली	३४	कसायपाहुड और चूर्णिसूत्र	१७४
„ विषय परिचय	३५	चूर्णिसूत्रोकी रचनाशैली	१७८
कर्मसिद्धान्त	३७	आगमिक व्याख्यानशैली	१८५
षट्खण्डागम—रचनाकाल	४३	छक्खण्डागम और चूर्णिसूत्रोंकी	
„ रचनास्थान	४४	तुलना	१९५
„ रचयिता	४५	अनुयोगद्वार और चूर्णिसूत्र	२००
„ रूपरेखा निर्माण	४७	चूर्णिसूत्र—ऐतिहासिक महत्त्व	२०१
„ नाम	५१	„ रचयिता	२०३
संतकम्मपाहुड	५३	यतिवृषभकी रचनाएँ	२०८
खण्डोके नाम	५९	चूर्णिसूत्रकी विषयवस्तु	२१०
अग्रायणीपूर्वका विवेचन	६५	धवलाटीका—नाम	२१५
विषय परिचय		„ महत्त्व	२१६
१ जीवट्टाण	६७	„ प्रामाणिकता	२१७
२ खुद्दाबन्ध	९२	„ विषयपरिचय	२२१
३ बन्धस्वामित्वविचय	९५	वीरसेन स्वामी	२४१
४ वेदनाखण्ड	१००	„ गुरु एलाचार्य	२४२
५ वर्गणाखण्ड	१२३	„ बहुज्ञता	२४३
१ बन्धन अनुयोगद्वार	१३२	„ समय विमर्श	२४५
२ बन्धक „	१३५	„ रचनाएँ	२५०
३ बन्धनीय „	१३५		

जयधवला-नाम	२५२	पञ्चसंग्रहका रचनाकाल	३४७
„ शैली महत्त्व	२५२	चन्द्रासिंहकृत पञ्चसंग्रह	३५१
„ रचनास्थान-काल	२५४	ग्रंथकारके द्वारा निर्दिष्ट ग्रंथ	३५४
जयधवलागत विषयवस्तु	२५५	पंचसंग्रहकारका अन्य	
रचयिता वीरसेन-जिनसेन	२६०	कार्मिको तथा सैद्धांतिकोसे	
अन्य व्याख्यानाचार्योंका उल्लेख	२६२	मतभेद	३५४
छक्खण्डागमकी अन्य टीकाएँ	२६३	कर्ता	३५६
कुन्दकुन्दकृत परिकर्म	२६४	समय	३६०
शामकुण्डकृत पद्धति	२७४	सित्तरी चूर्णि	३६८
तुम्बुलुराचार्यकृत चूडामणि	२७४	रचना काल	३६९
समन्तभद्रकृत संस्कृतटीका	२७८		
सत्कर्मपंजिका	२८४	उत्तरकालीन कर्मसाहित्य	
„ रचनाकाल	२९०	उत्तरकालीन कर्मसाहित्य	३७१
अन्य कर्मसाहित्य		लक्ष्मणसुत डड्ढाकृत	
कर्मप्रकृति	२९३	पंचसंग्रह	३७२
वृहत्कर्म प्रकृति	२९४	रचनाकाल	३७३
कर्मप्रकृति विषयपरिचय	२९५	विषय परिचय	३७५
„ कर्ता	३०२	सं० प० सं०के रचयिता	
चूर्णिसूत्र और कर्मप्रकृतिचूर्णि	३०६	अमितगति	३८०
„ समय	३१०	गोम्मटसार	३८१
शतक कर्मग्रन्थ	३११	नेमिचन्द्रके गुरु	३८२
„ विषयपरिचय	३११	नाम	३८९
शतकचूर्णि	३१५	नामका कारण	३८९
सित्तरी	३१८	समय	३९३
„ रचयिता-रचनाकाल	३२०	विषय वस्तु	३९७
„ विषयपरिचय	३२०	कर्मकांड	३९९
कर्मप्रकृति और सप्ततिका मतभेद	३२१	वन्धोदय सत्त्वाधिकार	४०६
कर्मस्तव	३२२	सत्त्व स्थान भंग -	४०७
„ रचनाकाल	३२४	त्रिचूलिका अधिकार	४०८
दि० प्राकृत पञ्चसंग्रह	३२५	वन्धोदय सत्त्व युक्त स्थानं	४०९
जीवसमास और सत्प्ररूपणा	३२८	प्रत्ययाधिकार	४१०
सप्ततिका और पञ्चसंग्रह	३४०	भावचूलिका	४११
		त्रिकरणचूलिका	४११

कर्मस्थितिरचना अधिकार	४१२	भावत्रिभगी	४४२
लब्धिसार-क्षपणासार	४१२	आत्मवत्रिभगी	४४३
देवसेनकृत भावसंग्रह	४१७	श्रुतमुनि का परिचय और समय	४४४
कर्ता और समय	४२०	पंचसंग्रह की प्राकृत टीका	४४५
गर्गर्षि रचित कर्मविपाक	४२९	सिद्धान्तसार	४५०
प्रकृतियोंके स्वरूपमें अंतर	४३०	ग्रंथकार	४५०
आचार्य गर्गर्षि	४३१	सकलकीर्ति का कर्मविपाक	४५२
गोविन्द्राचार्य रचित कर्म-		सिद्धान्तसार भाष्य	४५३
स्तव वृत्ति	४३२	ज्ञानभूषण की दो गुरु-	
वध स्वामित्व	४३२	परम्पराएँ	४५४
जिनवल्लभ गणि रचित		समय विचार	४५५
षडशीति	४३२	त्रिभगी टीका	४६०
देवेन्द्रसूरि रचित नव्य		रचयिता और समय	४६१
कर्मग्रंथ	४३३	गोम्मटसार की टीकाएँ	४६३
कर्मविपाक	४३४	मन्दप्रबोधिका टीका	४६६
कर्मस्तव	४३४	कर्ता और रचनाकाल	४६७
वधस्वामित्व	४३४	जीवतत्त्व प्रदीपिका	४७०
षडशीति	४३५	समयविचार	४७३
शतक	४३५	टीकाका परिचय	४७७
कर्मग्रंथों की स्वोपज्ञ टीका	४३५	सुमतकीर्तिकी	
ग्रंथकार तथा उनका समय	४३६	पंचसंग्रह वृत्ति	४७७
संस्कृत कर्मग्रंथ	४३६	रचयिता का परिचय	४७८
कर्मप्रकृति नामक अन्यग्रंथ	४३६	पञ्चसंग्रह वृत्ति	४७९
संकलितता का नाम तथा		वामदेव का संस्कृत	
समय	४४०	भावसंग्रह	४८२
श्रुतमुनि की रचनाएँ	४४२	रचयिता समय	४८४

जैनसाहित्यका इतिहास



जैनसाहित्यका इतिहास

प्रथम अध्याय

मूलागम-साहित्य

प्रथम परिच्छेद

कसायपाहुड

प्रास्ताविक

पूर्वमें प्रकाशित 'जैन साहित्यका इतिहास' (पूर्व पीठिका) प्रथम भागमें श्रुतावतार और श्रुत-परिचय विस्तारपूर्वक लिखा गया है। अतः यहाँ केवल मन्दर्भ-निर्वाहके लिए जैन साहित्यके उद्गम, विस्तार और श्रुतावतारपर गक्षेपमें प्रकाश डाला जाता है।

जैन साहित्यका उद्गम

जैनसाहित्यके उद्गमकी कथाका आरम्भ भगवान महावीरमे होता है, क्योंकि पार्श्वनाथके कालके जैनसाहित्यका कोई सकेत तक उपलब्ध नहीं है। फिर जैन परम्पराके अनुसार महावीर भगवानने जिन दिन धर्मतीर्थका प्रवर्तन करना प्रारम्भ किया उसी दिन पार्श्वनाथका तीर्थकाल समाप्त हो गया और भगवान महावीरका तीर्थकाल चालू हो गया। आज भी उन्हीका तीर्थ प्रवर्तित है। अतः उपलब्ध समस्त जैनसाहित्यके उद्गमका मूल भगवान् महावीरकी वह दिव्यवाणी है, जो १२ वर्षकी कठोर साधनाके पश्चात् केवलज्ञानकी प्राप्ति होनेपर लगभग ४२ वर्षकी अवस्थामें (ईस्वी सन्से ५५७ वर्ष) श्रावण कृष्णा प्रतिपदाके^१ दिन ब्राह्ममहूर्तमें राजगृहीके बाहर स्थित विपुलाचल पर्वतपर प्रथम बार निसृत हुई थी और तीस वर्ष तक निसृत होती रही थी।

उनकी उस वाणीको हृदयगम करके उनके प्रधान शिष्य गौतम गणधरने बारह अगोमें निबद्ध किया था। उम द्वादशागमें प्रतिपादित अर्थको यत् गणधरने भगवान महावीरके मुखसे श्रवण किया था, इससे उसे 'श्रुत' नाम दिया गया और भगवान महावीर उसके^२ अर्थकर्ता कहलाये। गौतम गणधरने उमे ग्रन्थका रूप दिया,

१ पटख० पु० १, पृ० ६२-६३।

२. 'तत्थ कत्ता दुविही, अत्थकत्ता गथकत्ता चेदि। तदो भावसुदस्स अत्थपदाण च तित्थयरो कत्ता। तित्थयरादो सुदपज्जाणण गोदमो परिण्हो त्ति दन्वसुदस्स गोदमो कत्ता। तत्तो गथरयणा जादेसि।' —पटख०, पु० १, पृ० ६०-६५

२ जैनसाहित्यका इतिहास

इसलिये वह ग्रन्थकर्ता कहलाये ।

भगवान् महावीरके निर्वाणके पश्चात् वही द्वादशागरूप, श्रुत गुरु-शिष्यपर-पराके रूपमें मौखिक ही प्रवाहित होता रहा और श्रुतकेवली भद्रबाहुके समय तक अविच्छिन्न बना रहा । किन्तु उनके समयमें मगधमें बारह वर्षका भयंकर दुर्भिक्ष पड़नेसे सघ-भेद हो गया । और इस सघ-भेदके कारण सबसे अधिक क्षति द्वाद-शागरूप श्रुतको पहुँची । उस समय द्वादशाग श्रुतके एकमात्र प्रामाणिक उत्तरा-धिकारी श्रुतकेवली भद्रबाहु थे । किन्तु बौद्ध सगीतिकी तरह पाटलिपुत्रमें जो प्रथम जैन वाचना हुई कही जाती है वह उनकी अनुपस्थितिमें ही हुई । और उसमें भी केवल ग्यारह अंगोका ही सकलन किया जा सका । किन्तु सबसे अधिक महत्त्व-पूर्ण बारहवा अंग सकलित नहीं हो सका, क्योंकि उसका जानकार श्रुतकेवली भद्र-बाहुके सिवाय दूसरा व्यक्ति नहीं था ।

भद्रबाहुके पश्चात् जैन संघ दिगम्बर और श्वेताम्बर पन्थमें विभाजित हो गया और दोनोंकी गुरुपरम्परा भी भिन्न हो गई । संभवतया श्रुतकेवली भद्रबाहु-का वारसा दोनों ही परम्पराओंको प्राप्त हुआ था । फलतः दिगम्बर परम्परामें महावीरके निर्वाणके पश्चात् ६८३ वर्ष तक (विक्रम सम्वत्की दूसरी शताब्दी पर्यन्त) अगज्ञान यद्यपि प्रचलित रहा, किन्तु दिन-पर-दिन क्षीण होता चला गया ।

(श्वेताम्बर परम्परामें पाटलिपुत्रके बाद दूसरी वाचना मथुरामें की गई और वीर निर्वाणसे ९८० वर्ष अथवा ९९३ वर्ष पश्चात् बलभीकी तीसरी वाचनाके समय सकलित ग्यारह अंगोको पुस्तकारूढ किया गया । किन्तु महत्त्वपूर्ण बारहवाँ अंग तो नष्ट ही हो गया । उसीके भेद चौदह पूर्व थे । इन्हींके कारण बारहवाँ अंगका महत्त्व था । श्वेताम्बर परम्परामें तो ग्यारह अंगोकी उत्पत्ति पूर्वसे ही मानी गई है । अतः पूर्वोका महत्त्व निर्विवाद है ।)

इन्हीं चौदह पूर्वोंमेंसे दो पूर्वोंके दो अवान्तर अधिकारोंसे सम्बद्ध दो महान् ग्रन्थराज दिगम्बर परम्परामें सुरक्षित हैं । उनमें वर्णित विषय और उसका विस्तार भी पूर्वोंके महत्त्वको ख्यापन करता है । दिगम्बर परम्पराके जैनसाहित्यका इति-हास एक तरहमें इन्हीं ग्रन्थराजोंसे आरम्भ होता है । अथवा यह कहना उचित होगा कि दिगम्बर परम्पराके साहित्यका उद्गम पूर्वोंके उन विशकलित अंशोंसे होता है जो उमें उत्तराधिकारके रूपमें प्राप्त हुए थे ।

जैनसाहित्यका विस्तार

जैन साहित्य बहुत विस्तृत है, ऐसा कोई विषय नहीं है जिसपर जैनाचार्योंने अपनी लेखनी न चलाई हो । और इसका कारण यह है कि भगवान् महावीरने अपने समयमें उपस्थित किसी चर्चाको अव्याकृत कहकर अलक्षित या उपेक्षित

नही किया था। तत्त्वज्ञान, आचार, लोकविभाग आदि सभी विषयोपर उनकी वाणी प्रवाहित हुई थी। उनमेंसे अनेक विषयोंके सम्बन्धमें उनकी स्वतंत्र और मौलिक देन थी, जो जैन तत्त्वज्ञानकी अपनी विशेषता कहलाती है। उनके पश्चात् उनके अनुयायी शिष्यों और प्रशिष्योंने टीकाओं और मौलिक रचनाओंके रूपमें उनके सिद्धान्तोंको निबद्ध करके जैन साहित्यके भण्डारको बराबर समृद्ध किया।

यद्यपि भगवान् महावीरने तत्कालीन लोकभाषा अर्धमागधीको अपने उपदेशोंका माध्यम बनाया था, और इस तरह गौतम गणधरके द्वारा ग्रथित द्वादशांग श्रुतकी भाषा भी अर्धमागधी थी। किन्तु उनका लोप होने पर भी महाराष्ट्रीय और शौरसेनी भाषाएँ, जो प्राकृतके ही भेद हैं, जैन आगमिक साहित्यकी रचनाका माध्यम रही। और जब सस्कृतभाषा लोकप्रिय हुई तो जैनाचार्योंने उसके भण्डारको अपनी कृतियोंसे भरा। पीछे अपभ्रंश भाषाका प्रचार होनेपर अपभ्रंश भाषाको अपनाकर उसे समृद्ध बनाया। अपभ्रंश भाषा तो एक तरहसे जैन ग्रन्थकारोंकी कृतियोंसे ही समृद्ध हुई थी।

इसलिये डाक्टर विन्टरनीट्सने^१ लिखा था कि “भारतीय भाषाओंके इतिहासकी दृष्टिसे भी जैनोका साहित्य बहुत महत्वपूर्ण है, क्योंकि जैनोंने सदा इस बातका ध्यान रखा है कि उनकी रचनाएँ अधिक-से-अधिक जनताके लिये उपयोगी हो। इसीसे आगमिक रचनाएँ और प्राचीनतम टीकाएँ तथा विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ और काव्य लिखना शुरू किये। कुछ ग्रन्थकारोंने सरल सस्कृतमें रचनाएँ की, तो कुछने काव्यशैलीमें परिश्रमसाध्य सस्कृतभाषाको अपना कर प्राचीन सस्कृत-कवियोंसे टक्कर ली। ”

अन्तमें, काफी आधुनिक कालमें जैनोंने विभिन्न आधुनिक भारतीय भाषाओंका भी उपयोग किया और उन्होंने स्वामतौरसे हिन्दी और गुजराती भाषाको समृद्ध बनाया।^२

१. हि० ६० लि०, भा० २, पृ० ४२७।

२. जैन साहित्यकी तालिकाके लिये देखिये—आर० जी० भण्डारकरकी रिपोर्ट १८८३-८४, पिटर्सनकी रिपोर्ट ४, और ५, पृ० बी० कीथकी ‘बोडलियन’ (Bodlian) लाइब्रेरीके प्राकृत ग्रन्थोंकी सूची, मध्यप्रदेश और वरारङ्गी सरकारी आज्ञासे प्रकाशित सस्कृत और प्राकृत ग्रन्थोंकी सूची (नागपुर १९२६), रायल एशियाटिक सोसायटी बम्बई शाखाकी लायब्रेरीके सस्कृत प्राकृत ग्रन्थोंकी वर्णनात्मक सूची जिल्द ३, ४। इण्डिया आफ्रिके सस्कृत-प्राकृत ग्रन्थोंकी सूची, जिल्द २। जिनरत्नकोश, पूना। जैन सिद्धान्त भवन आराकी सूची, भा० ज्ञानपीठ काशीसे प्रकाशित कन्नड प्रान्तीय ग्रन्थसूची। राजस्थानके जैन मण्डारोंकी ग्रन्थसूची छह भाग। ऐलक पन्नलाल सरस्वती भवन बम्बईकी ग्रन्थसूची, तथा पाटन और जैसलमेरके मण्डारोंकी सूचियाँ, तथा अन्य सूचियाँ।

दक्षिणकी तमिल और कन्नड़ी भाषामें भी जैन साहित्य कम नहीं है। चन्द्र-गुप्त मौर्यके राज्यकालके अन्तमें श्रुतकेवली भद्रबाहु मगधमें तुमिष पठने पर एक बड़े साधु-मध्वके साथ दक्षिणकी ओर चले गये थे। उनके बादमें दक्षिण जैन संस्कृतिका केन्द्र बन गया और लिगायतोंके अत्याचारोंके आरम्भ होने तक वहाँ जैनोका अच्छा प्रभाव रहा। दिगम्बर परम्पराके अधिकांश प्राचीन ग्रन्थकार दक्षिणके थे। अतः उन्होंने प्राकृत और संस्कृतकी तरह कन्नड़ी और तमिलमें भी खूब रचनाएँ कीं। अतएव कन्नड़ी और तमिल भाषामें भी प्रचुर जैन साहित्य उपलब्ध है। इस तरह जैन साहित्य बहुत विस्तृत है।

वर्गीकरण और कालक्रम

दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओंके साहित्यमें गमस्त जैन साहित्यका वर्गीकरण विषयकी दृष्टिसे चार भागोंमें किया है। वे चार विभाग हैं—प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग। पुराण, चरित आदि आख्यानग्रन्थ प्रथमानुयोगमें गणित किये गये हैं। करणशब्दके दो अर्थ हैं—परिणाम और गणितके सूत्र। अतः खगोल और भूगोलका वर्णन करनेवाले तथा जीव और कर्मके सम्बन्ध आदिके निरूपक कर्मसिद्धान्त विषयक ग्रन्थ करणानुयोगमें लिए गये हैं। आचार-सम्बन्धी साहित्य चरणानुयोगमें आता है और द्रव्य, गुण, पर्याय आदि वस्तुस्वरूपके प्रतिपादक ग्रन्थ द्रव्यानुयोगमें आते हैं।

श्वेताम्बर परम्पराके अनुसार यह अनुयोग-विभाग आर्यरक्षितसूरिने किया था। अन्तिम दसपूर्वी आर्यवज्रका स्वर्गवाम वि० सं० ११४ में हुआ। उसके बाद आर्यरक्षित हुए। उन्होंने भविष्यमें होनेवाले अल्पबुद्धि शिष्योंका विचार करके आगमिक साहित्यको चार अनुयोगोंमें विभाजित कर दिया। जैसे, ग्यारह अंगोंको चरणकरणानुयोगमें समाविष्ट किया, ऋषिभाषितोंका समावेश धर्मकथानुयोगमें किया, सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति आदिको गणितानुयोगमें रखा और बारहवें अंग दृष्टिवादको द्रव्यानुयोगमें रखा।^१

(दिगम्बर परम्परामें जिसे प्रथमानुयोग नाम दिया है उसे ही श्वेताम्बर परम्परामें धर्मकथानुयोग कहा है और श्वे० परम्परामें जिसे गणितानुयोग सज्ञा दी गई है, उसका समावेश दिगम्बर परम्पराके करणानुयोगमें होता है।)

इस तरह विषयकी दृष्टिसे जैन आगमिक तथा तदनुसारी अन्य साहित्य चार भागोंमें विभाजित है।

डा० विन्टरनीट्सने लिखा है कि यद्यपि जैनधर्म बौद्धधर्मसे प्राचीन है तथापि

१. आव० नि० गा० ७६३-७७७।

२. हि० ई० लि०, भा० २, पृ० ४२६।

जैनोका आगमिक साहित्य अपने प्राचीनतम रूपमें हम तक नहीं आ सका (दुर्भाग्य-से उसके कुछ भाग ही सुरक्षित रह सके और उनका वर्तमान रूप अपेक्षाकृत काफी अर्वाचीन है।)

डा० भण्डारकरने^१ दिगम्बर परम्परके कथनको विश्वस्त मानते हुए यह मत प्रकट किया था कि 'वीरनिर्वाणके पश्चात् ६८३ वर्ष पर्यन्त, (ई० १३६) जब कि अगोके अन्तिम ज्ञाता आचार्यका स्वर्गवास हुआ, जैनोमें कोई लिखित आगम नहीं था' ।

सम्भवतया यह बात वारह अगोके सम्बन्धमें कही गई है, क्योंकि उनका लेखनकार्य श्वेताम्बर मान्यताके अनुसार वीरनिर्वाणसे ९८० या ९९३ वर्ष पश्चात् हुआ था ।

किन्तु डा० विन्टरनीट्सका मत है कि उक्त द्वादशांशरूप आगमसाहित्यसे इतर आगमिक जैन साहित्यकी रचना श्वेताम्बरीय आगम-सकलनासे बहुत पहले ही प्रारम्भ हो गई थी, जैसा कि हमें आगे ज्ञात हो सकेगा ।

सब बातोंको दृष्टिमें रखते हुए जैन साहित्यके विकासका इतिहास प्रथम शताब्दी ईस्वीपूर्वसे आरम्भ होकर वर्तमानकाल तक आता है । इस सुदीर्घ कालको पाँचसौ-पाँचसौ वर्षोंमें विभाजित करनेसे निम्न प्रकारसे उसका विभाग होगा—

- ✓ १. ईस्वी पूर्व प्रथम शताब्दीसे ईस्वी सन्की चतुर्थ शताब्दीके अन्ततक ।
- ✓ २. ईस्वी सन्की पाचवी शताब्दीके प्रारम्भसे ईस्वी सन्की नौवी शताब्दीके अन्ततक ।
- ✓ ३. ईस्वी सन्की दसवी शताब्दीके प्रारम्भमें १४वी शताब्दीके अन्ततक ।
- ✓ ४. और ईस्वी सन् १५ वी शताब्दीके प्रारम्भसे १९ वी शताब्दीके अन्ततक ।

श्रुतावतार

अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान महावीर स्वामीने केवलज्ञान होनेके पश्चात् राज-गृह नगरके निकट विपुल नामक पर्वतपर श्रावण कृष्णा प्रतिपदाके दिन ब्राह्म मुहूर्तमें अपनी प्रथम घर्मदेशना दी । उनके प्रधान गणधर इन्द्रभूति गौतमने उसे वारह अगो और चौदह पूर्वोंमें निबद्ध किया । इस श्रुतके अर्थकर्ता भगवान महावीर थे और ग्रन्थकर्ता गौतम गणधर । गौतम गणधरसे वह श्रुत लोहाचार्य अपर नाम सुधर्मा स्वामीको प्राप्त हुआ और सुधर्मासे जम्बू स्वामीको । जम्बू स्वामीके

✓ १. रिपोर्ट १८८३-८४, पृ० १२४ ।

✓ २. भूतवली-पुण्यदन्तकृत पट्ख०, पु० १, पृ० ६५-६६ । गुणधरकृत क० पा०, भा० १, पृ० ८३-८७ ।

६ : जैनसाहित्यका इतिहास

पश्चात् क्रमशः पाँच आचार्य श्रुतज्ञानके पारगामी हुए, जिनमें अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु थे। भद्रबाहुके पश्चात् श्रुतज्ञानका क्रमशः विच्छेद होना प्रारम्भ हो गया।

(भद्रबाहुके पश्चात् ग्यारह आचार्य ग्यारह अंगों और दस पूर्वोंके पारगामी तथा शेष चार पूर्वोंके एकदेश ज्ञाता हुए। उनके पश्चात् क्रमशः पाँच आचार्य ग्यारह अंगोंके पारगामी और चौदह पूर्वोंके एकदेश ज्ञाता हुए। उनके पश्चात् क्रमशः चार आचार्य आचारागके पूर्ण ज्ञाता और शेष अंगों तथा पूर्वोंके एकदेश ज्ञाता हुए। इस तरह भगवान् महावीरके निर्वाणके पश्चात् ६८३ वर्षतक श्रुतकी परंपरा चालू रही।

तत्पश्चात् गव अंगों और पूर्वोंका एकदेश धरसेनाचार्य और गुणधराचार्यको प्राप्त हुआ। गुणधर भट्टारक ज्ञानप्रवाद नामक पंचम पूर्वकी दसवीं वस्तु सम्बन्धी तीसरे कपायप्राभूत नामक महारासमुद्रके पारगामी थे। उन्होंने ग्रन्थविच्छेदके भयसे सोलह हजार पदप्रमाण 'पेज्जदोमपाहुड' का एकसौ अस्मी गाथाओंमें उपसंहार किया और उन्हें कमायपाहुड (कपायप्राभूत) नाम दिया। आचार्य धरसेन अष्टाग महा-निमित्तके पारगामी थे और उस समय सौराष्ट्र देशके गिरिनगर नामके नगरकी चन्द्रगुफामें रहते थे। उन्होंने ग्रन्थ-विच्छेदके भयसे प्रवचनवात्सल्यसे प्रेरित होकर महिमा नामकी नगरीमें सम्मिलित हुए दक्षिणापथके आचार्योंके पास एक लेख भेजा। उस लेखसे धरसेनाचार्यके अभिप्रायको भली-भाँति जानकर उन आचार्योंने दो सुयोग्य साधुओंको आश्रम देशमें वहनेवाली वेणा नदीके तटसे भेजा।

इधर एक दिन धरसेनाचार्यने रात्रिके पिछले पहर स्वप्नमें दो श्वेत विनम्र बैलोको अपने चरणोंमें नमस्कार करते हुए देखा। उसी दिन वे दोनों साधु धरसेनाचार्यके चरणोंमें पहुँच गये। मार्गका श्रम दूर होने पर तीसरे दिन दोनों साधुओंने अपने आगमनका प्रयोजन आचार्यसे निवेदित किया। आचार्यने उनकी परीक्षा लेनेके निमित्तसे उन्हें विद्याएँ सिद्ध करनेके लिए दी। उनमेंसे एकमें अधिक अक्षर थे और दूसरीमें कम। विद्याएँ सिद्ध हो गईं, किन्तु दोनों विद्यादेवताओंका रूप विकृत था, एक देवीके दाँत बाहर निकले थे और दूसरी कानी थी। 'देवता विकृत अगवाले नहीं होते' ऐसा विचारकर उन दोनोंने मंत्रशास्त्र-सम्बन्धी व्याकरणसे अपनी-अपनी विद्याओंके हीनाधिक अक्षरोंको ठीक करके पुनः सिद्ध किया, तो दोनों विद्यादेवताएँ अपने स्वाभाविक रूपमें दृष्टिगोचर हुईं।

विद्या सिद्ध करनेपर उन्होंने आचार्यसे सब वृत्तान्त निवेदित किया। सन्तुष्ट होकर धरसेनने उन्हें पढ़ाना प्रारम्भ किया। पठन समाप्त होनेपर उनमेंसे एककी पूजा भूत जातिके देवोंने की। इससे धरसेनने उनका नाम भूतबलि रखा। दूसरे साधुकी भूतोंने अस्त-व्यस्त दंतपत्तिको पूजापूर्वक सुन्दर बना दिया, इससे

उनाग नाम पुण्डन्त रगा ।

धर्ममेनमे दिदा लेनेके पदनात् दोनों माधुओने अकलेद्वय (गुजरात) में वर्णा-
वाग किया । वर्णयोग गमाग होनेपर आचार्य पुण्डन्त तो जिनपान्त्रिकों देगनेके
लिए उनगाम देगते चले गये और भूतबलि द्रमिल दग हो चले गये । पुण्डन्तने
गुप्तरूपणाके सूत्रोंकी रचना की और जिनपान्त्रिकों दीक्षा देकर तथा पढाकर
भूतबलिके पान भेज दिया । भूतबलिने जिनपान्त्रिकों पान गुप्तरूपणाके गुप्त्र देखे
और उगके द्वारा गह भी जाना कि पुण्डन्तकी अत्य आयु घेष है । अत उन्हें
महाकर्मप्रकृतिप्राभूतग विच्छेद हो जानेकी आगका हुई । तब उन्होंने द्रव्यप्रमा-
णानुगम हो आदि लेकर ग्रन्थ रचना की । उन तरह भूतबलि और पुण्डन्त
आचार्यने पट्गण्डागम गिद्धान्तकी रचना की ।

(श्रुतावतारका यह विवरण श्रीमेन स्वामीने कनायपाहुडकी टीका जयधवलामे
तथा पट्गण्डागमकी टीका धरन्धामे दिया है । किन्तु इन्द्रनन्दिने अपने श्रुताव-
तारामे १/२ दोनों ग्रन्थोंके अवतारका वर्णन क्रमज किया है । उन्होंने प्रथम पट्गण्डा-
गमके अवतारकी कथा दी है, पदचात् कनायपाहुडके अवतारकी । पट्गण्डागमकी
अवतारकयामे इतना विवेक कथन है कि भूतबलि आचार्यने द्रव्यप्रमाण आदि
अधितारको लेकर पांच सण्डोंकी रचना की, फिर महाबन्ध नामक छठे सण्डकी
रचना की । उन तरह भूतबलि आचार्यने पट्गण्डागमकी रचना करके उन्हें
पुस्तकोंमें स्थापित किया और ज्येष्ठ शुक्ल पचमीके दिन चतुर्विध सघके साथ
पुस्तकोंके द्वारा विधिपूर्वक पूजा की । उगने वह तिवि श्रुतपञ्चमीके नामसे ख्यात
हुई । आज भी जैन उस दिन श्रुतपूजा करते हैं ।)

सक्षेपमे यह उन दो गिद्धान्त-ग्रन्थोंके अवतारकी कथा है जिनका पूर्वोक्त साथ
गाक्षात् सम्बन्ध है और जिनके ऊपर कितनी ही टीकाएँ रची गई थी ।

यद्यपि इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमे पट्गण्डागमके अवतारकी कथाको प्रथम
स्थान दिया है और धीरसेन स्वामीने भी प्रथम उगीपर टीका रची थी, तथापि
रचनाकाल आदिकी दृष्टिसे कनायपाहुड प्रथम प्रतीत होता है । अत प्रथम उसीके
सम्बन्धमे विवेचन किया जाता है ।

१. 'ये पट्गण्डागमरचना प्रविधाय भूतबल्यार्थ ।

आरोप्यामद्भावस्थापनया पुस्तकेषु तत ॥१४२॥

ज्येष्ठसितपक्षपञ्चम्या चातुर्वर्ण्यमधममेव ।

तत्पुस्तकोपकरणैर्व्याधात् क्रियापूर्वक पूनाम् ॥१४३॥

श्रुतपञ्चमीति तेन प्रख्यातिं तिविरिथ परामाप ।

अद्यापि येन तस्या श्रुतपूजा कुर्वते जेना ॥१४४॥

कषायपाहुड

कषायप्राभृतके रचयिता गुणधर

वीरसेन स्वामीकी जयध्वला टीका तथा इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारगे यह तो स्पष्ट है कि कषायपाहुडके रचयिता आचार्य गुणधर थे। किन्तु ये कौन थे और कब हुए थे इत्यादि बातोंको जाननेके कोई माधन दृष्टिगोचर नहीं होते।

इन्द्रनन्दिने^१ तो अपने श्रुतावतारमें स्पष्ट लिख दिया है कि गुणधर और धरसेनके वंशगुरुके पूर्वापर क्रमको हम नहीं जानते, क्योंकि उनके अन्वयका कथन करने वाले आगम और मुनिजनोका अभाव है। ऐसी स्थितिमें गुणधर और धरसेनकी वंशपरम्पराके सम्बन्धमें तथा उनके पर्यापर्यके सम्बन्धमें निश्चित रूपमें कुछ कह सकना कितना कठिन है, यह लिखनेकी आवश्यकता नहीं है।

इन्द्रनन्दिके पूर्वज वीरसेन दोनोंको वीर निर्वाणगे ६८३ वर्ष पश्चात् हुआ बतलाते हैं, किन्तु दोनोंकी पूर्वपरम्पराके सम्बन्धमें वह भी भूत है। अतः स्पष्ट है कि वीरसेन स्वामीको भी दोनोंका पूर्वापर क्रम ज्ञात नहीं था। चूँकि वीर निर्वाणसे ६८३ वर्ष पर्यन्त अगज्ञानके प्रवाहित होनेकी परम्परा प्रवर्तित थी और अगज्ञानके प्रवर्तित रहते किसी अगज्ञानीने अंगज्ञानको पुस्तकारुद्ध करनेका प्रयत्न किया हो, ऐसा कोई सकेत अनुपलब्ध था और गुणधर तथा धरसेनका नाम अंगज्ञानियोंकी परम्परामें था नहीं। अतः वीरसेनने दोनोंको वीर निर्वाणके ६८३ वर्षके पश्चात् बतला दिया। किन्तु ६८३ वर्षके कितने काल पश्चात् दोनों हुए, यह भी वह नहीं बतला सके।

जहाँ तक हम जान सके हैं, वीर निर्वाणके पश्चात् ६८३ वर्ष पर्यन्त होने वाले अंगज्ञानियोंकी परम्पराका सबसे प्राचीन निर्देश^२ त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें मिलता है। त्रिलोकप्रज्ञप्ति आचार्य यतिवृषभकी कृति मानी जाती है। और आचार्य यतिवृषभने ही गुणधरके कषायपाहुडपर चूणिसूत्रोकी रचना की थी। किन्तु उन्होंने भी गुणधरके विषयमें कुछ नहीं लिखा।

अतः हमें गुणधराचार्यके विषयमें जयध्वला टीका और इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारसे ही नीचे लिखी जानकारी प्राप्त होती है—

१- गुणधराचार्य ज्ञानप्रवाद नामक पञ्चम पूर्वकी दसवीं वस्तु सम्बन्धी तीसरे कषायप्राभृत या पेज्जदोसपाहुडरूपी महासमुद्रके पारगामी थे।

१. 'गुणधरधरसेना-व्यगुर्वो. पूर्वापरक्रमोऽस्माभिः।

न ज्ञायते तदन्वयकथकागममुनिजनाभावात् ॥१५१॥'

२. ति० प०, अ० ४, गा० १४७६-१४९२।

२ उन्होने सोल्ह हजार पदप्रमाण पेज्जदोसपाहुडको एकसौ अस्ती गाथा-ओमे निवद्ध किया था ।

३ जयधवलकारके अनुसार वे गाथाएँ आचार्य-परम्परासे आकर आर्यमक्षु और नागहस्ती आचार्यको प्राप्त हुई थी । किन्तु इन्द्रनन्दिके अनुसार गुणधरने स्वयं उनका व्याख्यान नागहस्ती और आर्यमक्षुके लिये किया था ।

४ गुणधराचार्य अज्ञानियोकी परम्परा समाप्त हो जाने पर वीर निर्वाणके ६८३ वर्षके पश्चात् किसी समय हुए ।

५ जयधवलकारने उन्हें वाचक भी लिखा है *विहीरसेन सेवामि*

अतः गुणधराचार्यकी परम्परा तथा कालनिर्णय करनेके लिये उनके उत्तराधिकारी आर्यमक्षु और नागहस्तीकी ओर ध्यान देना आवश्यक है ।

आर्यमक्षु और नागहस्ती—

किन्तु गुणधरकी तरह आर्यमक्षु और नागहस्तीका उल्लेख कपायप्राभृतके प्रसंगसे केवल जयधवलाटीका और श्रुतावतारमे ही मिलता है, उपलब्ध अन्य दिग्म्बर जैन साहित्य या शिलालेखों अथवा पट्टावलियोंमें नहीं मिलता । जयधवलकारने^१ गुणधरको तो केवल वाचक लिखा है किन्तु आर्यमक्षु और नागहस्तीके पहले महावाचक^२ और पीछे 'खवण' या 'महाखवण' जैसे आदरसूचक विशेषण लगाये हैं । इससे इतना ही व्यक्त होता है कि दोनों महान् आचार्य थे । इससे अधिक इनके सम्बन्धमें ज्ञात करनेका अन्य कोई उपाय नहीं है । हाँ, एक बात अवश्य उल्लेखनीय है । चूर्णिसूत्रकार यतिवृषभने अपने चूर्णिसूत्रोमे कई विषयोंके सम्बन्धमें दो उपदेशोंका उल्लेख किया है और उनमेंसे एक उपदेशको 'पवाइज्जमाण' कहा है । जयधवलकारने 'पवाइज्जमाण' का अर्थ 'सर्वआचार्यसम्मत और गुरुशिष्यपरम्पराके क्रमसे आया हुआ' किया है । तथा उक्त उपदेशोंमें नागहस्तीके उपदेशको पवाइज्जमाण और आर्यमक्षुके उपदेशको अपवाइज्जमाण कहा है । इसके सम्बन्धमें आगे विशेष प्रकाश डाला जायेगा ।

कितिपय श्वेताम्बर पट्टावलियोंमे आर्यमगु और नागहस्ती नामके आचार्योंका निर्देश अवश्य मिलता है । नन्दिसूत्रकी^३ स्थविरावलीमें इन दोनों आचार्योंका स्म-

१. 'एतेनाशङ्का धोतिता आत्मीया गुणधरवाचकेन ।' —क० पा०, भा० १ पृ० ३६५ ।

२. 'महावाचयाणमज्जमखुखवाणामुवदेसेण

महावाचयाण पागहत्थिसवणाणमुवदेसेण । —ज० ध० प्रेसकापी, पृ० ७५८१ ।

३. 'भणग करग झरग पभावग णाणदसणगुणाण ।

वदामि अज्जमगु सुयसागरपारग धीर ॥२८॥'

वड्ढउ वायगवसो जसवसो अज्जणागहत्थीण ।

वागरणकरणभगियकम्मपयडीपहाणाण ॥३०॥,'

—नन्दि०

रण वडे आदरके साथ करते हुए आर्यगणको ज्ञान और दर्शन गुणों का प्रभावक तथा श्रुतसमुद्रका पारगामी लिया है और नागहस्तीको कर्मप्रकृतिमें प्रधान बतलाते हुए उनके वाचकवंशकी वृद्धिकी शुभकामना की है ।

आवश्यक नि० में^१ गणधरवशके साथ वाचकवंशको भी नमस्कार लिया है । टीकाकार मलयगिरिने उगकी टीकामें वाचकका अर्थ उपायग, और गणधरका अर्थ आचार्य किया है । किन्तु नन्दिमूलकी टीकामें उन्होंने वाचकका दूसरा ही अर्थ दिया है—‘जो शिष्योंको पूर्वगत मूल तथा अन्य सूत्रोंकी वाचना करता है उसे वाचक कहते^२ हैं ।’

पट्टाण्डागमके वर्णणागण्टके अनन्त वन्धन-अनुयोगद्वान्के १९वें मूलमें भी वाचक गणि आदि लघ्वीयोका निर्देश है । ध्वलाटीकाकार बीरसेन स्वामीने ग्यारह अंगोंके ज्ञाताको गणी और बारह अंगोंके ज्ञाताको वाचक^३ कहा है । उससे यही व्यक्त होता है कि पूर्वोंके ज्ञाताको वाचक कहा जाता था और वाचकोंकी परम्पराको वाचकवश कहा जाता होगा ।

श्वेताम्बर मुनि दर्शनविजयजीने लिखा^४—‘विक्रमकी छठी शताब्दी तक जैन ग्रन्थोंमें पूर्ववित् होनेका उल्लेख है ।’ ‘पूर्वज्ञानका विच्छेद होनेके बाद वाचकवश या वाचकशब्दका कोई पता नहीं लगता । इससे भी वाचक और पूर्ववित्का सम्बन्ध ठीक मालूम होता है ।’

मुनिजीके लेखानुसार वाचकवश माथुरी वाचनाका मूलधार अर्थात् आगमसंग्राहक सम्प्रदाय था । इसकी पट्टावली नन्दिसूत्रमें है । उसके अनुसार आर्य नागहस्तिसे आर्य नागार्जुन वाचक तक वाचकवश होना सम्भव है ।

उक्त दिगम्बर तथा श्वेताम्बर उल्लेखोंसे यह प्रकट है कि पूर्वविद्को वाचक कहते थे । किन्तु वाचकवशकी स्थिति स्पष्ट नहीं होती । ‘नागहस्तीके वाचकवश’ से तो यही ज्ञात होता है कि नागहस्ती वाचकवशके सस्थापक थे । किन्तु आगे नन्दीसूत्रमें^५ रेवती नक्षत्रके वाचकवशकी वृद्धिकी कामना की गई है । और टीका-

१ ‘एक्कारस वि गणहरे पवायण पवयणस्य वदामि ।

सब्ब गणहरवस वायगवस पवयण च ॥८२॥’

—आ० नि०

२. ‘पूर्वगत सूत्रमन्यच्च विनेयान् वाचयन्तीति वाचका तेषां वश —क्रमभाविपुरुषपर्वप्रवाह ।’

—न० सू० टी०, गा० ३० ।

३. पट्ख०, पु० १४, पृ० २२ ।

४. अनेकान्त, वर्ष १, पृ० ५७७ ।

५. ‘जच्च जणथाउसमप्पहाणमुद्धिय कुवलयनिहाण ।

वड्ढउ वायगवसो रेवइनक्खत्तनामाण ॥३१॥’

कार मलयगिरिने उन्हें नागहस्तीका शिष्य बतलाया है ।

इसके सिवाय प्रज्ञापनासूत्रके प्रारम्भमे दो गाथाओके द्वारा उसके कर्ता श्यामार्यको नमस्कार करते हुए उन्हें वाचकवरवशका तेईसवाँ धीर पुरुष बतलाया है । चूँकि ग्रन्थकी आदिमें ग्रन्थकार अपनेको नमस्कार नहीं करता, इसलिए टीकाकार मलयगिरिने उन दो गाथाओको अन्यकर्तृक कहा है, किन्तु व्याख्यान दोनो गाथाओका किया है । उन्होने लिखा है कि सुधर्मा स्वामीसे लेकर भगवान् आर्य श्याम तेवीसवे थे । इसका मतलब यह होता है कि परम्परा सुधर्मसे आरम्भ हुई । (किन्तु सुधर्मसे श्यामार्य तक स्थविरोकी सख्या १२ ही होती है) अतः भगवान् महावीर और उनके शेष दस गणधरोको भी उसमें सम्मिलित करके वीरसे श्यामार्य तककी तेईस^१ सख्या पूरी की गई है और इस तरहसे वाचकवरोका वश भगवान् महावीरसे प्रारम्भ हुआ माना जाता है । किन्तु जिस श्यामार्यको प्रज्ञापनाका कर्ता और वाचकवशका तेवीसवाँ पुरुष कहा है उनकी स्थिति निर्विवाद नहीं है । मेरुतुगकी^२ विचारश्रेणिमें उस स्थान पर कालकाचार्यका नाम है । और व्याख्यामें लिखा है कि यह निगोदव्याख्याता कालकाचार्य ही श्यामार्य है या अन्य है, यह विचारणीय है । तपागच्छकी^३ पट्टावलीमें उन्हे तत्त्वार्थसूत्रकार स्वातिका शिष्य बतलाया है । और वीर निर्वाणके ३७६वे वर्षमें उनका स्वर्गवास बतलाया है । पट्टावलीसारोद्धारमें^४ भी यही काल दिया है । (एक टिप्पणीमें^५ लिखा है कि चार कालकाचार्य हुए, जिनमेंसे प्रथम इन्द्रके प्रतिबोधक निगोदका व्याख्यान करने-वाले श्यामाचार्य थे, जो स्वातिके शिष्य थे और वी० नि० स० ३२० से ३३५ में हुए थे । नन्दिसूत्रकी स्थविरावलीमें भी उन्हे स्वातिका शिष्य बतलाया है ।)

किन्तु प्रज्ञापनामें जो उन्हें वाचकवरवशका तेवीसवाँ पुरुष बतलाया है उससे

१ 'वाचकवरवसाउ तेवीसइमेण धीरपुरिसेण ।

दुद्धरधरेण सुणिणा पुव्वसुयसमिद्धबुद्धीण ॥३॥

सुयसागराविण्णुण जेण सुययणमुत्तम दिण्ण ।

सीसगणस्स भगवओ तस्स णमो अज्जसामस्स ॥४॥

टी०—'वाचका पूर्वविदो वाचकाश्च ते वराश्च वाचकवरा वाचकप्रधानास्तेषा वशः प्रवाह । सुधर्मस्वामिन आरभ्य भगवानार्यश्यामस्त्रयोविंशतितम एव ।'

—प्रज्ञा०

० 'अयं च प्रज्ञापनोपाङ्गकृतसिद्धान्ते श्रीवीरादन्वेकादशगणभृद्धि सह त्रयोविंशतितम पुरुषः श्यामार्य इति व्याख्यात ।' ततोऽस्ती श्यामार्योऽन्यो वेति चिन्त्यम् ।'—वि०श्र० ।

३ पट्टा० स०, पृ० ४६ ।

४ पट्टा० स०, पृ० १५० ।

५ 'चत्वार कालिकाचार्या । तद्यथा—प्रथम शक्रप्रतिबोधकः प्रज्ञापनासूत्रकृत श्रीस्वाति-सूरिशिष्य श्यामाचार्य वी० स० ३२० तः ३३५'—पट्टा० स०, पृ० १९८ ।

केवल यही व्यक्त होता है कि वे पूर्वविदोकी परम्परामेने थे । किन्तु उगमे वाचक-वशकी स्थितिपर कोई प्रकाश नहीं पड़ता ।

यह हम ऊपर लिख आये हैं कि आवश्यकनिर्युक्तिमे गणधरवंशके गाय वाचक-वशको भी नमस्कार किया है । विशेषावश्यकभाष्यके रचयिता जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणने अपने भाष्यमे^१ उसका विवेचन करते हुए लिखा है कि 'यदि गणधरो और वाचकोका वश न होता तो जिनवर भगवान् और गणधरोसे उत्पन्न हुए श्रुतका ग्रहण, धारण और दान आदि कीन करता ? जंग गणाधिप (गीतमादि) और गणधर (जम्बूरवामी आदि शेष आचार्य) द्वादशागके वक्ता होनेके कारण शिष्योके हितकारी हैं, वेगे ही उस सूत्रके पाठक उपाध्याय गी शिष्योंके हितकारी हैं । अतः उन उपाध्यायोके वशको भी नमस्कार करते हैं ।'

इस भाष्यके अर्थसे स्पष्ट है कि जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणने वाचकवशमे द्वाद-शागके पाठकोकी परम्पराका ही ग्रहण किया है । उन्होंने वाचकनामके किसी विशेष वशकी सूचना नहीं की ।

अतः मूल द्वादशागके वेत्ता वाचक कहे जाते थे और उनको परम्पराको वाचकवश कहते थे । किन्तु नन्दिसूत्रमे जो नागहस्तीके वाचकवशका उल्लेख है वह उक्त सामान्य अर्थमे प्रयुक्त न होकर विशेष अर्थमे प्रयुक्त हुआ है ।

(आर्यमंगु और नागहस्तीमेंसे आर्यमंगुकी गणना दशपूर्वियोंमें की जाती है, क्योंकि वे अन्तिम दशपूर्वी वज्रस्वामीसे पहले हुए माने जाते हैं । किन्तु नागहस्ती वज्रस्वामीके पश्चात् हुए थे, अतः वे दशपूर्वी नहीं थे । वज्रस्वामीके उत्तराधिकारी^२ आर्यरक्षित थे । वे सम्पूर्ण नौ पूर्व और दशम पूर्वके २४ यविक मात्रके पाठी थे । उनके शिष्य दुर्बलिका पुष्पमित्र नौ पूर्व पढ़कर भी नवें पूर्वको भूल गये ।)

प्रभावकचरितमें^३ आर्यनन्दिलको आर्यरक्षितके वशका तथा साढे नौपूर्वी वत-लाया है । किन्तु नन्दीसूत्रकी टीकामें मलयगिरिने आर्यनन्दिलको आर्यमंगुका शिष्य वतलाया है और आर्य नन्दिलके शिष्य नागहस्ती थे । नन्दिसूत्रमे आर्यमंगुको श्रुत-सागरका पारगामी और आर्यनन्दिलको दर्शन, ज्ञान एवं तपमे नित्य उद्यत तथा नागहस्तीको कर्मप्रकृतिमें प्रधान वतलाया है । (टीकाकार मलयगिरिने नन्दीसू-टीकामें 'कर्मप्रकृति प्रसिद्ध है' मात्र इतना ही लिखा है । किन्तु कर्मप्रकृतिकी टीका-में उन्होंने दूसरे अग्रायणी पूर्वके पंचम वस्तु अधिकारके अन्तर्गत चतुर्थ प्राभूतका

१. 'जिणगणहरुग्गयस्म वि सुयस्स को गहणधरणत्तणाइ

कुणमाणो यह गणहरवायगवसो न होज्जाहि ॥१०६६॥

सीसहिंया वत्तारो गणाहिंवा गणहरा तपत्थस्स

सुत्तस्सोवज्जाया वसो तेसिं परम्परओ ॥१०६७॥'—विशे० भा० ।

२ विशे० भा०, टी, गा० २५११ ।

३ 'आर्यनन्दिल प्रबन्ध'—प्र० च० ।

नाग कर्मप्रकृति बतलाया है। यह वही कर्मप्रकृतिप्राभूत है जिसके अन्तिम ज्ञाता दिगावर परम्परामें धरसेनाचार्य थे और जिसे उनमें पढ्यार भूतबलि और पुष्प-दन्तने पटखण्डागमकी रचना की थी। अतः नागहस्ती पूर्वपदाश्वेदी थे। उनके समयमें पूर्वोक्त ज्ञानका बहुत कुछ लोप हो गया था। सम्भवतः इसीसे उन्होंने वाचकोकी परम्परा (वश) स्थापित करके उनके वच्चे-खुच्चे अशोको सुरक्षित बनाये रगनेका प्रयत्न किया था।

श्वेताम्बर परम्परामें पूर्वोक्त ज्ञानकी परम्पराका चलन वीर नि० के एक हजार वर्ष पर्यन्त माना गया है। माथुरी वाचनाके समयमें वलभीमें आगमवाचना करनेवाले नागार्जुनको नन्दिसूत्रमें वाचक तथा उनके गुरु हिमवन्तको पूर्वधर लिखा है। इससे प्रकट होता है कि कम-से-कम माथुरी वाचना पर्यन्त पूर्वविद् थे। (किन्तु माथुरी और उसके समकालीन वालभी वाचनाओंमें यद्यपि ग्यारह अशोकी वाचना तो हुई, किन्तु पूर्वोक्त किसी भी अशोकी वाचना नहीं हुई। यदि हुई होती तो माथुरी वाचनाके डेढ़सौ वर्ष बाद वलभीमें हुई अन्तिम वाचनामें ग्यारह अशोकी तरह पूर्वोक्त भी कुछ अश अवश्य लिपिवद्ध किए जाते, किन्तु ऐसा नहीं किया गया। अतः स्पष्ट है कि श्वेताम्बर परम्परामें पूर्वोक्त ज्ञान नागहस्तीसे पहले ही विलुप्त हो चुका था। वह भी घटते-घटते देवद्विगणिके कालमें केवल विषयसूची आदिके रूपमें ही अवशिष्ट रहा, जिसका प्रमाण नन्दिसूत्र तथा समवायागसूत्रमें पायी जानेवाली दृष्टिवादविषयक सूची है) अस्तु, अब हमें देखना है कि नन्दिसूत्रकी स्थविरावलीमें आगत आर्यमगु और नागहस्ती कब हुए थे।

नन्दिसूत्रमें आर्यमगुके पश्चात् आर्य नन्दिलको स्मरण किया है और उनके पश्चात् नागहस्तीको। नन्दिसूत्रकी चूर्णि और हरिभद्रकी नन्दिवृत्तिमें भी यही क्रम पाया जाता है। तथा दोनोंमें आर्यमगुका शिष्य आर्य नन्दिलको और आर्य नन्दिलका शिष्य नागहस्तीको बतलाया है। इससे नागहस्ती आर्यमगुके प्रशिष्य अवगत होते हैं। किन्तु मुनि कल्याणविजयजीका कहना है कि आर्यमगु और आर्य नन्दिलके बीचमें चार आचार्य और हो गये हैं और नन्दिसूत्रमें उनसे सम्बद्ध दो गाथाएँ छूट गई हैं जो अन्यत्र मिलती हैं। अपने इस कथनके समर्थनमें उनका कहना है कि आर्य मगुका युगप्रधानत्व वीर नि० ४११ से ४७० तक था। परन्तु आर्य नन्दिल आर्य रक्षितके पश्चात् हुए थे और आर्य रक्षितका स्वर्गवास वी० नि० स० ५९७ में हुआ था। इसलिए आर्य नन्दिल वी० नि० स० ५९७ के पश्चात् हुए थे। इस तरह मुनिजीकी कालगणनाके अनुसार आर्य मगु और आर्य नन्दिलके मध्यमें १२७ वर्षका अन्तराल है। और उसमें आर्य नन्दिलका समय और जोड़ देने पर आर्य मगु और नागहस्तीके बीचमें १५० वर्षके लगभग अंतर वैरता है। अतः मुनि कल्याणविजयजीके अनुसार आर्य मगु और नागहस्ती सम-

कालीन नहीं हो सकते । किन्तु जयधवलाकार^१ चूणिसूत्रोंके वर्तमान आचार्य यतिवृषभको आर्य मंथुका शिष्य और नागहस्तीका अन्तेवारी बतलाते हैं । यद्यपि माधरणतथा शिष्य और अन्तेवारीका एक ही अर्थ माना जाता है तथापि चूँकि अन्तेवारीका शब्दार्थ 'निकटमे रहनेवाला' भी होता है और उगलिये यतिवृषभको नागहस्तीका निकटवर्ती साक्षात् शिष्य और आर्यमंथुका परम्परा शिष्य माना जा सकता है । किन्तु जयधवलाकारका कहना है कि यतिवृषभने उन दोनोंके पादमूलमें गुणधर कथित गाथाओंके अर्थका श्रवण किया । अतः दोनों समकालीन होने चाहिये ।

जयधवलाकारके अनुसार गुणधर आचार्य अगज्ञानियोंकी परम्परा समाप्त होनेपर वीर नि० सम्वत् ६८३ के बादमे हुए । और श्वेताम्बर मान्यताके अनुसार आर्य मगुका युगप्रधानत्व वीर नि० सम्वत् ४७० में समाप्त हुआ । अतः गुणधरका समय मगुसे दो सौ वर्षोंसे भी अधिक उत्तरकालीन होनेमे गुणधरकी गाथाएँ आर्य मगुको प्राप्त नहीं हो सकती । रहे नागहस्ती । सो यदि मुनि कल्याणविजयजीके मतानुसार आर्य मगु और नागहस्तीके मध्यमे १५० वर्षोंका अन्तर मान लिया जाता है तो वीर नि० स० ६२० में उन्हें पट्टासीन होना चाहिए । श्वेताम्बर परम्परामें उनका युगप्रधातकाल ६१ वर्ष माना जाता है । अतः उनका समय वी० नि० ६८९ तक जाता है । यदि गुणधराचार्यको वीर नि० स० ६८३ के लगभगका सानकर सीधे गुणधरसे ही नागहस्तीको कसायपाहुडकी प्राप्ति हुई मान ली जाये, जैसा कि इन्द्रनन्दिका मत है, तो गुणधर और नागहस्तीका पौर्वापर्य बैठ जाता है, किन्तु एक दूसरी बाधा उपस्थित होती है—

जयधवलाकार और इन्द्रनन्दि दोनोंका कहना है कि आर्यमंथु और नागहस्तीके पास कसायपाहुडके गाथासूत्रोंका अध्ययन करके यतिवृषभ आचार्यने उनपर चूणिसूत्र रचे । वर्तमान त्रिलोकप्रज्ञप्तिके आधारपर यतिवृषभका समय वी० नि० स० १०००के आस-पास होता है । अतः उक्त प्रकारसे गुणधर और नागहस्तीका पौर्वापर्य बैठ जानेपर भी नागहस्ती और यतिवृषभका गुरु-शिष्यभाव नहीं बनता, नागहस्तीके दूसरे साथी आर्यमगुको तो पहले ही छोड़ा जा चुका है ।

यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना उचित होगा कि स्वयं यतिवृषभने आर्यमंथु या नागहस्तीका कोई निर्देश नहीं किया । उनके चूणिसूत्रोंमे किसी आचार्यका संकेत तक नहीं है । त्रिलोकप्रज्ञप्तिके अन्तमें एक गाथामे गुणधरका नाम होनेकी सम्भावना अवश्य है । अपने चूणिसूत्रोंमे वे पवाइज्जमाण और अपवाइज्जमाण

१. 'जो अजमखुसीसो अतेवासी वि नागहस्तिवस्त ।

सो वित्तिसुत्तकत्ता जइवसहो मे वर देख ॥८॥'

उपदेशका निर्देश अवश्य करते हैं, किन्तु किसका उपदेश पवाइज्जमाण और किसका उपदेश अपवाइज्जमाण है इसकी कोई चर्चा नहीं करते। यह चर्चा करते हैं जयधवलाकार, जिन्हें इस विषयमें अवश्य ही अपने पूर्वके अन्य टीकाकारोंका उपदेश प्राप्त रहा होगा। ऐसी अवस्थामें आर्यमक्षु, नागहस्ती तथा यतिवृषभके गुरुशिष्य-भावको सहसा काल्पनिक और भ्रान्त भी नहीं कहा जा सकता।

ऐसी स्थितिमें यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि क्या दिगम्बर परम्परामें आर्यमक्षु और नागहस्ती नामके श्वेताम्बर परम्पराके उक्त नामधारी दोनो आचार्योंसे भिन्न कोई दूसरे ही आचार्य हुए हैं जो महावाचक और क्षमाश्रमण जैसी उपाधियोसे भूषित थे ? किन्तु इस विषयमें कहींसे प्रकाश प्राप्त नहीं होता, क्योंकि किसी दिगम्बर पट्टावलीमें इन आचार्योंका नाम नहीं मिलता।

इसके सिवाय दोनोकी तुलना करनेसे कतिपय बातोंमें समानता भी पायी जाती है। श्वेताम्बर परम्पराके आर्यमगुकी तरह दिगम्बर परम्पराके आर्यमक्षु भी नागहस्तीसे जेठे थे, क्योंकि जयधवलाकारने सर्वत्र नागहस्तीसे पहले आर्यमक्षुका नाम निर्देश किया है। दूसरे, मगलाचरणमें तो आर्यमक्षुको ही विशेष महत्त्व देते हुए लिखा है—‘जिन आर्यमक्षुने गुणधर आचार्यके मुखसे प्रकट हुई गाथाओंके समस्त अर्थका अवधारण किया, नागहस्ती सहित वे आर्यमक्षु हमें वर प्रदान करें।’ यहाँ नागहस्तीका केवल नाम निर्देश किया है और आर्यमक्षुको गुणधर-कृत गाथाओंके समस्त अर्थका अवधारक कहा है। किन्तु आर्यमक्षुको ज्येष्ठता देने-पर भी जयधवलाकारने उनके उपदेशको ‘अपवाइज्जमाण’ और नागहस्तीके उपदेशको ‘पवाइज्जमाण’ कहा है। जो उपदेश सर्वाचार्य सम्मत होता है और चिरकालसे अविच्छिन्न सम्प्रदायके क्रमसे चला आता हुआ शिष्यपरम्पराके द्वारा लाया जाता है उसे पवाइज्जमाण कहते हैं। किन्तु जयधवलाकारने आर्यमक्षुके सभी उपदेशोंको ‘अपवाइज्जमाण’ नहीं कहा है। ऐसे भी प्रसंग हैं जहाँ दोनोके उपदेशोंको ‘पवाइज्जमाण’ कहा है। परन्तु ऐसे प्रसंग वे ही हैं जिनमें आर्यमक्षु और नागहस्तीमें मतैक्य है। इससे यह प्रकट होता है कि नागहस्तीके उपदेश ही पवाइज्जमाण माने जाते थे—आर्यमक्षुके नहीं।

उधर श्वेताम्बर साहित्यमें आर्यमगुकी एक कथा पाई जाती है, जिसमें लिखा है कि आर्यमगु मथुरामें जाकर भ्रष्ट हो गये थे और मरकर पक्ष हुए थे। शायद इसीसे उनके उपदेशोंका मूल्य नहीं रहा था। इत्यादि बातोंसे दोनो परम्पराओंके उक्त समान नामवाले दोनो आचार्य एक ही प्रतीत होते हैं।

इस सम्बन्धमें एक बात और भी उल्लेखनीय है। नन्दिसूत्रके अनुसार नागहस्ती कर्मप्रकृति (महाकर्मप्रकृतिप्राभूत) के विशिष्ट ज्ञाता थे और जयधवलाकारने अनुसार कपायप्राभूतके विशिष्ट ज्ञाता थे। नागहस्तीसे कपायप्राभूतका

करके यतिवृषभने उसके ऊपर चूर्णिमूर्तियोंकी रचना की थी । उन चूर्णिसूत्रोमें यतिवृषभने 'ऐसा कम्मपयडीसु' के द्वारा कर्मप्रकृतिका निर्देश किया है । इसमें यह प्रकट होता है कि यतिवृषभ महाकर्मप्रकृतिप्राभूतके भी ज्ञाता थे । सम्भवतया उसका भी अध्ययन उन्होने नागहस्तीसे किया होगा । इससे भी नन्दिसूत्रमें निर्दिष्ट नागहस्ती और जयधवलामे निर्दिष्ट नागहस्ती एक प्रतीत होते हैं ।)

ऐसा प्रतीत होता है कि चूँकि कपायप्राभूत और कर्मप्रकृति दोनों कर्मसिद्धान्तसे सम्बद्ध थे, इसलिए दोनोंके कुछ प्रतिपाद्य विषयोमें गमानता थी । दिगम्बर परम्परामें तो 'कर्मप्रकृति' नामक कोई ग्रन्थ अभीतक उपलब्ध नहीं है किन्तु श्वेताम्बर परम्परामें कर्मप्रकृति नामक एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है जो मुक्ताबाई ज्ञानमन्दिर डभोई (गुजरात) से प्रकाशित हुआ है । उसके कर्ताका नाम शिवशर्मसूरि कहा जाता है । किन्तु अभी वह निर्विवाद नहीं है । कर्मप्रकृतिकी उपान्त्य गाथामें कहा है '—मैंने अत्यदुद्धि होते हुए भी जैसा सुना वैसा कर्मप्रकृतिप्राभूतमे इस ग्रन्थका उद्धार किया । दृष्टिवादके ज्ञाता पुरुष स्वलिताशोको सुधारकर उनका कथन करे ।' इस ग्रन्थपर एक चूर्णि है । उसके आरम्भमें लिखा है कि—'विच्छिन्न कर्म-प्रकृति महाग्रन्थके अर्थका परिज्ञान करानेके लिए आचार्यने उसीका मार्थक नाम-धारी कर्मप्रकृतिसगहणी प्रकरण प्रारम्भ किया है ।' अतः यह ग्रन्थ प्राचीन होना चाहिए ।

इसके सक्रमकरण नामक अधिकारमें कपायप्राभूतके बन्धक महाधिकारके अन्तर्गत सक्रम-अनुयोगद्वारकी तरह गाथाएँ अनुक्रमसे पाई जाती हैं । तथा सर्वोपशमनानामक प्रकरणमें कपायप्राभूतके दर्शनमोहोपशमना नामक अधिकारकी चार गाथाएँ पाई जाती हैं । दोनों ग्रन्थोमें आगत उक्त गाथाओके कुछ पदो और शब्दोमें व्यतिक्रम तथा अन्तर भी पाया जाता है ।

यहाँ इस बातके निर्देशसे केवल इतना ही अभिप्राय व्यक्त करना है कि कपायप्राभूतके ज्ञाता कर्मप्रकृतिके और कर्मप्रकृतिके ज्ञाता कपायप्राभूतके अशत या पूर्णतः ज्ञाता होते थे । अतः नागहस्ती दोनोंके ज्ञाता थे और उन्हीकी तरह यतिवृषभ भी दोनोंके ज्ञाता थे । किन्तु कपायप्राभूतके वह विशिष्ट ज्ञाता थे ।

इसके सिवाय आर्यमक्षु और नागहस्तीको महावाचक कहा गया है । उधर नन्दिसूत्रमें नागहस्तीके वाचकवशका निर्देश है

इन सब बातोंके प्रकाशमें दोनों परम्पराओके उक्त दोनों आचार्य हमें तो अगल-अलग व्यक्ति प्रतीत नहीं होते । किन्तु ऐसी स्थितिमें यह प्रश्न पैदा होना स्वाभाविक है कि वे किस परम्पराके थे—दिगम्बर थे या श्वेताम्बर ? क्योंकि यो

१ 'इयं कम्मपयगडीओ जहा सुयं नीयमप्पमइणावि ।

सोहियणा भोगकय कहत्तु वरदिट्ठीवायन्तु ॥”

तो अन्तिम केवली जम्बूस्वामीके निर्वाणके साथ ही दोनों परम्पराओंके आचार्योंकी नामावली भिन्न हो जाती है। किन्तु श्रुतकेवली भद्रबाहु उसके मध्यमें एक ऐसे आलोकस्तम्भ है, जिनके प्रकाशकी किण्वोंको दोनों अपनाये हुए हैं। उनके पश्चात् ही मध्वभेदका सूत्रपात होता है, जो आगे जाकर विक्रम सम्बत्की द्वितीय अताब्दीके पूर्वार्धमें स्पष्ट रूप ले लेता है। अतः श्रुतकेवली भद्रबाहुके पश्चात् अन्य कोई आचार्य ऐसा नहीं हुआ, जिसे दोनों परम्पराओंने मान्य किया हो। इससे उक्त प्रश्न पैदा होना स्वाभाविक है। उसके समाधानके लिए हमें दोनों परम्पराओंमें उक्त दोनों आचार्योंकी स्थितिका विश्लेषण करना होगा।

गुणधर और धर्मसेनकी गुरुपरम्परा भिन्न थी। गुणधररचित कपायप्राभृतको आर्यमक्षु और नागहस्तीके द्वारा जानकर यतिवृषभने उसपर चूर्णिसूत्रोंकी रचना की और धर्मसेनसे महाकर्मप्रकृतिप्राभृतको पढ़कर भूतबलि और पुष्पदत्तने उसके आधारपर पदखण्डागम सिद्धान्तकी रचना की। इन दोनों ग्रन्थोंके कतिपय मन्त्रव्यो-
मे भेद भी पाया जाता है—जयध्वला और ध्वलाटीकामें उनकी चर्चा है। उनका निर्देश करते हुए टीकाकारने दोनोंको भिन्न^१ 'आचार्योंका कथन' कहा है। इससे भी दोनों सिद्धान्तग्रन्थोंकी परम्पराके भेदका समर्थन होता है। किन्तु इस गुरु-परम्पराभेदमें ऐसी कोई बात नहीं ज्ञात होती है जिसमें श्वेताम्बर-दिगम्बरपरम्परा-रूप भेदका समर्थन होता हो या संकेत मिलता हो।

उपर श्वेताम्बर परम्परामें न तो गुणधराचार्यका नामोनिशा मिलता है और न यतिवृषभका। हाँ, 'सित्तरीचूर्ण'में 'कपायप्राभृत'का निर्देश अवश्य पाया जाता है। इधर दिगम्बर परम्परामें गुणधर, आर्यमक्षु और नागहस्तीका नाम कपाय-प्राभृतके निमित्तसे केवल जयध्वला और श्रुतावतारमें ही स्पष्टरूपसे आता है। किसी गुर्वावली या पट्टावलीमें इनका नाम हमारे देखनेमें नहीं आया।

श्वेताम्बर परम्परामें भी आर्यमगु और नागहस्तीका विवरण एक-एक गाथा-के द्वारा केवल नन्दिसूत्रकी स्थविरावलीमें ही पाया जाता है। इनके किसी मत-का या किसी कृतिका कोई उल्लेख श्वेताम्बर साहित्यमें नहीं मिलता। जब कि जयध्वलाके देखनेसे यह प्रकट होता है कि टीकाकार वीरसेन स्वामीके सामने कोई ऐसी रचना अवश्य थी, जिसमें इन दोनों आचार्योंके मतोंका स्पष्ट निर्देश था, क्योंकि यतिवृषभने अपने चूर्णिसूत्रोंमें 'पवाइज्जमाण' उपदेशका निर्देश अवश्य किया है किन्तु किसका उपदेश 'पावाइज्जमाण' और किमका उपदेश 'अपवाइ-ज्जमाण' है, यह निर्देश नहीं किया। इसका स्पष्ट विवेचन किया है टीकाकारने,

१ क०, पा०, भा० १, पृ० ३८६। पट्ट०, पु० १, पृ० २१७।

२ 'तच्च कमायपाहुडादिषु विहङ्गित्ति काउ परिसेसिय'—मि० चू०, पृ० १०।

अतः उनके मागने काई उक्त प्रकार की रचना अवश्य होना चाहिये। इस तरह आर्यमगु और नागहस्तीको हम दोनों परम्पराओंमें इस रूपमें पाते हैं कि उभयपक्ष में यह निर्णय करना शक्य नहीं है कि ये दोनों आचार्य श्रमक परम्पराय में थे। किन्तु एतना स्पष्ट है कि ये दोनों शिष्यावरो मगधत कर्मिष्ठान्तो प्रमत्त जाना थे और एतोंमें महावाचक कहे जाने थे। तर्मात्तन्ना मगधिया नियम है जिसमें दिगम्बर और श्वेताम्बरद्वयोर्दृष्ट्य मतभेदो हो तम ही स्थान प्राप्त है। तर्मा-सारार्थके वेत्ताओंकी एक स्मृतय परम्परा भी थी, ता शिष्यक यत्नयो थे। उन कर्मिकोंका मतान्तिओमें अन्त त्रिपयोमें मानेय ता, इत्याचार्य मार्गितो अव-लोचनगे ही यह बात प्रकट होती है। मैत्रान्तिओता म। दिगम्बर परम्परामें नहीं पाया जाता, किन्तु कर्मिकोंका मत दिगम्बर परम्पराके मतमें प्राप्त होता जाता है। आर्यमगु और नागहस्ती मगधतन्ना कर्मिया परम्पराय जानाये। दूसरी बात यह भी है कि ये दोनों आचार्य ऐसे समयमें जग, जग दिगम्बर-श्वेताम्बर भेदा प्राप्तय नहीं हुआ था। अतः तमन्ने-तम तर्मात्तन्नाके पठन-पाठामें उत नमय आम्नायभेदा प्रपन्न नहीं था। आगे मतान्तिओ और कर्मिकोंके मतभेदोंके प्रदर्शन-द्वारा उन त्रिपयार विमेष पक्षान्ता ज्ञात जायगा।

इस तरह दोनों परम्पराओंके उक्त आचार्य हमें भिन्न-भिन्न प्रनीत नहीं होय। फिर भी दोनोंकी समकालीनताका प्रश्न बना ही रहता है। उनके समकालीनता के लिये हमें सर्वप्रथम नन्दिमूत्रकी स्थविरावलीका ही पर्यवेक्षण करना होगा।

श्वेताम्बर आम्नायकी दो स्थविरावलिगा प्रमत्त और प्रानीन मानी जाती है। उनमेंसे एक कल्पसूत्रमें पाई जाती है और दूसरी नन्दिमूत्रमें। भद्रबाहु श्रुतवेवली-के गुम्भाई सभूतिविजयके शिष्य स्थूलभद्रगे दोनों स्थविरावलिगा चलती है। स्थूलभद्रसे पूर्वके स्थविरोंमें कोई अन्तर नहीं है।

स्थूलभद्रके दो शिष्य थे—आर्य महागिरि और सुहस्ती। आर्य महागिरिकी स्थविरावली नन्दिमूत्रमें है और आर्य सुहस्तीकी उत्पसूत्रमें। किन्तु दोनों गुर्वि-लियां देवद्विगणसे सम्बद्ध होनेमें देवद्विगणकी कही जाती है। मुनि दर्शनविज-यजी कल्पसूत्रस्थविरावलीको गणधरवशीय और नन्दिमूत्रपट्टावलीको वाचकवशीय बतलाते हैं। कल्प० स्थ० को क्यों गणधरवशीय माना गया है, यह हम नहीं समझ सके, क्योंकि दोनों ही स्थविरावलियां सुधर्मा गणधरमें आरम्भ हुई हैं। स्थूलभद्रके दो शिष्योंसे ही उनमें भेद पड़ता है। तथा आर्य महागिरिकी शिष्य-परम्परामें ही आर्यमगु और नागहस्तीका नाम आया है। आर्य महागिरिकी नन्दि-सूत्रोक्त शिष्यपरम्परा इस प्रकार है—बलिस्सह, स्वाति, श्यामार्य, आण्डल्य, ममुद्र, मगु, नन्दिल, नागहस्ति आदि। और आर्य सुहस्तिकी शिष्यपरम्परामें उनके

दो गिण्य हुए—मुस्थित और सुप्रवृद्ध । उन दोनोंके इन्द्रदिन्न नामका गिण्य हुआ । उसके आर्यदिन्न, उसके सिंहगिरि, उसके वज्रसेन आदि । नन्दिसूत्र स्थ० मे मगु और नन्दिलके बीचमे चार नाम और भी पाठान्तररूपमें मिलते हैं—वे हैं—आर्य धर्म, भद्रगुप्त, वज्र और आर्य रक्षित । वज्रका नाम कल्पसूत्रकी स्थविरावलीमें भी आया है । ये वज्रस्वामी^१ अन्तिमदसपूर्वी थे । इन्होंने सिंहगिरिमे दीक्षा ली थी और भद्रगुप्तसे पूर्वाका अध्ययन किया था । इसीमे गायद उन्हें दोनों स्थवि-गवलिओमे स्थान दिया गया है । किन्तु कल्पसूत्रकी स्थविरावलीके अनुसार आर्य सुहस्ति और वज्रस्वामीके बीचमे चार नाम हैं । और नन्दिसूत्रकी स्थविरावलीमें यदि उक्त चार नामोको सम्मिलित किया जाता है तो आर्य महागिरि और वज्र-स्वामीके बीचमे आठ नाम हो जाते हैं । अर्थात् वज्रस्वामी आर्य सुहस्तीकी पाचवी पीढीमे थे और आर्य महागिरिकी आठवी पीढीमे थे । उधर एक 'दु पाकाल श्री श्रमणसघस्तोत्र'^२ नामक पट्टावलीमे आर्य सुहस्ति और वज्रस्वामीके बीचमे होने-वाले सात युगप्रधानोके नाम दिये हैं और तपागच्छकी^३ पट्टावलीमें भी उनका निर्देश किया है । वे सात युगप्रधान हैं—गुणसुन्दर, कालिकाचार्य, स्कन्दिलाचार्य र्वेतीमित्र, धर्मसूरि, भद्रगुप्त और श्रीगुप्त । ये सातों नाम न तो कल्पसूत्रकी स्थ-विरावलीमे हैं और न नन्दिसूत्रकी स्थविगवलीमे । हाँ, पाठान्तररूपमे जो चार नाम नन्दिसूत्रकी स्थविगवलीमें सम्मिलित किये जाते हैं उनमेंसे दो नाम 'धर्मसूरि और भद्रगुप्त' इनमे हैं ।

मेरुगुने अपनी विचारश्रेणीमे लिखा है—'स्थूलभद्रके दो गिण्य थे—आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ती । उनमेंसे आर्य महागिरिकी शाखा मुख्य है । स्थवि-गवलीमे वह इस प्रकार कही है—सूग् वलिम्सह, स्वाति, श्यामार्य, गाडिल्य, ममुद्र, मगु, नदिल, नागहृत्थी, रेवती, सिंह, स्कन्दिल, हिमवन्त, नागार्जुन, गोविन्द भूतदिन्न, लोहित्य, दूष्यगणि और देवर्द्धि । श्रीवीरस्वामीके पञ्चात् सत्ताईसवें युग-प्रधान देवर्द्धिगणिने सिद्धान्तोका व्यवच्छेद न हो, इसलिये उन्हें पुस्तकारूढ किया दूसरी गाथा, जो कल्पसूत्रमे कही है, इस प्रकार है—'आर्य सुहस्ती, मुस्थित, इन्द्रदिन्न, आर्यदिन्न, सिंहगिरि, वज्रस्वामी, वज्रसेन । इन दोनों शाखाओमे आर्य सुहस्तीके पञ्चात् गुणसुन्दरका और श्यामार्यके पञ्चात् स्कन्दिलाचार्यका नाम नहीं

१ देखो, प्रभा० च० में वज्रस्वामीका चरित ।

२ पट्टा० म०, पृ० १६ ।

३. 'श्रीआर्यसुहस्ती श्रीवज्रस्वामिनोरन्तराल श्रीगुणसुन्दरम्', श्रीकालिकाचार्य, श्रीस्कन्दि-लाचार्य, श्रीरेवतीमित्रसूरि, श्रीधर्मसूरि, श्रीभद्रगुप्ताचार्य, श्रीगुप्ताचार्यश्च क्रमेण युगप्रधानमप्यत्र बभूव ।'

पाया जाता, तथापि सम्प्रदायमें देगा गया इमलिये कहा 'वैरा ही लिग दिया' ।

अतः श्वेताम्बर पट्टावलीया भी व्यवस्थित नहीं है । ३० वें ग्रन्थ (३० पृ०, जि० १९, पृ० २९३ आदि) नन्दिमूगकी म्प्रसिद्धालीके विषयमें लिखा है कि उगमें बड़ी अनिश्चितता है । अत्रर्चनी गाथा : १-३० के विषयमें लिखा है कि धोषक होनेसे वृत्तिमें उगका तबन नहीं लिखा । गाथा ३३-३४ पर टिप्पणी है कि इन दोनों गाथाओं का अर्थ आवश्यकतानुसारके आधारमें लिखा है, अत्रर्चनीमें भी नहीं है । गाथा ४१-४० प्रसिद्ध है । मारिन्द्राचार्यके विषयमें उगका तबन है कि 'शिवप्रक्रम का अभाव होनेसे वृत्तिमें नहीं कहा—आवश्यकतामें लिखा है ।'

३० नंबरने जो गाथानम्बर दिया है वह गाथानम्बर हमारे नामने उगस्थित स्थविगालीमें भेज नहीं गाता । यह लिखने है कि गाथानम्बर ३३, जिनमें आर्य नान्दल्ला निर्देश है, नन्देहाग्रपद है । मलयगिरिदीक्षावाले नन्दिमूगमें तत्ता पट्टावलीगमचनयमें प्रकाशित नन्दिमूगपट्टावलीमें आर्य नन्दिग्राली गाथा का नम्बर २१ है । उस तरह चारका अन्तर है । यदि दो प्रसिद्ध गाथाओंमें भी नन्दिग्राली कर लिया जाये तो भी दोका अन्तर रहता ही है । अतः नन्दिमूगकी पट्टावली भी सुव्यवस्थित नहीं है और इमलिये उगके आधारपर आर्यमग, और नागद्वन्द्वीके मध्यमें जो एक गताद्विमें भी अभिकता अन्तराल निरुद्धता है, निम्नवर्गीय नहीं माना जा सकता ।

गुणधर और धर्ममेनका पौर्वापर्य

आर्यमधु और नागहस्तिकी प्रासंगिक चर्चाके अनन्तर हम पुनः आ० गुणधरजी और आते हैं । आचार्य गुणधरके समयपर प्रकाश डालनेके लिए धर्ममेनके समयपर संक्षेपमें चर्चा करना अनुपयुक्त न होगा ।

धवलाकारने वीर-निर्वाणमें ६८३ वर्ष पश्चात् जब अगपरम्परा का विच्छेद हो गया, उनका भी होना बतलाया है । किन्तु जैसे गुणधर और यतिवृषभका नाम किमी दि० जैन पट्टावलीमें नहीं पाया गया, वैसी बात धर्ममेन और उनके शिष्य भूतवल्लि-पुष्पदन्तके विषयमें नहीं कही जा सकती । नन्दीसप्तकी प्राकृतपट्टावलीमें इन गुरु-शिष्योंका नाम पाया जाता है । यह पट्टावली कई दृष्टियोंमें महत्त्वपूर्ण है । यद्यपि इसमें भी महावीरके निर्वाणके पश्चात् ६८३ वर्षोंमें कालक्रममें होने-वाले आचार्योंकी नामावली प्रायः उसी क्रममें दी है जिस क्रममें वह तिलोय-पण्णत्ति, धवला, जयधवला आदिमें पाई जाती है किन्तु उममें जो कालगणना दी है उसमें उक्त सब ग्रन्थोंमें वैशिष्ट्य है । उक्त ग्रन्थोंमें महावीर-निर्वाणसे अन्तिम आचारागधर लोहाचार्य तककी कालगणना ६८३ वर्ष बतलाई है । किन्तु नन्दी० पट्टा० के अनुसार लोहाचार्य तक ५६५ वर्ष ही होते हैं । इस तरह

दोनोकी कालगणनामे ११८ वर्षका अन्तर है ।

उक्त ग्रन्थोके अनुरार महावीर निर्वाणके पश्चात् क्रमशः ६२ वर्षमे तीन-केवली, १०० वर्षोमे पाँच श्रुतकेवली और १८३ वर्षोमे ग्यारह दसपूर्वी हुए । न०प० मे भी यहाँ तक कोई अन्तर नहीं है । आगे उक्त ग्रन्थोमे पाँच एकादशाग-धारियोका काल २२० वर्ष और चार एकागधारी आचार्योंका काल ११८ वर्ष बतलाया है, जो अधिक प्रतीत होता है । किन्तु न० पट्टा० में ५ ग्यारह अग-धारियोका काल १२३ वर्ष और चारका काल ९९ वर्ष बतलाया है जिसमें २ वर्ष की भूल होनेसे ९७ वर्ष होते हैं, अतः ११८ वर्षका अन्तर स्पष्ट है । इन ११८ वर्षोमें क्रमसे अर्हद्वलि, माघनन्दि, धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि हुए । इसप्रकार इस पट्टावलीके अनुसार धरसेनका समय वीर-निर्वाणसे ६१४ वर्ष पश्चात् आता है । पट्टावली^१में धरसेनका काल १९ वर्ष, पुष्पदन्तका तीस वर्ष और भूतबलिका बीस वर्ष बतलाया है । अतः इन तीनोंका समय वीरनिर्वाणके पश्चात् ६१४से ६८३ वर्षके अन्दर आता है ।

पीछे धवलासे जो श्रुतावतारका आख्यान दिया है उससे यह स्पष्ट है कि धरसेनाचार्य मन्त्रशास्त्रके भी विद्वान् थे । उनके द्वारा रचित एक जोणिपाहुड नामक ग्रन्थका निर्देश १५५६ वि० सम्वत्मे लिखी गई बृहट्टिप्पणिका नामक सूचीमे पाया जाता है । उसमें^२ उसे धरसेनके द्वारा वीरनिर्वाणसे ६०० वर्ष पश्चात् रचा हुआ लिखा है ।

इससे भी नन्दी० पट्टा० क धरसेनविषयक समयकी पुष्टि होती है । अतः धरसेनका समय विक्रमकी दूसरी शताब्दीका पूर्वार्द्ध प्रमाणित होता है ।

पहले लिख आये हैं कि वीरसेनने वीर-निर्वाणसे ६८३ वर्ष बाद गुणधर और धरसेनका होना बतलाया है । और इन्द्रनन्दिके कथनसे यह स्पष्ट है कि इन दोनों आचार्योंकी गुरुपरम्परा विस्मृतिके गर्तमे जा चुकी थी । फिर भी जो वीरसेन स्वामीने उक्त दोनों आचार्योंका उक्त समय बतलाया है वह सभवतया इस आधारपर बतलाया है कि अगज्ञानके रहते हुए उसे लिपिबद्ध करनेका कोई प्रयत्न नहीं किया गया । अगज्ञानियोकी परम्परा समाप्त हो जानेपर जब श्रुतविच्छेद-

१ 'अर्हिवल्लि माघनट्टि य धरसेण पुप्फयत भूतबली ।

अटवीस हगवीम उगणाम तीस नीस वास पुणो ॥१६॥

इसासय अठार वासे ड्यगधारी य मुणिवरा जादा ।

छ मय तिरामिय वासे णिव्वाणा अगदिति कहिय जिणे ॥१७॥' न०प०

इस पट्टावली तथा धरसेनके समयकी विवेचनाके लिए देखें—पट्ट० पु० १, की प्रस्तावना, तथा 'समन्तभद्र' पृ० १६१ ।

२ 'योनिप्राभृत वीरात् ६०० धरसेनम् ।' बृह० टिप्प०, जैन०सा०म० भाग १, २ ।

का भय उपस्थित हो गया तथा उसने बच्चे-गुच्चे अशोभा दिखाए, अन्त में निन्ता उत्पन्न हुई ।

किन्तु अगजानियाली परम्परा समाप्त हो जाना चाहता था धृतिप्रेरक भयही सम्भावनाही होना हम समझते प्रतीत नहीं होता, क्योंकि वषावप्राभृत और पट्टपण्डितमही रचना पूर्वा में अविशिष्ट वन अशोभे आचार्य हृदय और पूर्वाकी अविच्छिन्न परम्परा का अन्त और निबोधन ३८५ वष पञ्चान् हो रहा गया था । उगते होनेपर भी-भी पूर्वाके अविशिष्ट वन अशोभे आचार्य हृदय और पूर्वाकी अविच्छिन्न परम्परा का अन्त हो जानेपर भी समझान तीन भी वर्णन भी अन्तिम कालतक क्रमशः दीयमान अनन्तानमे वनमान रहा । इनमें मुख्य का-का विच्छिन्न पूर्वाके अविशिष्ट अशोभे मुराधन रगनेही भावना न होना और अब अगजान ही नष्ट हो चुका वन वन होना या याता प्रतीत नहीं होता । पौराणिक यह स्पष्ट किया गया है कि अगजान पूर्वाका विशेष मन्त्र है । और पूर्वाका जान ६८३ वर्षों में मरने ही विच्छिन्न हो गया । अतः उनके विच्छिन्न होनेके पञ्चान् हो ही उनमें मुराधन रगनेही भावना का उत्पन्न होना स्वाभाविक है ।

फिर भी यत धर्मनारायण वष विक्रमही मुराधन अनादिसा पूर्वाका परमाणु होता है और लगभग यही समय (वी० नि० ६००-६८९) अन्तर्गत पट्टवलीके अनुसार नागहस्तीका आता है । और गुणधर अन्तर्गत रगने भावना जर्ममशु और नागहस्तीको प्राप्त हुई थी, अतः गुणधर अन्तर्गत ही उनमें पूर्वाका होने चाहिये ।

धरमेन और नागहस्तीकी सम्भावना अन्तर्गत भी सम्भव प्रतीत होती है कि दोनों कर्मप्रकृतिप्राभृतके जाता थे । धरमेनने कर्मप्रकृतिप्राभृतका जान भूतवलि-तथा पुष्पदन्तको दिया, उन्होंने उगत आचार्य पट्टपण्डितमही रचना की । उनके पश्चात्तमे कर्मप्रकृतिप्राभृतका विच्छेद हो गया । टीकाकार धरमेन ने स्वामीके अनुसार उगो कर्मप्रकृतिप्राभृतका निदान अपने चर्चामुखीमे 'एना कम्मपयडीमु' लिखकर यातवृषभने भी किया है । यातवृषभका नागहस्तीके नागप्राभृतका जान प्राप्त हुआ था और नागहस्ती कर्मप्रकृतिके विशिष्ट जाता थे । अतः धरमेन और उनके शिष्य भूतवलि-पुष्पदन्त तथा नागहस्ती और उनके शिष्य यातवृषभ ऐसे समयमें हुए थे, जब कर्मप्रकृतिप्राभृत विच्छिन्न नहीं हो सका था । अतः इनके मध्यमें दीर्घकालका अन्तर सम्भव प्रतीत नहीं होता । और ऐसी स्थितिमें आचार्य गुणधर अवश्य ही धरमेनके पूर्वकातिक प्रतीत होते हैं ।

यह ऊपर लिख आये हैं कि नन्दिराघकी पट्टवलीमें लोहाचार्यके पश्चात् ११८

वर्षमें क्रमशः पाँच आचार्योंका होना बतलाया है वे आचार्य हैं—अर्हद्वलि, माध-
नन्दि, धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि । इनमेंसे अर्हद्वलिके विषयमें इन्द्रनन्दिने
अपने श्रुतावतारमें लिखा है कि उन्होंने जैनधर्ममें मघोकी रचना की थी । जो मुनि
शाल्मलिमहावृक्षके मूलसे पधारे थे उनमेंसे कुछको 'गुणधर'^१ सज्ञा दी और कुछको
'गुप्त' नाम दिया । यदि ये 'गुणधर' नाम आचार्य गुणधरकी स्मृतिमें दिया गया
हो तो स्पष्ट है कि गुणधराचार्य अर्हद्वलिमें पहले हो चुके थे । किन्तु चूँकि गुणधर
सज्ञा देनेका कोई कारण नहीं बतलाया गया, इसलिये हमपर विशेष जोर नहीं
दिया जा सकता । फिर भी यह सज्ञा उपेक्षणीय भी नहीं है ।

प्रकृत विषयपर और भी प्रकाश डालनेके लिये हमें धवला और जयधवलाको
टटोलना होगा । वीरसेन स्वामीने गुणधरको वाचक और आर्यमधु तथा नागहस्ती-
को महावाचक लिखा है । और धवलाकी टीकामें वाचकका अर्थ पूर्वविद् किया है ।
जैसे गुणधर कपायप्राभूतके ज्ञाता थे, वैसे ही धरसेन भी कर्मप्रकृतिप्राभूतके ज्ञाता
थे । किन्तु फिर भी धरसेनको वाचक नहीं लिखा, इसका कारण क्या है ?

इसके समाधानके लिये हमें धवला और जयधवलाके प्रारम्भिक भागपर दृष्टि
डालनी चाहिये । धवलाके प्रारम्भमें वीरसेन स्वामीने धरसेनको अष्टागमहानि-
मित्तका पारगामी लिखा है, किन्तु किसी पूर्व या उसके अशका ज्ञाता नहीं लिखा,
पुष्पदन्त-भूतवलिको क्या पढ़ाया, यह भी स्पष्ट नहीं किया—ग्रन्थ पढ़ाया और ग्रन्थ
समाप्त होगया । जब पुष्पदन्त सत्प्ररूपणाके सूत्रोंकी रचना करके जिनपालितको भूत-
वलिके पास भेजते हैं तब उन्हें भय होता है कि 'महाकर्मप्रकृतिप्राभूतका विच्छेद
हो जायेगा । और उसपरमें यह अनुमान करना पड़ता है कि धरसेनने अपने शिष्योंको
महाकर्मप्रकृतिप्राभूत पढ़ाया था और वह उसके ज्ञाता थे । आगे तो वीरसेनने
स्पष्टरूपसे उन्हें महाकर्मप्रकृतिप्राभूतका ज्ञाता लिखा है । अब जयधवलाको देखिये ।
मगलचरणके पद्यसे ही यह स्पष्ट होजाता है कि गुणधरने कपायप्राभूतका गाथा-

१ ये शाल्मलीमहाद्रुममूलाद्यतयोऽभ्युपगतास्तेषु । कौशिके गुणधरगङ्गान् काञ्चिद् गुप्ता-
ह्वयानकरोत् ॥९४॥ श्रुता० ।

२ 'अट्ठगमहाणिमिरापरण्ण'—बट्स०, भा० १, पृ० ६७ ।

३ 'गथो पारब्बो गथो समाणिदो'—पृ० ७० ।

४ महाकम्मपयटिपाहुटस्स वोच्छेदो होहदित्ति'—पृ० ७१ ।

५. 'महाकम्मपयटिपाहुडामियजलपवाहो धरसेणभडारय मपत्तो । भूतबलि पुप्फदन्ताण
महाकम्मपयटिपाहुट सयल समाणिद । महाकम्मपयटिपाहुडमुवमहरिऊण छप्पडाणि
कयाणि ।—बट्स, पु० ९, पृ० ५३ ।

६ 'जेणिह कसायपाहुडमणेयणयमुज्जल अणत्तत्थ । गाहाहि विवरिय न गुणधरभडारय
वदे ॥६॥ क० पा० भा० १ ।

ओढ़ाया व्याख्यान किया। मंगलाचरणके पदनात् आदिवाचनमें ही गुणधरका गुणगान करते हुए वह लिखते हैं—‘ज्ञानप्रवाद पूर्वके निर्मल दग्धे वस्तु-अवि-कारके तीसरे कपायप्राभृतस्पी समुद्रके जलममूहमें धोये गये मतिज्ञानस्पी लोचनों-से जिन्होंने त्रिभुवनको प्रत्यक्ष कर लिया है ऐसे गुणधर भट्टारक है और उनके द्वारा उपदिष्ट गाथाओमें सम्पूर्ण कपायप्राभृतका अर्थ गमाया हुआ है। आगे पुन वीरसेन स्वामीने तीसरे कपायप्राभृतको महाममूहकी उपमा दी है और गुणधरको उसका पागामी बतलाया है। किन्तु धवलामे धर्मनाचार्यके प्रति उन प्रकारके उद्गार दृष्टिगोचर नहीं होते।

इन बातोंसे प्रतीत होता है कि गुणधर पूर्वविदोंकी परम्परामें थे। किन्तु धरसेन पूर्वविद् होते हुए भी पूर्वविदोंकी परम्परामें नहीं थे। दूसरे, धर्मनाचारी अपेक्षा गुणधर अपने विषयके विविष्ट अथवा पूर्ण ज्ञाता थे और उसका कारण यह हो सकती है कि गुणधर ऐसे समयमें हुए थे जब पूर्वोंके आधिक ज्ञानमें उतनी कमी नहीं आई थी जितनी कमी धरसेनके समयमें आगयी थी। इन सब बातोंपर विचार करनेसे गुणधर धरसेनमें पूर्ववर्ती प्रतीत होते हैं।

इस विषयमें एक बात और भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है। उन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें लिखा है कि ‘भूतबलि आचार्यने पट्टण्डागमकी रचना करके उसे पुस्तकोमें न्यस्त किया और ज्येष्ठ जुबला पचमीके दिन चतुर्विध मधके साथ उसकी पूजा की। उसके कारण यह तिथि श्रुतपचमीके नाममें ख्यात हुई। आज भी जैन उस दिन श्रुतकी पूजा करते हैं।’

धरसेनाचार्यने मुनिमधको पत्र लिखकर दो मुनियोंको बुलाया था और पटा-लिखाकर उन्हें योग्य बनाया था। उन्होंने अधीत आगमके आधारमें ग्रन्थरचना करके उसको पुस्तकोमें न्यस्त कराया, अतः मधके द्वारा उसका उत्सव मनाया जाना उचित ही था। किन्तु गुणधरने तो स्वयं ही दोसौ तेतीस गाथाओमें समस्त कपायप्राभृतको निबद्ध किया था। और उन्हें पुस्तकोमें भी न्यस्त नहीं किया था, क्योंकि जयधवलामे लिखा है कि आचार्यपरम्परासे आती हुई वे गाथाएँ आर्य-मधु और नागहस्तीको प्राप्त हुई। और उन दोनोंके पादमूलमें उनके अर्थको सम्यक् प्रकारसे सुनकर यतिवृषपभने उनपर चूर्णिसूत्र बनाये।

१ ‘पुणो ताओ चैव सुत्तगाहाओ आइरियपरपराए आगच्छमाणो अज्जमल्लु पाग हत्थीण पत्ताओ। पुणो तेसिं दोण्हं पि पादमूले अत्थ मम्म मोऊण जयिवसहभडारण पवयणवच्छलेण चुणिसुत्त कथ’—५० पा०, भा० १, गा० १, पृ० ८८।

इन्द्रनन्दिने लिखा^१ है कि गुणधरने गाथासूत्रोको रचकर नागहस्ति और आर्यमक्षुके लिये उनका व्याख्यान किया और उन दोनोंके पास यतिवृषभने उन गाथासूत्रोका अध्ययन किया और उनपर वृत्तिसूत्ररूप चूणिसूत्रोकी रचना की ।

उक्त दोनों कथनोसे यही प्रमाणित होता है कि कपायप्राभृतके गाथासूत्र मौखिक ही प्रवाहित हुए । जब कि पट्खण्डागमके सूत्र पुस्तकबद्ध किये गये । अत आगमको सर्वप्रथम पुस्तकारूढ करनेके उपलक्ष्यमें हर्ष मनाना उचित ही था ।

इससे भी यही प्रतिफलित होता है कि कपायप्राभृतकी रचनाके समय आगम-को पुस्तकारूढ करनेकी परिपाटी प्रचलित नहीं हुई थी । जबकि पट्खण्डागमके समय उसका प्रचलन हो चुका था । इससे भी पट्खण्डमसे कपायप्राभृतके पूर्व-वर्तित्वका ही समर्थन होता है । अत गुणधर धरसेनसे पहले होने चाहिये । कपायपाहुड नाम और विषयवस्तुका स्रोत

कपायप्राभृत प्राकृतगाथासूत्रोमे निबद्ध है । इसको पहली गाथा^२मे बतलाया है कि पाँचवें पूर्वके दसवे वस्तु-अधिकारमें पेज्जपाहुड नामक तीसरा प्राभृत है, उससे यह कपायप्राभृत उत्पन्न हुआ है ।

पीठिकामें पूर्वोके अन्तर्गत अधिकारोका परिचय कराते हुए बतलाया गया है कि प्रत्येक पूर्वमें वस्तुनामक अनेक अधिकार होते हैं और एक-एक वस्तु-अधिकारके अन्तर्गत बीस-बीस प्राभृताधिकार होते हैं । तथा एक-एक प्राभृताधिकारके अन्तर्गत चौबीस-चौबीस अनुयोगद्वार नामक अधिकार होते हैं । पाँचवे पूर्वका नाम ज्ञानप्रवाद है और उस ज्ञानप्रवादके अन्तर्गत वस्तु नामक बारह अधिकार हैं । और प्रत्येक वस्तु अधिकारके अन्तर्गत बीस-बीस प्राभृताधिकार हैं । उनमेंसे दसवे वस्तु अधिकारके अन्तर्गत केवल एक तीसरे प्राभृतसे प्रकृत कपायप्राभृत रचा गया है । इससे पूर्वोके महत्त्व, वैशिष्ट्य और विस्तारका अनुमान किया जा सकता है ।

कपायप्राभृतकी जयधवला^३ टीकामे तीसरे पेज्जपाहुडका परिमाण सोलह हजार पदप्रमाण बतलाया है । उस प्राभृतरूपी महार्णवको गुणधराचार्यने एकसौ अस्सी मात्र गाथाओमें उपसहृत किया है । इससे गुणधराचार्यकी उस विषयकी

१ 'एव गाथासूत्राणि पञ्चदशमहाधिकाराणि । प्रविरच्य व्याचख्यौ नागहस्त्यार्यमक्षुभ्याम् । पाञ्चवे तयोर्द्वयोरप्यधीत्य सूत्राणि नानि यतिवृषभ । यतिवृषभनामधेयो बभूव शास्त्रार्थ निपुणमनि ॥—श्रुता०

२ 'पुञ्जमि पञ्चममि दु ढसमे वत्थुमिहि पाहुडे तदिण । पज्ज ति पाहुडमि दु हवडि कमायाण पाहुट णाम ॥१॥—क०पा०, भा० १, पृ० १० ।

३ 'एद पेज्जदोमपाहुट सोलमपदसहम्मपमाण होंत अमीटिमदमेत्तगाहाहि उवमधारिड ।' क० पा० भा० १ पृ० ८७ ।

गाथाओमे कितनी सूत्रगाथाएँ हैं और कितनी असूत्रगाथाएँ हैं। ग्यारहवीं और बारहवीं गाथामें जिस ज़िम सूत्रगाथाकी जितनी भाष्यगाथाएँ हैं उनका निर्देश है। और तेरहवीं तथा चौदहवीं गाथामें कसायपाहुडके पन्द्रह अधिकारोंका नाम निर्देश है।

इस प्रकार प्रारम्भमें ही ग्रन्थके अन्तर्गत अधिकारों और उनमें गाथाओंके विभागका सूचन कर दिया गया है।

अधिकारोंके अनुसार सूत्रगाथाओं और भाष्यगाथाओंकी तालिका इसप्रकार है—

अधिकार नाम	गाथा सं०	चारित्र्यमोहक्षपणाकी भाष्य गाथाएँ		
		चारित्र्यमोह- क्षपणा	गाथा सं०	भाष्य गाथा
१-५ प्रारम्भके				
५ अवि०	३	१ प्रस्थापक	८	(१)५, (२)११, (३)
६ वेदक	४	२ सक्रामक	४	४ गा० (४)२ = २३
७ उपयोग	७	३ अपर्वतना	३	(१)३, (२)१, (३)
८ चतु स्थान	१६	४ कृष्टिकरण	११	४ = ८
९ व्यजन	५			(१)३, (२)२, (३)१२,
१० दर्शनमोहो- पशमना	१५			(४)३, (५)४, (६)२
११ दर्शनमोहक्षपणा	५	५ कृष्टिक्षपणा	४	(७)४, (८)४, (९)२
१२ समयमासयम- लब्धि और	१	६ क्षीणमोह	१	(१०) ५, = ४१
१३ चारित्र्य लब्धि				(१)१, (२)१, (३)१०
१४ चरित्रमोहो- पशमना	८	७ सग्रहणी	१	(४) २ = १४
१५ चारित्र्यमोह- क्षपणा	२८		२८	८६
	९२		सूत्रगाथा	भाष्यगाथा

- १ 'पच य तिणिण य दो न्त्तक चउक्क तिणिण निणिण ण्वका य । चत्तारि य तिणिण उमे पच य ण्वक तह य न्त्तक ॥११॥ वहाँ, पृ० १७१
तिणिण य चउरो तह दुग चत्तारि य होति तह चउक्क च । दो पच्चेव य ण्वका अण्णा ण्वका य दम्प दो य ॥१२॥' क० पा० पृ० १७१
२. 'पेज्जदामनिहत्ती त्तिट्ठि अणुभागे च वधग चैय । वेदग उवजोगे वि य चउट्ठाण वियजणे चैय ॥१३॥
सम्मत्तदेसविरयी सजम उवमामणा च गवणा च । दमणचरित्तमोहे अत्तापि-
माणणिद्धेमो ॥१४॥ क० पा०, भा० १, पृ० १७८ ।

२८ : जैनसाहित्यका इतिहास

इस प्रकार पन्द्रह अधिकारोकी मूलगाथाओका जोड ९२ है और इनमेसे चारित्रमोहकी क्षपणासे सम्बन्ध रखनेवाली २८ गाथाओमेंसे २१ गाथाओकी भाष्य-गाथाओका जोड ८६ है। इन सबका जोड $९२ + ८६ = १७८$ होता है। प्रारम्भ-मे पन्द्रह अधिकारोका नाम निर्देश करनेवाली दो गाथाओको जोडनेमे कुल गाथाओकी सख्या १८० होती है।

कसायपाहुडकी गाथासख्या

किन्तु कसायपाहुडकी कुल गाथाओकी सख्या २३३ है। पूर्वोक्त एकसौ अम्मी गाथाओके सिवाय ५३ गाथाएँ और भी हैं। १२ गाथाएँ सम्बन्धज्ञापक हैं, ६ गाथाएँ अच्चापरिमाणका निर्देश करती हैं, सक्रमवृत्तिमे सम्बन्ध ३५ गाथाएँ हैं। इन $१२ + ६ + ३५ = ५३$ गाथाओको १८० मे जोडनेसे कसायपाहुडकी गाथा-सख्या २३३ होती है। जयधवला-टीकाके रचयिता श्रीवीरसेन स्वामीके अनुसार इन समस्त गाथाओके रचयिता आचार्य गुणधर थे।

किन्तु जयधवला^१मे उन्होने स्वयं यह शका उठाई है कि जब कसायपाहुडकी गाथासख्या २३३ थी, तो गुणधराचार्यने ग्रन्थके प्रारम्भमे १८० गाथाओका ही निर्देश क्यों किया? वीरसेन स्वामीने उसका समाधान करते हुए लिखा है कि पन्द्रह अधिकारोमे विभक्त गाथाओका निर्देश करनेकी दृष्टिसे गुणधराचार्यने १८० गाथासख्याका निर्देश किया है, किन्तु बारह सम्बन्धगाथाएँ और अच्चापरिमाणका निर्देश करनेवाली छै गाथाएँ पन्द्रह अधिकारोमेसे किसी भी अधिकारसे वद्ध नहीं हैं, अतः उनको छोड दिया है।

तब पुनः शका की गई कि सक्रमणसम्बन्धी ३५ गाथाएँ तो बन्धक नामक अधिकारसे प्रतिबद्ध हैं, अतः उनको १८० के साथ मिलाकर २१५ गाथासख्याका निर्देश करना क्यों उचित नहीं समझा? इसका समाधान करते हुए वीरसेन स्वामीने कहा है कि प्रारम्भके पाँच अर्थाधिकारोमे केवल तीन ही गाथाएँ हैं और उन तीन गाथाओसे वधे हुए पाँच अधिकारोमेसे बन्धक नामक अधिकारसे ही उक्त पैतीस गाथाएँ सबद्ध हैं, इसलिये उन पैतीस गाथाओको १८० मे सम्मिलित नहीं किया।

क्या इन गाथाओमे कुछ गाथाएँ नागहस्तिकृत भी हैं? इस प्रश्नपर विचार करनेसे ज्ञात होता है कि जयधवलाके अनुसार वीरसेन स्वामीसे पहले होनेवाले कुछ टीकाकारोका ऐसा मत रहा है कि एकसौ अस्सी गाथाओके सिवाय जो शेष ५३ गाथाएँ हैं वे नागहस्तिकृत हैं^२।

१ क० पा० भा० १, पृ० १८२-१८३।

२ 'अम्मीदिसदगाहाओ मोत्तूण अवसेसबद्धापरिमाणणिदेससक्रमणगाहाओ जेण नागहत्थिआइरियकयाओ तेण 'गाहासदे असीदे' ति भणिदूण नागहत्थिआइरिण पइज्जा कटा इदि के वि वक्खणाणइरिया मणति, तण्ण वडदे।'—क० पा०, भा० १, पृ० १८३।

अर्थात् प्रारम्भकी सम्बन्धनिर्देशक बारह गाथाएँ, अद्धापरिमाणका निर्देश करनेवाली १५ से २० तक छै गाथाएँ और सक्रमवृत्तिमम्बन्धी ३५ गाथायें किन्ही व्याख्याकारोके मतसे नागहस्तीकृत है। अत 'गाहासदे असीदे' इत्यादि प्रतिज्ञावाक्य नागहस्तीका है, गुणधरका नहीं। इन गाथाओके सम्बन्धमें दो बातें उल्लेखनीय है—एक तो प्रारम्भकी पहली गाथाको छोड़कर 'गाहासदे असीदे' आदि सम्बन्धनिर्देशक गाथाओपर और अद्धापरिमाणका निर्देश करनेवाली छै गाथाओपर यतिवृषभके चूर्णिमूत्र नहीं है, दूसरी बात यह है कि सक्रमसे सम्बद्ध ३५ गाथाओमेसे तेरह गाथाएँ शिवशर्म रचित माने जाने वाली कर्मप्रकृतिमे भी पायी जाती है।

यद्यपि इन बातोमे उक्त गाथाओके नागहस्तीकृत होनेका समर्थन नहीं होता, तथापि ये बातें उक्त गाथाओकी स्थितिपर यत्किञ्चित् प्रकाश तो डालती ही है।

किन्तु वीरसेन स्वामी उक्त व्याख्याकारोके मतमे सहमत नहीं है। उनका कहना है कि ऐसा माननेसे गुणधराचार्यकी अज्ञता द्योतित होती है। किन्तु यह युक्ति कोई जोरदार नहीं है। क्योंकि सोलह हजार पदप्रमाण कपायप्राभृतको एकसौ अस्सी गाथाओमें सक्षिप्त करनेवाले गुणधराचार्य स्वरचित गाथाओका अधिकारोमे विभाजन बतलानेके लिये ग्यारह गाथाएँ जितना स्थान नहीं रोक सकते थे। फिर 'गाहासदे असीदे' आदि गाथाओकी रचनाशैलीमे भी उनके अन्यकर्तृक होनेका आभास होता है। उन गाथाओका रचयिता पन्द्रह अधिकारो-में विभक्त एकमौ अस्सी गाथाओको किम अधिकारमे कितनी गाथाएँ है, यह बतलानेकी प्रतिज्ञा करता है। इस प्रकारकी प्रतिज्ञा गुणधरकृत सभ्य नहीं है, उन्हें यदि प्रतिज्ञा करनी होती, तो सोलह हजार पदप्रमाण कसायपाहुडको एकमौ अस्सी गाथाओमे सक्षिप्त करता हूँ, ऐसी प्रतिज्ञा करनी चाहिए थी। वे कसाय-पाहुडको उपसहृत करनेके लिये सन्नद्ध हुए थे, न कि स्वर्गचित गाथाओको स्व-रचित अधिकारोमे विभाजित करनेके लिये।

दूसरे 'मत्तेदा गहाओ', 'एदाओ सुत्तगाहाओ' आदि पद यह सूचित करते हैं कि इन गाथाओकी रचनासे पूर्व मूलगाथाओ और भाष्यगाथाओकी रचना हो चुकी थी। अन्यथा अमुक अमुक सूत्रगाथा है, इस प्रकारका कथन सम्भव नहीं था। एक बात और भी द्रष्टव्य है। गाथा १३-१४ में गुणधराचार्यने अधिकारोका निर्देश किया है। उन गाथाओकी 'टीकाके आरम्भमें ही जयध्वलाकारने यह शका उठाई है कि 'इम इस अधिकारमे इतनी इतनी गाथाएँ हैं' इस प्रकारके कथनसे ही पन्द्रह अधिकारोका ज्ञान हो जाता है। फिर इन गाथाओके द्वारा १५ अधिकारो-

३० जैनसाहित्यका इतिहास

का कथन किस लिये किया गया है ?

इसका समाधान करते हुए जयधवलकारने कहा है कि पूर्व निर्दिष्ट जिन गाथाओमें यह बतलाया है कि अमुक-अमुक अधिकारमें अमुक-अमुक गाथा सम्बद्ध है, वे गाथाएँ इन्हीं दो गाथाओकी वृत्तिगाथाएँ हैं अतः इनके बिना उनका कथन नहीं बन सकता ।

इस कथनमें यह स्पष्ट है कि अधिकार-निर्देशक गाथाओके पश्चात् ही अधिकारमें गाथाओका निर्देश करनेवाली गाथाएँ रची गई हैं, क्योंकि सूत्रगाथामें वृत्तिगाथा पहले नहीं रची जा सकती । और वृत्तिगाथाका सूत्रगाथासे पूर्व निर्देश भी कुछ विचित्र-मा ही लगता है ।

अतः अन्य व्याख्याकारोंका यह कथन कि 'गाहामदे अमीदे' आदि प्रतिज्ञावाक्य नागहस्तीका है, नितान्त उपेक्षणीय नहीं है ।

कसायपाहुडकी गाथाओका सूत्रत्व

यह पहले लिख आये हैं कि १६ हजार पदप्रमाण कसायपाहुडको गुणधराचार्यने केवल १८० गाथाओमें निबद्ध किया था । इतने विस्तृत ग्रन्थका इतनी थोड़ी गाथाओमें निबद्ध किये जानेमें उन गाथाओका सूत्ररूप होना स्वाभाविक ही है । इसीलिये गाथानम्बर २ में 'वोच्छामि सुत्तगाहा' पदके द्वारा गाथाओके सूत्ररूप होनेका निर्देश किया गया है ।

'सूत्र' शब्दका इतिहास बतलाते हुए डा० त्रिन्टर नीट्म्ने लिखा है—'सूत्र' शब्दका मूल अर्थ 'धागा' या 'डोरा' था, फिर 'योडसे शब्दोंमें निबद्ध 'नियम' या 'उपदेश' हो गया । जैसे वस्त्र अनेक धागोंमें बुना जाता है वैसे ही एक शिक्षणका क्रम इन सक्षिप्त नियमोंमें गणित किया जाता है । इस प्रकारके सक्षिप्त सूत्रोंमें ग्रथित बड़े ग्रन्थोंको भी सूत्र कहा जाता है । ये ग्रन्थ केवल प्रयोगात्मक कार्योंके काम आते हैं । इनमें अतिमक्षिप्त किन्तु सुष्टूरीतिसे किमी ज्ञान-विज्ञानका समावेश रहता है और इसलिये विद्यार्थी उन्हें सरलतामें स्मृतिमें रख सकते हैं । सभवतया भारतीयोंके इन सूत्रोंके समान विश्वके समस्त साहित्यमें दूसरी वस्तु नहीं है । कम-से-कम शब्दोंमें अधिक-से-अधिक कहना इन सूत्रात्मक ग्रन्थोंकी रचना करने वालोंका कर्तव्य होता है । भाष्यकार पतञ्जलिकी इस उक्तिको प्रायः उद्धृत किया जाता है, जिसका आशय यह है कि सूत्रकार अर्धमात्राके लाघवसे उतना ही प्रसन्न होता है जितना पुत्रोत्पत्तिमें (हि० ड० लि०, भा० १, पृ० २६८-२६९) ।

कसायपाहुडके गाथासूत्रोंमें भी कम-से-कम शब्दोंमें अधिक-से-अधिक कहनेका मफल प्रयत्न किया गया है, यदि ऐसा न किया जाता तो इतने विशाल ग्रन्थका इतनी थोड़ी गाथाओके द्वारा उपसंहार करना संभव न होता ।

जैन साहित्यके अवलोकनसे यह प्रकट है कि द्वादशांग बड़ा विशाल था ।

उसकी विशालताका परिचय पूर्वपीठिकामे दिया गया है। किन्तु उस विशाल द्वादशागको 'सूत्र' भी कहते थे। कालक्रमसे जैन परम्परामें व्यक्तिविशेषके द्वारा रचित ग्रन्थोको ही सूत्र कहनेकी परिपाटी प्रवर्तित होगई थी। उसके अनुसार जो गणधरके द्वारा कथित अथवा प्रत्येकबुद्धके द्वारा कथित अथवा श्रुतकेवलीके द्वाग कथित, अथवा अभिन्नदसपूर्वोके द्वारा कथित हो उसे सूत्र^१ कहते थे।

इसीमे जयधवलामे^२ यह शका की गई है कि गुणधराचार्य न तो गणधर थे, श्रुतकेवली थे न प्रत्येकबुद्ध थे और न अभिन्नदसपूर्वो थे। तब उनके द्वाग रचित गाथाओको सूत्र क्यों कहा गया? इस शकाका ममाधान करते हुए श्रीवीरमेन स्वामीने कहा है कि गुणधराचार्यके द्वाग रचित गाथाएँ निर्दोष हैं, अल्पाक्षर हैं, और असदिग्ध हैं, अतः सूत्रमम होनेसे उन्हें सूत्र कहा गया है।

इम समाधानके द्वारा जयधवलाकारने सूत्रके सर्वप्रसिद्ध लक्षणको उद्धृत करके कसायपाहुडके गाथाओकी सूत्रमजाका समर्थन किया है। सूत्रका^३ सर्वप्रसिद्ध लक्षण इम प्रकार है—'जिममें अल्प अक्षर हो, जो असदिग्ध हो, जिममे सार भरा हो, जिसका निर्णय गूढ हो, जो निर्दोष हो, मयुक्तिक हो और तथ्यभूत हो उसे विद्वान् सूत्र कहते हैं। सूत्रका यह लक्षण सर्वमान्य है।

इमपर भी जयधवलामे यह शका की गई है कि यह सम्पूर्ण सूत्रलक्षण तो जिनदेवके मुखमे निकले हुए अर्थपदोमे ही सभव है, गणधरके मुखमे निकली हुई ग्रन्थरचनामें नहीं, क्योंकि गणधरके द्वारा रचित द्वादशागरूप श्रुत तो बड़ा विशाल होता है? इमका ममाधान करते हुए कहा गया है कि गणधरके वचन भी सूत्रमम होनेमे सूत्र कहे जानेके योग्य होते हैं।

इस चर्चामे यही प्रकट होता है कि 'सूत्रमजाके योग्य वे ही रचनाएँ होती हैं जिनमें सूत्रका उक्त लक्षण घटित होता है। चूँकि इस प्रकारकी रचना करना साधारण व्यक्तिका काम नहीं है, अतः विशिष्ट व्यक्तियोकी उक्त प्रकारकी कृतिया भी सूत्र कही जा सकती हैं। फलतः गुणधररचित कसायपाहुडकी गाथाओको भी सूत्र कहा जा सकता है।

किन्तु गुणधराचार्यने जिन एकमी अस्सी गाथाओमें कसायपाहुडको उपसंहृत किया है उनमें उन्हें 'सुत्तगाहा' नहीं कहा। 'गाहासदे अमीदे' आदि जिन गाथाओके गुणधरकृत होनेमें विवाद रहा है उनमे ही उन्हें 'सुत्तगाहा' कहा है। उनमे भी

१ 'सुत्त गणधरकहिय तहेव पत्तेयबुद्धकहिय न। सुत्तकेवल्लिणा कहिय अभिण्णदसपुब्बि-
कहिय च ॥३४॥ भ० आ०।

२ क० पा०, भा० १, पृ० १५३-१५४।

३ 'अत्रोपयोगी श्लोक — अल्पाक्षरममन्त्रिग माग्वद्गृहनिर्णयम। निर्दोष हेतुमन्त्र मृत्र
मित्युच्यते बुधै ।'—क० पा० भा० १, पृ० १५४।

कुछको 'सुत्तगाहा', कुछको 'गाहा' और कुछको 'गभामगाहा' कहा है।

चारित्रमोहकी क्षपणा नामक पन्द्रहवें अधिकारमें कुल अट्ठाईस गाथाएँ हैं। उनमेंसे मातको 'गाहा' और जेप इक्कीसको 'सभामगाहा' कहा है। जिन गाथाओंका व्याख्यान करनेवाली भाष्यगाथाएँ हैं उन्हें 'गभामगाहा' (गभाष्यगाथा) कहा है। २८ मेंसे इक्कीस गाथाएँ ऐसी हैं जिनकी भाष्यगाथाएँ भी हैं, अतः उन्हें सभाष्यगाथा कहा है। और जेप मातको केवल 'गाहा' लिखा है। किन्तु 'मत्तेदा गाहाओका व्याख्यान करते हुए जयधवलाकारने' लिखा है कि 'ये मात गाथाएँ सूत्रगाथाएँ नहीं हैं, क्योंकि उनके द्वारा सूचित किये गये अर्थका व्याख्यान करनेवाली भाष्यगाथाओका अभाव है।'।

इसका मतलब तो यह हुआ कि गभाष्यगाथाओंको ही सूत्रगाथा कहना चाहिए। और ऐसा माननेमें केवल इक्कीस गाथाएँ ही सूत्रगाथा ठहरती हैं।

गाथामख्या नौकी उत्थानिकामें जयधवलाकारने लिखा है—'अब पन्द्रहवें अधिकारमें आई अट्ठाईस गाथाओंमेंसे कितनी सूत्रगाथाएँ हैं और कितनी सूत्रगाथाएँ नहीं हैं, इसप्रकार पूछने पर असूत्रगाथाओका प्रमाण बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं। जिसमें अनेक अर्थ सूचित हो उमें सूत्रगाथा^३ कहते हैं और जिसमें अनेक अर्थ सूचित न हो उमें असूत्रगाथा कहते हैं।' इमें भी उक्त कथनका ही समर्थन होता है।

किन्तु गाथामख्या दोमें एकसी अस्सी गाथाओंको सूत्रगाथा कहा है और जयधवलाकारने उसका समर्थन किया है। 'वोच्छामि सुत्तगाहा जयिगाहा जम्मि अत्थम्मि' पदका व्याख्यान करते हुए जयधवलाकारने लिखा है—'उन एकसी अस्सी गाथाओंमेंसे जिस अधिकारमें जितनी सूत्रगाथाएँ पाई जाती हैं उन सूत्रगाथाओका मैं कथन करता हूँ। इस सूत्रगाथाके तीसरे चरणमें स्थित गाथाशब्दके साथ लगे हुए 'सूत्र' शब्दको इसी गाथाके चौथे चरणमें स्थित 'गाथा' शब्दके साथ भी लगा लेना चाहिये^४।'।

इसप्रकार जयधवलाकारने सभी गाथाओंको सूत्रगाथा स्वीकार किया है। ऐसी स्थितिमें यही समाधान उचित प्रतीत होता है कि गाथामख्या नौमें जो मात गाथाओंको असूत्रगाथा कहा है वह आपेक्षिक कथन है। चारित्रमोहक्षपणा नामक अधिकारकी इक्कीस गाथाओंकी दृष्टिसे ही वे असूत्रगाथाएँ हैं क्योंकि उनकी भाष्यगाथाओका अभाव है।

१ 'मत्तेदा गाहाओ अण्णाओ सभामगाहाओ ॥९॥'

२ क०पा०, भा० १, पृ० १६९

३ 'का सुत्तगाहा ? सूचिदणेतथा । अवरा असुत्तगाहा ।' वही, पृ० १६८ ।

४. वही, पृ० १८३ ।

रूप गाथाओको 'भा यगाथा' कहा है। तथा अन्य गाथाओको 'सुत्तगाहा' शब्दसे निर्दिष्ट किया है।

^१इन्द्रनन्दिने भी अपने श्रुतावतारमें सब गाथाओको गाथासूत्र कहा है। किन्तु उनमेंसे १८३ को (१८० होना चाहिये) मूलगाथा और शेष ५३ को विवरण-गाथा कहा है।

किन्तु जयधवलाकारने 'मूलगाथा' का अर्थ भी सूत्रगाथा ही किया है। संभवतया वे १८० गाथाओको मूलगाथा^३ या सूत्रगाथा मानते हैं। किन्तु चूर्णि-सूत्रकारने 'मूलगाथा' शब्दका व्यवहार केवल चारित्रमोहक्षपणानामक अधिकारमें आगत सभाष्य-गाथाओके लिये ही किया है और भाष्यगाथाओको छोड़कर शेष सबको सूत्रगाथा कहा है। यही हमें उचित प्रतीत होता है।

चूर्णिसूत्रकार श्रीयतिवृषभने कतिपय सूत्रगाथाओको उनके विषय-प्रतिपादन-के अनुसार कुछ अन्य नाम भी दिये हैं। वे नाम हैं—पृच्छासुत्त, वागरणसुत्त और सूचनासुत्त।

जिन गाथाओंमें किसी विषयकी पृच्छा की गई हो, कोई बात पूछी गई हो वे गाथाएँ पृच्छासूत्र कही गई हैं। चारित्रमोहक्षपणानामक अधिकारकी तीस मूलगाथाएँ पृच्छासूत्र हैं। अन्य अधिकारोंमें भी पृच्छात्मक गाथासूत्रोंकी पर्याप्त संख्या पाई जाती है।

पृच्छासूत्रका उदाहरण इस प्रकार है—

'किस^१ कपायमें एक जीवका उपयोग कितने काल तक होता है? कौन उपयोगकाल किससे अधिक है और कौन जीव किस कषायमें निरन्तर एक-सा उपयोगी रहता है? ॥ ६३ ॥

जयधवलाकारने 'वागरणसुत्त' का अर्थ किया है व्याख्यानसूत्र। अर्थात् जिसके द्वारा किसी विषयका व्याख्यान किया जाता है उसे व्याकरणसूत्र कहते हैं। इसका उदाहरण—'विवक्षित कृष्टिका बन्ध अथवा सक्रमण नियमसे क्या सभी स्थितिविशेषोंमें होता है? विवक्षित कृष्टिका जिस कृष्टिमें सक्रमण किया

१ अधिकांशीत्या युक्तं शतं च मूलसूत्रगाथानाम्। विवरणगाथानां च अधिकं पञ्चाशत्-मकार्षीत् ॥१५३॥

एवं गाथासूत्राणि पञ्चदश महाधिकाराणि प्रविरच्य व्याचख्यौ स नागहस्त्यार्यमस्तुभ्याम् ॥१५४॥

२ 'मूलगाथाओ नाम सुत्तगाहाओ'—क० पा० भा०।

३ 'एतथेव पयटी य मोहणिज्जा एदिस्से मूलगाहाण अत्थो ममत्तो।' क० पा० भा०

४ 'केवचिर उवजोगो कम्मि कसायम्मि को व केणहियो। को वा कम्मि कसाए अभिक्ख-मुवजोगमुवजुत्तो ॥६३॥

जाता है उसके सर्व अनुभागविशेषोंमें संक्रमण होता है। किन्तु उदय मध्यम-कृष्टिसे जानना चाहिये ॥ २१९ ॥

इस गाथा^१ पूर्वार्ध तो पृच्छासूत्ररूप है किन्तु उत्तरार्धको चूर्णिसूत्रकारने वागरणसुत्त कहा है।

जिस गाथाके द्वारा किसी विषयकी सूचना की गई हो उसको 'सूचनासूत्र' कहा है। जैसे गाथा ६७ के 'केवडिया^२ उवजुत्ता' पदमें द्रव्यप्रमाणानुगम, 'सग्गीसु च वग्गणाकसाएसु' पदमें कालानुगम, 'केवडिया च कमाए' पदमें भागाभाग, और 'के के च विमिस्सदे केण' पदमें अल्पबहुत्व, इस प्रकार ये चार अनुयोग तो सूत्रनिबद्ध हैं। किन्तु शेष चार अनुयोग सूचनारूप अनुमानमें ग्रहण कर लेना चाहिये।

कसायपाहुड शैली

गाथाओंके उक्त विवरणसे कसायपाहुडकी शैलीका आभास मिल जाता है। रचनाकी दृष्टिमें गाथाओंकी शब्दावली क्लिष्ट नहीं है किन्तु जैन कर्मसिद्धान्तसे सबद्ध होनेके कारण जैन कर्मसिद्धान्तका ज्ञाता ही उनका रहस्य समझ सकता है। परन्तु अधिकतर गाथाएँ पृच्छारूप हैं—उनमें प्रत्येक अधिकारसे संबद्ध विषयोंको प्रश्नके रूपमें निर्दिष्ट किया गया है किन्तु कहीं तो उन प्रश्नोंसे सम्बद्ध कुछ आवश्यक बातोंको सूत्ररूपसे कह दिया गया है, अन्यथा प्रश्नोंके द्वारा ही विषयोंकी सूचना देकर ज्यो-का-त्यो छोड़ दिया गया है। इसका कारण यह है कि इस ग्रन्थकी रचना जनसाधारणके लिये नहीं की गई है, किन्तु जैन कर्मसिद्धान्तके पारगामी बहुश्रुतोंके लिये की गई है। अतः इसके पृच्छासूत्रोंमें उठाये गये प्रश्नोंको हृदयगम करके उनका समाधान वही कर सकता है जो आर्यमक्षु और नागहस्तीकी तरह उस विषयका मर्मज्ञ हो।

इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें जो यह लिखा है कि गुणधर आचार्यने अपने द्वारा रचित कसायपाहुडकी गाथाओंका व्याख्यान आर्यमक्षु और नागहस्तीको किया, उसमें कितना तथ्य है, यह कहना तो शक्य नहीं है, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि गुणधराचार्यने कसायपाहुडकी रचना करके अवश्य ही उनका व्याख्यान अपने

१ 'त्रयो व सकमो वा णियमा सन्वेसु टिठदिविसेसु। सन्वेसु चाणुभागेसु सकमो मज्झिमो उदओ ॥२१९॥—'सन्वेसु चाणुभागेसु सकमो मज्झिमो उदओ सि एद मन्व वागरण सुत्ता—क. पा. सू. पृ० २८३।

२ 'केवडिया उवजुत्ता सरिसीसु च वग्गणाकसाएसु' चेति एदिस्से गाहाए अत्थ विहासा एसो गाहा सूचणासुत्त। एदीए सूचिदाणि अट्ठ अणिओगदाराणि।—क. पा. सू. पृ० ५८५।

किमी बहुश्रुत शिष्यको अवश्य किया होगा और वही व्याख्यान साक्षात् या परंपरा-से आर्यभट्ट और नागहस्तीको प्राप्त हुआ होगा। यदि ऐसा न होता, तो कसाय-पाहुडरूपी गागरमें जो श्रुत-सागर भरा हुआ है उसका उद्धाटन करना शक्य नहीं था।

प्रश्नात्मक प्रणाली बहुत प्राचीन है। बौद्धोंके अभिधम्मपिटककी शैली भी प्रश्नात्मक प्रणालीको लिये हुए है। प्रश्न और उत्तरके रूपमें विषयको सम-झाया गया है। श्वेता० आगमसाहित्यमें भी इस प्रणालीके दर्शन होते हैं। भगवती-सूत्र तो प्रश्नोत्तररूपमें ही है। गौतम गणधरके प्रश्नोंका उत्तर भगवान् महावीर देते हैं। संभवतया प्रश्नात्मक प्रणाली उसीकी सूचक है, क्योंकि भगवान् महावीर गौतम गणधरके प्रश्नोंका उत्तर देते थे। उसीसे श्रुतकी धाराको गति मिलती थी। वीरसेन स्वामीने 'जयधवलामें प्रश्नात्मक प्रणालीके विषयमें यही समाधान किया है। आचार्य यतिवृषभने भी अपने चूर्णिसूत्रोंमें इस प्रणालीको अपनाया है। उसका व्याख्यान करते हुए यह शका उठाई गई है कि यह पृच्छासूत्र किस लिये कहा है? इसका उत्तर दिया है—शास्त्रकी प्रामाणिकता बतलानेके लिये। इस पर पुन शका की गई कि पृच्छाके द्वारा शास्त्रकी प्रामाणिकता कैसे सिद्ध होती है? पुन उत्तर दिया गया—चूँकि यह पृच्छा गौतम स्वामीने तीर्थङ्कर भगवान् महावीरसे की है, अतः इससे शास्त्रकी प्रामाणिकताका बोध होता है।

वीरसेन स्वामीने इस सम्बन्धमें इतना और भी लिखा है कि 'इस पृच्छासूत्रके द्वारा चूर्णिसूत्रकारने अपने कर्तृत्वका निवारण किया है अर्थात् इससे उन्होंने यह सूचित किया है कि उन्होंने जिस तत्त्वका कथन किया है वह उनकी अपनी उपज नहीं है बल्कि गौतम गणधरने महावीर स्वामीसे जो प्रश्न किये थे और उनका जो उत्तर उन्हें भगवानसे प्राप्त हुआ था, उसे ही उन्होंने यहाँ निबद्ध किया है।'

अतएव संक्षेपमें कसायपाहुडकी शैली प्रश्नोत्तररूप मूत्र-शैली है। यह शैली वैदिक वाङ्मय और बौद्ध वाङ्मयके प्राचीन ग्रन्थोंमें भी पायी जाती है।

कसायपाहुडका विषय-परिचय

पहले लिख आए हैं कि आचार्य गुणधरने सोलह हजार पद प्रमाण कसाय-पाहुडको मात्र दो सौ तेतीस गाथाओंमें उपसंहृत किया है तथा उनमेंसे कुछ गाथाएँ सूचनात्मक, कुछ पृच्छात्मक और कुछ व्याकरणात्मक या व्याख्यात्मक हैं।

सर्वप्रथम गाथामें आचार्य गुणधरने यह बतलाया है कि पाँचवें पूर्वकी दसवीं वस्तुमें पेज्जपाहुड नामक तीसरा अधिकार है उससे यह कसायपाहुड उत्पन्न हुआ

है। इस तरह इन गाथाओं के द्वारा ग्रन्थकारने गन्ता नाम और उनके पर्यायों को सूचित किया है।

दूसरी गाथा में कहा है कि इन कर्मापाहुट में एकमात्र भर्मा गाथा है और वे पन्द्रह अधिकारों में विभक्त हैं। उनमें से जिन अष्टाध्यायों में जितना सूत्रगाथा में प्रतिबद्ध है, उन्हें मैं कहूँगा।

आगे की छह गाथाओं के द्वारा कहा है कि वेदजरोर्मात्राया, स्मृतिविभक्ति, अनुभागविभक्ति, बन्धावर्थात् बन्ध और मरुम एन पाँच अष्टाध्यायों में तीन गाथाएँ निबद्ध हैं। वेदकनामक अष्टाध्याय में चार, उपयोगनामक अष्टाध्याय में मान, चतुस्वाननामक अष्टाध्याय में मोह और गजननामक अष्टाध्याय में पाँच सूत्रगाथाएँ निबद्ध हैं। दर्शनमोहउपनामनामक अष्टाध्याय में पन्द्रह और दर्शनमोहक्षपणनामक अष्टाध्याय में पाँच सूत्रगाथाएँ हैं। गगमागमनन्धि और चारित्र्यलक्षिनामक अष्टाध्याय में एक ही गाथा है तथा चारित्र्यमोहउपनामनामक अष्टाध्याय में आठ सूत्रगाथाएँ हैं। चारित्र्यमोह की भाषणा के मध्यम में चार, मरुमण में चार, अपवर्तन में तीन, कृष्टिकरण में ग्यारह, ऋटिमोह की भाषणा में चार, क्षीणमोह में एक, गगहणों में एक, इसप्रकार मन मिलाकर चारित्र्यमोह के भाषणनामक अष्टाध्याय में अष्टाध्याय गाथाएँ हैं।

इस तरह आठ गाथाओं में प्रत्येक अष्टाध्याय मध्यन्धी गाथाओं का विभाजन करके आचार्य गुणधरने आगे की चार गाथाओं में सूत्रगाथाओं और उनकी भाष्य-गाथाओं का निर्देश किया है। उनके पञ्चान् दो गाथाओं में गन्त के पन्द्रह अष्टाध्याय-कारों का निर्देश किया है।

इनके पश्चात् छह गाथाओं में अज्ञापरिमाणका कथन है। उनमें काल के अल्पबहुत्वका कथन है। यथा—दर्शनोपयोगका जघन्यकाल सबसे कम है। इसमें विशेष अधिक चक्षुइन्द्रियावग्रहका जघन्यकाल है। इसमें विशेष अधिक श्रोत्रावग्रहका जघन्यकाल है। इसी तरह घ्राण-अवग्रह, जिह्वा अवग्रह, मनोयोग, वचन-योग, काययोग, स्पर्शन-अवग्रह, अवायज्ञान, ईहाज्ञान, श्रुतज्ञान और ज्वागो-च्छासका जघन्यकाल उत्तरोत्तर विशेष अधिक है। तद्भवस्य केवली के केवलज्ञान और केवलदर्शका काल तथा सकपाय जीव के शुक्ललेङ्गाका काल द्वाच्छोछ्वाम के जघन्यकाल से विशेष अधिक है। इन तीनों के जघन्यकाल में एकत्ववितर्क अवीचार ध्यानका जघन्यकाल विशेष अधिक है। इसी तरह पृथक्त्ववितर्कसवीचार ध्यान, उपशमश्रेणि से गिरे हुए सूक्ष्मसाम्परायिक, उपशमश्रेणि पर चढ़नेवाले सूक्ष्म-साम्परायिक, क्षपकश्रेणिगत सूक्ष्मसाम्परायिक, मान, क्रोध, माया, लोभ, क्षुद्रभवग्रहण, कृष्टिकरण, मरुमण, अपवर्तन, उपशान्तकपाय, क्षीणमोह, उपशामक,

क्षपकका जघन्यकाल उत्तरोत्तर विशेष अधिक है। इसी तरह आगे इनका उत्कृष्ट-काल कहा है।

जैनसिद्धान्तमें चर्चित उक्त विषयोको हृदयगम करनेके लिए कालके अल्प-बहुत्वका कथन अपना विशेष महत्व है। इसीसे आचार्य गुणधरने ग्रन्थके प्रारम्भमें छह गाथाओंसे उसका कथन किया है। इसके पश्चात् पन्द्रह अधिकारोंसे सम्बद्ध गाथाएँ प्रारम्भ होती हैं।

सबसे प्रथम अधिकार-सम्बन्धी गाथामें यह शका की गई है कि 'किस नयकी अपेक्षा किस कपायमें पेज्ज (प्रेय) होता है अथवा किस कपायमें किस नयकी अपेक्षा द्वेष होता है ? कौन नय किस द्रव्यमें दुष्ट होता है अथवा कौन नय किस द्रव्यमें प्रेय होता है ?'

इस आशकासूत्रका अभिप्राय यह है कि क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कपायोंमेंसे किस नयकी दृष्टिमें कौन कपाय राग है और कौन द्वेषरूप है ? रागद्वेषसे आविष्ट जीव किस द्रव्यको अपना अहितकारी द्वेषरूप मानता है और किस द्रव्यको रागरूप मानता है ? राग-द्वेष ही ससारकी जड़ है। इनके नष्ट हुए बिना जीव ससारसे मुक्त नहीं हो सकता। अतः उन्हींसे वर्ण्य विषयका प्रारम्भ होता है। आचार्य गुणधरने इस आशकासूत्रका स्वयं कोई उत्तर नहीं दिया। यह कार्य चूर्णिसूत्रकार और उसके व्याख्याकारोंने किया है।

इससे आगेकी गाथामें कहा है—'मोहनीयकर्मकी प्रकृति-विभक्ति, स्थिति-विभक्ति, अनुभाग-विभक्ति, उत्कृष्ट-अनुत्कृष्टप्रदेश-विभक्ति, क्षीणाक्षीण और स्थित्यन्तिककी प्ररूपणा करना चाहिए।'।

इस एक गाथाके द्वारा ही इस गाथामें आगत अधिकारोंका कथन आचार्य गुणधरने कर दिया है। वृत्तिकार और टीकाकारोंने प्रत्येक अधिकारका पृथक्-पृथक् विवेचन किया है।

यहाँ प्रसगवश सक्षेपमें कर्मसिद्धान्तपर थोड़ा-सा प्रकाश डालना उचित होगा।

कर्म-सिद्धान्त—

कसायपाहुड, छक्खडागम आदि समस्त करणानुयोगविषयक साहित्य कर्म-सिद्धान्तसे सम्बद्ध है। अतः उस सिद्धान्तका सामान्य परिचय यहाँ दिया जाता है।

यह तो प्रायः सभी परलोकवादी दर्शनोंने माना है कि आत्मा जैसे अच्छे या बुरे कर्म करता है, तदनुसार ही उसमें अच्छा या बुरा स्कार पड़ जाता है और उसे उसका अच्छा या बुरा फल भोगना पड़ता है। परन्तु जैनधर्म जहाँ अच्छे या बुरे स्कार आत्मामें मानता है वहाँ सूक्ष्म कर्मपुद्गलोका उस आत्मासे बन्ध भी

मानता है। उसकी मान्यता है कि इस लोकमें सूक्ष्म कर्मपुद्गलस्कन्ध भरे हुए हैं, जो इस जीवकी कार्यात्मक, वाचनिक या मानसिक प्रवृत्तिमें, जिसे जैन सिद्धान्तमें योग कहा है, आकृष्ट होकर स्वतः आत्मामें बद्ध हो जाते हैं और आत्मामें वर्तमान कपायके अनुसार उनमें स्थिति और अनुभाग पड़ जाता है। जब वे कर्म अपनी स्थिति पूरी होने पर उदयमें आते हैं तो अच्छा या बुरा फल देने हैं। इस तरह जीव पूर्ववद्ध कर्मके उदयसे क्रोधादि कपाय करता है और उनमें नवीन कर्मा बन्ध करता है। कर्ममें कपाय और कपायसे कर्मबन्धकी यह परम्परा अनादि है। इसी बन्धनमें छूटनेका उपाय धर्म माना जाता है। कर्मबन्धके चार भेद हैं—प्रकृतिबन्ध, स्थितिवन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध। कर्मोंमें ज्ञानको घातने, मुग्ध-दुःखादि देनेका स्वभाव पड़ना प्रकृतिबन्ध है। कर्म बन्धनेपर जितने समय तक आत्मके साथ बद्ध रहेंगे, उस समयकी मर्यादाका नाम स्थितिवन्ध है। कर्म तीव्र या मन्द जैसा फल दे उस फलदानकी शक्तिका पड़ना अनुभागबन्ध है। कर्मपरमाणुओकी संख्याके परिमाणका नाम प्रदेशबन्ध है। प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध योगमें होते हैं और स्थितिवन्ध एवं अनुभागबन्ध कपायमें होते हैं। मन, चित्त, कायकी प्रवृत्तिवा नाम योग है। यह योग जितना तीव्र या मन्द होता है, तदनुसार ही पौद्गलिक कर्मस्कन्ध आत्माकी ओर आकृष्ट होते हैं। जैसे हवा जितनी तेज, मन्द चलती है, तदनुसार ही धूल उड़ती है। और कपाय—क्रोध, मान, माया, लोभ जैसे—तीव्र या मन्द होते हैं, तदनुसार ही कर्मपुद्गलोंमें तीव्र या मन्द स्थिति और अनुभाग पड़ता है। इस तरह योग और कपाय बन्धके कारण है। इनमें भी कपाय ही ससारकी जड़ है।

कर्मके आठ मूल भेद हैं—१ ज्ञानावरण—जो आत्मके ज्ञानगुणको ढाकता है, २ दर्शनावरण—जो आत्मके दर्शनगुणको ढाकता है, ३ वेदनीय—जो जीवको सुख-दुःखका अनुभव कराता है, ४ मोहनीय—जो जीवको अपने स्वरूपके सबधमें विपरीत बुद्धि पैदा करता है, ५ आयु—जिसके उदयमें जीव कितना एक जन्ममें अमुक समय तक रहता है, ६ नाम—जिसके उदयसे जीवका नया शरीर वगैरह बनता है, ७ गोत्र—जिसके उदयमें जीव उच्च या नीच कहलाता है और ८ अन्तराय—जो जीवके कायोमें बाधा डालता है।

ये आठ कर्म मूल हैं। इनके १४८ भेद हैं, जिन्हें कर्मप्रकृतियाँ कहते हैं। इन कर्मोंकी दस अवस्थाएँ होती हैं, उन्हें करण कहते हैं। सबसे प्रथम बन्ध करण होता है—जीव कर्मसे बधता है या कर्म जीवसे बधता है। बधनेके पश्चात् ही कर्म तत्काल फल नहीं देता, उस अवस्थाको सत्ता कहते हैं। फल देनेका नाम उदय है। फल देनेके भी दो प्रकार हैं—समय पर फल देनेका नाम उदय है और असमयमें

फल देनेका नाम उदीरणा है। जैसे—आम पेडपर लगा-लगा गके तो वह सामयिक पकना है और उसे कच्ची अवस्थामें तौडकर भूसे वगैरहमें दबाकर जल्दी पका लिया जाये तो वह असमयका पकना है। इसी तरह वधे हुए कर्म जीवके परिणामो-का निमित्त पाकर असमयमें भी उदयमें लाकर नष्ट किये जा सकते हैं उसे उदीरणा कहते हैं। बन्धे हुए कर्ममें अपने अच्छे-बुरे परिणामोके प्रभावसे स्थिति-अनुभाग-को कम कर देना अपकर्षण करण है और बढा देना उत्कर्षण करण है। परिणामोसे कर्मको इस योग्य कर देना कि वह अमुक समय तक उदयमें न आसके उसे उपशम करण कहते हैं। परिणामोके द्वारा एक कर्मको अपने सजातीय अन्य कर्मरूप परिणमा देना सक्रम करण है। कर्मकी उस अवस्थाको तिष्ठति कहते हैं जिसमें न तो उसे उदयमें लाया जासके और न अन्य कर्मरूप ही किया जा सके। और उस अवस्थाको निकाचना कहते हैं जिसमें कर्मका उदय, सक्रमण, उत्कर्षण, अपकर्षण चारो ही संभव न हों।

इन आठ कर्मोंमें सबसे प्रधान मोहनीय कर्म हैं। उसके दो मुख्य भेद हैं—१ दर्शनमोह और २ चारित्रमोह। दर्शनमोहके उदयमें जीवको अपने स्वरूपकी रचि श्रद्धा, प्रतीति नहीं होती और जब तक वह न हो तब तक उसका समस्त धर्माचरण निरर्थक होता है, उसके होने पर ही मुक्तिका द्वार खुलता है। चारित्रमोहके भेद कपाय है। इस ग्रन्थमें केवल एक मोहनीयकर्मका ही विवेचन है, उसीके सत्त्व, बन्ध, उदय, सक्रमण, उपशम और क्षयका विवेचन है। प्रारम्भके अधिकारोमें प्रकृतिसत्त्व, स्थितिसत्त्व, अनुभागसत्त्व और प्रदेशसत्त्व आदिका कथन है। इनके साथ ही बाईसवीं गाथा समाप्त होती है।

तेईसवीं गाथा बन्धक अधिकारसे सम्बद्ध है। इसमें कहा है कि 'कितनी प्रकृतियोको बाधता है ? कितना स्थिति-अनुभागको बाधता है ? कितने प्रदेशोको बाधता है ? कितनी प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशका सक्रमण करता है ?'

बन्धका कथन तो नहीं किया, सक्रमका कथन आचार्य गुणधरने पैतीस गाथाओ-के द्वारा किया है। एक प्रकृतिका तथा उसकी स्थिति, अनुभाग और प्रदेशका अन्य सजातीय प्रकृति आदिमें परिवर्तनको सक्रम कहते हैं। यह भी चार प्रकारका है—प्रकृति-सक्रम, स्थितिसक्रम, अनुभागसक्रम और प्रदेशसक्रम। इन्हीका इसमें विवेचन है।

आगे चार गाथाओसे वेदक अधिकारका कथन है। ये चारो गाथाएँ भी प्रश्नात्मक हैं। यथा—कितनी प्रकृतियोका उदयावलीमें प्रवेश कराता है ? और किन जीवोके कितनी प्रकृतियाँ उदयावलीमें प्रविष्ट होती हैं ? क्षेत्र, मव, काल, और पुद्गलको निमित्त करके कितने कर्मोंका स्थिति, विपाक और उदयक्षय होता है ?

आशय यह है कि कर्मोंके फल देनेको उदय कहते हैं। इसके दो रूप हैं—उदय

और उदीरणा । कर्मोंकी स्थिति यथाक्रम पूरी होने पर फल देना उदय है । और तप आदिके द्वारा बलपूर्वक स्थितिका अपकर्षण करके कर्मोंको उदयमे ले आना उदीरणा है । इन्हीका विवेचन उग अधिकारमे है । आगे विवेचन उत्तरकालमे वृत्तिकार और टीकाकारने किया ।

इसके आगे सात गाथाओसे उपयोग अधिकारका कथन है । ये गाथाएँ भी प्रश्नात्मक हैं । यथा—किमी कपायमें एक जीवका उपयोग कितने काल तक होता है ? किस उपयोगका काल किसे अधिक है ? कौन जीव किंग कपायमे निरन्तर एक सदृश उपयोगमें रहता है आदि ?

आगे गोलह गाथाओमे चतुस्थान-अर्थाधिकारका कथन है । इममें क्रोध, मान, माया और लोभके चार-चार प्रकारका कथन है । इमीमे इमे चतु स्थान नाम दिया है । ये गाथाएँ प्रश्नात्मक नहीं हैं, विवरणात्मक हैं । केवल अन्तकी दो गाथाएँ प्रश्नात्मक हैं ।

क्रोधादिके उत्तरोत्तर हीनताकी, अपेक्षा चार स्थान जिनागममे प्रसिद्ध है—क्रोध चार प्रकारका है—पापाण-रेखाके समान, पृथिवी-रेखाके समान, बालू-रेखाके समान और जल-रेखाके समान । मानके भी चार भेद हैं—पत्थर, हड्डी, लकड़ी और लताके समान । मायाके भी चार प्रकार हैं—वाँगकी जड़, भेटेके मींग, गोमूत्र और अवलेखनीके समान । तथा लोभके भी चार प्रकार हैं—कृमिगण, अक्षमल, पाशुलेप और हल्दीमे रगे वस्त्रके समान ।

आगे इनके अनुभागकी हीनाधिकताका विवेचन है ।

आगे पाँच गाथाओसे व्यजन अधिकारका विवेचन है । इनमे चारो कपायोके समानार्थक नाम बतलाये हैं । जैसे—क्रोध, कोप, रोष आदि । मान, मद, दर्प, माया, निकृति, वचना, काम, राग, निदान, लोभ आदि ।

यहाँ तक कर्मरूप कपायोका कथन करनेके पश्चात् आगेके अधिकारोमे दर्शन-मोह और चारित्रमोहके उपशमन तथा क्षपणका कथन है ।

सबसे प्रथम मोक्षमार्गी जीवको उपशम सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है । अतः सम्यक्त्व-अधिकारमे प्रथम चार गाथाओके द्वारा तो कुछ प्रश्न उपस्थित किये गये हैं । जैसे—दर्शनमोहके उपशामकका परिणाम कैसा होता है ? किस योग, कपाय, उपयोग, लेश्या और वेदसे युक्त जीव दर्शनमोहका उपशम करता है ? पन्द्रह गाथाओसे सम्यग्दर्शनसे सम्बद्ध बातोंका विवेचन है । जैसे—दर्शनमोहनीय कर्मका उपशम करने वाला जीव चारो गतियोंमें होता है तथा वह नियमसे पचेन्द्रिय सज्जी और पर्याप्तक होता है । दर्शनमोहका उपशम होनेपर सासादन भी हो जाता है । किन्तु क्षय होनेपर सासादन नहीं होता । साकार उपयोग वाला

जीव ही दर्शनमोहके उपशमनका प्रस्थापक होता है किन्तु निष्ठापक भजितव्य है । दर्शनमोहकी उपशान्त अवस्थामे मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति ये तीनो उपशान्त रहते हैं । उपशमसम्यग्दृष्टि जीवके दर्शनमोहनीयकर्म अन्तर्मुहूर्त काल तक उपशान्त रहता है । इसके पश्चात् नियमसे उसके निध्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृतिमेंसे किसी एकका उदय होता है । सम्यक्त्वका प्रथम बार लाभ सर्वोपशमसे होता है ।

सम्यग्दृष्टि जीव सर्वज्ञके द्वारा उपदिष्ट प्रवचनका तो नियमसे श्रद्धान करता है । किन्तु अज्ञानवश सद्भूत अर्थको स्वयं नहीं जानता हुआ गुरुके नियोगमे असद्भूत अर्थका भी श्रद्धान करता है ।'

इस प्रकार इस अधिकारमें सम्यक्त्वका कथन विस्तारसे किया है ।

इससे आगे दर्शनमोहक्षपणा-अधिकारमें कहा है कि नियमसे कर्मभूमिमें उत्पन्न हुआ और मनुष्यगतिमें वर्तमान जीव ही दर्शनमोहकी क्षपणाका प्रस्थापक होता है, किन्तु उसकी पूर्ति चारो गतिमें होती है । मिथ्यात्ववेदनीय कर्मके सम्यक्त्व प्रकृतिमें अपवर्तित होनेपर जीव दर्शनमोहकी क्षपणाका प्रस्थापक होता है । दर्शन मोहके क्षीण हो जानेपर तीन भवमें नियमसे मुक्त हो जाता है । मनुष्यगतिमें क्षायिक सम्यग्दृष्टि नियमसे संख्यात हजार होते हैं । शेष गतियोमे असंख्यात होते हैं ।

उपशमसम्यक्त्वके पश्चात् क्षायिकसम्यक्त्व होने पर ही मुक्तिकी प्राप्ति होती है, क्योंकि दर्शनमोहका क्षय किये बिना मुक्तिकी प्राप्ति संभव नहीं है ।

आगे सयमासयमलब्धि नामक अधिकारमें एक गाथासे कहा है — 'सयमासयमकी लब्धि तथा चारित्रकी लब्धि, परिणामोकी वृद्धि और पूर्ववद्ध कर्मोकी उपशमना इस अधिकारमें वर्णन करने योग्य है । इतना कहकर ही यह अधिकार समाप्त कर दिया गया है । आगे चारित्रमोहकी उपशमना नामक अधिकारमें प्रारम्भकी ५ गाथाएँ तो प्रश्नात्मक हैं । बादकी तीन गाथाओंमें विषयसे सम्बद्ध बातोका विवेचन किया है । जैसे, यह प्रश्न किया गया है कि चारित्रमोहकी उपशमना करने वाले जीवका प्रतिपात कितने प्रकारका है तथा वह सर्वप्रथम किस कषायमें गिरता है ? उत्तरमें कहा है प्रतिपात दो प्रकारका है—एक भवक्षयसे अर्थात् आयु समाप्त हो जानेसे और दूसरा उपशमकालके समाप्त हो जानेसे । उपशमकालके समाप्त होनेसे जो प्रतिपात होता है वह सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानमें होता है अर्थात् ग्यारहवें गुणस्थानसे गिरकर दसवें आता है । किन्तु आयुक्षयसे जो प्रतिपात होता है वह स्थूल रागमें होता है । वह मरकर देव होता है ।

अन्तिम अधिकार चारित्रमोहक्षपणा है । दर्शनमोहका क्षय करनेके पश्चात् जीव चारित्रमोहका या तो उपशम करता है या क्षय करता है । यदि उपशम

करता है तो ग्यारहवे गुणस्थानमें पहुँचकर नियममें नीचे गिरता है । जैमा ऊपर कहा है । और क्षय करनेपर नियममें मोक्ष प्राप्त करता है । उमीसे उग अधिकार की गायामख्या एकमीसे भी अधिक है ।

चारित्रमोहनीयकी छवतीस कर्मप्रकृतियाँ शय करने वाले जीवके पूर्ववद्ध कर्मकी यथा स्थिति रहती है, उनमें अनुभाग कैसा रहता है, उस समय किम कर्म-का सक्रमण होता है और किमका सक्रमण नहीं होता, उत्यादि प्रधानपूर्वक उनका समाधान किया गया है । गाय ही क्षय होने वाली प्रकृतियों का शय किम प्रकार-में किस-किस आन्तरिक क्रियाके द्वारा होता है, यह भी विस्तारमें स्पष्ट किया है । कपायोके अनुभागका घटाकर उन्हें कुश किया जाता है, इसे कृष्टिकरण कहते हैं उस कृष्टिकरणविषयक जिज्ञासाका भी सूत्ररूपमें समाधान किया गया है ।

इस तरह मोहनीयकर्मके अनुभागका कृष्टिकरण करनेपर कृष्टिवेदनके प्रथम समयमें वर्तमान जीवके पूर्ववद्ध जानावरणादि कर्म किन-किन स्थितियोंमें और अनुभागोंमें वर्तमान रहते हैं तथा वर्तमानमें बँधने वाले और उदयमें आने वाले कर्म किन-किन स्थितियोंमें और अनुभागोंमें पाये जाने हैं, ये जिज्ञासाएँ करके उनका समाधान किया गया है । यथा—मोहनीयकर्मका कृष्टिकरण कर देनेपर नाम, गोत्र और वेदनीय ये तीन कर्म असख्यात वर्णकी स्थितिवाले होते हैं और शेष तीन धातियाँ कर्म सख्यात वर्णकी स्थितिवाले रहते हैं इत्यादि । अन्तिम गायामे कहा है—इस प्रकार मोहनीयकर्मके क्षीण होने तक सक्रमणा विधि, अपवर्तना विधि, और कृष्टिक्षपण विधि ये क्षपणा-विधियाँ मोहनीयकर्मकी क्रमसे जानना ।

इस अन्तिम कथनके साथ कसायपाहुड समाप्त होता है ।

इस तरह आचार्य गुणधरने इस ग्रन्थमें मोहनीयकर्मके प्रकृतिसत्त्व, स्थितिसत्त्व अनुभागसत्त्व और प्रदेशमत्त्वके पृच्छासूत्रात्मक कथनके साथ बन्ध, उदय, उदीरणाका निर्देशमात्र करके सक्रमणका कुछ विस्तारसे कथन किया है । एक कर्मप्रकृतिके अन्य सजातीय प्रकृतिरूप होनेको सक्रमण कहते हैं । इसके पश्चात् दर्शनमोहके उपशम और क्षपणका कथन करके अन्तमें चारित्रमोहके उपशमन और क्षपणका विस्तारसे कथन किया है ।

जिम तरह मोहनीयकर्मका बन्ध जीवके परिणामोंसे होता है उसी तरह उनका सक्रमण, उपशम, क्षय भी जीवके ही परिणामोंसे होता है । परिणामोंकी विशुद्धि मोहनीयकर्मके उपशमादिमें निमित्त पडती है और उपशमादि परिणामोंकी विशुद्धिमें निमित्त पडते हैं । विशुद्धि के तरतमाशका चित्रण कर्मसिद्धान्तके द्वारा किया जाता है । इसीसे कर्मसिद्धान्तके विश्लेषणने इतना वृहत् रूप लिया है ।

द्वितीय परिच्छेद

छक्खण्डागम (पट्खण्डागम)

दिगम्बर परम्पराका दूसरा महनीय ग्रन्थ छक्खण्डागम है। इस ग्रन्थकी विषय-वस्तु केवल जैन साहित्यकी दृष्टिसे ही नहीं, अपितु समस्त भारतीय वाङ्मयके इतिहासकी दृष्टिसे महत्वपूर्ण है। जीवकी स्वतन्त्रता और उसके कर्मसम्बन्धका सूक्ष्म विवेचन धर्म, दर्शन एवं सस्कृतिकी दृष्टिसे नितान्त श्लाघनीय है। यह केवल ग्रन्थ ही नहीं, अपितु वाङ्मय कोप है। अतएव वाङ्मयके इतिहासके विवेचन-सन्दर्भमें इस ग्रन्थकी विषय-वस्तु, रचना-काल, रचयिता, रचना-स्थान आदिपर विचार करना परमावश्यक है।

छक्खण्डागमका रचनाकाल

इस ग्रन्थके रचनाकालके सम्बन्धमें विचार करनेके हेतु ग्रन्थावतारका इति-वृत्त अंकित किया जा चुका है। बताया है कि यह ग्रन्थ उस समय रचा गया था, जब अङ्गो और पूर्वोका ज्ञान प्रायः लुप्त हो चुका था और विशकलित अज्ञानके भी लुप्त होनेका भय उपस्थित हो गया था। अतएव धरसेनाचार्यने पुष्पदन्त और भूतबलि नामक दो मुनियोंको महाकर्मप्रकृतिप्राभूतका अध्ययन कराया। गुरुद्वारा प्राप्त अपने ज्ञानके आधारपर ही उक्त दोनों आचार्योंने छक्खण्डागमकी रचना की।^१

नन्दिसघकी पट्टावलिके^२ अनुसार आचार्य धरसेनका समय वीर-निर्वाणसे ६१४ वर्ष पश्चात् आता है। धरसेनाचार्यकृत 'जोणिपाहुड' (योनिप्राभूत) ग्रन्थ उपलब्ध होता है। विक्रम सवत् १५५६ में लिखी गयी 'बृहट्टिप्पणिका'^३ नामकी सूचीके आधारपर उसे वीरनिर्वाणसे ६०० वर्ष पश्चात्का रचा हुआ माना गया है।

१ लोहाइरिये सग्यलोग गदे आथारदिवायरो अत्यमिओ। एव वारासु दिणयरेसु भरह-खेत्तमि अत्यमिएसु सेसाहरिया सव्वेसिमगपुब्बाणमेगदेमभूदपेज्जदोसमहाकम्मपयडि पाहुडादीण धारया जादा। एव पमाणीभूदमहरिसीपणालेण आगतूण महाकम्मपयडि-पाहुडामियजलपवाहो वरसेणभडारय सपत्तो। तेण वि गिरिणयरचदगुहाए भूदवलि पुप्फदताण महाकम्मपयडिपाहुड मयल समापिद। तदो भूदवलिभडारएण सुदणईप-वाहवोच्छेदमीण्ण भवियलोगाणुगहट्ठ महाकम्मपयडिपाहुडमुवसहरिऊण छक्खण्डाणि कयाणि।—पट्ख०, पु० ९, पृ० १३३।

२. पटख, पु० १ की प्रस्ता० पृ०, २५-२९।

३ 'योनिप्राभूत वीरात् ६०० धारसेनम्।'—जै. सा. स. १, २, परिशिष्ट।

इस 'टिप्पणिका' ग्रन्थकी एक प्रति भाण्डारकर ओरियंटल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना-में उपलब्ध है। इस प्रतिमें ग्रन्थका नाम तो 'योनिप्राभृत' ही बताया है। पर रचयिताका^१ नाम 'पणसमण' मुनि लिखा है। इन महामुनिने कुपमा-ण्डिनी देवीसे इसे प्राप्त किया था और अपने शिष्य पुष्पदन्त एव भूतबलिके लिए लिखा था।

इस कथनसे योनिप्राभृतके रचयिता धरसेनकी सभावना की जाती है। प्रज्ञा-श्रमणत्व एक ऋद्धि है। सम्भवतः धरसेनाचार्य इस ऋद्धिके धारी रहे हों। इसी कारण उन्हें प्रज्ञाश्रमण कहा जाता रहा हो।

यहाँ यह स्मरणीय है कि इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें गुणधरके समान धरसेनाचार्यकी गुरुपरम्परा अंकित नहीं की है और न ऐसा स्रोत ही उपलब्ध है, जिसके आधारपर धरसेनाचार्यकी गुरुपरम्परापर विचार किया जा सके। पर हाँ, पुष्पदन्त और भूतबलि ये दो इनके शिष्य हैं। उनके सम्बन्धमें पहले लिखा जा चुका है। पट्टावलीसे केवल इतना ही ज्ञात होता है कि धरसेनका समय वीर निर्वाण सवत् ६१४-६८३ के बीच होना चाहिए। अतः छक्खडागमका रचनाकाल विक्रम सवत्की प्रथम शताब्दीका अन्तिम पाद और द्वितीय शताब्दीका प्रथम पाद होना चाहिए।

रचनास्थान

धरसेनाचार्यने गिरिनगरकी चन्द्रगुफामें निवास करते हुए पुष्पदन्त और भूतबलिको महाकर्मप्रकृतिप्राभृतका अध्ययन कराया था। यह नगर सौराष्ट्रमें गिरिनारके नामसे प्रसिद्ध है।

पुष्पदन्त और भूतबलिने गिरिनारसे लौटकर अकुलेश्वरमें वर्षावास किया। सम्भवतः गुजरातका भडोच जिलेका अकुलेश्वर ही अकुलेश्वर रहा होगा। इन्द्र-नन्दिने अपने श्रुतावतारमें बताया है कि धरसेनाचार्यने उन्हें कुरीश्वरपत्तन भेजा था, जहाँ वे नौ दिनमें पहुँचे थे। विबुध श्रीधरने भी अकुलेश्वरमें वर्षावास करनेका उल्लेख किया है। अतः कुरीश्वर अंकुलेश्वरका ही भ्रष्ट रूप प्रतीत होता है।

वर्षायोग समाप्तकर पुष्पदन्ताचार्य जिनपालितको देखकर और उसे साथ ले वनवास देशको चले गये और भूतबलिने द्रमिल (द्रविड) देशको प्रस्थान किया—

१ 'इय पणहसवणरडण भूयवली-पुण्णटतआलिहिण । कुसुमडीउवहट्ठे विज्जयविपग्गि अविआरे ।'—अनेका०, वर्ष २, पृ० ४८७।

२. 'मोरट्ठविसयगिरिणयरपट्टणचदगुहाठिएण दक्खिणावहाइरियाण महिमाए मिलियाण लेहो पेमिटो ।'—पट्ठसडागम, पु० १, पृ० ६७।

१ इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारसे इतना ही ज्ञात होता है कि वर्षावास समाप्त होनेपर दोनों ही मुनि दक्षिणकी ओर विहार कर गये और वे करहाट पहुँचे । करहाटकको कुछ विद्वानोंने सितारा जिलेका करहाड या कराड और कुछने महाराष्ट्रका कोल्हा-पुर बतलाया है ।^२ यह नगर प्राचीन समयमें विद्याका उत्कट स्थान रहा है । यहाँ आचार्य समतभद्र भी पहुँचे थे ।^३

पुष्पदन्ताचार्यका भानजा करहाटकमें निवास करता था । अतः बहुत सम्भव है कि आचार्य पुष्पदन्तका जन्म उसीके कहीं आस-पास रहा हो । दूसरी बात यह है कि धरसेनाचार्यने अपना पत्र महिमानगरीमें सम्मिलित दक्षिणापथके आचार्योंके पास भेजा था । और आंध्रदेशकी वेणा नदीके तटसे पुष्पदन्त और भूतबलि उनके पास गये थे । वर्तमान सतारा जिलेमें वेणा नामकी नदी भी है और उसी जिलेमें महिमा नामक ग्राम भी है । अतः यह बहुत सम्भव है कि यह महिमानगड ही प्राचीन महिमानगरी हो । अतएव सितारा जिलेका करहाटक प्रतीत होता है ।

वनवासदेश उत्तर करनाटकका प्राचीन नाम है, वहाँ कदम्बवशका राज्य था और उसकी राजधानी वनवास थी । इस देशमें ही पुष्पदन्तने 'वीसदि' सूत्रोकी रचना की और जिनपालितको उन्हे पढाकर भूतबलिके पास भेजा । भूतबलिने 'विंशति' सूत्रोको देखा और जिनपालितसे ज्ञात किया कि पुष्पदन्ताचार्यकी अल्पायु शेष है । अतएव कर्मप्रकृतिप्राभूतका विच्छेद होनेके भयसे उन्होंने द्रव्यप्रमाणानु-गमको आदि लेकर ग्रन्थरचना की ।

इस अध्ययनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि छक्खडागम सिद्धान्तका आरम्भिक भाग तो वनवासदेशमें और अवशेष ग्रन्थ द्रविड देशमें रचा गया होगा ।

ग्रन्थरचना-विभाजन और रचयिता

ध्वलाकार वीरसेन^४ स्वामीने लिखा है कि आचार्य पुष्पदन्तने "वीसदि" सूत्रोकी रचना की और इन सूत्रोको देखकर आचार्य भूतबलिने द्रव्यप्रमाणानुगम आदि अवशिष्ट ग्रन्थकी रचना की । छक्खडागमके प्रथम खण्ड जीवस्थानके आठ अनुयोगद्वारोमेंसे प्रथम अनुयोगद्वारका नाम सत्प्ररूपणा और दूसरेका नाम द्रव्य-प्रमाणानुगम है । स्पष्ट है कि प्रथम अनुयोगद्वार सत्प्ररूपणाकी रचना पुष्पदन्ता-चार्यने की है । 'वीसदि' सूत्रसे अभिप्राय सत्प्ररूपणाका लेना चाहिए ।

१ जग्मतुरथ करहाटे तथो स थ पुष्पदन्तनाम मुनि । जिनपालिताभिधानं दृष्ट्वाऽग्नौ भागिनेयं स्व ॥

दत्त्वा दीक्षा तस्मै तेन सम देशमेत्य वनवासम् । तस्यै भूतबलिरपि मधुराया द्रविड-देशेऽस्थात् ॥—श्रुतावतार श्लो० १३० १३३

२ जै० सा० ३० वि० प्र० पृ० १७० । ३ 'प्राप्तोह करहाटक बहुमतं विद्योत्कटं सकटं ।' जै० सा० ३० वि० प्र० पृ० १७४ । ४ पट्ख० पु० १, पृ० ७१ ।

'इन्द्रनन्दिने भी गहरी लिखा है—गणस्यान, जीवममाम आदि द्वाग प्रकाशे. सूत्रोक्तं मत्प्रकरणानि सूत्र, जीवममाम' पथम आचार्यकी रचना पुण्यदन्तने ॥ । किन्तु यदि 'वीमदिमुत्त' में अभिप्राय मत्प्रकरणानि है तो मत्प्रकरण न कहकर उसे 'वीमदिमुत्त' अर्थमें यमो अभिहित किया, यह स्पष्ट नहीं होता ।

सूत्रोक्त आचरण समाप्त हो जानेके अनन्तर योग्येय स्वामीने उनकी प्रकरण करनेकी प्रतिज्ञा करने हुए प्रकरण ॥ अर्थात् किया है—सामान्य और विशेषकी अपेक्षा गुणस्वान्तो, जीवममाम, पर्याप्त, प्राण, मजा, शरीर, इन्द्रिय, ताम, योग, वेद, कथाम, ज्ञान, मयम, दर्शन, हेतुया, अध्यय, अभ्यय, मध्यय, मज्जी, अमज्जी आहारी-अनाहारी और उपयोग इनमें पर्याप्त और अपर्याप्त विशेषणोंमें विविध जीवोक्त परीक्षा प्रकरण है ।

यह यह शरीर नीरसन स्वामीने पूरा माना उद्भूत ॥ है, जिसमें क्या गया है कि—'गणस्यान, जीवममाम, पर्याप्त, प्राण, मजा, शरीर मार्गणार्थ और उपयोग इन प्रचार क्रममें योग प्रकरणानि' ही गई है ।

आगे भवतादीतामें यह कहा भी गई है कि यह योग प्रकाशकी प्रकरण सूत्रों परा कहो गई है या नहीं । अग्नेयस्वामीने यह स्वीकार किया है कि यह सूत्र-प्रतिपादित है । यही सूत्रों अभिप्राय पुण्यदन्ताचार्य प्रणीत मत्प्रकरणको नृपामे ही जान पड़ता है । चूंकि उन सबोंमें योग प्रकाशाश्रीका वचन है, अतएव उन्हें 'वीमदिमुत्त' कहा जान पड़ता है ।

किन्तु भवतादीतमें मत्प्रकाशाके सूत्रोक्त व्याख्यान समाप्त करनेके पदचान लिखा है कि—मत्सूत्रोक्ता विवरण समाप्त हो जानेके अनन्तर उनकी प्रकरण कहेंगे । हममें स्पष्ट है कि आचार्य पुण्यदन्तो मत्सूत्रोक्तों की रचना ही है, उनको प्रकरणका वचन नहीं दिया । यद्यपि उन्होंने अनुयोगशास्त्रका नाम 'मत्प्रकरण' ही रखा, ऐसी स्थितिमें पुण्यदन्ताचार्यों परा रने गये सूत्रोक्तों 'मत्सूत्र' कहना उचित हो सकता था । किन्तु यह न कहकर 'वीमदिमुत्त' ही यमो कहा गया, इस मध्यन्धमें विशेष मन्तोपजनक समाधान नहीं मिलता ।

'इन्द्रनन्दिने लिखा है कि पुण्यदन्तने भी सूत्रोक्तों पटाकर, जिनपान्तिको

१. 'मत्सूत्रं गणजीवममामविमदिमुत्तममप्रकरणम् । पुनः सावधानाधिकार व्यरचयत् सम्यक् ।' २५॥—श्रुता०

२. 'मपदि मत्सूत्रविवरणममत्तान्तर तस्मि परुषण भणिरमामो । परुषणा नाम किं उक्त होति ।'—पद्य०, पु. २, पृ. ४११ ।

३. पद्य० पु. २, पृ. ४१३ । ४. पद्य० पु. २, पृ. ४११ ।

५. 'यज्ञाणि तानि शतमध्याप्य ततो भूतबलिगुरो पादवर्म् । तदभिप्राय शत्रु प्रस्थापयद गमद्वेषोऽपि ॥१३६॥'—श्रुता०

भूतवलिके पास भेजा । किन्तु सत्प्ररूपणाके सूत्रोकी सख्या १७७ है । अतः उनका यह कथन भी स्वलित प्रतीत होता है । इसप्रकारकी कतिपय विप्रतिपत्तियोंके रहते हुए भी ध्वलासे तो यही प्रमाणित होता है कि सत्प्ररूपणाके सूत्र पुष्पदन्ता-चार्यने रचे थे, क्योंकि उनकी उत्थानिकाओमें ध्वलाकारने पुष्पदन्तका ही नामोल्लेख किया है । द्रव्यप्रमाणानुगम^१ अनुयोगद्वारके प्रथम सूत्रकी उत्थानिकामें भूतवलिका नाम निर्देश किया है । अतः द्रव्यप्रमाणानुगमसे लेकर भूतवलि आचार्यकी रचना आरम्भ होती है ।

रूपरेखाका निर्माण

इस ग्रन्थकी रूपरेखाका निर्माण भूतवलि और पुष्पदन्तमेंसे किमने किया ? यह भी एक विचारणीय प्रश्न है । यह तो स्पष्ट ही है कि ग्रन्थके निर्माणका आरम्भ आचार्य पुष्पदन्तने किया । उन्होंने^२ चौदह जीवसमासोके गुणस्थानोके) निरूपणके लिए आठ अनुयोगद्वारोकी ही जानने योग्य बताया है । वे आठ अनुयोगद्वार हैं—सत्प्ररूपणा, द्रव्यप्रमाणानुगम, क्षेत्रानुगम, स्पर्शानुगम, कालानुगम, अन्तरानुगम, भावानुगम और अल्पबहुत्वानुगम । जीवस्थाननामक प्रथम खंडके ये ही आठ अधिकार हैं । इन अधिकारोके पश्चात् जीवस्थानकी चूलिका है, इस चूलिकाके अन्तर्गत अधिकारोका कोई निर्देश 'जीवद्वारण' के उक्त आठ अनुयोगद्वारोमें नहीं पाया जाता । अतः चूलिका अधिकारको भी जीवस्थानका ही भाग सिद्ध करनेके लिए, चूलिकाके आरम्भमें^३ ही ध्वलाकारको शङ्का-समाधान करना पड़ा है, जो इस प्रकार है—

शङ्का—आठो अनुयोगद्वारोके समाप्त हो जानेपर यह चूलिका नामक अधिकार किसलिए आया है ?

समाधान—पूर्वोक्त आठ अनुयोगद्वारोके नियम-स्थलोका विवरण करनेके लिए आया है ।

शङ्का—चूलिका अधिकार आठ अनुयोगद्वारोसे प्ररूपित अर्थका ही कथन करता है अथवा अन्य अर्थका । यदि उसी अर्थका कथन करता है

१ सपहिं चोदसण्ह जीवसमासाणमत्थित्तमवगदाण सिरसाण तेमि चैव परिमाणपडिबोहणट्ठ भूदवलियाइरिओ सुत्तमाह ।' पट्ख, पु. ३, पृ० १ ।

२ पदेसिं चैव चोदसण्ह जीवसमासाण परूवणट्ठदाण तत्थ इमाणि अट्ठ अणिओगद्वाराणि णायव्वाणि भवति ॥५॥ त जहा ॥६॥ सत्परूवणा दव्वपमाणानुगमो, खेत्तानुगमो फोस णानुगमो कालानुगमो, अतरानुगमो, भावानुगमो, अप्पावहुगानुगमो चेदि ॥७॥ पट्ख पु, १, पृ १५३ १५५ ।

३ पट्ख पु ६, पृ १२ ।

तो पुनरुक्त दोष आता है। दूसरे पक्षमे वह चौदह जीवसमामोसे प्रतिवद्ध अर्थका कथन करता है अथवा अप्रतिवद्ध अर्थका ? प्रथम विकल्पमें 'चौदह जीवसमासोके कथनके लिए ये आठ ही अनुयोग-द्वार जानने योग्य हैं' इस सूत्रमें आये हुए एकवार (ही) की विफलता प्राप्त होती है, क्योंकि चौदह जीवसमासोसे प्रतिवद्ध अर्थका कथन करने वाला चूलिका नामक नौवाँ अधिकार पाया जाता है। दूसरा पक्ष मानने पर चूलिका नामक अधिकार जीवस्थानसे पृथक्-भूत हो जाएगा, क्योंकि वह जीवस्थानसे प्रतिवद्ध अर्थका कथन नहीं करता।

समाधान—पुनरुक्त दोष नहीं आता, क्योंकि चूलिका नामक अधिकारमे आठ अनुयोगद्वारोसे नहीं कहे गये तथा कहे गये अर्थका निश्चय कराने वाले और आठ अनुयोगद्वारोसे सूचित, किंतु उनसे कथंचित् भिन्न अर्थका कथन किया गया है।

इस शका-समाधानके पश्चात् धवलाकारने चूलिकाका अन्तर्भाव उक्त आठ अनुयोगद्वारोमे ही करके यह बतलाया है कि चूलिका जीवस्थानसे भिन्न नहीं है।

इस चर्चासे प्रमाणित होता है कि पुष्पदन्त आचार्यके द्वारा सूचित आठ अनुयोगद्वारोमें जो बातें कथन करनेसे छूट गयी, उनका या सम्बद्ध अन्य बातोंका कथन चूलिका नामक अधिकारमे किया गया। अतः चूलिका अधिकार भूत-बलिकी उपज जान पड़ता है और उसपरसे यही व्यक्त होता है कि पुष्पदन्तने केवल जीवस्थाननामक खण्डकी ही रूपरेखा निर्धारित की थी।

धवला-टीकाके आरम्भमें^१ भी वीरसेनस्वामीने जीवस्थानके ही अवतारका कथन किया है, छक्खडागमसिद्धातका नहीं। जीवस्थानके अवतारका कथन करते हुए उन्होंने बतलाया है कि—दूसरे^२ अग्रायणीय पूर्वके अन्तर्गत चौदह वस्तु-अधिकारोमें एक चयनलब्धि नामक पाचवाँ वस्तु-अधिकार है। उसमें बीस प्राभूत हैं। उनमेसे चतुर्थप्राभूत कर्मप्रकृति है। उस कर्मप्रकृतिप्राभूतके चौबीस अर्थाधिकार हैं। उनमे एक बन्धन नामक अर्थाधिकार है। उस बन्धन नामक अर्थाधिकारमें भी चार अधिकार हैं—बन्ध, बन्धक, बन्धनीय और बन्धविधान। इनमेंसे बन्धक अधिकारके ग्यारह अनुयोगद्वार हैं। उनमे पाचवाँ अनुयोगद्वार द्रव्यप्रमाणानुगम है। जीवस्थाननामक खण्डमें जो द्रव्यप्रमाणानुगम नामक अधिकार है वह इस बन्धकनामक अधिकारके द्रव्यप्रमाणानुगम नामक अधिकारसे निकला है।

१ सपहि जीवट्ठाणस्स अवयारो उच्चदे ।^१—घट्ख पु १, पृ ७० ।

२ पट्खडा०, पु. १, पृ १०३ १३ ।

बन्धविधानके चार भेद हैं—प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध, प्रदेश-बन्ध । इन चार बन्धोंमेंसे प्रकृतिबन्धके दो भेद हैं—मूलप्रकृतिबन्ध और उत्तर प्रकृतिबन्ध । उत्तरप्रकृतिबन्धके दो भेद हैं—एकैकोत्तरप्रकृतिबन्ध और अव्वो-गाढउत्तरप्रकृतिबन्ध । एकैकोत्तरप्रकृतिबन्धके चौबीस अनुयोगद्वार हैं । उनमेंसे जो समुत्कीर्तन नामक अधिकार है उसमेंसे प्रकृतिसमुत्कीर्तन और स्थान-समुत्कीर्तन तथा तीन महादण्डक निकले हैं । और तेईसवें भावानुगमसे भावानु-गम निकला है । अव्वोगाढउत्तरप्रकृतिबन्धके दो भेद हैं—भुजगारबन्ध और प्रकृतिस्थानबन्ध । प्रकृतिस्थानबन्धके आठ अनुयोगद्वार हैं—सत्प्ररूपणा, द्रव्य-प्रमाणानुगम, क्षेत्रानुगम, स्पर्शनानुगम, कालानुगम, अन्तरानुगम, भावानुगम और अल्पबहुत्वानुगम । इन आठ अनुयोगद्वारोंमेंसे छै अनुयोगद्वार निकले हैं—सत्प्ररू-पणा, क्षेत्रप्ररूपणा, स्पर्शनप्ररूपणा, कालप्ररूपणा, अन्तरप्ररूपणा और अल्पबहुत्व-प्ररूपणा । ये छै और बन्धक अधिकारके ग्यारह अधिकारोंमेंसे द्रव्यप्रमाणानुगम नामक अधिकारसे निकला द्रव्यप्रमाणानुगम, तथा एकैकोत्तरप्रकृतिबन्धके चौबीस अधिकारोंमेंसे तेईसवें भावानुगम अधिकारसे निकला भावानुगम, ये सब मिलकर जीवस्थानके आठ अनुयोगद्वार होते हैं ।

स्थितिबन्धके दो भेद हैं—मूलप्रकृतिस्थितिबन्ध और उत्तरप्रकृतिस्थिति-बन्ध । उत्तरप्रकृतिस्थितिबन्धके चौबीस अनुयोगद्वार हैं । उनमेंसे अर्धच्छेद दो प्रकारका है—जघन्यस्थिति अर्धच्छेद और उत्कृष्टस्थिति अर्धच्छेद । इनमें जघ-न्यस्थिति अर्धच्छेदसे जघन्यस्थिति और उत्कृष्टस्थिति अर्धच्छेदसे उत्कृष्ट स्थिति निकली है । सूत्रसे सम्यक्त्वोत्पत्ति नामक अधिकार निकला है । पहले जो एकैकोत्तरप्रकृतिबन्ध अधिकारके समुत्कीर्तना नामक प्रथम अधिकारसे प्रकृतिसमु-त्कीर्तना, स्थानसमुत्कीर्तना और तीन महादण्डकोके निकलनेका उल्लेख कर आये हैं उन पाँचोंमें अभी कहे गये जघन्यस्थिति अर्धच्छेद, उत्कृष्टस्थिति अर्ध-च्छेद, सम्यक्त्वोत्पत्ति और गति-आगति इन चार अधिकारोंको मिला देने पर चूलिकाके नौ अधिकार होते हैं । इस सब कथनको मनमें अवधारण करके आचार्य पुष्पदन्तने 'एत्तो' इत्यादि सूत्र कहा है ।' इम कथनसे केवल जीव-स्थानकी ही नहीं, उसकी चूलिकाकी भी रूपरेखा पुष्पदन्ताचार्यकृत थी, ऐसा वीरसेनस्वामीका मत है । किन्तु समस्त छक्खडागमकी रूपरेखा उनकी निर्धारित की हुई ज्ञात नहीं होती ।

अतः समग्र सिद्धान्तग्रन्थकी रूपरेखाका निर्माण भूतवल्लिने ही किया जान पड़ता है क्योंकि कृति 'अनुयोगद्वारके आदिमें ग्रन्थावतारका वर्णन करते हुए

१ 'तदो भूदवल्लिभडारण सुदणईपवाहवोच्छेदमीण भवियलोगागुग्गहट्ट महाकम्मपयडि-पाहुडमुवसहरिऊण छक्खडाणि कयाणि ।'—पटख, पु० ९, पृ० १३३ ।

वीरसेन रवागीने स्पष्ट लिखा है कि 'धरमेनाचार्यने गिरिनगरकी चन्द्रगुफामें पुष्पदन्त और भूतवलिको गगन महाकर्मप्रकृतिप्राभृत मर्मित कर दिया । तत्पश्चात् भूतवलि भट्टारकने श्रुतनदीके प्रवाहके त्रिच्छेदके भयमे भव्य जीवोंके उपकारके लिये महाकर्मप्रकृतिप्राभृतका उपगहार करके छह पण्ट किये ।'

इन्द्रनन्दिने लिखा है कि पुष्पदन्त मुनिने अपने भानजे जिनपालितको पढ़ानेके लिये कर्मप्रकृतिप्राभृतका छ पण्टोंमें उपगंहार किया और जीवग्रन्थानके प्रथम अधिकारकी रचना की और उसे जिनपालितको पढ़ाकर भूतवलिका अभिप्राय जाननेके लिये उनके पास भेजा । उसमे सत्प्ररूपणाके सूत्रोंको सुनकर, भूतवलिकने पुष्पदन्त गुरुकी पट्पण्डागम रचनाका अभिप्राय जाना ।

इन्द्रनन्दिने यह भी लिखा है कि भूतवलि आचार्यने पट्पण्डागमकी रचना करके उसे पुस्तकमें लिखाया और ज्येष्ठ शुक्ल पंचमीको उगकी पूजा की । इसीसे यह पञ्चमी श्रुतपञ्चमीके नामसे म्यात हुई । तत्पश्चात् भूतवलिकने उस छक्खडागमसूत्रके साथ जिनपालितको पुष्पदन्त गुरुके पास भेजा । जिनपालितके हाथमें छक्खडागम पुस्तकको देखकर 'मेरे द्वारा चिन्तित कार्य सम्पन्न हुआ' यह जान पुष्पदन्त गुरुने भी श्रुतभक्तिके अनुरागसे पुलकित होकर श्रुतपञ्चमीके दिन ग्रन्थकी पूजा की ।

इस सब कथनसे तो यही प्रमाणित होता है कि पुष्पदन्ताचार्यने छक्खडागमकी रूपरेखा निर्धारित करके सत्प्ररूपणाके सूत्रोंकी रचना की थी ।

किन्तु धवलासे इसका समर्थन नहीं होता, उसमे यह भी नहीं लिखा कि भूतवलिकने छक्खडागमके सूत्रोंकी रचना करके उन्हें पुष्पदन्ताचार्यके पास भेजे थे । धवलाके अनुसार तो पुष्पदन्ताचार्यके द्वारा सत्प्ररूपणाके सूत्रोंको भूतवलिके पास भेजनेका कारण पुष्पदन्ताचार्यका अल्पायु होना था । अतः यह सभव प्रतीत होता है कि छक्खडागमकी रचना पूर्ण होने पर पुष्पदन्त स्वर्गवासी हो चुके हों । किन्तु श्रुतावतारके अनुसार पुष्पदन्ताचार्यने भूतवलिका अभिप्राय जाननेके लिए उनके पास सत्प्ररूपणाके सूत्रोंको भेजा था और भूतवलिकने उन्हें सुनकर जाना कि पुष्पदन्ताचार्यका अभिप्राय छक्खडागमकी रचना करनेका है । उन्होंने छक्खडागमकी रचना की ।

इन दोनों कथनोंमें हमें धवलाकारका कथन विशेष समुचित प्रतीत होता है, क्योंकि पुष्पदन्ताचार्य अकलेश्वरसे लौटते हुए ही अपने भानजे जिनपालितको अपने साथ लेते गये थे और उन्हें जिन-दीक्षा भी दे दी थी । ऐसा उन्होंने महा-

१. 'अथ पुष्पदन्तमुनिरप्यध्यापयितुं स्वभाषिणेयं तम् ।

कर्मप्रकृतिप्राभृतमुपसहार्येव पड्भिरिह खण्डे ॥—श्रुता० १३४

कर्मप्रकृतिप्राभृतका उपसंहार करके उसे जिनपालितको पढाकर उसकी परम्परा चलानेके अभिप्रायसे किया था । किन्तु उन्हें ज्ञात हुआ कि मेरी आयु थोड़ी शेष है अतः उन्होंने अपनी रचनाको जिनपालितके साथ भूतवलिके पास भेज दिया । यदि उन्होंने केवल भूतवलिका अभिप्राय जाननेके लिये जिनपालितको उनके पास भेजा होता तो भूतवलि अपने अभिप्रायके साथ जिनपालितको पुष्पदन्ताचार्यके पास लौटा देते, स्वयं रचना करनेमें न लग जाते । अस्तु,

फिर भी यह प्रश्न रह जाता है कि पुष्पदन्ताचार्यने जिनपालितके हाथ केवल 'विसदिसुत्त' ही भेजे थे या पट्खण्डोकी कोई रूपरेखा भी भेजी थी ।

पट्खण्डोके क्रम तथा महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके चौबीस अनुयोगद्वारोसे उनके उद्धारका जो वर्णन मिलता है, उसे देखनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि पट्खण्डोकी रूपरेखा किसी एक व्यक्तिकी निर्धारित की हुई नहीं है, बल्कि दो व्यक्तियोंकी और ऐसे दो व्यक्तियोंकी—जो आपसमें नहीं मिल सके, निर्धारित की हुई है । हमारे इस अनुमानकी सत्यताके लिये महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके अनुयोगद्वारोके साथ छ-खण्डोका मिलान करके देखे ।

महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके चौबीस अनुयोगद्वारोमेंसे प्रथम दो अनुयोगद्वारोसे वेदनाखण्डका उद्धार हुआ, जो चौथा खण्ड है । तीसरे, चौथे, पाँचवें और छठे अनुयोगद्वारके बंध और बन्धनीय भेदोको लेकर पाँचवाँ वर्णना खण्ड बना । इसी छठे अनुयोगद्वारके एक भेद बन्धकसे दूसरा खण्ड खुदाबन्ध बना, और दूसरे भेद बन्धविधानसे छठा खण्ड महाबन्ध बना । शेष दो खण्ड—पहला और तीसरा भी इसी बन्धविधानके अवान्तर अनुयोगद्वारोसे निष्पन्न हुए ।

ग्रन्थनाम—मूलसूत्रोमें ग्रन्थका नाम नहीं दिया । अतः नहीं कह सकते कि इसके रचयिता पुष्पदन्त और भूतवलिके इसे किस नामसे अभिहित किया था । धवलाटीकाके^१ प्रारम्भमें इसे 'खण्डसिद्धान्त' कहा है और धवलाकारने कृति अनुयोगद्वारमें^२ लिखा है कि भूतवलि भट्टारकने महाकर्मप्रकृतिप्राभृतका उपसंहार करके छ खण्ड किये । इन छ खण्डोके आधार पर ही इसका नाम उत्तरकालमें छक्खंडागम प्रसिद्ध हुआ प्रतीत होता है । इन्द्रनन्दि और विवुध श्रीधरने

१ 'तदो एयं खंडसिद्ध त पडुच्च' भूतवलि-पुप्फयताइरिया वि कत्तारो उच्चति'—पट्ख०, पु० १, पृ० ७१ । इदं पुण जीवट्ठाण खंडसिद्ध त पडुच्च पुप्फाणुपुब्बीए टिठ्ठ छण्ह खडाण पढमखड जीवट्ठाणमिदि—वही, पृ० ७४ ।

२ 'महाकम्मपयडिपाहुडमुवसहरिजण छक्खडाणि कयाणि ।'—पट्ख०, पु० ९, पृ० १३३ । पट्खंडागमरचनाभिप्राय पुष्पदन्तगुरु ॥ १३७ ॥ 'एव पट्खंडागमरचना प्रविधाय'—॥ १४२ ॥ श्रुता०

अपने-अपने श्रुतावतारमें इसी नामसे ग्रन्थका उल्लेख किया है। किन्तु धवला-
नारने कहीं भी 'छवगागम' नामसे इस ग्रन्थका निर्देश नहीं किया। धवला और
जयधवलामें छ गण्डोंके नामोंसे या उनके अन्तर्गत अनुयायिद्वाराके नामोंमें
ही उनका निर्देश मिलता है।

यथा—'जुत्त गुहावंधमिह भागल्लादो एयस्सरम अवणगण, एत्थ पुण जीव-
ट्ठाणमिह ।'—पट्. १, पृ० ३, पृ० २५०।

'एत्थ णेरइयमिच्छाउट्ठीण जीउट्ठाणे पग्गविदा 'एदेण गुहावधेण सह
विरोहादो ।—पृ० ७, पृ० २८६।

'वग्गणासुत्ते भणिद'— पृ० १४, पृ० ३८५।

'अथवा जहा वेषणाए पग्गणा कदा तहा वि कायव्वा,' पृ० १४, पृ० ३५१।

'त कथ णव्वदे ? पचिदिएगु उवगामेत्तो गग्गोवक्कतिएसु उवगामेदि णो
सम्मुच्छिएसु' ति चूलियासुत्तादो ।—पृ० ५, पृ० ११९।

जीवस्थान, सुहावन्ध, वेदना, वर्गणा ये सब पट्खण्डागमके अन्तर्गत खण्डोंके
नाम हैं। तथा 'चूलिया' जीवट्ठाणका अन्तिम भाग है। उसका निर्देश भी 'जीव-
ट्ठाण' के नामसे न करके 'चूलिका' के नामसे किया है। एक ही ग्रन्थमें उनके
अन्तर्गत खण्डोंका उल्लेख खण्डोंके नामसे न करके मूलग्रन्थके नामसे करनेमें
पाठकको कुछ भ्रम न हो, इसलिये ऐसा किया गया है, यह कहा जा सकता है,
किन्तु जयधवलामें भी उनका उल्लेख खण्डोंके नामोंसे ही पाया जाता है। यथा—

'खुदावधे जो आलावो मो कायव्वो' ।—क० पा०, भा० २, पृ० ३२।

ण च जीवट्ठाणेण सह विरोहो' ।— ,, ,, पृ० ३६१।

'खिप्पोगहादीणमत्थो जहा वग्गणाखडे पस्विदो तहा एत्थ वि पस्विदव्वो ।'
क० पा०, भा० १, पृ० १४।

पट्खण्डागमके अन्तर्गत खण्डोंका उल्लेख ग्रन्थान्तरोमें क्वचित् ही मिलता है,
मगर वहाँ भी खण्डोंके नामोंसे ही मिलता है। यथा—अकलकदेवने अपने^१
तत्त्वार्थवार्तिकमें 'जीवस्थान' का निर्देश किया है। और एक जगह^२ 'आर्प'
करके खुदावन्धका उल्लेख किया है। और एक जगह^३ वर्गणाखण्डका उल्लेख
किया है किन्तु पट्खण्डागम करके निर्देश नहीं किया।

इससे तो यही प्रमाणित होता है कि वैसे प्रत्येक खण्ड अपने-अपने स्वतंत्र

१ 'आह चोदक —जीवस्थाने योगभङ्गे सप्तविधकाययोगस्वामिप्ररूपणाया'—पृ० १५३।

२ 'एव ह्यार्पे उक्तमन्तरविधाने'—पृ० २४४।

३ 'एव ह्युक्तमार्पे वर्गणाया बन्धविधाने ।'—त० वा० ५।३७।

नामोसे ही अभिहित किया जाता था । किन्तु सागूहिक रूपसे उन्हें छ.गण्ड या पट्.गण्ड कहा जाता था, क्योंकि जयधवलाकी 'प्रशस्तिमें वीरसेनस्वामीका गुणगान करते हुए कहा गया है कि चक्रवर्ती भरतकी आज्ञाकी तरह जिनकी भारती पट्-गण्डमें रचालित नहीं हुई । नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीने भी अपने कर्मकाण्डमें 'छवखण्ड' नामसे ही उसका उल्लेख किया है । अतः छोटी गण्डोंको उनके रचयिता भूतबलिने कोई नाम नहीं दिया था । इसीसे बादको पट्.गण्ड नामसे वे अभिहित किये जाने लगे ।

वीरसेनस्वामीने 'गण्ड' के साथ सिद्धान्तशब्दका प्रयोग करके उन्हें 'गण्ड-सिद्धान्त' कहा है । जयधवलाकी प्रशस्तिमें इस सिद्धान्तशब्दकी सार्थकता बतलाते हुए कहा है—जिसके अन्तमें सिद्धोका कथन हो उसे सिद्धान्त कहते हैं । अतः वीरसेनस्वामीके अनुसार इसका नाम पट्.गण्डसिद्धान्त था । किन्तु इन्द्रनन्दने आगमशब्दका प्रयोग करके उन्हें छवखण्डागम कहा है । यद्यपि सिद्धान्त^३ और आगमशब्द एकार्थवाची हैं, फिर भी दोनों शब्दोंका यौगिक अर्थ भिन्न है और दोनों अपना-अपना इतिहास रखते हैं ।

सतकम्मपाहुड (सत्कर्मप्राभूत)

धवलाटीका और जयधवलाटीकामें भी 'सत्कर्मप्राभूत' का उल्लेख मिलता है । धवलाके^४ आरम्भमें ही लिखा है कि यह सतकम्मपाहुडका उपदेश है । और कसायपाहुडका उपदेश है कि आठ कपायोंका क्षण होने पर पीछे अन्तर्मुहूर्तके पश्चात् सोलह कर्मप्रकृतियोंका क्षय होता है । इस पर आशका की गई कि इन दोनों वचनोंमें विरोध क्यों है, तो कहा गया कि वे दोनों आचार्यवचन हैं, 'जिनेन्द्रवचन नहीं है' अतः उनमें विरोध होना सम्भव है ।

इसी तरह जयधवलाटीकामें^५ भी सतकम्मपाहुडका उल्लेख मिलता है । ऊपर धवलामें कसायपाहुडके प्रतियोगीरूपमें सतकम्मपाहुडका जिस प्रकार निर्देश किया गया है उससे बराबर यह व्यक्त होता है कि सतकम्मपाहुड कसायपाहुडका सम-कक्ष आगमग्रन्थ होना चाहिये । उसके नामके साथ भी पाहुडशब्द जुड़ा हुआ है,

१ 'भारती भारतीवाज्ञा पट्.गण्डे यस्य नास्वलत् ॥ २० ॥'—ज० प्र० ।

२ 'सिद्धानां कीर्तनादन्ते यः सिद्धान्तप्रसिद्धवाक् ॥ १ ॥'—ज० प्र० ।

३ 'आगमो मिद्ध तो पवयणमिदि ण्यट्ठो'—पट्.ग०, पु० १, पृ० २० ।

४ 'एम्हो सतकम्मपाहुडवण्णो । कसायपाहुडवण्णो पुण । पट्.ग०, पु० १, पृ० २१७-२२१ ।

५ 'एम्हो अत्थविसेसो सतकम्मपाहुडे वित्थारेण भणिदो । एत्थ पुण गयगउरवभण्ण ण भणिदो ।'—ज०ध० प्र० का०, पृ० ७४४१ ।

जो उसे पूर्वोक्ता ही अश वतलाता है ।

प्रो० हीरालालजीने इसके सम्बन्धमें लिखा था 'गर्ता स्पष्टतः कपाय-पाहुण्डके साथ मत्कर्मपाहुण्डसे प्रस्तुत मगस्त पट्गण्डागमसे ही प्रयोजन हो जाता है और यह ठीक भी है क्योंकि पूर्वोक्ती रचनामें उक्त जीवीस अनुयोगद्वारा का नाम महाकर्मप्रकृतिपाहुण्ड है महाकर्मप्रकृति और मत्कर्म मज्जामें एक ही अर्थ-की द्योतक है, अतः गिद्ध होता है कि उग मगस्त पट्गण्डागम का नाम मत्कर्म-प्राभूत है । और चूंकि इसका ध्वलाकार धवलाटीकामें प्राप्यत है, अतः मगस्त धवलाको भी मत्कर्मप्राभूत कहना अनुचित नहीं । उगी प्रारं महावन्ध या निवन्धनादि अठारह अंगिका भी इसीके गण्य होनेसे मत्कर्म कहे जा सकते हैं ।' (पट्ग० पु० १, प्रस्ता० पृ० ६९-७०) ।

किन्तु वेदनागण्डके 'क्षेत्रविमानमें स्थायित्वका कथन करने हुए सूत्रकार भूतबलिने धोता की अपेक्षा उत्कृष्ट ज्ञानावरणीयवेदना त्रिगुणे होती है, उग प्रश्न-का समाधान करते हुए लिखा है—'जो मत्स्य एक हजार योजनमें अवगाहनावाला स्वयंभुरगण समुद्रके बाग तटपर स्थित है, और वेदनागमुद्घातको प्राप्त हुआ है, तनुवातबलसे स्पृष्ट है, फिर भी जो तीन विग्रह लेकर मारणान्तिकममुद्घात-से समुद्घातको प्राप्त हुआ है और अनन्तर मगयमें गातवी पृथिवीके नारकियोंमें उत्पन्न होगा, उगके ज्ञानावरणीयवेदना क्षेत्रकी अपेक्षा उत्कृष्ट होती है ।'

धवलामें इस पर यह प्रश्न की गई है कि उग महामत्स्यको सातवी पृथिवीको छोड़कर नीचे सात राजु गात्र जाकर निगोदिया जीवोंमें क्यों उत्पन्न नहीं कराया ? इसका समाधान करनेके पश्चात् धवलाकारने लिखा है कि—संतकम्मपाहुडमें उसे निगोदमें उत्पन्न कराया है क्योंकि नारकियोंमें उत्पन्न होनेवाले महामत्स्यके मगान सूक्ष्म निगोदजीवोंमें उत्पन्न होनेवाला महामत्स्य भी विवक्षित शरीरकी अपेक्षा त्रिगुणे बाहुल्यसे मारणान्तिक समुद्घातको प्राप्त होता है । परन्तु यह योग्य नहीं है, क्योंकि अत्यधिक असाताका अनुभवकर्ता सातवी पृथ्वीमें उत्पन्न होने वाले महामत्स्यकी वेदना और कपायकी अपेक्षा सूक्ष्मनिगोदजीवोंमें उत्पन्न होने-वाले महामत्स्यकी वेदना सदृश नहीं हो सकती ।'

इस उल्लेखसे स्पष्ट है कि पट्गण्डागमसे सतकम्मपाहुड भिन्न है क्योंकि दोनोंके कथनोंमें अन्तर है ।

इसी तरह सत्प्ररूपणाकी टीका धवलामें जहाँ संतकम्मपाहुड और कसाय-

१ से काले अधो सत्तमाण पुढवीण गेरइण्सु उप्पज्जिहिदि त्ति तस्स णाणावरणीयवेदणा खेत्तदो उवकस्सा ॥ १२ ॥ ' सतकम्मपाहुडे पुण निगोदेसु उप्पाशदो ण च एदं जुज्जदे । —पट्ख०, पु० ११, पृ० २१-२२ ।

२. पट्ख०, पु० १, पृ० २१७ ।

पाहुटके उपदेशोमें भेद बतलाया है । वहाँ लिखा है कि अनिवृत्तिहरणके कालमें सरयातभाग शेष रहने पर रत्यानमृद्धि आदि गोलह प्रकृतियोंका ध्यय करता है, फिर अन्तर्मुहूर्त विताकर आठ कपायोंका ध्यय करता है, यह सतकम्मपाहुटका उपदेश है । किन्तु कपायप्राभूतका उपदेश है कि पहले आठ कपायोंका ध्यय हो जाने पर पीछे एक अन्तर्मुहूर्तमें पूर्वोक्त गोलह प्रकृतियोंका ध्यय करता है ।'

यहाँ जो सतकम्मपाहुटके नाममें कथन है वह पट्गण्डागममें नहीं मिलता । अतः पट्गण्डागममें गतकम्मपाहुट भिन्न होना चाहिए ।

सम्पूर्ण धवलाटीकामें सतकम्मपाहुटका उल्लेख तीन बार आया है । उसमेंसे उपयोगी दो उल्लेखोंकी चर्चा यहाँ की गई है । अब देगना यह है कि क्या महाकम्मप्रकृतिप्राभूतका नाम गतकम्मपाहुट है ?

महाकम्मपयडिपाहुटका उल्लेख धवलाटीकामें छै गात बार आया है । तीन बार तो उसका उल्लेख भगवान् भूतवलिके निमित्तिमें आया है । एक जगह लिखा है कि भूतवलि भगवान्ने महाकम्मपयडिपाहुटका उपसहार करके छै खण्डोंकी रचना की । दूसरी जगह लिखा है कि भूतवलि भट्टारक अमबद्ध बात नहीं कह सकते, क्योंकि महाकम्मप्रकृतिप्राभूतरूपी अमृतके पीनेसे उनका समस्त राग-द्वेष-मोह दूर हो गया था । तीसरी जगह लिखा है कि भूतवलि भगवान् चोवीस अनुयोगद्वारस्वरूप महाकम्मपयडिपाहुटके पागामी थे । इस तरह तीन उल्लेख तो भूतवलिके सम्बन्धमें आये हैं । शेष तीन उल्लेख चर्चार्थके प्रकरणसे आये हैं ।

एक जगह लिखा है कि दस प्रकृतियोंकी उदयव्युच्छित्ति मिय्यादृष्टि गुणस्थानके अन्तिम समयमें होती है, यह महाकम्मपयडिपाहुटका उपदेश है ।

वर्गणाखण्डके^१ स्पर्श अनुयोगद्वारमें लिखा है कि अध्यात्मविषयक इस खण्डग्रन्थमें कर्मस्पर्शप्रकरण प्राप्त है । महाकम्मप्रकृतिप्राभूतमें तो द्रव्यस्पर्श, सर्वस्पर्श और कर्मस्पर्श तीनोंका प्रकरण है ।

१. 'महाकम्मपयडिपाहुटमुक्कमहरिऊण छवखटाणि कयाणि । —पट्ग०, पु० ९, पृ० १३३ ।

२. 'ण चामबद्ध भूदवलिभटारओ पुरुवेदि महाकम्मपयडिपाहुटअगियवाणेण ओसारिदा-
नेमरागदोममोहत्तादी'—पु० १०, पृ० २७४ ७५ ।

३. 'चववीसअणियोगद्वारमस्वरुपमाकम्मपयडिपाहुटपायसरस भूतवलिभयवतरम' ।
पु० १४, पृ० १३४ ।

४. 'दसण्ह पयटीण मिच्छादिठस्स चरियसमयम्मि उदयवोच्छेदो ।' एस्सं महाकम्मपयडि-
पाहुटउवण्णो—पु० ८, पृ० ९ ।

५. 'एद खडगयमज्झकप्पविसय पडुच्च कम्मफामे पयदमिदि भणिद । महाकम्मपयडिपाहुटे
पुण दव्वफामेण सव्वफामेण कम्मफामेण पयद,'—पु० १३, पृ० ३६ ।

इसी खण्ड^१ में आगे एक जगह यह शका की गई है कि महाकर्मप्रकृतिप्राभृतमे शेष चौदह अनुयोगोके द्वारा कथन किसलिये किया है ?

इस तरह छै वार महाकर्मप्रकृतिप्राभृतका उल्लेख हमें धवलाटीकामें मिला है । सतकम्मपाहुड और महाकम्मपयडिपाहुडके उक्त उल्लेखोमे कोई ऐसी बात लक्षित नहीं होती, जिससे हम दोनोंको एक मान सकें । सत्कर्म और महाकर्मप्रकृति सजाएँ भी एक अर्थकी द्योतक नहीं है । धवलाकारके कथनसे ही यह बात स्पष्ट हो जाती है और उसीसे यह भी प्रकट हो जाता है कि महाकर्मप्रकृतिप्राभृत और सत्कर्मप्राभृत एक नहीं है ।

महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके चौवीस अनुयोगद्वारोमेंसे केवल छै अनुयोगद्वारोके ऊपर ही भूतबलिस्वामीने षट्खण्डागमके सूत्रोकी रचना की थी । उन छै खण्डोमेंसे पाँच खण्डो पर धवलाटीका रचनेके पश्चात् वीरसेन स्वामीने शेष अट्ठारह अनुयोगद्वारोका भी कथन किया है । उन अनुयोगद्वारोमेंसे एक अनुयोगद्वारका नाम प्रक्रम है और एकका उपक्रम । यहाँ शका की गई है कि प्रक्रम और उपक्रममें क्या अन्तर है ?

इसका समाधान करते हुए श्री वीरसेनस्वामीने लिखा है^२—प्रक्रम-अनुयोगद्वार प्रकृति, स्थिति और अनुभागमे आने वाले प्रदेशाग्नका कथन करता है और उपक्रम-अनुयोगद्वार बन्धके दूसरे समयसे लेकर सत्तारूपसे स्थित कर्मपुद्गलोके व्यापारका कथन करता है । अतः दोनोंमें अन्तर है ।

इसके पश्चात् वीरसेनस्वामीने बन्धन-उपक्रमके चार भेद किये हैं—प्रकृति-बन्धन-उपक्रम, स्थितिवन्धन-उपक्रम, अनुभागबन्धन-उपक्रम और प्रदेशबन्धन-उपक्रम । इन चारोका स्वरूप बतलाकर लिखा है कि 'इन चार उपक्रमोका कथन जैसे 'सतकम्मपाहुड' मे किया गया है वैसे ही करना चाहिए ।'

इसपर यह शका की गई कि महाबन्धमें जैसा कथन किया गया है वैसा कथन इन चारोका यहाँ क्यों नहीं किया जाता, तो उसका समाधान करते हुए कहा गया है कि महाबन्धका व्यापार प्रथम समय सम्बन्धी बन्धमें ही है, अतः यहाँ उसका कथन करना योग्य नहीं है ।

१ 'महाकम्मपयडिपाहुटे किमट्ठ तेहि अणिओगद्वारेहि तस्म परूवणा कदा ।' पट्०, पु० १३, पृ० १०६ ।

२. 'पक्कम-उवक्कमाण को भेदो ? पयटिट्ठिदिअणुभागेसु ढुक्कमाणपदेसग्गपरूवण पक्कमो क्कुण्ड, उवक्कमो पुण वधविदियममयप्पहुडिसतसरूवेणट्ठिदकम्मपोग्गलाण वावार परूवेदि । —'एत्थ एदेसिं' चदुण्णमुवक्कमाण जहा सतकम्मपयटिपाहुडे परूविद तहा परूवेयव्व । जहा महाबधे परूविद तहा परूवणा एत्थ किण्ण कीरदे ? ण, तस्स पढमसमयवधम्मि चेव वावारादो ।'—पट्०, पु० १५, पृ० ४२-४३ ।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि संतकम्मपाहुडमें बन्धके पश्चात् सत्तारूपमें स्थित प्रकृतियोका ही कथन किया गया है, अतः महावधसे वह भिन्न है ।

अतएव 'संतकम्मपाहुड' किसका नाम है ? इस प्रश्नका समाधान सत्कर्मपजि-कासे होता है । वीरसेनस्वामीने जो शेष अद्वारह अनुयोगद्वारोको लेकर धवलाटीका रची है, उसके प्रारम्भिक चार अनुयोगोपर एक पजिका उपलब्ध हुई है, उसका नाम सत्कर्मपजिका है । उसमें धवलाके उक्त अशका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—

'संतकम्मपाहुड' क्या है ? महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके चौबीस अनुयोगद्वारोमें दूसरा अधिकार वेदना नामक है । उसके सोलह अनुयोगद्वारोमेंसे चौथे, छठे और सातवें अनुयोगद्वारोका नाम द्रव्यविधान, कालविधान और भावविधान है, तथा महाकर्मप्रकृतिप्राभृतका पाँचवाँ प्रकृतिनामा अधिकार है उसमें चार अनुयोग-द्वार हैं । आठो कर्मोके प्रकृतिसत्त्व, स्थितिसत्त्व, अनुभागसत्त्व और प्रदेशसत्त्व-का कथन करके उत्तरप्रकृतियोके प्रकृतिसत्त्व, स्थितिसत्त्व, अनुभागसत्त्व और प्रदेशसत्त्वको सूचित करनेके कारण उन्हें संतकम्मपाहुड कहते हैं ।'

सत्कर्मपजिकाके इस कथनके अनुसार महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके जिन अनु-योगद्वारोमें सत्तारूपसे स्थित कर्मका कथन है उन्हें संतकम्मपाहुड कहते हैं । वे अनुयोगद्वार हैं—वेदना नामक अधिकारके चौथे, छठे और सातवें अनुयोगद्वार तथा महाकर्मप्रकृतिप्राभृतका प्रकृतिनामक पाँचवाँ अधिकार ।

महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके स्पर्श, कर्म और प्रकृतिनामक तीन अनुयोगद्वारोको लेकर वर्णानामक पाँचवाँ खण्ड रचा गया है । उसके प्रकृतिनामक अनुयोगमें केवल आठो कर्मोकी प्रकृतियाँ मात्र बतलाई गई हैं । शेष कथनके लिए लिख दिया है कि वेदनाकी तरह जानना । पजिकाकारका अभिप्राय उसीसे जान पड़ता है । अतः उनके कथनानुसार उक्त अनुयोगद्वारोको संतकम्मपाहुड कहा जाता था । अतः संतकम्मपाहुड महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके अन्तर्गत ही जानना चाहिए ।

१ 'संतकम्मपाहुड' णाम त कथ (द) म ? महाकम्मपयटिपाहुटस्स चउवीसअणिओगद्वारेसु विदिद्याहियारो वेदणा णाम ? तस्स सोलसअणियोगद्वारेसु चउत्थ-छट्ठम-सत्तमाणियोग-द्वाराणि दव्वकालभावविहाणणामधेयाणि । पुणो तहा महाकम्मपयडिपाहुडस्स पचमो पयड्डीणामहियारो । तत्थ चत्तारि अणियोगद्वाराणि अट्ठकम्माण पयटिट्ठिअणु भागप्पदेससत्ताणि परूविय सुचिदुत्तरपयडिट्ठिअणुभागप्पदेससत्तादो एदाणि सत्त (सत्त) कम्मपाहुड णाम । मोहणीय पडुच्च कसायपाहुड पि होदि ।'—पट्ख, पृ० १५, परि०, पृ० १८ ।

२, 'सैस वेदणाण भंगो ।'—पट्ख०, पृ० १४, पृ० ३९२ ।

किन्तु जगन्मवलामें लिगा है^१ कि कति, वेदना आदि चीवीग अनुयोगद्वारों में प्रतिबद्ध सत्तकम्ममहाधिकारमें एक उदय नामक अधिकार है, जो प्रकृतियोंके स्थिति, अनुभाग और प्रदेशोंके उत्कृष्ट, अनुकृष्ट, जघन्य और अजघन्य उदयना कथन करता है। उगमें उदगष्ट प्रदेशोदयका स्थापित्व निश्चय करनेके लिए 'सम्मुत्तुणत्ति' आदि ग्यारह गुणध्रेणियोंका कथन करने लिगा है कि जो गुणध्रेणियां मगलेजके गाय भवान्तरमें मकान्त होती हैं उन्हें कहेंगे।

इस प्रसंगमें जो वाक्य उद्धृत किये गये हैं वे वाक्य पट्ठण्डागमके उक्त सत्तकम्म नामक अधिकारमें, जिनपर पाँचका है, वर्तमान हैं। अतः चीवीगमग्यामीके द्वारा महाकर्मप्रकृतिप्राभूतके जेप अद्वारह अनुयोगद्वारोंको लेकर जो ध्वन्या रची गयी है वही सत्तकम्ममहाधिकार है, यह प्रमाणित होता है। किन्तु जगन्मवलामें सत्तकम्ममहाधिकारको अद्वारह अनुयोगद्वारोंमें प्रतिबद्ध न बतलाकर चीवीग अनुयोगद्वारोंमें प्रतिबद्ध बतलाया है। उगके साथ जब हम सत्तकम्मपाँचिकाके कथनको मिलते हैं और चीवीगमग्यामीके उग कथनको सामने रखते हैं कि बन्धके दूसरे समयमें लेकर सत्तारूपमें स्थित कर्मपुद्गलोंके व्यापारके कथनको उपक्रम कहते हैं, तो उगसे वस्तुस्थिति पर प्रकाश पड़ता है। चीवीग अनुयोगद्वारोंमें जिन-जिनमें उक्त सत्तारूपमें स्थित कर्मपुद्गलोंका कथन है वे सब सत्तकम्ममहाधिकार या सत्तकम्मपाँचुमें गभित ममरो जाने चाहिये। और सम्पूर्ण चीवीसो अनुयोगद्वार महाकर्मप्रकृतिप्राभूत कहे जाते हैं। उगमें महाबन्ध भी गभित है। किन्तु सत्तकम्मपाँचुमें महाबन्ध गभित नहीं है। अतः सत्तकम्मपाँचु महाकर्मप्रकृतिप्राभूतका नामान्तर नहीं है, बल्कि उगके अन्तर्गत ही है।

जैसा कि पट्ठण्ड नाममें स्पष्ट है। यह ग्रन्थराज छै सण्डोमें विभक्त है। पहले सण्डका नाम जीवट्टाण (जीवस्थान) है। दूसरे सण्डका नाम सुद्धावध (क्षुल्लक बन्ध) है। तीसरे सण्डका नाम वधस्वामित्वविचय है। चौथे सण्डका नाम वेदना है, पाँचवें सण्डका नाम वर्गणा है और छठे सण्डका नाम महाबन्ध है।

१ 'सत्तकम्ममहाधिकारो कदिवेदनादिचउवीमअणिओगद्वारेसु पटिवद्धे उदओ णाम अत्थादिचारो 'जाओ गुणमेदीओ सकिल्लेसेण सह भवतर सकामेति ताओ वत्तउस्सामो। त जहा—उवसमसम्मत्तगुणसेदी संजदामजदगुणसेदी अधापवत्तसजदगुणमेदि ति प्दाओ तिणिण गुणमेदीओ अप्पसत्थमरणेण वि मदस्स परभवे दीमति। सेमासु गुणमेदीसु णीणासु अप्पसत्थमरण भवे' इदि वुत्त।—ज०ध० प्रे०का० पृ० ३१९७ ९८।

'जाओ गुणमेदीओ अण्णभव सकामेति ताओ वत्तइरसामो। त जहा—उवसमसम्मत्तगुणमेदी संजदामजदगुणसेदी अधापमत्तगुणसेदी प्दाओ तिणिण गुणसेदीओ अप्पसत्थमरणेण वि मदस्स परभवे दिसति। सेमासु गुणसेदीसु णीणासु अप्पसत्थमरण भवे।'।

प्रस्तुत पट्खण्डागममें शुरुके पाँच खण्ड ही हैं। छठा महावध नामक खण्ड स्वतंत्र ग्रन्थके रूपमें पृथक् माना जाता है।

इन्द्रनन्दिने श्रुतावतारमे लिखा है कि भूतवल्लिने पुष्पदन्तविरचित सूत्रोको मिलाकर पाँच खण्डोके छह हजार सूत्र रचे और तत्पश्चात् महाबन्ध नामक छठे खण्डकी तीस हजार सूत्रग्रन्थरूप रचना की।

पट्खण्डागमके सूत्रोके अवलोकनसे प्रकट होता है कि प्रथम खण्ड जीवदृष्टाण-के आदिमे सत्प्ररूपणासूत्रोके रचयिता पुष्पदन्ताचार्यने मगलाचरण किया है। और तदनुसार धवलाकारने भी कर्ता, श्रुतावतार आदिका, जो कि ग्रन्थके प्रास्ता-विक कथन माने गये हैं, कथन किया है। पट्खण्डागमके कर्ता भूतवल्लिने चौथे खण्ड वेदनाके आदिमे पुन मगल किया है और तदनुसार धवलाकारने भी जीवदृष्टाणके आदिकी तरह कर्ता, निमित्त, श्रुतावतार आदिकी पुन. चर्चा की है। इससे यह पट्-खण्डागम ग्रन्थ दो भागोमे विभक्त प्रतीत होता है। पहले भागमें आदिके, तीन खण्ड हैं और दूसरे भागमे अन्तके तीन खण्ड हैं। इस दूसरे भागमे ही यथार्थत महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके चौबीस अधिकारोका वर्णन किया गया है। अत. प्रो० हीरालालजीने उसकी विशेष सज्ञा सत्कर्मप्राभृत वतलाई है।

उन्होंने लिखा है—‘इस समस्त विभागमे प्रधानतासे कर्मोकी समस्त दशाओ-का विवरण होनेसे उसकी विशेष सज्ञा सत्कर्मप्राभृत है। महाकर्मप्रकृतिप्राभृतका अपर नाम सत्कर्मप्राभृत समझकर ही प्रोफेसर साहबने ऐसा लिखा प्रतीत होता है, किन्तु इन दोनोके अन्तरकी चर्चा हम पीछे कर आये हैं। अत उन सबको सत्कर्म-प्राभृत नहीं कहा जा सकता।

खण्डोके नाम—

पट्खण्डागमके मूलसूत्रोमें जैसे ग्रन्थका कोई नाम नहीं पाया जाता, वैसे ही खण्डोका नाम भी प्राय नहीं पाया जाता।

पहले खण्डका नाम जीवदृष्टाण मूलसूत्रोमें नहीं पाया जाता। इस खण्डमे जीव-के भेद-प्रभेदोको मुख्यतासे वर्णन होनेके कारण ही इसे यह नाम दिया गया है। दूसरे खण्डका प्रथम सूत्र है—‘जे ते वधगा ‘णाम तेसिमिमो णिहेसो’, इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इस खण्डमें बन्धकोका कथन है। अत उस परसे इसे बन्ध-सज्ञा दी गई है और सम्भवतया ‘महाबन्ध’ को दृष्टिमें रखकर बन्धके पहले ‘खुदा’ विशेषण लगाकर खुदाबन्ध नामसे इसे अभिहित किया गया है।

किन्तु इस खण्डकी धवलाटीकाके प्रारम्भमे टीकाकारने इसके नामके सम्ब-

१ ‘सूत्राणि पट्सहस्रग्रन्थान्यथ पूर्वसूत्रसहितानि। प्रविरच्य महाबन्धाह्वये तत पष्ठक खण्डम् ॥१३९१॥’ त्रिशदसहस्रसूत्रग्रन्थ व्यरचयदसौ महात्मा ।—श्रुता० ।

न्धमें कुछ नहीं कहा । हाँ, इसका उद्गम स्थान अवश्य बतलाया है ।

तीसरे खण्ड 'बधसामित्तविचअ'के पहले सूत्रमें उसका नाम आया है । यथा—
'जो सो बंधसामित्तविचओ णाम तस्स इमो दुविहो णिद्देसो ओघेण य आदेसेण य ।

महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके चौबीस अनुयोगद्वारोंमेंसे प्रथम दोका नाम कृति और वेदना है । इन्हीं दो अनुयोगद्वारोंका कथन वेदना नामक चौथे खण्डमें है । पहले कृति-का कथन है और फिर वेदनाका । वेदना अधिकारके पहले सूत्रमें—'वेदणा त्ति तत्थ इमाणि वेयणाए सोलस अणियोगद्वाराणि णादन्वाणि भवति' ऐसा उल्लेख है । इस परसे कहा जा सकता है कि सूत्रकारने इस खण्डका नाम सूचित कर दिया है ।

उक्त दो अनुयोगद्वारोंके पश्चात् स्पर्श, कर्म, प्रकृति और बन्धन अनुयोग-द्वारोंका कथन ५वें वर्गणाखण्डमें है । बन्धन-अनुयोगद्वारमें वर्गणाका बहुत विस्तार-से वर्णन है । इसीसे सम्भवतया इस खण्डको वर्गणा नाम दिया गया है ।

वेदनाखण्ड और वर्गणाखण्डके बीचमें सूत्रकारने कोई ऐसी भेदरेखा सूचित नहीं की, जिससे इन दोनोंके भेदका स्पष्ट सूचन हो सके । फिर भी वेदनाखण्डमें सोलह अनुयोगद्वार उन्होंने बतलाये हैं, अतः उनकी समाप्तिके साथ ही वेदना-खण्डकी समाप्ति समझ लेनी चाहिये । जैसे वेदनाखण्डमें पहले कृतिका कथन है, फिर अन्तिम-वेदनाका कथन है और वही उस खण्डका प्रधान तथा अन्तिम विषय है, वैसे ही वर्गणामे पहले स्पर्श, कर्म और प्रकृतिका कथन है फिर बन्धनके निमित्तसे वर्गणाका कथन है । वर्गणाका कथन ही इस खण्डका प्रधान और अन्तिम प्रतिपाद्य विषय है । अतः वेदनाके पश्चात्से वर्गणा पर्यन्त ही वर्गणाखण्ड होना चाहिये ।

खण्डोंकी ये सज्ञाएँ वीरसेनस्वामीसे प्राचीन हैं, क्योंकि वीरसेनस्वामीके पूर्वज अकलकदेवने अपने तत्त्वार्थवार्तिकमें 'जीवस्थान' और 'वर्गणा' खण्डोंका उल्लेख किया है, यह हम पहले लिख आये हैं ।

वर्गणाखण्डका अन्तिम सूत्र है—

'ज त बधविहाण त चउन्विह—पयडिबधो, टिठदिबधो, अणुभागबधो, पदेस-बधो चेदि ।'

इसके पश्चात् महाबन्ध नामक छठा खण्ड प्रारम्भ होता है ।

इसका महाबन्ध नाम मूल-सूत्रोंमें उपलब्ध नहीं होता । ग्रन्थका प्रथम ताडपत्र अनुपलब्ध होनेसे यह भी नहीं कहा जा सकता कि इस खण्डकी रचनाके आरम्भमें भूतबलिने उसका नाम दिया था, या नहीं । किन्तु इसमें बन्धके चारो भेदोंका वर्णन विस्तारसे है, अतः इसे महाबन्धसंज्ञा दी गई है ।

सत्कर्मपंजिकाके^१ प्रारम्भिक कथनसे भी दरी बातका रामर्थन होता है। उसमें लिखा है—‘महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके कृति, वेदना आदि चौबीस अनुयोगद्वारोमेसे कृति और वेदनाका वेदनाखण्डमे, स्पर्श, कर्म, प्रकृति और बन्धनके चार अनुयोगोमेसे बन्ध और बन्धनीयका वर्गणाखण्डमे, बन्धनविधान नामक अनियोगद्वारका महाबन्धमे और बन्धक अनियोगद्वारका खुदाबन्धमे विस्तारसे कथन किया है। शेष अठारह अनुयोगद्वार सत्कम्ममें कहे गये हैं।

तीर्थकर महावीरकी वाणीसे इसका सम्बन्ध और स्रोत

भगवान महावीर स्वामीकी धर्मोपदेशनाको श्रवण करके उनके प्रधान शिष्य गौतम गणधरने उसे बारह अगोमें निबद्ध किया था। बारहवा अंग दृष्टिवाद शेष सब अगोसे महत्वपूर्ण और विशाल था। उसके महत्व और विशालताका कारण था उसके अन्तर्गत चौदह पूर्व। उनमेंसे द्वितीय आश्रयणीय पूर्वके पचम वस्तु अधिकार चयनलब्धिमें बीस प्राभृताधिकार थे। उन प्राभृत नामके अधिकारोमें चौथे प्राभृतका नाम महाकर्मप्रकृति था। उरा महाकर्मप्रकृतिके चौबीस अनुयोगद्वार नामक अधिकार थे। उनको उपसहृत करके इस पट्खण्डागम ग्रन्थकी रचना की गई है। इस बातका निर्देश चतुर्थ वेदनाखण्डके आदिमे कृति अनुयोगद्वारका अवतरण करते हुए स्वयं सूत्रकार भूतबालिने किया है—

‘अग्गेणियस्स पुब्बस्स पचमस्स वत्थुस्स चउत्थो पाहुडो कम्मपयडो णाम । तत्थ इमाणि चउवीस अणियोगद्वाराणि णादब्बाणि भवन्ति—कदि वेदणाए पस्से कम्मे पयडोसु वंधणे णिवंधणे पक्कमे उवक्कमे उवए मोक्खे पुण सकमे लेस्सा लेस्सायम्मे लेस्सापरिणामे तत्थेव सादमसादे दीहेरहस्से भवधारणाए तत्थ पोगलत्ता णिघत्तमणिघत्त णिकाचिदमणिकाचिदं कम्मट्ठिदि पच्छिमक्खंधे अप्पाबहुग च सन्वत्थ’ ॥४५॥

अर्थात् आश्रयणीय पूर्वके पचम वस्तु अधिकारके अन्तर्गत चतुर्थ प्राभृतका नाम कर्मप्रकृति है। उसके विषयमें ये चौबीस अनुयोगद्वार जानने योग्य हैं—१. कृति, २. वेदना, ३. स्पर्श, ४. कर्म, ५. प्रकृति, ६. बन्धन, ७. निबन्धन, ८. प्रक्रम, ९. उपक्रम, १०. उदय, ११. मोक्ष, १२. सक्रम, १३. लेश्या, १४. लेश्याकर्म,

१ महाकम्मपयडिपाहुटस्स कदिवेदणाओ (६) चउव्वीस मणियोगद्वारेसु तत्थ कदिवेदणा त्ति जाणि अणियोगद्वाराणि वेयणाखण्डास्सि पुणो प (पस्स-कम्म-पयडि-वंधण त्ति) चत्तारि अणियोगद्वारेसु तत्थ वध वधणिज्जणामाणियोगेहि सह वगणा खडम्मि, पुणो वधविधान णामाणियोगद्वारो सहावधम्मि पुणो वधगाणियोगो खुदावधम्मि च सप्पवच्चेण परू-विदाण । पुणो तेहिंतो सेसट्ठारसाणियोगद्वाराणि सत्त कम्मे सव्वाणि परूविदाणि ।’—पट्ख, पु० १५, परि० पृ० १ ।

६२ : जैनसाहित्यका इतिहास

१५. लेश्यापरिणाग, १६ सातासात, १७ दीर्घह्रस्व, १८ भवधारणीय, १९ पुद्गलत्व, २० निधत्त-अनिधत्त, २१ निकाचित-अनिकाचित, २२ कर्मस्थिति २३ पश्चिमरक्कन्ध, २४ अल्पबहुत्व ।

इन्ही चौबीस अनुयोगद्वारोको छै खण्डोमे उपसंहृत किया गया है । पहले कृति और दूसरे वेदना अनुयोगद्वारका उपसंहार करके चौथा वेदनाखण्ड निष्पन्न हुआ है । तीसरे स्पर्श, चौथे कर्म और पाँचवें प्रकृति और छठे बन्धन अनुयोगद्वारसे पाँचवाँ वर्गणाखण्ड निष्पन्न हुआ है । और छठे बन्धन अनुयोगके भेद प्रभेदोसे शेष चार खण्ड उपसंहृत हुए हैं ।

प्रथम खण्ड ^१जीवस्थानका अवतार बतलाते हुए वीरसेनस्वामीने रात्ररूपणाके द्वितीय सूत्रकी धवलाटीकामें विस्तारसे यह बतलाया है कि जीवस्थानका अवतार चतुर्थ कर्मप्रकृतिप्राभृतके किस अनुयोगद्वारके अन्तर्गत किन-किन भेदो-प्रभेदोसे हुआ । यह हम पीछे लिख आये हैं ।

दूसरे खण्ड खुदाबन्धके प्रथमसूत्रकी ^२धवलामें वीरसेनस्वामीने लिखा है—‘महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके कृति, वेदना आदि चौबीस अनुयोगद्वारोमे छठे बन्धन अनुयोगद्वारके अन्तर्गत चार अधिकार हैं—बन्ध, बन्धक, बन्धनीय और बन्धविधान । उनमेंसे जो बन्धक नामका दूसरा अधिकार है वही यहाँ सूत्रके द्वारा सूचित किया गया है । तात्पर्य यह है कि महाकर्मप्रकृतिप्राभृतमे जो बन्धक कहे गये हैं उन्हीका यहाँ निर्देश है ।’

इससे स्पष्ट है कि दूसरे खण्डका उद्धार महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके छठे अनुयोगद्वारके अवान्तर अधिकारोसे किया गया है ।

तीसरे खण्ड बन्धस्वामित्वविचयके प्रथमसूत्रकी धवलाटीकामें ^३वीरसेनस्वामीने लिखा है—‘कृति, वेदना आदि चौबीस अनुयोगद्वारोमे बन्धन नामका छठा अनुयोगद्वार है । उसके चार भेद हैं—बन्ध, बन्धक, बन्धनीय और बन्धविधान । बन्धविधानके चार भेद हैं प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध । प्रकृतिबन्धके दो भेद हैं—मूलप्रकृतिबन्ध और उत्तरप्रकृतिबन्ध ।

१ पट्ख०, पु० १, पृ० १२३-१३० ।

२ ‘जे ते बधगा णाम तेसिमिमो णिदेसो ॥१॥’ टी०—‘जे ते बधगा णाम’ इति वयण बधगाण पुव्वपसिद्धत्त सूचेदि । पुव्व कम्हि पसिद्धे बधगे सूचेदि ? मटाकम्मपयाटिपाहुडम्मि । त जहा—महाकम्मपयाटिपाहुडस्स कदिवेदणादिगेषु चटुवीसअणिओगद्वारेसु छट्ठस्स बधणेस्सि अणियोगद्वारस्स बधो बधगो बधणिज्ज बधविहाणमिदि चत्तारि अहियारा । तेसु बधणेस्सि विदियो अहियारो एदेण वयणेण सूचिदो ।—पट्ख०, पु० ७, पृ० १-२ ।

३ पट्ख०, पु० ८, पृ० २ ।

मूलप्रकृतिबन्धके दो भेद हैं—एकैकमूलप्रकृतिबन्ध और अव्यागाढमूलप्रकृतिबन्ध । अव्यागाढमूलप्रकृतिबन्धके दो भेद हैं—भुजाकारबन्ध और प्रकृतिस्थानबन्ध । इनमें उत्तरप्रकृतिबन्धके चौबीस अनुयोगद्वार हैं । उन चौबीस अनुयोगद्वारोंमें एक बन्धस्वामित्व नामक अनुयोगद्वार है । उसीका नाम बधस्वामित्वविचय है ।

इस तरह बन्धरवामित्वविचय नामक तीसरा खण्ड भी कर्मप्रकृतिप्राभृतके छठे अनुयोगद्वारसे उपजा है ।

चतुर्थ खण्ड वेदनाके अन्तर्गत कृति अनुयोगद्वारके आदिमें तो सूत्रकारने स्वयं ४४ सूत्रोंसे मंगलरूप नमस्कार किया है और पैतालीसवें सूत्रमें ग्रन्थकी उत्थानिकाके रूपमें आग्रायणीय पूर्वके पचम वस्तु-अधिकारके अन्तर्गत कर्मप्रकृतिप्राभृतके चौबीस अनुयोगद्वारोंका निर्देश किया है । जिससे स्पष्ट है कि चतुर्थादि खण्ड कर्मप्रकृतिप्राभृतके कृति आदि अनुयोगद्वारोंको ही सक्षिप्त करके लिखे गये हैं । सम्भवतः इसीसे ही वीरसेनस्वामीने शुरूके तीन खण्डोंकी तरह उत्तरके तीनों खण्डोंके सम्बन्धमें यह कथन नहीं किया कि वे अमुक अनुयोगद्वारसे निकले हैं ।

किन्तु कृति अनुयोगद्वारके प्रारम्भिक मागलिक सूत्रोंको लेकर वीरसेनस्वामीने जो लम्बी चर्चा की है उसे हम यहाँ दे देना उचित समझते हैं, क्योंकि इन तीन खण्डोंका द्वादशाग वाणीसे सीधा सम्बन्ध होनेके सम्बन्धमें उससे पर्याप्त प्रकाश पड़ता है ।

शका—निबद्ध^१ और अनिवद्धके भेदसे मंगलके दो प्रकार हैं । उनमेंसे यह मंगल निबद्ध मंगल है अथवा अनिवद्ध ?

समाधान^२—यह मंगल निबद्ध नहीं है क्योंकि कृति आदि चौबीस अनुयोगद्वारवाले महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके आदिमें गौतमस्वामीने यह मंगल किया है । और भूतबलि भट्टारकने इसे वहाँसे उठाकर वेदनाखण्डके आदिमें ला रखा है । अतः इसे निबद्ध मंगल नहीं मान सकते, क्योंकि न तो वेदनाखण्ड महाकर्मप्रकृतिप्राभृत है, अवयवको अवयवी नहीं माना जा सकता, और न भूतबलि गौतम गणधर है, क्योंकि घरसेनाचार्यके शिष्य और विकलश्रुतके धारक भूतबलि वर्धमानस्वामीके शिष्य और सकल श्रुतके धारक गौतम नहीं हो सकते । यदि ऐसा हो सकता, तो इस मंगलको निबद्ध मंगल कह सकते थे । अतः यह अनिवद्ध मंगल है । अथवा इसे निबद्ध मंगल भी कह सकते हैं ।

१. सूत्रके आदिमें सूत्रकारके द्वारा जो देवताको नमस्कार किया जाता है उसे निबद्धमंगल कहते हैं । और जो सूत्रके आदिमें सूत्रकारके द्वारा निबद्ध देवतानमस्कार है उसे अनिवद्धमंगल कहते हैं ।

२. छक्ख०, पु० ९, पृ० १०३-१०४ ।

शका—इसे निवद्ध मंगल तो तभी कहा जा सकता है जब वेदना आदि खण्ड और महाकर्मप्रकृतिप्राभूत एक हो, किन्तु खण्डग्रन्थको महाकर्मप्रकृतिप्राभूत कैसे माना जा सकता है ?

समाधान—महाकर्मप्रकृतिप्राभूत चौबीस अनुयोगद्वारोसे सर्वथा पृथक्भूत नहीं है। अर्थात् चौबीस अनुयोगद्वारोका ही नाम महाकर्मप्रकृतिप्राभूत है और उन्ही अनुयोगद्वारोसे वेदना आदि खण्ड निष्पन्न हुए हैं, अतः उन्हें महाकर्मप्रकृतिप्राभूतपना प्राप्त है।

शंका—अनुयोगद्वारोको कर्मप्रकृतिप्राभूत मानने पर बहुतसे कर्मप्रकृतिप्राभूत हो जायेंगे ?

समाधान—इसमें कोई दोष नहीं है, कयचित् ऐसा इष्ट ही है।

शका—महाकर्मप्रकृतिप्राभूतका वेदना-अनुयोगद्वार तो महापरिमाणवाला है—बड़ा विशाल है उसके उपसंहाररूप इस वेदनाखण्डको वेदनापना कैसे संभव है ?

समाधान—अवयवी अपने अवयवोंसे सर्वथा पृथक् नहीं पाया जाता।

शंका—भूतवलिका गौतम होना कैसे संभव है ?

समाधान—उनके गौतम होनेसे क्या प्रयोजन है ?

शंका—क्योंकि भूतवलिको गौतम माने बिना यह मंगल निवद्ध नहीं हो सकता।

समाधान—इस खण्डग्रन्थके कर्ता भूतवलि नहीं है क्योंकि दूसरेके द्वारा रचित ग्रन्थके अधिकारोके एकदेशरूप पूर्वोक्त शब्दार्थ-सन्दर्भका कथन करनेवाला कर्ता नहीं हो सकता। ऐसा माननेसे अतिप्रसंग दोष आता है।

उक्त चर्चासि दो बातें स्पष्ट होती हैं। एक तो वेदनाखण्डके आदिमें जो ४४ सूत्र मंगलात्मक है वे भूतवलिकृत नहीं हैं, बल्कि महाकर्मप्रकृतिप्राभूतके मंगलसूत्र हैं और वहीमे ज्यो-का-स्यो उठाकर भूतवलिले उन्हें वेदनाखण्डके आदि में रख दिया है। दूसरे, प्रकृत पट्खण्डागमके सूत्रोंमें वर्णित अर्थ ही महाकर्मप्रकृतिप्राभूतका ऋणी नहीं है किन्तु शब्द भी उसीके है। भूतवलि तो उसके प्ररूपकमात्र है, कर्ता नहीं है।

इन दोनों बातोंसे प्रकृत पट्खण्डागमका द्वादशाग वाणीके एक अग्ररूप पूर्वो-से साक्षात् सम्बन्ध सिद्ध होता है।

आगे पट्खण्डोका उद्गम आग्रायणीय पूर्वके किस भेद-प्रभेदसे हुआ, इसके स्पष्टीकरणके लिए उनका यहाँ वृत्त दिया जाता है।

बारहवे अग दृष्टिवादके चतुर्थ भेद पूर्वगतका दूसरा भेद—

आग्रायणीयपूर्व

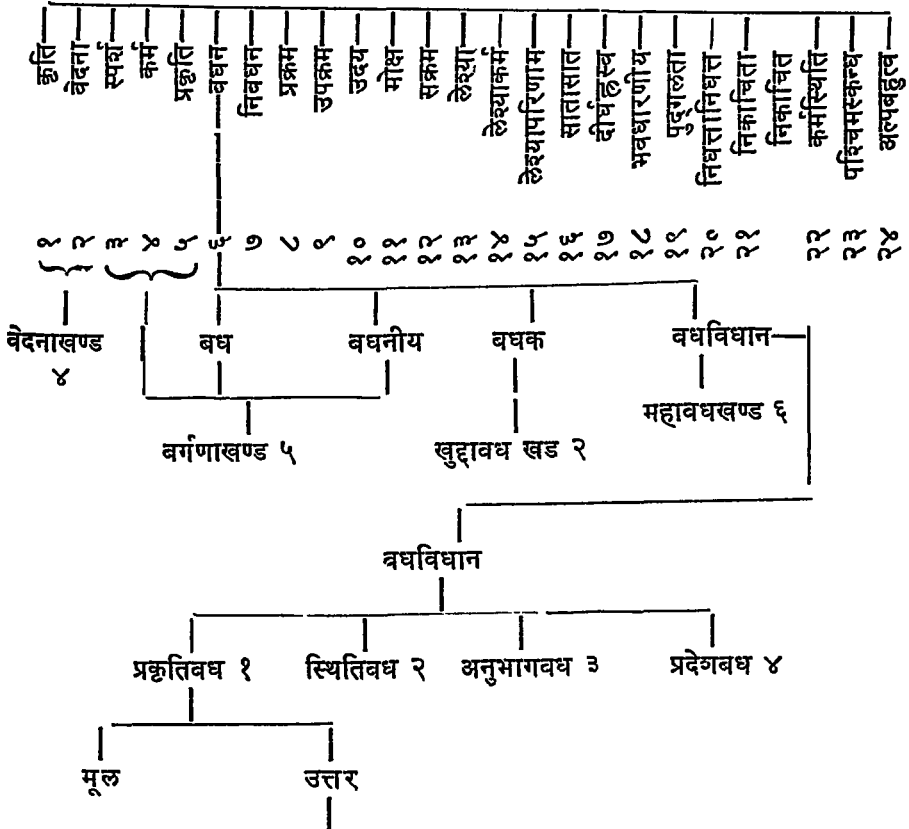
१४ वस्तु

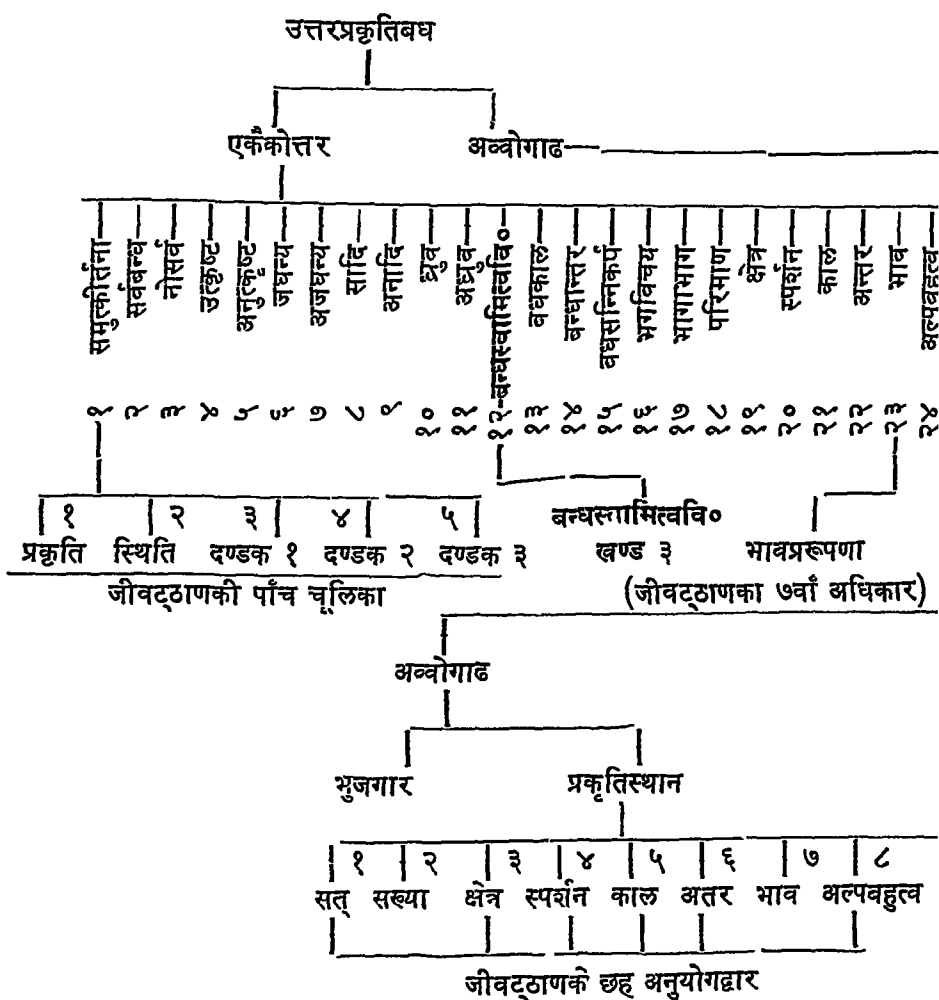
- | | | | | | | | | | | | | | |
|-------------|-----------|---------|----------|------------|---------|---------------|--------|-------|-------------|-------------|----------------|-------------------|----------|
| १ पूर्वान्त | २ अपरान्त | ३ ध्रुव | ४ अध्रुव | ५ चयनलब्धि | ६ अधोपम | ७ प्रणिधिकल्प | ८ अर्थ | ९ भौम | १० व्रतादिक | ११ सर्वार्थ | १२ कल्पनिर्याण | १३ अतीतसिद्ध-बद्ध | १४ अनागत |
|-------------|-----------|---------|----------|------------|---------|---------------|--------|-------|-------------|-------------|----------------|-------------------|----------|

२० पाहुंड

उनमेंसे चौथा कर्मप्रकृतिपाहुंड

२४ अनुयोग





जीवदृष्टाणके छह अनुयोगद्वार

बंधकके ग्यारह अनुयोगद्वारोंमें पाँचवें द्रव्यप्रमाणानुगमसे जीवदृष्टाणकी संख्या

रचना-शैली

प्रस्तुत छक्खडागमके अन्तर्गत पाँचो खण्ड प्राकृत-भापाके प्रसादगुणयुक्त सूत्रोंमें रचे गये हैं। पाँचो खण्डोंके सूत्रोंकी संख्या साढ़े छै हजारसे अधिक है। चौथे और पाँचवें खण्डमें कुछ गाथासूत्र भी हैं।

सूत्र अपने आपमें पूर्ण और बहुत स्पष्ट हैं। प्राकृत-भापाका साधारण जानकार भी सूत्रोंको पढ़ते ही उनका शब्दार्थ समझ सकता है। किन्तु चूँकि उनमें प्रतिपादित विषय जैन सिद्धान्तके गूढ़ और गम्भीर तत्त्वोंसे सम्बद्ध हैं, अतः पारिभाषिक शब्दोंके बाहुल्यके कारण उनका भाव समझ सकना सरल नहीं है। जो जैन कर्म-सिद्धान्तकी मोटी-मोटी बातोंमें परिचित हैं वे उनके सूत्रोंके आशयको भी सरलतासे हृदयगम कर सकते हैं, पर सभी खण्डोंके विषयमें ऐसा नहीं कहा जा सकता।

सभी सूत्र अल्पाक्षर हैं, असन्दिग्ध हैं और सारवान् हैं । अल्पाक्षरका यह अभिप्राय नहीं है कि सभी सूत्र छोटे हैं । प्रतिपाद्य विषयक अनुसार उनकी रचना है । उदाहरणके लिये 'सव्वद्धा' जैसे छोटे सूत्र भी हैं और ऐसे भी हैं जो कई पंक्तियोंमें समाप्त होते हैं ।

संक्षेपमें इस ग्रन्थकी शैली आगामिक सूत्रशैली है ।

इस शैलीकी निम्नलिखित विशेषताएँ पायी जाती हैं—

१ विषयानुसार सूत्रोंके शब्दोंकी योजना ।

२ निरर्थक शब्दोंका अभाव ।

३ प्रसादयुक्तता ।

४ पारिभाषिक शब्दोंका प्रयोग ।

५ अर्थगाम्भीर्य ।

विषय-परिचय—

जीवट्ठाण^१

पहले खण्डका नाम जीवट्ठाण या जीवस्थान है । इसके आठ अनुयोगद्वार हैं—सत्प्ररूपणा, द्रव्यप्रमाणानुगम, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्प-बहुत्व । इनमेंसे प्रथम अनुयोगद्वार सत्प्ररूपणाके कर्ता आचार्य पुष्पदन्त है और शेषके कर्ता आचार्य भूतबलि है ।

सत्प्ररूपणा—इसके सूत्रोंकी संख्या १७७ है । इसका प्रारम्भ जैनोके प्रसिद्ध महामत्रसे होता है । वही इसका प्रथम सूत्र है, जो इस प्रकार है—

णमो अरिहताण णमो सिद्धाण णमो आइरियाण ।

णमो उवज्झायाणा णामो लोए सव्व-साहूण ॥१॥

इसका व्याख्यान^२ करते हुए वीरसेनस्वामीने मगलके दो भेद निबद्ध और अनिबद्ध किये हैं । सूत्रोंके आदिमें सूत्रकारके द्वारा निबद्ध किये गये देवता-नम-स्कारको निबद्ध मगल और सूत्रके आदिमें सूत्रकारके द्वारा किये गये देवता-नम-स्कारको अनिबद्ध मगल बतलाकर उन्होंने इसे निबद्ध-मगल कहा है । इससे यह प्रकट होता है कि यह मगल पुष्पदन्तके द्वारा रचित है क्योंकि निबद्धसे उनका

१ यह पहला खण्ड प्रथम बार श्रीमन्त सेठ गितावराय लक्ष्मीचन्द, जैन साहित्योद्धारक फण्ड कार्यालय, भेलसासे ५ जित्दोंमें प्रकाशित हुआ है ।

२ 'तत्थ णिवद्ध णाम जो सुत्तस्सादीण सुत्तकत्तारेण णिवद्ध-देवदा-णमोक्कारो त णिवद्ध-मगल । जो सुत्तस्सादीण सुत्तकत्तारेण कय-देवदा-णमोक्कारो तमणिवद्धमगल । इद पुण जीवट्ठाण णिवद्धमगल । यत्तो 'इमेसि चोइसण्ह जीवसमासाण' इदि णट्ठस्स सुत्तस्सादीण णिवद्ध 'णमो अरिहताण' इच्चादिदेवदा णमोक्कार-दसणादो ।'

अभिप्राय स्वरचित्तमे है जीव किमे गमे (कृता) मे अभिप्राय है दूगर्मेके द्वारा रचने गये मंगलादि गन्धके आदिमें स्थापित कर देना । नैदनागणके कृति अनुयोगद्वारा^१ के आदिमें भूतवल्लिने जो मंगलरूपमे ४८ सूत्र स्थापित किमे है उन्हें श्रीग्रेन-स्वामीने अनिवद्ध मंगल कहा है, क्योंकि वे सूत्र महाकर्मप्रकृतिप्राभुतके मंगलसूत्र हैं और नहीमे लेकर उन्हें स्थापित किया गया है । अतः उक्त मंगलान पुण्यदन्त-रचित होना स्पष्ट है । किन्तु हमारे अनेक विप्रतिपत्तिर्था है—इतिताम्वर मम्प्रदाय-मे भी यह मत्र उगी रूपमे मान्य है । भगवतीसूत्रका प्रारम्भ उगी मंगलसूत्रसे हुआ है । आनन्दसूत्रके मध्यमे भी यह मत्र पाया जाता है ।

इसके सिवाय पारस्विकके प्रसिद्ध जिलालेगका आरम्भ भी 'णमो अरुताण णमो सिद्धाणं, इन पदोसे होता है ।' अतः यह क'तन' निवाद्यप्रस्त है । अस्तु । सूत्र दोसे गन्धमें प्रतिपादित त्रिगणका आरम्भ होता है—

'एत्तो एगेसि चोद्दगणह जीवगमाणाण मग्गणद्वुदाए तत्थ इमाणि चोद्दम चेव द्वाणाणि णादब्बाणि भवति' ॥२॥

'इन चौदह जीवसमागो (गुणस्थानो) के अन्वेषणके लिये ये चौदह मार्गणा-स्थान जानने योग्य हैं ।'

सूत्र ४ में चौदह मार्गणाओके नाम गिनाये हैं—गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कपाय, ज्ञान, संगम, दर्जन, देह्या, भव्यत्व, मम्प्रवत्व, गज्जी, आहारक ।

सूत्र ५ में लिखा है कि—इन चौदह गुणस्थानोके कथनके लिये ये आठ अनु-योगद्वार जानने योग्य हैं ।

सूत्र ७ में उन अनुयोगदारोके नाम गिनाये हैं—

'सतपरूवणा, दच्चपमाणाणुगमो, सेत्ताणुगमो, फोगणाणुगमो, कालाणुगमो, अतराणुगमो, भावाणुगमो, अप्पवहुगाणुगमो चेदि ॥७॥'

इन्ही आठ अनुयोगदारोमें जीवद्वान-न्यण्ड विभक्त है । सूत्र ८ से प्रथम अनु-योगद्वार 'सतपरूवणा'का कथन प्रारम्भ होता है ।

'संतपरूवणाए दुविहो णिहेसो ओघेण आदेसेण य ॥८॥'

'जीवसमासो (गुणस्थानो)के सत्त्वकी प्ररूपणामे दो प्रकारका निर्देश है—ओघ अर्थात् सामान्यसे और आदेस अर्थात् विशेषसे ।'

सतका मतलब^३ है सत्ता । और प्ररूपणाका मतलब है—निरूपण या प्रज्ञापन या कथन । गुणस्थानके लिये यहाँ जीवसमासशब्दका प्रयोग किया है । जीवसमास

१ पट्ख०, पु० ९, पृ० १०३ ।

२ इसके विशेष विचारके लिये प० कैलाशचन्द्र शाम्भरी लिखित 'नमस्कारमत्र' नामक पुस्तक देखनी चाहिए ।

३ 'सत्सत्त्वमित्यर्थ', 'प्ररूपणा निरूपणा प्रज्ञापनेति यावत्'—पट्ख०, पु० १, पृ० १५९ ।

का अर्थ है जिनमें जीव भले प्रकार रहते हैं अथवा पाये जाते हैं उन्हें जीवसमास^१ कहते हैं। जैन सिद्धान्तमें गुणोंके अनुसार संसारके सब जीवोंका वर्गीकरण चौदह विभागोंमें किया गया है। उन चौदह विभागोंको ही गुणस्थान कहते हैं। ये गुणस्थान संसारके जीवोंके क्रमिक विकासके सूचक स्थान हैं। इन पर अवरोह मोक्षकी ओर और अवतरण संसारकी ओर ले जाता है। उनके अस्तित्वके कथनके दो प्रकार हैं—सामान्य कथन और विशेष कथन। प्रथम सामान्य कथन किया है फिर विशेष कथन किया है। इन दोनों प्रकारके कथनके लिये जैन सिद्धान्तमें ओघ और आदेश शब्द रूढ हैं।

सूत्रकारने चौदह सूत्रोंके द्वारा चौदह गुणस्थानोंके नामोंका निर्देश किया है। उनका स्वरूप जाने बिना प्रकृत सिद्धान्तग्रन्थके रहस्यको समझना शक्य नहीं है। अतः संक्षेपमें उनका स्वरूप बतला देना अनुचित न होगा—

१. 'ओघेण अत्थि मिच्छाइट्ठी'^२ ॥९॥

ओघसे मिथ्यादृष्टि जीव है। यहाँ मिथ्याशब्दका अर्थ असत्य है। और दृष्टि-शब्दका अर्थ दर्शन अथवा श्रद्धान है। जिन जीवोंकी दृष्टि मिथ्या होती है उन्हें मिथ्यादृष्टि कहते हैं। दृष्टिके मिथ्या होनेका कारण मिथ्यात्वमोहनामक कर्मका उदय है। जिन जीवोंके मिथ्यात्वका उदय होता है उनका श्रद्धान विपरीत होता है और जैसे पित्तज्वरके रोगीको मीठा दूध भी कड़वा लगता है वैसे ही उन्हें यथार्थ धर्म भी अच्छा नहीं लगता। यह पहला गुणस्थान है।

२. 'सासणसम्मोदट्ठी'^३ ॥१०॥

दूसरे गुणस्थानका नाम सासादनसम्यग्दृष्टि है। सम्यग्दर्शनकी विराधनाको आसादन कहते हैं। जो आसादन सहित हो उसे सासादन कहते हैं। जो जीव सम्यग्दृष्टी होकर अपने सम्यग्दर्शनको विनष्ट कर लेता है और इस तरह सम्यक्त्वसे मिथ्यात्वकी ओर अभिमुख होता है उसे सासादनसम्यग्दृष्टी कहते हैं। कहा है—'सम्यग्दर्शनरूपी रत्नपर्वतके शिखरसे गिरकर जो जीव मिथ्यात्वरूपी भूमि (पहला गुणस्थान) के अभिमुख होता है, अतएव जिसका सम्यग्दर्शनरूपी रत्न तो नष्ट हो चुका है किन्तु जो मिथ्यात्वको प्राप्त नहीं हुआ है, पतनकी इस मध्य अवस्था वाले जीवको सासादनसम्यग्दृष्टि कहते हैं।

३. 'सम्मामिच्छाइट्ठी'^४ ॥११॥

१. 'जीवसमास इति किम् ? जीवा सम्यग्भासतेऽस्मिन्निति जीवसमास । क्वासते ? गुणेषु ।

पट्ख, पु १, पृ० १६० ।

२. पट्ख०, पु० १, पृ० १६१ ।

३. वही, पृ० १६३ ।

४. वही, पृ० १६६ ।

तीसरे गुणस्थानका नाम सम्यग्मिथ्यादृष्टि है। जिगकी दृष्टि अर्थात् श्रद्धा या रुचि सच्ची और विपरीत दोनों प्रकारकी होती है उसे सम्यग्मिथ्यादृष्टि कहते हैं। कहा है—जरो दही और गुठली मिला देने पर उन्हें अलग-अलग नहीं किया जा सकता। उगी प्रकार माषवत्न और मिथ्यात्स्व मिले हुए भाव वाले जीवको सम्यग्मिथ्यादृष्टि जानना चाहिये।

४. 'असजदसम्माऽट्ठी' ॥१२॥'

जिसकी दृष्टि अर्थात् श्रद्धा सम्यक्—राज्ची होती है उसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं। और समयरहित सम्यग्दृष्टिको अरायतसम्यग्दृष्टि कहते हैं। वे सम्यग्दृष्टि जीव तीन प्रकारसे होते हैं—क्षायिकसम्यग्दृष्टि, वेदकसम्यग्दृष्टि और औपशमिक-सम्यग्दृष्टि।

मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व, सम्यक्त्वमोहनीय, अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ ये मोहनीयकर्मकी रात प्रकृतियाँ जीवकी श्रद्धाको दूषित करती हैं। अतः इन सातों कर्मप्रकृतियोंका सर्वथा विनाश हो जाने पर जीवमें जो सम्यग्दर्शन गुण प्रकट होता है उसे क्षायिकसम्यग्दर्शन कहते हैं और उस जीवको क्षायिक सम्यग्दृष्टि कहते हैं। उक्त सात प्रकृतियोंके उपशम (दब जाने)से जिसके सम्यग्दर्शन प्रकट होता है उसे औपशमिकसम्यग्दृष्टि कहते हैं। उक्त सात कर्मप्रकृतियों-मेसे सम्यक्त्वमोहनीयकर्मका उदय रत्ते हुए जो सम्यग्दर्शन होता है उसके धारी जीवको वेदकसम्यग्दृष्टि कहते हैं।

इन तीनोंमेसे क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीव कभी भी मिथ्यात्वमे नहीं जाता, किन्तु औपशमिकसम्यग्दृष्टि उपशमसम्यक्त्वके छूट जाने पर मिथ्यात्वनामक पहले गुणस्थानवाला हो जाता है। या सासादनगुणस्थानवाला होकर फिर मिथ्यात्व-गुणस्थानमे जाता है। कभी तीसरे गुणस्थानवाला भी हो जाता है। कहा है—जो न तो इन्द्रियोके विपद्दोसे विरक्त है और न त्रस और स्थावर जीवोंकी हिंसासे विरत है, किन्तु जिनेन्द्रदेवके द्वारा कहे हुए तत्त्वोपर श्रद्धा रखता है उसे अस-यतसम्यग्दृष्टि कहते हैं। आगेके सब गुणस्थान सम्यग्दृष्टिके ही होते हैं।

५. 'सजदासजदा' ॥१३॥'

जो सयत होते हुए भी असयत होते हैं उन्हें संयतासयत कहते हैं। कहा है—जो जिनेन्द्रदेवमे ही श्रद्धा रखते हुए त्रसजीवोंकी हिंसासे विरत और स्था-वर जीवोंकी हिंसासे अविरत होता है उसे विरताविरत या सयतासयत कहते हैं।

६ 'प्रमत्तसजदा' ॥१४॥

प्रमादरो युवा जीवको प्रमत्त कहते हैं और हिरा, झूठ, चोरी, अव्रह्म और परिग्रहमे विरतको सयत कहते हैं । प्रमादी सयमीको प्रमत्तसयत कहते हैं । कहा भी है—'जो व्यक्त या अव्यक्त प्रमादमें निवास करता है किन्तु गमरत गुणो और शीलोमे युक्त महाव्रती होता है उसे प्रमत्तसयत कहते हैं । उसका आचरण प्रमाद-के कारण सदोप होता है ।

७ 'अप्पमत्तसजदा' ॥१५॥

जो प्रमत्तसयत नहीं है उन्हे अप्रमत्तसयत कहते हैं । अर्थात् प्रमादरहित सयमी जीवको अप्रमत्तसयत कहते हैं ।

आगेके सब गुणस्थान सयमी मनुष्योंके ही होते हैं । सातवें गुणस्थानके बाद आठवे गुणस्थानसे दो श्रेणियाँ प्रारम्भ होती हैं । एक उपशमश्रेणि और एक क्षपक श्रेणि । उपशमश्रेणिमें चढ़ने वाला जीव मोहनीयकर्मको नष्ट न करके दवाता जाता है । इसीसे ग्यारहवें गुणस्थानमें पहुँचकर वह नीचे गिर जाता है । और क्षपकश्रेणिपर आरोहण करने वाला मोहनीयकर्मको नष्ट करता हुआ आगे बढ़ता है । अतः उसका पतन नहीं होता । ये दोनों श्रेणियाँ ध्यानमग्न गाधुओंके ही होती हैं ।

८ 'अपुञ्जकरणपविट्ठसुद्धिसजदेसु अत्थि उवसमा खवा' ॥१६॥

आठवे गुणस्थानका नाम अपूर्वकरणमयत है । 'करण' शब्दका अर्थ है परिणाम—जीवके भाव या विचार । अपूर्व अर्थात् जो इससे पहले नहीं हुए, ऐसे सत्परिणाम वाले सयमी अपूर्वकरणसयत कहे जाते हैं । इन अपूर्वकरणसयतीमे उपशम-श्रेणिवाले भी होते हैं और क्षपकश्रेणिवाले भी होते हैं ।

९ 'अणियट्ठिवादरसापराइयपविट्ठसुद्धिसजदेसु अत्थि उवसमा खवा' ॥१७॥

नौवें गुणस्थानका नाम अनिवृत्तिवादरसाम्परायसयत है । इस गुणस्थानमें एक समयमे एक ही परिणाम निश्चित है । अतः इसमें समानसमयवर्ती जीवोंके परिणाम सदृश ही होते हैं । इसीको अनिवृत्तिशब्दसे कहा है । साम्पराय-शब्दका अर्थ है कपाय और वादरका अर्थ है स्थूल । अतः स्थूल कपायको वादर-साम्पराय कहते हैं और अनिवृत्तिवादरसाम्परायरूप परिणामवाले सयमियोंको अनिवृत्तिवादरसाम्परायसयत कहते हैं । वे सयत उपशमक भी होते हैं और क्षपक भी होते हैं ।

१. पट्ख० १, १४, पृ० १७५ ।

२. वही, पृ० १७८ ।

३. वही, पृ० १७९ ।

४. वही, पृ० १८३ ।

यहाँ जो 'वाटर' शब्द है वह उग वातका सूचक है कि पूर्वके सव गुणस्थानों-
में स्थूल कपाय रहती है ।

१० 'सुहुमरापराज्यपावट्ठगुद्धिराजदेसु अरिय उवसमा सवा' ॥ १८ ॥

दसवें गुणस्थानका नाम सूक्ष्मगाम्परायगत है । जिन समियोंके सूक्ष्म
कपाय रहती है उन्हें सूक्ष्मगाम्परायगत कहते हैं । वे उपशमक भी होते हैं
और क्षपक भी ।

११. 'उनसतकगायवीयरायच्छुभत्था' ॥ १९ ॥

जिनकी कपाय उपशान्त है उन्हें उपशान्तकपाय कहते हैं । और जिनका
राग नष्ट हो गया है उन्हें वीतराग कहते हैं । तथा अल्पज्ञानियोंको छद्मस्थ कहते
हैं । उपशान्तकपाय वीतरागी छद्मस्थोंको उपशान्तकपायवीतरागछद्मस्थ कहते
हैं । यह ग्याहरहवा गुणस्थान है । कहा भी है—

'निर्मलीसे युक्त जलकी तरह अथवा शरदन्नत्तुमे होने वाले सरोवरके निर्मल
जलकी तरह, सम्पूर्ण मोहनीयकर्मके उपशमसे होनेवाले निर्मल परिणामवाले
जीवको उपशान्तकपाय कहते हैं ।'

१२ 'क्षीणकगायवीयरायच्छुभत्था' ॥ २० ॥

जिनकी कपाय क्षीण हो गई है उन्हें क्षीण कपाय कहते हैं । जो क्षीण
कपाय होते हुए वीतराग होते हैं किन्तु छद्मस्थ होते हैं उन्हें क्षीणकपायवीत-
रागछद्मस्थ कहते हैं । यहाँ जो 'छद्मस्थ' शब्द है वह पूर्वके सव गुणस्थानवर्ती
जीवोंको छद्मस्थ सूचन करता है । यह बारहवा गुणस्थान है । कहा भी है—

'जिराने सम्पूर्ण मोहनीय कर्मको नष्ट कर दिया है अतएव जिनका चित्त
स्फटिक मणिके निर्मल पात्रमें रखे हुए जलके समान निर्मल है ऐसे निर्ग्रन्थ साधु-
को क्षीणकपायगुणस्थानवाला कहा है ।'

१३ 'सजोगकेवली' ॥ २१ ॥

मन, वचन और कायकी प्रवृत्तिको योग कहते हैं । और योगसहितको सयोग
कहते हैं । तथा इन्द्रिय, मन, प्रकाश आदिकी सहायताके बिना होने वाले ज्ञानको
केवलज्ञान कहते हैं और जिसके केवलज्ञान होता है उसे केवली कहते हैं । तथा
योगसहित केवलीको सयोगकेवली कहते हैं । यह तेरहवा गुणस्थान है । उसके
चारो घातियाकर्म नष्ट हो जाते हैं । और शेष चार कर्म भी शक्तिहीन हो जाते
हैं । कहा भी है—

१. पट्ख० पु० १, पृ० १८७ ।

२. वही, पृ० १८८ ।

३. वही, पृ० १८९ ।

४. वही, पृ० १९० ।

‘जिसका केवलज्ञानरूपी सूर्यकी किरणोंके समूहसे अज्ञानरूपी अन्धकार नष्ट हो गया है और नौ केवललब्धियोंके प्रकट हो जानेसे जो ‘परमात्मा’ कहा जाता है उसको ज्ञान और दर्शन परकी सहायतासे नहीं होता, इसलिये उसे केवली कहते हैं और योगसे युक्त होनेके कारण सयोग कहते हैं ।’

इस तरह तेरहवें गुणस्थानका नाम सयोगकेवली है ।

१४ ‘अजोगकेवली’ ॥ २२ ॥’

जिसके योग नहीं होता उसे अयोग कहते हैं । और योगरहित केवलज्ञानीको अयोगकेवली कहते हैं । कहा है—

‘जिन्होंने शीलके अट्ठारह हजार भेदोंके स्वामित्वको प्राप्त कर लिया है । समस्त कर्मोंके आस्रवको रोक दिया है, और कर्मबन्धनसे मुक्त है तथा योगसे रहित केवली है उन्हें अयोगकेवली कहते हैं । यह चौदहवाँ गुणस्थान है । इसमें आनेके पश्चात् ही जीव ससारके बन्धनोसे मुक्त हो जाता है ।’

इस तरह ये चौदह गुणस्थान मोक्षके लिये सोपानके तुल्य हैं ।

इस तरह ओघसे चौदह गुणस्थानोंका कथन करके सूत्रकारने आदेशसे (विस्तारसे) गुणस्थानोंका कथन किया है ।

जिस तरह चौदह गुणस्थान होते हैं उसी तरह चौदह मार्गणास्थान होते हैं । जिनमें या जिनके द्वारा जीवोंको खोजा जाता है उन्हें मार्गणा कहते हैं । इन मार्गणाओंके द्वारा गुणस्थानोंका कथन करनेको आदेश कथन कहा जाता है । जैसे— १ गति चार है—नरकगति, तिर्यञ्चगति, मनुष्यगति और देवगति । नरकगतिमें प्रारम्भके चार गुणस्थान वाले ही जीव होते हैं । तिर्यञ्चगतिमें आदिके पाँच गुणस्थानवाले ही जीव होते हैं । मनुष्यगतिमें चौदहो गुणस्थानवाले जीव होते हैं । देवगतिमें नरकगतिकी तरह चार ही गुणस्थानवाले जीव होते हैं ।

२ इन्द्रिय पाच है—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र । जिसके एक स्पर्शन ही इन्द्रिय होती है उन्हें एकेन्द्रिय जीव कहते हैं जैसे वनस्पति । जिसके स्पर्शन, रसना दो इन्द्रियाँ होती हैं उन्हें दो इन्द्रिय कहते हैं, जैसे लट । जिनके स्पर्शन, रसना, घ्राण तीन इन्द्रियाँ होती हैं उन्हें त्रि-इन्द्रिय कहते हैं, जैसे चिउटी । जिसके शुरुकी चार इन्द्रियाँ होती हैं उन्हें चौइन्द्रिय जीव कहते हैं, जैसे भौंरा । और जिनके पाचो इन्द्रियाँ होती हैं उन्हें पञ्चेन्द्रिय कहते हैं, जैसे गाय, भैंस, मनुष्य । इनमेंसे पञ्चेन्द्रिय जीवके तो चौदह गुणस्थान हो सकते हैं किन्तु शेष एकेन्द्रिय आदिके पहला ही गुणस्थान होता है ।

३ कायकी अपेक्षा जीवोंके छै भेद हैं—पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्नि-

कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक और वराकायिक । शुरूके पांच कायिक जीवोंके केवल एक स्पर्शन इन्द्रिय होती है । अतः उनके पहला गुणस्थान ही होता है । शेष दो इन्द्रियग लेकर पञ्चेन्द्रिय तक सब जीव तब बढ़े जाते हैं । अतः तबसे चौदह गुणस्थान होते हैं क्योंकि पञ्चेन्द्रिय भी वन है ।

४ योगके तीन भेद हैं—कागयोग, वचनयोग और मनोयोग । इन तीनों योगोंके अनेक भेद हैं । ये तीनों याग तेरहवें गुणस्थान तक होते हैं ।

५ वेद भी तीन हैं—रनीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद । ये तीनों वेद नीचे गुणस्थान तक होते हैं ।

६ कपाय चार हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ । शुरू ही तीन कपाय नीचे गुणस्थान तक और अन्तकी लोभ कपाय दसवें गुणस्थान तक रहती है । आगेके गुणस्थानोंमें कपाय नहीं होती ।

७ ज्ञान पांच हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान । इनमेंसे प्रारम्भके तीन ज्ञान मिथ्या भी होते हैं । ये तीनों मिथ्याज्ञान पहले और दूसरे गुणस्थानमें रहते हैं । तीसरे मिश्रगुणस्थानमें आदिके तीन मिथ्याज्ञान-सम्पर्गज्ञान मिले-जुले होते हैं । मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान चौथे गुणस्थानसे लेकर बारहवें गुणस्थान तक होते हैं । मन पर्ययज्ञान छठे प्रमत्तसयतगुणस्थानसे लेकर बारहवें गुणस्थान तक होता है । केवलज्ञान रायोगकेवली, अयोगकेवली गुणस्थानोंमें तथा सिद्धजीवोंमें रहता है ।

८ समयमार्गणाके सात भेद हैं—सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय, यथाख्यात ये पाँच समय, एक समयमासयम और एक असयम ।

छठे गुणस्थानसे लेकर चौदहवें गुणस्थान तकके जीव समयके धारी होते हैं । उनमेंसे सामायिकसयम और छेदोपस्थापनासयम छठेसे नीचे गुणस्थान तक होते हैं । परिहारविशुद्धिसयम प्रमत्तसयत और अप्रमत्तसयत गुणस्थानवाले जीवोंके होता है । सूक्ष्मसाम्परायसयम एक सूक्ष्मसाम्पराय नामक दसवें गुणस्थानवाले जीवोंके ही होता है । यथाख्यातसयम अन्तके चार गुणस्थानोंमें होता है । समयमासयम एक सयतासयत गुणस्थानमें ही होता है । प्रथम चार गुणस्थान वाले जीव असयत होते हैं—उनमें समय नहीं होता ।

९ दर्शनमार्गणाके चार भेद हैं—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन । चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन वाले जीव बारहवें गुणस्थान तक होते हैं । अवधिदर्शन चौथेसे बारहवें गुणस्थान तक पाया जाता है । केवलदर्शन सयोग-केवली, अयोगकेवली और सिद्धोंके होता है ।

१ पट्ख., पृ० १, पृ० ३६८-३७८ ।

२ वही, पृ० ३७८-३८५ ।

१० लेश्याके^१ छै भेद है—कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, शुक्ल । कृष्ण-लेश्या, नीललेश्या और कापोतलेश्या चौथे गुणस्थान तक होती है । तेजोलेश्या और पद्मलेश्या सातवे गुणस्थान तक और शुक्ललेश्या तेरहवे गुणस्थान तक होती है । उसके बाद लेश्या नहीं होती, क्योंकि योग और कपायके मेलका नाम लेश्या है और तेरहवें गुणस्थानके बाद योग और कपाय दोनों नहीं रहते ।

११ भव्यत्वमार्गणाके^२ दो भेद है—भव्य और अभव्य । जो जीव आगे मुक्ति-लाभ करेंगे उन्हें भव्य कहते हैं । और जिन जीवोंमें मुक्ति प्राप्त कर सकनेकी योग्यता नहीं है उन्हें अभव्य कहते हैं । अभव्य जीवोंके पहला ही गुणस्थान होता है और भव्योंके चौदह गुणस्थान होते हैं ।

१२ सम्यक्त्वमार्गणाके^३ छै भेद है—क्षायिकसम्यग्दृष्टि, वेदकसम्यग्दृष्टि, उपशमसम्यग्दृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और मिथ्यादृष्टि ।

क्षायिकसम्यग्दृष्टि चौथेसे लेकर चौदहवें गुणस्थान तक होते हैं । वेदकसम्यग्दृष्टि चौथेसे लेकर सातवें गुणस्थान तक होते हैं । उपशमसम्यग्दृष्टि चौथेसे लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक होते हैं । सासादनसम्यग्दृष्टि एक सासादन गुणस्थानमें ही होते हैं । सम्यग्मिथ्यादृष्टि एक सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें होते हैं और मिथ्यादृष्टि जीव पहले मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें होते हैं ।

१३ सञ्जीमार्गणाके^४ दो भेद है—सञ्जी और असञ्जी । सञ्जीके पहले मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे लेकर बारहवें क्षीणकपाय गुणस्थान तक होते हैं । असञ्जी पहले ही गुणस्थानमें होते हैं ।

१४ आहारमार्गणाके^५ दो भेद है—आहारक और अनाहारक । आहारक तेरहवे गुणस्थान तक होते हैं और अनाहारक विग्रहगति अवस्थामें पहले-दूसरे और चौथे गुणस्थानमें, समुद्घात करने वाले सयोगकेवली, अयोगकेवली और सिद्ध अवस्थामें होते हैं ।

अन्तिम आहारमार्गणाके कथनकी समाप्तिके साथ ही सत्प्ररूपणा समाप्त हो जाती है । पुष्पदन्ताचार्यकी रचनाका अन्त भी उसीके साथ हो जाता है ।

सामान्य सत्प्ररूपणामें चौदह गुणस्थानोंकी अपेक्षा जीवोंके अस्तित्वका प्रतिपादन किया गया है और विशेषमें चौदह मार्गणाओंकी अपेक्षा गुणस्थानोंमें जीवों-

१. पट्ख० पु० १, पृ० ३८६-३९२ ।

२. वही, पृ० ३९२-३९४ ।

३. वही, पृ० ३९५-४०८ ।

४. वही, पु० १, पृ० ४०८-४०९ ।

५. वही, पृ० ४०९-४१० ।

के अस्तित्वका प्रतिपादन किया है। इसीसे इसका नाम सत्प्ररूपणा है। यही कथन आगेके कथनका प्रवेशद्वार है। उसमें प्रवेश हुए बिना आगेके खण्डोंमें गति होना कठिन है। अतः पहले खण्ड 'जीवद्वाराण' के आदिमें ही उसे स्थान दिया है।

गुणस्थानों और मार्गणारथानोंके द्वारा इस प्रकारसे जीवकी सत्ताका विवेचन जैन परम्पराके सिवाय न बौद्ध परम्परामें पाया जाता है और न वैदिक परम्परामें। उपनिषदोंमें आत्मतत्त्वका प्रतिपादन अवश्य है किन्तु मोक्षके सोपानभूत ऐसी किन्हीं भूमिकाओंका वर्णन उनमें नहीं है, जिनकी तुलना गुणस्थानोंसे की जा सके। और न जीवकी विविध दशाओं और गुणोंकी परिणतियोंको लेकर ऐसा ही कोई विचार उनमें मिलता है जिसकी तुलना जैन सिद्धान्तके मार्गणस्थानोंसे की जा सके।

हाँ, योगवाशिष्ठ और पातञ्जल योगदर्शनमें आत्माकी भूमिकाओंका विचार अवश्य मिलता है। योगवाशिष्ठमें 'सात भूमिकाएँ ज्ञानकी और सात भूमिकाएँ अज्ञानकी इस तरह चौदह भूमिकाएँ बतलाई हैं, जो जैन परम्पराके उक्त १४ गुणस्थानोंका स्मरण कराती हैं। उनमें जो सात ज्ञानभूमिकाएँ हैं वे इस दृष्टिसे द्रष्टव्य हैं—पहली भूमिकाका नाम शुभेच्छा है। वैराग्यपूर्व इच्छाको शुभेच्छा^१ कहते हैं। शास्त्र और सज्जनोके सम्पर्कसे तथा वराग्यके अभ्यासपूर्वक जो सदाचार प्रवृत्ति होती है उसे दूसरी विचारणा^२ भूमिका कहते हैं। विचारणा और शुभेच्छासे जो इन्द्रियोंके विषयोंमें अनासक्ति होती है उसे तीसरी तनुमानसा^३ भूमिका कहते हैं। तीसरी भूमिकाके अभ्याससे शुद्ध आत्मामें चित्तको स्थितिको चौथी सत्त्वापत्ति^४ भूमिका कहते हैं।

सात ज्ञानभूमिकाओंका उक्त वर्णन चतुर्थ आदि गुणस्थानोंमें स्थित आत्माके लिए लागू होता है। योगवाशिष्ठके कुछ अन्य वर्णनोंमें भी जैन विचारोंकी

१ 'अज्ञानभू सप्तपदा श्रू सप्तपदैव हि । पदान्तराण्यसंख्यानि भवन्त्यन्यान्यथैतयो ॥२१॥

—उत्प० प्र०, स० ११७ ।

२ 'स्थित किं मूढ प्वासिम प्रेक्षोऽह शास्त्रसज्जनै, ।

वैराग्यपूर्वामिच्छेति शुभेच्छेत्युच्यते शुधै ॥ ८ ॥

३ 'शास्त्रसज्जनसम्पर्कवैराग्याभ्यासपूर्वकम् ।

सदाचारप्रवृत्तिर्या प्रोच्यते सा विचारणा ॥ ९ ॥

४ 'विचारणाशुभेच्छाभ्यामिन्द्रियार्थेष्वसक्तता ।

यत्र सा तनुताभावात् प्रोच्यते तनुमानसा ॥ १० ॥

५ 'भूमिकात्रितयाभ्यासात् चित्तेर्धै विरतेर्वशात् ।

सत्यात्मनि स्थिति शुद्धे सत्त्वापत्तिरुदाहृता ॥ ११ ॥ उ० प्र० स० ११८ ।

झलक मिलती है। और जब श्री रामचन्द्र^१ कहते हैं कि मेरे कोई चाह नहीं है और न मेरा मन विषयोमें लगता है। मैं तो 'जिन' की तरह अपनी आत्मामें शान्ति प्राप्त करना चाहता हूँ, तब तो विचारोकी भूमिकाकी उक्त झलकका रहस्य स्पष्ट हो जाता है।

योगकी परम्परा बहुत प्राचीन परम्परा है 'मोहेजोदडो' से प्राप्त योगीकी मूर्ति उसका प्रमाण है। योगका लक्ष्य आध्यात्मिक विकास था, उसीको भूमिका अथवा गुणस्थानोके द्वारा चित्रित करनेका प्रयास किया गया है।

जैन परम्परामें गुणस्थानो और मार्गणाओके द्वारा जीवके कथनकी परम्परा बहुत प्राचीन है क्योंकि भगवान महावीरके द्वारा उपदिष्ट पूर्वमें उनका सागो-पाग कथन था और जैन परम्पराके विभिन्न सम्प्रदायगत साहित्यमें भी उस कथनमें एकरूपता है। अतः इसे भगवान महावीरकी देन कहना अनुचित न होगा।

मार्गणाओमें लेख्यामार्गणा अपना वैशिष्ट्य रखती है। उनके छै भेद किये गये हैं और ससारके जीवोको उनके भावोके अनुसार छै लेख्याओमें विभाजित किया है।

दीघनिकायकी टीकामें बुद्धघोषने लिखा है—गोशालकने शिकारी वगैरह-को कृष्णमें, वीद्ध भिक्षुओको नीलमें, निर्ग्रन्थोको लालमें, अचेलकोके अनुयायियो-को पीतमें और आजीविकोको शुक्लमें विभाजित किया था। अगुत्तरनिकायमें इसे पूरणकाश्यपका मत कहा है। इस परसे डॉ० हार्नलेका^२ अनुमान था कि छै रगोमें मनुष्योको विभाजित करनेका विचार बुद्धके छोहो विरोधी तीर्थङ्करोंमें साधारणरूपसे प्रचलित था। डॉ० हार्नलेका उक्त अनुमान ठीक हो सकता है, किन्तु इस विचारका उद्गम जैन विचार-क्षेत्रमें होना अधिक सभाव्य जान पड़ता है क्योंकि रगोके इस विचारके मूल उपादान योग और कपायके साथ लेख्याओका वर्णन जैन शास्त्रोंमें मिलता है।

२ द्रव्यप्रमाणानुगम—जीवट्टाणके इस दूसरे अनुयोगद्वारासे भूतबलिकी रचना का प्रारम्भ होता है। इस भागमें बतलाया है कि विभिन्न गुणस्थानोमें सामान्यसे तथा विभिन्न मार्गणाओकी अपेक्षा जीवोकी सख्या कितनी है।

आजका पाठक इस बातको बड़े कौतूहलके साथ पढ़ेगा कि जैन सिद्धान्तमें ससारके जीवोकी सख्या तकका विवेचन द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके आधारसे किया है। सबसे प्रथम तो यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि इस विवेचनका आधार क्या

१. 'नाह रामो न मे वाञ्छा विषयेषु न मे मन ।

शान्तिमास्थातुमिच्छामि स्वात्मन्येव जिनो यथा ॥'

२. इ० इ० रि०, जि० १, पृ० २६२।

है ? प्रथम अनुयोगद्वारा मत्प्रमाणता की वात्सल्य-टीका के प्राग्भूमि^१ वीरोनम्यामीने उपास्य रपट्टीकरण करते हुए लिखा है कि हमारे पूर्व के पञ्चम वस्तु-अधिकार के अन्तर्गत चतुर् कर्मपक्वणिहृत्के अन्तर्गत तीरीम अनुयोगद्वारेमें वस्त्रननामक छठा अनुयोगद्वार है । हमारे चार अर्थीगार हैं । उनमें से दन्धक नामक दूसरे अधिकार के ग्यारह अनुयोगद्वारेमें पाँचवा अनुयोगद्वार द्रव्यप्रमाणनामक है । उमीमे प्रकृत द्रव्यप्रमाणानुगम लिया गया है ।

पुन यह जिज्ञासा हो सकती है कि कर्मपक्वनिप्राभृतमे उन नन वातोता कान किसने किम आधारपर लिया ? यह पहले दिग आये है कि द्वास्नागकी रचना गीतम गणधरने भगवान महावीरकी वाणीके जानापर ती । गीतम गणधर भगवानमे प्रश्न करते थे और भगवान उपास्य उत्तर देते थे । पट्खण्डागमके बहुतरसे सूत्र प्रश्नोत्तररूपमे ही निबद्ध हैं जो उम वाके सूचक हैं कि गीतम और भगवान महावीरके बीचमे प्रश्नोत्तर होते थे और गीतम गणधरने प्रामाणिकता की सुरक्षाके लिए उन्हें उमी रूपमें निबद्ध किया था और वहाँमे लेकर सग्रह करने वाले भूतबलि आचार्यने भी उन्हें उमी रूपमे रखा । यथा—

‘ओघेण मिच्छाडट्ठी दव्वपमाणेण केवडिया ? अणत्ता ॥ २ ॥’

ओघसे मिथ्यादृष्टि द्रव्यप्रमाणकी अपेक्षा कितने हैं ? अनन्त हैं ॥ २ ॥

इसकी ध्वला-टीकामें यह प्रश्न उठाया गया है कि प्रश्नोत्तररूप दिये बिना ‘ओघेण मिच्छाडट्ठी दव्वपमाणेण अणत्ता’ (ओपसे मिथ्यादृष्टि द्रव्यप्रमाणकी अपेक्षा अनन्त हैं) ऐसा क्यों नहीं कहा ? उपास्य समाधान करते हुए ध्वलाकारने कहा है कि—‘इम प्रकारकी सूत्ररचनाका फल है—अपने कर्तव्यको हटाकर आप्तके कर्तृत्वका प्रतिपादन करना । अर्थात् भूतबलिने इम प्रकारकी सूत्ररचनामे यह वतलाया है कि इसके कर्ता स्वयं वह नहीं हैं । किन्तु यह आप्तपुरुष भगवान महावीरका कथन है । तब पुन यह प्रश्न किया गया कि—‘तब भूतबलिने क्या किया ?’ तो उत्तर दिया गया कि भूतबलि तो आप्तवचनोके व्याख्याता मात्र हैं । अतः पट्खण्डागममे जो कुछ कहा गया है उमका उद्गम-स्थान भगवान् महावीरकी वाणी है ।

भगवान महावीरको जैनागमोंमें सर्वज्ञ सर्वदर्शी वतलाया है । और नौद्ध त्रिपिटिकोने भी पता चलता है कि भगवान महावीरके सर्वज्ञ सर्वदर्शी होनेकी चर्चा थी । सर्वज्ञ सर्वदर्शीका मतलब है—सबको जानने-देखने वाला,

१. पट्ख., पु० १, पृ० १२६ ।

२. वही, पु० ३, पृ० १०-११ ।

कोई बात जिसके ज्ञानसे बाहर न हो । भगवान महावीरकी इस सर्वज्ञताका उप-
हास करते हुए भी सातवीं शताब्दीके पूर्वार्धमें हुए प्रसिद्ध बौद्ध तार्किक धर्मकीर्ति
ने कहा था—‘सर्जज सबको देखे या न देखे, किन्तु उसे इष्ट तत्त्वोंको अवश्य
जानना चाहिये । कीट-पतंगोंकी संख्याका उसका ज्ञान हमारे लिए क्या उपयोगी है?’

यह ‘कीट-संख्याज्ञान’ द्रव्यप्रमाणानुगम जैसे जैन ग्रन्थोंमें वर्णित जीवोंकी
संख्याकी ओर ही संकेत करता है । अस्तु,

गुणस्थानोंकी अपेक्षा जीवराशिका प्रमाण बतलाते हुए कहा है कि सर्वजीव-
राशि अनन्तान्त है । उसका बहुभाग मिथ्यादृष्टिगुणस्थानवर्ती है और शेष बाकीके
तेरह गुणस्थानोंमें और सिद्धोंमें विभाजित है । मिथ्यादृष्टियोंका प्रमाण अनन्ता-
न्त बतलाते हुए लिखा है कि अनन्तानन्त उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालोंके
बीत जानेपर भी उनकी संख्याका कभी अन्त नहीं आता ।

चौदह गुणस्थानोंकी जीवराशियोंका कथन करनेके पश्चात् गति आदि
चौदह मार्गणोंमें और उनके भेद-प्रभेदोंमें जीवराशिका प्रमाण बतलाया है ।

इस भागके सूत्रोंकी संख्या १९२ है, जिनमेंसे प्रारम्भके चौदह सूत्रोंमें गुण-
स्थानोंमें जीवराशिका प्रमाण बतलाया है और सूत्र १५ से मार्गणास्थानोंमें
प्रमाणका निर्देश है ।

जहाँ तक हम जानते हैं ससारकी जीवराशिकी संख्याका इस तरह निर्देश जैन
आगमोंके सिवाय अन्यत्र नहीं पाया जाता ।

पहले जीवट्ठाण नामक खण्डमें आठ अनुयोगद्वार है । उनमेंसे दो अनुयोग-
द्वारोंका विवेचन यहाँ करके स्थगित करते हैं क्योंकि षट्खण्डागमकी टीका धवला-
के प्रसंगमें षट्खण्डागमके विषयका विस्तृत विवेचन करनेमें लाघव और सुगमता
होगी । यहाँ केवल शेष खण्डोंका सामान्य परिचय दिया जाता है ।

३ क्षेत्रानुगम—मे^१ जीवोंके निवास व विहारादि सम्बन्धी क्षेत्रका परिमाण
बतलाया है ।

प्रथम सूत्र है—‘खेत्ताणुगमेण दुविहो णिहेसो ओघेण आदेसेण य’ । क्षेत्रा-
नुगमकी अपेक्षा निर्देश दो प्रकारका है—ओघसे और आदेशसे । दूसरे सूत्रमें उसी
प्रश्नोत्तररूप शैलीमें कहा है—‘ओघकी अपेक्षा मिथ्यादृष्टि जीव कितने क्षेत्रमें
रहते हैं ? सर्वलोकमें रहते हैं ।’

तीसरे सूत्रमें कहा है—‘सासादनसम्यग्दृष्टिसे लेकर अयोगकेवली गुणस्थान
तक प्रत्येक गुणस्थानवाले जीव कितने क्षेत्रमें रहते हैं ? लोकके असंख्यातवें
भागमें रहते हैं ।’

है। यही उक्त अपेक्षाओंसे सासादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थानवालोका स्पर्शनक्षेत्र है।

इस प्रकार इस स्पर्शनानुगममें चौदह गुणस्थानों और चौदह मार्गणाओंमें जीवोंके स्पर्शनविषयक क्षेत्रका कथन है। इसमें १८५ सूत्र है।

५ कालानुगम—इसमें ओघ और आदेशकी अपेक्षा कालका कथन है अर्थात् यह बतलाया है कि नाना जीव और एक जीव किस गुणस्थान अथवा मार्गणा-स्थानमें कम-से-कम और अधिक-से-अधिक कितने काल तक रहते हैं।

जैसे, सूत्र २ में यह प्रश्न किया गया है कि ओघसे मिथ्यादृष्टी जीव कितने काल तक होते हैं ? इसके उत्तरमें कहा गया है कि नाना जीवोंकी अपेक्षा सर्वकाल होते हैं (क्योंकि मिथ्यादृष्टि जीव सर्वदा पाये जाते हैं, उनका कभी अभाव नहीं होता। किन्तु एक जीवकी अपेक्षा अनादि अनन्त, अनादि सान्त और सादिसान्त काल है। अभव्यजीव कभी मिथ्यात्वको नहीं छोड़ता, अतः उसकी अपेक्षा अनादि अनन्तकाल है। जो भव्यजीव अनादिकालसे मिथ्यादृष्टि है किन्तु मिथ्यात्वको छोड़कर सम्यग्दृष्टि हो जाते उनके मिथ्यात्वका काल अनादि सान्त है। और जो भव्यजीव सम्यक्त्वको छोड़कर मिथ्यादृष्टि हो जाते हैं उनका काल सादि और सान्त है। ऐसे जीवोंके मिथ्यात्वमें रहनेका काल कम-से-कम अन्तर्मुहूर्त होता है, अन्तर्मुहूर्त तक मिथ्यात्वमें रहकर वे पुनः उससे निकलकर सम्यग्दृष्टी आदि हो जाते हैं। और उत्कृष्ट काल कुछ कम अर्धपुद्गलपरावर्तन है। चौदहमेंसे छे गुण-स्थानोंमें जीवोंका कभी अभाव नहीं होता। वे छे गुणस्थान हैं—पहला, चौथा, पाँचवा, छठा, सातवाँ और तेरहवाँ।

इसी प्रकार सब गुणस्थानोंमें और सब मार्गणास्थानोंमें कालका कथन किया गया है। इस कालानुगमके सूत्रोंकी संख्या ३४२ है।

६ अन्तर^१—किसी विवक्षित गुणस्थानवर्ती जीवके उस गुणस्थानसे दूसरे गुणस्थानमें चले जानेसे पुनः उसी गुणस्थानमें आनेके कालको अन्तर कहते हैं। इस अन्तरानुगममें ओघ और आदेशकी अपेक्षा इसी अन्तरका कथन किया गया है।

जैसे—ओघकी अपेक्षा मिथ्यादृष्टी जीवोंका अन्तर काल कितना है ? इस प्रश्नके उत्तरमें कहा गया है कि नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नहीं है, मिथ्यादृष्टि जीव मदा पाये जाते हैं। किन्तु एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम एक सौ वत्तीस सागरोपम काल है।

धवलाटीकामें इस अन्तरकालकी सगति विस्तारसे सिद्ध की है। चौदह गुण-स्थानोंमेंसे जिन छे गुणस्थानोंमें सर्वदा जीव पाये जाते हैं, नाना जीवोंकी अपेक्षा

१ पट्ख०, पु० ५ में अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व अनुयोगद्वारा सुद्रित है।

उन गुणस्थानोंका अन्तराल नहीं होता, घेय आठ गुणस्थानोंका होता है । अर्थात् उन आठ गुणस्थानोंमें कुछ समय तक कोई जीव नहीं पाया जाता । जैसे क्षेपक श्रेणीके चार गुणस्थानोंमें और शीघ्रपक्षी गुणस्थानोंमें श्रित्त-मे-श्रित्त के समय तक कोई जीव नहीं पाया जाता ।

इसमें कुल ३९८ गुण हैं ।

७ भावानुगम—ज्याके उपशम, भय आदिमें निमित्तमें जीवके जो परिणाम विशेष होते हैं उन्हें भाव कहते हैं । ये भाव पाच प्रकारके हैं—औद्यमिक, औपशमिक, शायिक, शायोपशमिक और पारिणामिक । त्योंकि उपशममें होनेवाले भावोंको औद्यमिक भाव कहते हैं । त्योंकि उपशममें उत्पन्न होनेवाले भावोंको औपशमिक भाव कहते हैं । त्योंकि भयमें प्रकट होनेवाले भावोंको शायिक भाव कहते हैं । त्योंकि उपशममें होनेवाले भावोंको शायोपशमिक भाव कहते हैं । जो पारिणामिक भावोंमें निमित्त जीव और अजीवगत भाव होना है वह पारिणामिक भाव है ।

उस अनुयोगद्वारमें ओष और आशमों का भावोंका भेद किया है । ओष कथन करने हुए कहा है—‘मिथ्यादृष्टि यह कीन-सा भाव है ? औद्यमिक भाव है ॥ १ ॥ ‘शामादनमम्यग्दृष्टि यह कीन-सा भाव है ? औपशमिक भाव है ॥ २ ॥ ‘मम्यग्मिथ्यादृष्टि यह कीन-सा भाव है ? शायिक भाव है ॥ ३ ॥ ‘अमयत-मम्यग्दृष्टि यह कीन-सा भाव है ? शायोपशमिक भाव है ॥ ४ ॥ ‘अमयत-मम्यग्दृष्टि यह कीन-सा भाव है ? औपशमिक भाव भी है, शायिक भाव भी है और शायोपशमिक भाव भी है ॥ ५ ॥ ‘अमयतमयत और अप्रमयतमयत यह कीन-सा भाव है ? शायोपशमिक भाव है ॥ ६ ॥ ‘उसी प्रकार चौदह गुणस्थानोंमें भावोंकी प्रस्थापना करके पुनः मार्गणास्थानोंमें भावोंका कथन किया है । धवलाढीकामें प्रस्थापना उपपादन किया है । त्योंकि अमुक भाव है । इसमें ९३ सूत्र हैं ।

८ अल्पबहुत्वानुगम—द्रव्यप्रमाणानुगममें बतलाई गई जीवमस्याके आधार-पर गुणस्थानों और मार्गणास्थानोंमें सस्याकृत हीनता और अधिकताका कथन इस अनुयोगद्वारमें है । अन्य अनुगमोंकी तरह इसका आरम्भ भी ‘दुविहो णिहेमो

१ ‘चदुग्दृष्टयग अजोण कज्जणीणमनर केवचिर कायातो लोदि ? णाणा नान पटुच्च जहण्णेण प्पगममय’ ॥ १६ ॥ ‘उक्कम्मणे उम्माम ॥ १७ ॥’—पट्ठ०, पु० १, पृ० २०-२१ ।

२ ‘ओषेण मिच्छादिदिठ्ठि त्ति को भावो, ओदइओ भावो ॥ १ ॥ ‘सामणमम्यादिदिठ्ठि त्ति को भावो, पारिणामिओ भावो ॥ ३ ॥ ‘मम्यामिच्छादिदिठ्ठि त्ति को भावो, मओपममिओ भावो ॥ ४ ॥ ‘असजदमम्यादिठ्ठि त्ति को भावो, उवममिओ वा मरओ वा खओव-ममिओ वा भावो’ ॥ ५ ॥’ पट्ठ०, पु० ५, पृ० १९४ आदि ।

ओघेण ओदेसेण य' सूत्रसे होता है । पहलेके सब अनुयोगद्वारोमें ओघकथन पहले गुणस्थानमें आरम्भ होता है किन्तु यहाँ वह बात नहीं है । यहाँ सभ्याके अल्पत्वके और बहुत्वके आधारपर कथन है । जिन गुणस्थानोंमें जीवोंकी सभ्या सबसे कम है उसका निर्देश प्रथम है और आगे जिन-जिन गुणस्थानोंमें जीवोंकी सभ्या क्रमशः बढ़ती जाती है उनका कथन है । यथा—'ओघमे' अपूर्वकरण आदि तीन गुणस्थानोंमें उपशमक जीव प्रवेशकी अपेक्षा परस्पर तुल्य है किन्तु अन्य सब गुणस्थानोंमें अल्प है ॥ २ ॥ उपशान्तकपायवीतरागछद्मस्थगुणस्थानवाले जीव भी पूर्वोक्त प्रमाण ही है ॥ ३ ॥ उसमें क्षणिक असम्यातगुणे है ॥ ४ ॥

इस तरह आठवें गुणस्थानसे प्रारम्भ करके ऊपरकी ओर ले गये हैं क्योंकि अन्य सब गुणस्थानोंमें उपशमश्रेणीके इन गुणस्थानोंमें जीवोंकी सभ्या सबसे कम होती है । गुणस्थानोंकी अपेक्षा अल्पबहुत्वका कथन करके फिर मार्गणाओंमें अल्प-बहुत्वका कथन है । यथा—'आदेशमे' गतिमार्गणाके अनुवादसे नरकगतिमें नारकियोंमें सामादनसम्यग्दृष्टी जीव सबसे कम है ॥ २७ ॥ सम्यक्मिथ्यादृष्टि जीव सभ्यातगुणे है ॥ २८ ॥ इत्यादि । इसमें ३८२ सूत्र है । इस अल्पबहुत्वानुगमके साथ जीवद्वारा नामक प्रथम खंडके आठो अनुयोगद्वार समाप्त हो जाते हैं । और इस तरहसे पहला खंड समाप्त हो जाता है । किन्तु इनके पश्चात् भी जीवस्थानकी चूलिकाके नामसे एक अधिकार और भी है ।

जीवस्थान चूलिका—इसकी धवलाटीवाके प्रारम्भमें^१ ही यह शका की गई है कि जीवस्थानके आठो अनुयोगद्वारोंके समाप्त हो जानेपर चूलिका किसलिये आई है ? इसका समाधान करते हुए वीरसेनस्वामीने लिखा है—पूर्वोक्त आठो अनुयोगद्वारोंके विषम स्थलोंके विवरणके लिये आई है । पुनः यह शका की गई है कि सत्प्ररूपणके प्रारम्भमें कहा गया है कि 'चौदह गुणस्थानोंके कथनके लिये ये आठ ही अनुयोगद्वार जानने योग्य हैं,' यदि चूलिका उन्हींसे प्रतिबद्ध अर्थका कथन करती है तो 'आठ ही' कहना व्यर्थ हो जाता है क्योंकि चूलिका नामक नौवा अधिकार भी हो जाता है । यदि चूलिका चौदह गुणस्थानोंमें अप्रतिबद्ध अर्थका कथन करती है तो उसे 'जीवद्वारा' सज्ञा नहीं दी जा सकती ?

१ 'ओघेण तिसु अट्ठामु उवममा पवेमणेण तुल्ला योवा ॥ २ ॥ उवमनकमाथवीतराग-उदुमत्था नत्तिया चैव ॥ ३ ॥ यया मयेज्जगुणा ॥ ४ ॥ पट्ख०, पु० ५, पृ० २४३ आदि ।

२ 'आदेशेण गदियाणुवादेण गिरयगन्तीण गेरइणमु मव्वत्थो वा मामणमम्माट्ठिठी ॥ २७ ॥ —पट्ख०, पु० ५, पृ० २६१ ।

३ 'सम्मत्तेसु अट्ठसु अणियोगद्वारेसु चूलिया किमट्ठमागदा ? पुव्वुत्ताणमट्ठणमणिओग द्वाराण विममपणमविवरणट्ठमागदा ।' पट्ख०, पु० ६, पृ० २ ।

इसका समाधान करते हुए भयत्नाकारने लिखा है कि चूलिकामें ऐसे अर्थोंका कथन है जो आठो अनुयोगद्वारोंमें नहीं कहे गये हैं किन्तु उनसे सूचित होते हैं। अतः चूलिका उक्त आठो अनुयोगद्वारोंमें ही अन्तर्भूत है, उनमें बाहर नहीं है।

इस चूलिकाके अन्तर्गत नौ अधिभाग हैं। प्रकृतिगमस्तीर्तन, स्थानगमस्तीर्तन, प्रथममहादण्डक, द्वितीयमहादण्डक, तृतीयमहादण्डक, उत्क्राष्टस्थिति, जघन्यस्थिति, सग्न्यव्योत्पत्ति, और गति-आगति चूलिका। चूलिकाके उन नौ अधिभागोंका अन्तर्भाव उक्त आठ अनियोगद्वारोंमें करने हए बीरगेनम्प्राप्तिने लिखा है—
‘क्षेत्र काल और अन्तर अनियोगद्वारोंमें गति-आगति चूलिका सूचित की गई है, वह गति-आगति चूलिका भी प्रकृतिगमस्तीर्तन और स्थानगमस्तीर्तनको सूचित करती है क्योंकि कर्मबन्धके बिना गतियोंमें गमनागमन नहीं बनता। प्रकृतिगमस्तीर्तन और स्थानगमस्तीर्तनके द्वारा कर्मोंकी जघन्यस्थिति और उत्क्राष्टस्थिति सूचित की गई है, क्योंकि मकपाय जीवके स्थितिवन्धने, बिना प्रकृतिवन्धन नहीं होता। कालानुयोगद्वारोंमें जो मादिगान्त मिथ्यादृष्टिका उत्क्राष्ट काल कुछ कम अर्धपुद्गल परावर्तन बतलाया है उसमें प्रथमसम्भवत्वात् ग्रहण किया गया है क्योंकि उसके बिना मिथ्यादृष्टिका उक्त उत्क्राष्टकाल नहीं बनता। प्रथम सम्भवत्वमें तीन महादण्डक सूचित होते हैं। इस तरह बीरगेनम्प्राप्तिने चूलिकाके नौ अधिभागोंको पूर्वोक्त आठ अनुयोगद्वारोंमें ही अन्तर्भूत बतलानेका नत्प्रयत्न किया है। उनका आशय यह है कि गुणस्थान और मार्गणाओंके द्वारा जीवके अस्तित्व, सख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्वका कथन करनेके पश्चात् यह कथन करना शेष रह जाता है कि जीव मरकर किम गतिमें किम गतिमें जाता है। अतः उस कथनके लिये गति-आगति चूलिका अधिकार है और शेष अधिकार प्रायः उसीके सम्बन्धसे अवतरित हुए हैं। इनमेंसे प्रकृतिसमस्तीर्तन आदि कुछ अधिकार ऐसे भी हैं जो दूसरे खण्ड ‘बन्धक’ के लिये उपयोगी हैं। अतः इस चूलिकाके द्वारा सूत्रकार भूतबलिने जीवस्थानके साथ आगेके खंडोंको सम्बद्ध करनेका प्रयत्न किया हो, यह भी हमें सम्भव प्रतीत होता है। अस्तु,

चूलिकाके प्रथमसूत्रके^१ द्वारा सूत्रकारने नीचे लिखे प्रश्न किये हैं—१ (सम्बन्धको उत्पन्न करनेवाला मिथ्यादृष्टि जीव) कितनी और किन प्रकृतियोंको

१ पट्ख०, पु० ६, पृ० ३।

२ ‘कदिकाओ पयडीओ वधदि, केवडिकालट्ठिदिण्दि कम्मेटि सम्मत्ता लभेदि वा ण लब्ध टि वा, केवचिरेण वा कालेण वा कट्ठि भाण वा करेदि मिच्छा, उवसामणा वा खवणा वा केसु व खेत्तेसु कस्स व मूले केवटिय वा दमणमोहणीय कम्म मव्वेतस्स चारित्त वा सपुण्ण-पडिवज्जतस्स ॥ १ ॥—पट्ख०, पु० ६, पृ० १।

धीनता है ? २. कितने कारण स्थितियाँ कर्मों द्वारा सम्यक्कर्तों प्राप्ति करती हैं अथवा गती प्राप्त करता है ? ३. कितने कारणों द्वारा मिथ्यात्व को जितने भाग्य कर्ता है और जिन जिन भोगों तथा विषयों कागम कितने दर्शनमोहनीय । मर्त्य क्षय करनेवाले जीवों और मर्त्य पादिरिता प्राप्त होनेवाले जीवों के मोहनीयकर्मों उपनामना और क्षयणा होनी ? ?

इसी प्रश्नों समाधानके रूपमें प्रकृतियों के गो अविज्ञानोपरी रचना मृत्कारण की है ।

१. इनमें 'कितनी जिन' प्रकृतियों को बोधता है' इन परती विभागा— व्यापारणके रूपमें प्रकृतिममृतीर्तन नामक पहली प्रकृति है ।

१ प्रकृतिममृतीर्तन—प्रकृतियों के समन्तीर्तन अर्थात् स्वयन्निष्ठाता प्रकृतिममृतीर्तन कहते हैं ।

प्रकृतिममृतीर्तन के दो भेद हैं—मूलप्रकृतिममृतीर्तन और उन्नतप्रकृतिममृतीर्तन ।

मूलप्रकृतिममृतीर्तन आठ है ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम गीत और अन्तर्गम ।

ज्ञानका आवरण करने वाले कर्मों ज्ञानावरण कहते हैं । दर्शनका आवरण करने वाले कर्मों दर्शनावरण कहते हैं । जीवों के मृत्-पुष्पों के अनुबन्धनमें कारण पुद्गलव्यवस्था के वेदनीयकर्म कहते हैं । जिनके कारण जीव मोहित हो उन कर्मों मोहनीयकर्म कहते हैं । जो कर्म जीवों के मृत्-पुष्पों के अमृत समान तत्त्वों के रगता है उन आयुर्कर्म कहते हैं । शरीर आदिकी रचनामें कारणभूत कर्मों नामकर्म कहते हैं । उच्च और नीच पुलमें उत्पन्न करान वाले कर्मों मोक्षार्थ कहते हैं । दान आभ भोग उपभोग आदिमें विघ्न करने वाले कर्मों अन्तर्गमार्थ कहते हैं । इन तरह मूल कर्म आठ हैं ।

जैन सिद्धान्तमें कर्मों के दो भेद हैं—द्रव्यकर्म और नाशकर्म । जीवों के मृत्-पुष्प भावों को भावकर्म कहते हैं । और जीवों के रागादि परिणामों के निमित्त में जो पुद्गलव्यवस्था कर्मरूप परिणत होते हैं उन्हें द्रव्यकर्म कहते हैं । इष्ट और अनिष्ट विषयों को पाकर जीवों के जैम भाव होते हैं तदनुसार ही उनके कर्मवन्ध होता है । अतः योग और कर्मायु के निमित्तमें जीवों के साथ सम्बद्ध हुए जो पुद्गल

१ 'कति काओ पगटाओ वषदि ति । पद तस्य विद्यामा ॥२॥ इत्यादि पगटिस्तमु- विज्ञातण कम्मामो ॥३॥ पट्ठं०, पृ० ६, पृ० ४५ ।

२ 'जाणावरणीय ॥५॥ दमणावरणीय ॥६॥ वेदणीय ॥७॥ माहणीय ॥८॥ आट्ठं ॥९॥ नाम ॥१०॥ गोठ ॥११॥ अंतर्गम्यं चेति ॥१२॥ वही, पृ० ६, पृ० ६-१३ ।

ज्ञानका ढाँकना, दर्शनका ढाँकना, गुण-गुणका अनुभवन कराना, मोहित करना, आदि कार्य करनेमें समर्थ होने हैं उन्हें कर्म कहते हैं। इन आठ कर्मोंके कारण ही जीव समारम्भ भ्रमण करता है।

इन आठ कर्मांशोंमें भी ज्ञानावरणीय^१ कर्मकी पाँच उत्तरप्रकृतियाँ हैं—मतिज्ञानावरणीय, श्रुतज्ञानावरणीय, अविज्ञानावरणीय और मन पर्ययज्ञानावरणीय और केवलज्ञानावरणीय। मति आदि पाँच ज्ञान हैं, अतः ज्ञानको आवरण करने वाले ज्ञानावरणके भी पाँच प्रकार हैं। इसी तरह दर्शनको ढाँकने वाले दर्शनावरणीय कर्मकी भी प्रकृतियाँ हैं।^२ वेदनीयार्थकी दो प्रकृतियाँ हैं। मोहनीयकर्मके^३ दो भेद हैं—दर्शनमोहनीय और चार्ित्रमोहनीय। आस, आगम और पदार्थोंसे रुचि या श्रद्धाका दर्शन गलत है। उस दर्शनको जा मोहित करता है अर्थात् विपरीत कर देता है उस दर्शनमोहनीयकर्म कहते हैं। इन कर्मोंके उदयमें जो आस नहीं है उसमें आसवृद्धि और झूठे पदार्थोंमें सत्य पदार्थ का बुद्धि होती है।

उनकी तीन प्रकृतियाँ हैं—सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यक्मिथ्यात्व।

पापकायोंसे निवृत्त होनेका चार्ित्र कहते हैं। उन चार्ित्रोंको आच्छादित करने वाले कर्मको चार्ित्रमोहनीय कहते हैं। चार्ित्रमोहनीयके दो भेद होते हैं—रूपाय वेदनीय और नारूपायवेदनीय। कपायवेदनीयके १६ भेद हैं और नारूपायवेदनीयके भी भेद हैं। इस तरह मोहनीयकर्मकी २८ प्रकृतियाँ हैं।

आयुर्कर्मकी^४ चार प्रकृतियाँ हैं—नरकायु, तिर्यञ्चायु, भूतयायु और द्वायु नामकर्मकी^५ १३ प्रकृतियाँ हैं। गोश्रकर्मकी^६ दो प्रकृतियाँ हैं—उच्चगोश्र और नीचगोश्र। अन्तरायकर्मकी^७ पाँच प्रकृतियाँ हैं। इस तरह आठ कर्मोंकी ५ + २ + २८ + ४ + १३ + २ + ५ = १४४ प्रकृतियाँ होती हैं।

कर्मप्रकृतियोंके इस निरूपणके साथ प्रकृतिगमुत्कीर्तन चूलिका समाप्त हो जाती है। इस चूलिकामें ४६ गूँज हैं। उसके पश्चात् स्थानगमुत्कीर्तन नामकी चूलिका आरम्भ होती है।

१ पट्ट०, पु० ६, पृ० १४।

२ वही, पृ० ३१।

३ वही, पृ० ३४।

४ वही, पृ० ३७।

५ वही, पु० ६, पृ० ४८।

६ वही, पृ० ४९।

७ वही, पृ० ७७।

८ वही, पृ० ७८।

९ 'पुत्तो ट्ठाणसमुत्तिकतण वण्णडम्मयो ॥१॥ वही, पृ० ७९।

२ स्थानसमृत्तीर्तन—पहली चूलिकासे जिन प्रकृतियोंका बन्धन किया है, उनका बन्ध क्रमसे होना है या अक्रमसे होता है, इस प्रश्नका उत्तर हम दूसरी चूलिकाके द्वारा दिया गया है। बन्धक छे हैं—मिथ्यादृष्टि, मायादनमम्यदृष्टि, मम्य-मिथ्यादृष्टि, असयतसम्यग्दृष्टि, सयतासयत और सयत। अन्तके सयतसे ६ ने लेकर तेरह तकके गुणस्थानवाले जीव विवक्षित हैं क्योंकि वे सभी सयत होते हैं। यद्यपि चौदहवें अयोगकेवली गुणस्थान वाले भी सयती होते हैं किन्तु उनके एक भी कर्मका बन्ध नहीं होता।

१. ज्ञानावरणीयकर्मकी पाँचों प्रकृतियाँ एक साथ बधती हैं और उक्त सभी बन्धकोके बधती हैं। (किन्तु दसवें गुणस्थान तक ही बधती हैं, आगे नहीं बधती)

२ दर्शनावरणीयकर्मके तीन बन्ध स्थान हैं—नौप्रकृतिक, छहप्रकृतिक और चारप्रकृतिक। पहले और दूसरे गुणस्थानमें एक साथ नौप्रकृतियाँ बधती हैं। तीसरे गुणस्थानमें लेकर आठवें गुणस्थानतक प्रथम भाग पर्यन्त जीवोंके नीचेमें एक साथ छे ही प्रकृतियाँ बधती हैं, तीन नहीं बधती। आगे आठवेंसे दसवें गुणस्थान पर्यन्त छहमेंसे भी चारका ही बन्ध एक साथ होता है। इस तरह दर्शनावरणीय-कर्मकी नौ प्रकृतियोंमेंसे तीन बन्धस्थान हैं।

३ वेदनीय कर्मकी दो ही प्रकृतियाँ हैं—गाता और अगाता। उन दोनोंमें-में एक समयमें एक ही बधती हैं।

४ मोहनीयकर्मके^३ दस बन्धस्थान हैं—वाई^१, इषरीग, गतरह, तेरह, नी, पाच, चार, तीन, दो और एक प्रकृतिक। वाईसमें अधिक प्रकृतियाँ किंगी भी जीव-के नहीं बधती। मिथ्यात्व, गोलहकपाय, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुमकवेद इन तीनों वेदोंमेंसे एक, हास्य-रति और अग्नि-शोक इन दो युगलोंमेंसे एक युगल, भय और जुगुप्सा इन वाईस प्रकृतियोंका एक साथ बन्ध मिथ्यादृष्टी जीवके होता है। इनमें-में मिथ्यात्वको मित्राय शेष इक्कीस प्रकृतियोंका बन्ध (जिनमें नपुमकवेद नहीं लेना चाहिये) मायादनमम्यदृष्टीके होता है। इनमेंसे अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभके मित्राय शेष सत्तरह प्रकृतियोंका (जिनमें स्त्रीवेद नहीं लेना चाहिये) एक साथ बन्ध तीसरे और चौथे गुणस्थानवर्ती जीवोंके होता है। उन सत्तरहमेंसे अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभके सिवाय शेष तेरह प्रकृतियोंका बन्ध पाँचवें गुणस्थानवर्ती जीवोंके होता है। उन तेरहमेंसे प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभको छोड़कर शेष नौ प्रकृतियोंका बन्ध छठसे आठवें गुणस्थानपर्यन्त

१. पट्ट, पृ० ८०।

२ वही, पृ० ८०।

३ वही, पु ६, पृ ८८।

जीवोंके ही होता है। सज्ज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ और पुरुषवेद इन पाँच प्रकृतियोंका बन्ध एक साथ होता है। इनमेंसे पुरुषवेदके गिवाय शेष चारका, क्रोध-सज्ज्वलनको छोड़कर शेष तीनका, सज्ज्वलन मानको छोड़कर शेष दोका और सज्ज्वलन मायाको छोड़कर शेष एक प्रकृतिका बन्ध भी गद्यमीके ही होता है।

५ आयुकर्मके^१ चार भेद हैं। उनमेंसे नरकायुका बन्ध पहले, गुणस्थानमें, तिर्यञ्चायुका बन्ध पहले और दूसरेमें, मनुष्यायुका बन्ध पहले, दूसरे और चौथे गुणस्थानमें और देवायुका बन्ध ऊपर कहे छहो बन्धकोके होता है।

६ नामकर्मके^२ आठ बन्धस्थान हैं—इकतीस, तीस, उनतीस, अट्ठाईस, छत्तीस, पन्चीस, तेईस और एक प्रकृतिक स्थान। इन स्थानोंके बन्धोंका वर्णन बहुत विस्तृत है।

७ गोत्रकर्मकी^३ दो प्रकृतियोंमेंसे एक समयमें एक जीवके एकका ही बन्ध होता है। नीचगोत्रका बन्ध केवल पहले और दूसरे गुणस्थानमें होता है और उच्चगोत्रका बन्ध उक्त छहो बन्धोंकोके होता है।

८. अन्तरायकर्मकी^४ पाँचो प्रकृतियाँ एक साथ बधती हैं और सामान्यतया उक्त छहो बन्धक उनका बन्ध करते हैं

इस तरह दूसरी चूलिकामें आठो कर्मोंके बन्धस्थानोंका कथन है। इसीसे उमका नाम स्थानसमुत्कीर्तन है। इसमें ११७ सूत्र हैं।

३ तीसरी चूलिकाका नाम प्रथम महादण्डक है। इसके प्रथमसूत्रके^५ द्वारा सूत्रकारने कहा है—अब प्रथमोपशमसम्यक्त्वको ग्रहण करनेके अभिमुख जीव जिन प्रकृतियोंको बाँधता है उन प्रकृतियोंको कहेंगे। अर्थात् जब कोई मिथ्यादृष्टी जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्वको ग्रहण करनेके अभिमुख होता है तो वह किन-किन कर्म-प्रकृतियोंका बन्ध करता है? प्रथमोपशम सम्यक्त्वके अभिमुख सजी पञ्चेन्द्रिय-तिर्यञ्च, मनुष्य, देव और नारकी हो सकते हैं। प्रथम महादण्डकमें एकसूत्रके द्वारा प्रथमोपशमसम्यक्त्वके अभिमुख सजी तिर्यञ्च और मनुष्यके बाँधनेवाली प्रकृतियाँ बतलाई हैं। इसमें केवल दो सूत्र हैं।

४ दूसरे महादण्डकमें^६ प्रथमोपशमसम्यक्त्वके अभिमुख देव और सातवें नरक-

१. पट्ख०, पु० ६, पृ० ९९।

२ वही, पृ० १०१।

३ वही, पृ० १३१।

४ वही, पृ० १३०।

५ 'इद्राणि पढमसम्मत्ताभिमुहो जाओ पयडीओ वधदि ताओ पडणीओ कित्तइस्सामो ॥१॥

—वही, पृ० १३३।

६ 'तत्थ इमो विदिओ महादण्डओ कादब्बो भवदि ॥ १ ॥'—वही, पृ १४० ॥

के नारकियोंको छोड़कर शेष नारकियोंके बधनेवाली प्रकृतियाँ बतलाई हैं। इसमें भी दो ही सूत्र हैं।

५ तीसरे महादण्डकमें^१ सातवीं पृथिवीके नारकीके प्रथमोपशमसम्यक्त्वके अभिमुख होनेपर बधनेवाली प्रकृतियाँ गिनाई हैं। इसमें भी केवल दो सूत्र हैं। इस तरह इन तीन महादण्डकोंके रूपमें तीन चूलिकायें समाप्त होती हैं। सूत्रकारने क्यों एक-एक सूत्रका एक-एक महादण्डक बनाया है और क्यों उसकी महादण्डक सज्ञा रखी है, यह जिज्ञासा होना सहज है। जैन परम्परामें सिद्धान्तग्रन्थोंके अश्वविशेषके लिये दण्डक या महादण्डक शब्दका भी व्यवहार होता था। संभव है जिस स्थानसे ये दण्डक लिये गये हैं वह महादण्डक नामसे अभिहित हो और वही नाम इन एक-एक सूत्र वाले दण्डकोंको दे दिया हो।

६ उत्कृष्टस्थिति चूलिका—इसमें कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थितिका कथन है। इस चूलिकाके प्रथमसूत्रमें^२ कहा है कि आरम्भिक सूत्रमें जो प्रश्न किये गये थे उनमें एक प्रश्न था 'कितनी स्थितिवाले कर्मोंके होनेपर सम्यक्त्वको प्राप्त करता है अथवा नहीं प्राप्त करता है।' इसमेंसे 'नहीं प्राप्त करता है' इस पदकी विभाषा करते हैं। उसी विभाषाके लिए कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थितिका विवेचन किया गया है। उसमें बतलाया है कि किन-किन कर्मोंका उत्कृष्ट बन्धकाल कितना होता है। और उनमें कितना आवाधाकाल होता है। बन्धके पश्चात् जब तक कर्म अपना फल नहीं देता, उतने कालको आवाधाकाल कहते हैं। आवाधाकाल बीतनेपर कर्मका उदय प्रारम्भ होता है और स्थितिकालके पूरा होने तक उदय होता रहता है। इस चूलिकामें ४४ सूत्र हैं।

७ जघन्यस्थिति चूलिका—इस चूलिकामें कर्मोंकी जघन्य स्थिति और उसका आवाधाकाल बतलाया है। इसमें ४३ सूत्र हैं।

८ सम्यक्त्वोत्पत्ति चूलिका—इस चूलिकामें सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिका विवेचन करते हुए कहा है कि सब कर्मोंकी जब अन्त कोडाकोडी सागर प्रमाण स्थिति-को बाँधता है तब यह जीव प्रथमोपशमसम्यक्त्वको प्राप्त करता है ॥ ३ ॥ प्रथमोपशमसम्यक्त्वको प्राप्त करनेवाला जीव पञ्चेन्द्रिय सञ्ज्ञी, मिथ्यादृष्टि, पर्याप्तक और सर्वविशुद्ध होता है ॥ ४ ॥ जब इन सब कर्मोंकी अन्त-कोडाकोडी सागर-प्रमाण स्थितिको सख्यात हजार सागर काल हीन कर देता है। तब प्रथमोपशम

१ 'तत्थ इमो तदिज्जो महादण्डज्जो कादब्बो भवदि ॥ १ ॥'—पृ० १४२।

२ 'एवं हि व्याख्याप्रज्ञप्तिदण्डकेपूक्तम्'—त वा ४-२६-५।

३ 'केवदि कालटिठदीपहि कम्महि सम्भत्त लब्भदि वा ण लब्भदि वा, ण लब्भदि ति विभासा ॥१॥ एतो उक्कस्सयट्ठिदि वण्णहस्सामो।'—पु० ६, पृ० १४५।

सम्पन्नत्वको उत्पन्न करता है ॥१५॥ प्रथमोपजम सम्पन्न-रका उत्पन्न करने हुए अन्तर्मुहूर्त तक अन्तरकरण करता है ॥१६॥ उसमें जाग मि गान्धारमा उदयमें अन्तर बाल बना है जिममें एक अन्तर्मुहूर्त। फिर उपाग उदय जाना नय जाग है। कइत सम्पन्न प्रार जा जाना है। अन्तरकरण करके मिथ्यात्व में नाना—सम्पन्न, सम्पत्तिमिव्याप्त और मिथ्यात्व-मन्ना है ॥१७॥ इस तरह माग मूत्रोंके जाग प्रथमोपजमसम्पन्न-रकी उत्पत्ति और उदय होने वाले मुख्य-मन्त्र जागोका निरूपण किया है। सूत्र ११ म गान्धारमासम्पन्न-रकी उत्पत्ति का वर्णन है। दर्शनमोहनीयकर्मों का उदय होने पर श्रावितमन्त्रा १ ॥ १॥ १॥ अतः प्रथम यह वक्तव्या है कि अष्टाद्वीप-मन्त्रोंमें मिथ्यात्व-रके अन्तर्मुहूर्तमें जन्म निरन्तर होती और तीर्थक्षेत्र होने के बाद इस राज्यमें दर्शनमोहनीयकर्मों का उदय आरम्भ करता है ॥११॥ और उसकी प्रति चारों गतियोंमें १० ॥ १॥ ॥१२॥ इस तरह दो मूत्रों दर्शनमोहनीयकर्मों का उदय १ ॥ १॥ ॥

सूत्र १२ म वक्तव्या है कि जब कि मन्त्र-प्राप्ति सम्पन्नकी प्राप्ति अभिमान होता है तो आनुमतिके मिथ्यात्व के माग प्रमाणों में स्थिति। अतः तीर्थक्षेत्रों में मागप्रमाण का उदय १ ॥ १॥ सूत्र १० में बतलाया है कि यदि यह सम्पन्न-र माग चारोंको भी प्रमाण करता है तो भी मानो प्रमाणों में स्थिति अतः तीर्थक्षेत्रों में मागप्रमाण करता है।

सूत्र १०-१६ म मकडसार्वभौम का उदय करने वाले मन्त्र-वक्तव्य में कहा कि वह जीव उदय समय चार पानिया मूत्रों में स्थिति अन्तर्मुहूर्त माग प्रमाण करता है और वेदनीयकी चारमुहूर्त, नाम और गोश्रवणकी आठ मुहूर्त तथा दो कर्मोंकी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति करता है। इस तरह ३। चरित्रामे पैल १२ सूत्र है।

१. गति-आगति चूलिका—विषयके अनुसार इस चूलिका में चार भागों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम ४३ सूत्रोंके माग चारों गतियोंमें सम्पन्नत्वकी उत्पत्ति बतलाते हुए यह स्पष्ट किया है कि सम्पन्नदर्शनकी प्राप्ति पर्याप्तक मत्तौप-पञ्चेन्द्रियकी ही होती है। तथा प्रत्येक गतिमें सम्पन्नदर्शनकी उत्पत्तिके बाह्य कारण बतलाये हैं। जैसे नरकगतिमें पूर्वजन्मका स्मरण, धर्मश्रवण और कष्टसहन। तिर्यञ्चगति और मनुष्यगतिमें जातिस्मरण, धर्मश्रवण और जिनविषयदर्शन। देवगतिमें जातिस्मरण, धर्मश्रवण, जिनमहिमादर्शन और देवद्विदर्शन उत्पत्ति।

सूत्र ४४ से ७५ तक बतलाया है कि चारों गतियोंमें प्रवेश करने और वहाँ-में निकलनेके समय जीवोंके कौन-कौन गुणस्थान हो सकते हैं। जैसे, मनुष्य-गतिमें कितने ही जीव मिथ्यात्वमहित जाकर मिथ्यात्वमहित ही वहाँमें निकलते

है। कितने ही जीव मिथ्यात्वसहित जाकर सासादनसम्यक्त्वसहित निकलते हैं। कितने ही जीव सासादनसम्यक्त्वसहित जाकर मिथ्यात्वसहित निकलते हैं। कितने ही जीव सासादनसम्यक्त्वसहित जाकर मासादनसम्यक्त्वसहित निकलते हैं, इत्यादि।

सूत्र ७६ से २०२ तक यह बतलाया है कि किस गतिसे किस गुणस्थानके माथ निकलकर जीव किन-किन गतियोमें जन्म ले सकता है। जैसे मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि जीव नरकसे निकल कर तिर्यञ्चगति और मनुष्यगतिमें जन्म लेते हैं। और सम्यग्दृष्टि नारकी नरकमें निकल कर मनुष्यगतिमें ही जन्म लेता है, इत्यादि।

सूत्र २०३ से २४३ तक बतलाया है कि किस गतिमें निकल कर जीव किस गतिमें जन्म लेता है और वहाँ कहाँ तक उन्नति कर सकता है। जैसे, मातवे नरकसे निकल कर नारकी जीव तिर्यञ्चगतिमें ही जन्म लेता है और वहाँ किसी तरहकी उन्नति नहीं कर सकता। मिथ्यादृष्टिका मिथ्यादृष्टि ही बना रहता है। इस तरह प्रत्येक नरकसे तथा प्रत्येक गतिसे निकले हुए जीवोंके सम्बन्धमें विस्तारसे कथन किया गया है। चूलिकामें २४३ सूत्र हैं और पूरी जीवस्थान चूलिका-में सूत्रोंकी संख्या ४६ + ११७ + २ + २ + २ + ४४ + ४३ + १६ + २४३ = ५१७ है।

चूलिकाके माथ ही जीवद्वारा नामक प्रथम खण्ड समाप्त हो जाता है। इस खण्डमें जीवके म्यानोंका जो वर्णन जिस ढंगसे किया गया है, उसका आभास अन्यत्र नहीं मिलता। प्रथम तो जिन आठ अनुयोगोंके द्वारा जीवका विवेचन किया गया है, उन अनुयोगोंके नाम सत्, सख्या आदि भले ही अन्यत्र व्यवहृत होते हों, किन्तु उनके द्वारा वस्तु विवेचनकी परम्परा सम्भवतया महावीर भगवानकी मौलिक देन है। जीव और कर्मके सम्बन्धमें जितना विचार उन्होंने किया था, शायद अन्य किसी धर्मप्रवर्तकने नहीं किया था। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण 'जीव-द्वारा' है।

उक्त आठ अनुयोगोंका निर्देश अनुयोगद्वार' सूत्रमें मिलता है। अतः अनुयोगोंके द्वारा वस्तुविवेचनाकी परम्परा अखण्ड जैन परम्पराको सम्मत रही है। किन्तु जिस तरह आठ अनुयोगोंके द्वारा ओघ और आदेगसे जीवका कथन जीवद्वारा में किया गया है, श्वेताम्बर साहित्यमें नहीं किया गया। हाँ, चतुर्थ कर्म-

१ 'से कि त अणुगमे ? नवविहे पणत्ते, त जहा-सतपयपरूवणया १ दब्बपमाण २ च, खित्त ३ फुसणा ४ य, कालो य ५, अंतर ६, भाव ७, भाव ८, अप्पावहु चेव-अनु०, म० ८०।

ग्रन्थमें^१ जीवस्थान, मार्गणस्थान, गणस्थान, उपगोग, योग, लेदया, वन्ध, अल्पवहुत्व, भाव और सन्ध्याका सक्षिप्त कथन मिलता है। इसमें गाथा ९ में १३ तक मार्गणस्थानके भेद तथा गाथा १९ में २२ तक मार्गणाओमें गणस्थान ब्रालाये है। मार्गणाओमें गुणस्थानोका वर्णन करने हुए गतिअज्ञान और अज्ञानमें दो अथवा तीन गुणस्थान^२ बतलाये हैं। दिगम्बर परम्परामें^३ दो ही गुणस्थान माने गये हैं। गाथा ३७ में ४८ तक मार्गणाओमें अल्पवहुत्वका विचार किया गया है। यह प्रज्ञापनाके अल्पवहुत्वनामक तीसरे पदमें लिया गया है। प्रज्ञापनाके तीसरे पदमें अल्पवहुत्वका विचार विस्तारसे किया गया है।

अनुयोगतारम्यमें केवल मनुष्यादिकी मरणाका धोडा-ना वर्णन मिलता है। किन्तु द्रव्यप्रमाणानुगमके^४ गाथ उसका मेल नहीं माना। इसका कारण यह है कि दोनोंमें विभिन्न अपेक्षाओमें मनुष्योकी मरणाका कथन किया है। इस तरह जीवद्वयणमें प्रतिपादित विषयकी कुछ फुटकर बातोंका धोडा-ना कथन ध्वेताम्बर साहित्यमें मिलता है।

२ सुदावन्ध^५

इस खण्डका विषय उसको नाममें ही प्रकट है। इसमें सुदा अर्थात् धुद्रूपमें कर्मवन्धका विवेचन है। छठवें खण्ड महावन्धमें इसका भेद करनेके लिए ही अथवा उसकी अपेक्षा इसकी लघुता सूचित करनेके लिए ही सूत्रकारने इसको सुदावन्ध मजा दी है, ऐसा प्रतीत होता है। इसका प्रथम सूत्र है—‘जे ते वधगा णाम नेसिमिमो णिहेसो ॥१॥—जो व वधक जीव है उनका यहाँ निर्देश किया जाता है।

इसकी धवलाटीकामें लिखा है कि ‘जे ते वधगा णाम’ ये शब्द वन्धकोकी पूर्व प्रसिद्धिको सूचित करते हैं। सो महाकर्मप्रकृतिप्राभूतके कृति, वेदना आदि चौबीस अनुयोगद्वारोमें छठवें अनुयोगद्वार वन्धनके वध, वधक, वधनीय और वधविधान ये चार अधिकार हैं। उसमें जो वन्धक नामका दूसरा अधिकार है उसमें निर्दिष्ट वन्धकोका ही यहाँ निर्देश किया गया है। अस्तु, दूसरे सूत्रमें चौदह मार्गणाओके नाम गिनाकर तीसरे सूत्रमें मार्गणाओके अनुसार वन्धकोका कथन प्रारम्भ होता है। यथा—नारकी जीव वन्धक है। तिर्यञ्च वन्धक है। देव वन्धक है। किन्तु

१ नमिय जिण जिअमग्गण गुणट्ठाणुवओग गगलेस्साओ।

वधप्पवहूभावे नसिज्जाई किमवि बुच्छ ॥१॥

२ गा० २०।

३ पट्ख०, पु० १, पृ० ३६१।

४ पट्ख०, पु० ३, सूत्र ४५, तथा अनुयोग०, पृ० २८५।

५ पट्खण्डागमकी ७वीं पुस्तकमें खुदावन्ध खण्ड मुद्रित है।

मनुष्य बन्धक भी है और अबन्धक भी है । इस तरह तेतालीस सूत्र तक बन्धकोके सत्त्वका कथन है ।

आगे कहा है कि इन बन्धकोके प्ररूपणार्थ ग्यारह अनुयोगद्वार जानने योग्य है—वे ग्यारह अनुयोगद्वार हैं—एक जीवकी अपेक्षा स्वामित्व, एक जीवकी अपेक्षा काल, एक जीवकी अपेक्षा अन्तर, नाना जीवोंकी अपेक्षा भगविचय, द्रव्य-प्रमाणानुगम, क्षेत्रानुगम, स्पर्शनानुगम, नाना जीवोंकी अपेक्षा काल, नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर, भागाभागानुगम और अल्पबहुत्व ॥ सब अनुयोगद्वारोंका विवेचन प्रश्नोत्तरशैलीमें किया गया है ।

१ स्वामित्व—नरक गतिमें नारकी जीव कैसे होता है ? नरकगतिनाम-कर्मके उदयसे । तिर्यञ्चगतिमें तिर्यञ्च जीव कैसे होता है ? तिर्यञ्चगतिनाम-कर्मके उदयसे । जीव एकेन्द्रिय आदि कैसे होता है ? क्षायोपशमिकलब्धिसे । जीव मतिज्ञानी कैसे होता है ? क्षायोपशमिकलब्धिसे । इस तरह जिस मार्गणा-वाला जीव जिस कर्मके उदय या क्षयोपशम आदिमें होता है उसका वैसे कथन किया गया है (इस अनुयोगद्वारमें ११ सूत्र हैं) ।

२ एक जीवकी अपेक्षा कालानुगम—नरकगतिमें नारकी जीव कितने काल तक रहता है ? कम-से-कम दस हजार वर्ष तक और अधिक-से-अधिक तेतीस सागरकाल तक । भवनवामी देवोंमें एक जीव कितने काल तक रहता है ? कम-से-कम दस हजार वर्ष तक और अधिक-से-अधिक कुछ अधिक एक सागरोपम काल तक । जीव काययोगी कितने काल तक रहता रहता है ? कम-से-कम अन्तर्मुहूर्तकाल तक और अधिक-से-अधिक अनन्तकाल तक । इस प्रकार २१६ सूत्रोंके द्वारा कालका विवेचन किया गया है । जीवदृष्टान्तमें जो कालका कथन किया गया है वह गुणस्थानोंकी अपेक्षासे है और यहाँ मार्गणास्थानोंकी अपेक्षासे है । यही दोनोंमें अन्तर है ।

३ एक जीवकी अपेक्षा अन्तरानुगम—नरकगतिमें नारकी जीवका अन्तर काल कितना है ? कम-से-कम अन्तर्मुहूर्त और अधिक-से-अधिक असंख्यात पुद्गल-परिवर्तन प्रमाणकाल । क्योंकि कोई जीव नरकसे निकलकर मनुष्य या तिर्यञ्च-पर्यायमें उत्पन्न हो और तत्काल मरण करके पुन नरकमें जन्म ले लेता है । इस-तरह उसकी नारकी पर्याय छूट कर पुन नारकी पर्याय प्राप्त करनेके बीचमें केवल अन्तर्मुहूर्त कालका अन्तर रहता है । और कोई अधिक-से-अधिक उक्त काल तक नरकसे बाहर रहकर पुन नरकमें चला जाता है । इसतरह मार्गणाओंकी अपेक्षा १४१ सूत्रोंके द्वारा अन्तर कालका कथन किया गया है ।

९४ जैनसाहित्यका इतिहास

४. नाना जीवोकी अपेक्षा भगविचयानुगम—भगवान् अर्थ है—भेद और विचयका अर्थ है विचारणा । इस अनुयोगद्वारम यह विचार किया गया है कि मार्गणाओमे जीव नियमसे रहते हैं अथवा कभी रहते हैं और कभी नहीं रहते । उक्त चौदहो मार्गणाओमे जीव नियमसे रहते हैं—उनमें कभी भी जीवोका अभाव नहीं होता । उनके सिवाय आठ मार्गणा ऐसी हैं जिनमें मदा जीव नहीं रहते । इसीमें उन्हें मान्तर मार्गणा कहते हैं । उक्त चौदह मार्गणाएँ निरन्तर मार्गणा हैं । यह कथन नाना जीवोकी अपेक्षा किया गया है । इसमें २३ सूत्र है ।

५. द्रव्यप्रमाणानुगम—इसमें चौदह मार्गणाओमे पाये जाने वाले जीवोकी सख्याका पृथक्-पृथक् कथन किया है । जीवदृष्टानके द्रव्यप्रमाणानुगममें गुणस्थानोकी अपेक्षासे जीवोकी सख्याका कथन है । यही दोनोंमें अन्तर है । इसमें १७१ सूत्र है ।

६. क्षेत्रानुगम—इसमें मार्गणास्थानोकी अपेक्षासे पूर्वघन् जीवोके क्षेत्रका कथन है । सूत्रसंख्या १२४ है ।

७. स्पर्शानुगम—इसमें भी गुणस्थानोकी अपेक्षा न करके मार्गणास्थानोमे जीवोके वर्तमान व अतीत काल सम्बन्धी क्षेत्रका कथन पूर्ववत् है । इसमें २७९ सूत्र है ।

८. नाना जीवोकी अपेक्षा कालानुगम—इसमें नाना जीवोकी अपेक्षा मार्गणाओमे जीवोके कालका कथन है । तदनुसार उक्त चौदह मार्गणाओमे जीव सर्वदा पाये जाते हैं । इसमें ५५ सूत्र है ।

९. नाना जीवोकी अपेक्षा अन्तरानुगम—इसमें उक्त चौदह मार्गणाओमें नाना जीव सर्वदा पाये जानेके कारण अन्तरकालका निषेध करते हुए शेष आठ सान्तरमार्गणाओके अन्तरकालका कथन किया है । इसमें ६८ सूत्र है ।

१०. भागाभागानुगम नरकगतिमें नारकी सब जीवोके कितनेवे भाग हैं ? अनन्तवे भाग हैं । तीर्यञ्चगतिमें तिर्यञ्च सब जीवोके कितनेवे भाग हैं ? अनन्त बहुभाग हैं । इस प्रकार चौदह मार्गणाओमे सब जीवोके भागाभागका कथन है । इसमें ८८ सूत्र है ।

११. अल्पबहुत्वानुगम—मनुष्य सबसे थोड़े हैं । उनमें नारकी असख्यातगुणे हैं । नारकियोसे देव असख्यातगुणे हैं । देवोंसे सिद्ध अनन्तगुणे हैं । सिद्धोंसे तिर्यञ्च अनन्तगुणे हैं । इस प्रकार चौदह मार्गणाओके आश्रयसे जीवोके अल्पबहुत्वका कथन इस अनुयोगद्वारम है । इसमें २०५ सूत्र है ।

अन्तमे महादण्डक नामक अधिकार है । इसके प्रथम^१ सूत्रमे कहा है—

‘इमसे आगे सर्वजीवोमें महादण्डक करना योग्य है ।’

इस प्रथम सूत्रकी धबला-टीकामे इम महादण्डक अधिकारको लेकर जो शका-समाधान किया गया है उसे यहाँ दे देना उचित होगा । उसमे चूलिका और महादण्डकका भेद स्पष्ट होता है ।

शका—ग्यारह अनुयोगद्वारोके समाप्त होनेपर यह महादण्डक किमलिये कहा है ?

समाधान — ग्यारह अनुयोगद्वारोमें निबद्ध खुदाबन्धकी चूलिका रूपसे महादण्डकको कहते हैं ।

शका—चूलिका किसे कहते हैं ?

समाधान—ग्यारह अनुयोगद्वारोमे सूचित अर्थका विशेष रूपसे कथन करनेको चूलिका कहते हैं ।

शका—यदि ऐसा है तो यह महादण्डक चूलिका नहीं कहा जा सकता । क्योंकि यह अल्पबहुत्वानुगम अनुयोगद्वारसे सूचित अर्थको ही कहता है, अन्य अनुयोगद्वारोमें कहे गये अर्थको नहीं कहता ?

समाधान—ऐसा कोई नियम नहीं है कि सब अनुयोगोके द्वारा सूचित अर्थोंका विशेषरूप कथन करनेवाली ही चूलिका होती है । किन्तु एक, दो अथवा सब अनुयोगद्वारोसे सूचित अर्थोंकी विशेष प्ररूपणाको चूलिका कहते हैं । अतः यह महादण्डक चूलिका ही है क्योंकि यह अल्पबहुत्वानुगम अनुयोगद्वारसे सूचित अर्थका विशेषरूपसे कथन करता है ।

इम प्रकार इस दूसरे खण्डके सूत्रोकी कुल संख्या अनुयोगद्वारोके क्रमसे
 $४३ + ९१ + २१६ + १५१ + २३ + १७१ + १२४ + २७९ + ५५ + ६८ + ८८ + २०५ + ७९ =$

३ बन्धस्वामित्वविचय^२

षट्खण्डागमके तीसरे खण्डका नाम बन्धस्वामित्वविचय है । इसका प्रथम सूत्र है—

‘जो सो बधसामित्तविचओ णाम तस्स इमो दुविहो णिद्देसो ओघेण आदेसेण य ॥१॥’ वह जो बन्धस्वामित्वविचय नामक (खण्ड) है उसका यह निर्देश दो प्रकार है—ओघसे और आदेशसे ।

१ ‘एत्तो मन्वजीवेसु महादण्डओ काट्ठो भवदि’ ॥१॥—पट्ख०, पु० ७, पृ० ५७५ ।

२ पट्ख०, पु० ८ ।

इस सूत्रकी धवला-टीकामें इसका उद्गम वतलाते हुए लिखा है कि—कृति, वेदना आदि चौबीस अनुयोगद्वारासे बन्धन नामक जो छठा अनुयोगद्वार है वह चार प्रकार है—बन्ध, बन्धक, बन्धनीय और बन्ध-विधान । उनमें बन्ध नामक अधिकारनय की अपेक्षा जीव और कर्मोंके सम्बन्धका कथन करता है । बन्धक अधिकार ग्यारह अनुयोगद्वारासे बन्धकोका कथन करता है । बन्धनीय नामक अधिकार तेईस वर्गणाओसे बन्ध योग्य और अबन्ध योग्य पुद्गल द्रव्यका कथन करता है । बन्धविधानके चार भेद हैं—प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध । उनमें प्रकृतिबन्धके दो भेद हैं—मूलप्रकृतिबन्ध और उत्तर-प्रकृतिबन्ध । मूलप्रकृतिबन्धके दो भेद हैं—एकमूलप्रकृतिबन्ध और अव्वोगाह मूलप्रकृतिबन्ध । अव्वोगाह मूलप्रकृतिबन्धके दो भेद हैं—भुजगारबन्ध और प्रकृतिस्थानबन्ध । उनमें उत्तरप्रकृतिबन्धका गमुत्कीर्तन करनेवाले चौबीस अनुयोगद्वार हैं । उनमेंसे एक बन्धस्वामित्व नामक अनुयोगद्वार है । उमीका नाम बन्धस्वामित्वविचय है ।

मिथ्यात्व, असयम, कपाय और योगोके द्वारा जो जीव और कर्मोंका सम्बन्ध-विशेष होता है उसे बन्ध कहते हैं । और बन्धके स्वामित्वको बन्धस्वामित्व कहते हैं । और बन्धस्वामित्वके विचारको बन्धस्वामित्वविचय कहते हैं । विचय, विचारणा, मीमासा, परीक्षा ये सब शब्द समानार्थक हैं । अतः यहाँ यह विचार किया गया है कि किस-किस गुणस्थान और मार्गणास्थानमें किस-किस कर्मका बन्ध होता है । तदनुसार दूसरे सूत्रमें कहा है कि ओघको अपेक्षा बन्धस्वामित्वविचयके विषयमें चौदह जीव समास (गुणस्थान) जानने योग्य है । और तीसरे सूत्रके द्वारा चौदह गुणस्थानोंके नाम वतलाये हैं ।

चौदह गुणस्थानोंके नाम जीवद्वाराकी मत्प्ररूपणाके प्रारम्भमें आ चुके हैं । अतः धवला टीकामें यह शका की गई है कि जीवसमास तो पहले ही हमने जान लिये है फिर यहाँ उनका कथन क्यों किया है ? इसका समाधान करते हुए धवला-कारने कहा है—विस्मरणशील शिष्योंके स्मरण करानेके लिये पुनः कथन किया है । किन्तु सूत्रकारने प्रत्येक खण्डको यथासम्भव स्वतन्त्र ग्रन्थके रूपमें निबद्ध किया है, ऐसा प्रतीत होता है । तथा उनका यह भी आशय रहा है कि जहाँ तक सम्भव हो कोई बात अस्पष्ट न रहे । इससे भी उन्होंने पुनरुक्तिका दोष नहीं माना है ।

चौथे सूत्रमें कहा है कि इन चौदह जीवसमासोंके प्रकृतिबन्धव्युच्छेदका कथन करना चाहिये ।

किसी कर्मप्रकृतिके बन्धके रकनेको प्रकृतिबन्धव्युच्छेद कहते हैं । सूत्रका

अभिप्राय यह है कि किस-किस गुणस्थानमें कौन-कौन कर्म बन्धते हैं और आगे नहीं बँधते, यह कथन करते हैं ।

इसपर सूत्र ४ की धवलाटीकामें यह शका उठाई है कि यदि इसमें जीव-समासोके प्रकृतिबन्धव्युच्छेदका ही कथन करना है, तो इस ग्रन्थका बन्धस्वामित्व-विचय नाम कैसे घटित होगा । समाधानमें कहा गया है कि 'इस गुणस्थानमें इतनी प्रकृतियोंके बन्धका विच्छेद होता है' ऐसा कहनेपर यह स्वयमेव सिद्ध हो जाता है कि उससे नीचेके गुणस्थान उन प्रकृतियोंके बन्धके स्वामी हैं । अतः इस ग्रन्थका बन्धस्वामित्वविचय नाम सार्थक है ।

सूत्र ५में कहा है—'पाँच ज्ञानावरणीय, चार दर्शनावरणीय, यश कीर्ति, उच्चगोत्र और पाच अन्तराय, इन कर्मोंका कौन बन्धक है, कौन अबन्धक है ।' सूत्र ६ में उत्तर दिया गया है—मिथ्यादृष्टिसंलेखर सूक्ष्मसाम्प्रायिकसयत तक उक्त प्रकृतियोंके बन्धक हैं । अतः दमवें गुणस्थान तकके जीव उक्त कर्मोंके बन्धक हैं, शेष अबन्धक हैं । इस तरह कर्मप्रकृतियोंका निर्देश करते हुए पहले प्रश्न किया गया है और आगे उसका उत्तर दिया गया है कि अमुक कर्मोंके बन्धक अमुक गुणस्थान वाले जीव हैं ।

इसप्रकार प्रारम्भके ४२ सूत्रोंमें तो गुणस्थानोंके अनुसार बन्ध और अबन्धका कथन है । तत्पश्चात् मार्गणाओके अनुसार कथन है ।

सूत्र ३९में यह प्रश्न किया गया है कि कितने कारणोंसे जीव तीर्थंकरनाम-गोत्रकर्मको बाँधते हैं ? सूत्र ४०में उत्तर दिया गया है कि इन सोलह कारणोंसे जीव तीर्थंकरनामगोत्रकर्मको बाँधते हैं । और सूत्र ४१में उन १६ कारणोंके नाम बतलाये हैं जो इसप्रकार हैं—

१ दर्शनविशुद्धता^१, २ विनयसम्पन्नता, ३ शीलव्रतोंमें निरतिचारता, ४ छह आवश्यकोंमें अपरिहीनता, ५ क्षणलवप्रतिबोधनता, ६ लब्धिसवेग-सम्पन्नता, ७ यथाशक्ति तप, ८ साधुओंकी प्रासुकपरित्यागता, ९ साधुओंकी ममाधिसंधारणा, १० साधुओंकी वैयावृत्ययोगयुक्तता, ११ अरहतभक्ति, १२ बहुश्रुतभक्ति, १३ प्रवचनभक्ति, १४ प्रवचनवत्सलता, १५ प्रवचनप्रभावना,

१. 'दसणविसुज्झदाए विणयमपण्णदाए मीलव्वदेसु गिरदिचारदाए आवासणसु अपरिहीणाए गणलवपटिबुज्जगणाए लद्धिसवेगसपण्णदाए जथाथामे तथा तवे साहूण पासु-अपरिचागदा' माहूण समाहिसंधारणाए माहूण वेज्जावच्चजोगजुत्तदाए अरहतभत्तीए बहुसुदभत्तीए पवयणभत्तीए पवयणवच्छलदाए पवयणप्रभावणदाए अभिक्खण अभिक्खणणागोवजोगजुत्तदाए इच्चेदेहि सोलसेहि कारणेहि जीवा तित्थयरणामगोद कम्म वर्धति ॥ ४१ ॥—पट्ख०, पु० ८, पृ० ७० ।

१६. अभीक्ष्णअभीक्ष्णज्ञानोपयोगयुक्तता । इन सोलह कारणोंसे जीव तीर्थकरनाम-
गोत्रकर्मको बाँधते हैं ।

तत्त्वार्थसूत्रमें^१ जो तीर्थकरनामकर्मके बन्धके सोलह कारण बतलाये हैं, उनमें इनसे कुछ अन्तर है । यहाँ 'साधुओंकी प्रासुक परित्यागता है, तत्त्वार्थसूत्र-
में 'शक्ति अनुसार त्याग' है । इन दोनोंका आशय मिलता हुआ है । किन्तु यहाँ
'लब्धिसवेगसम्पन्नता' है, त० सू० में आचार्यभक्ति है । शेष चौदह कारण
समान हैं । इन दोनोंमें कोई मेल नहीं है ।

किन्तु श्वेताम्बरीय ज्ञाता^२ धर्मकथा नामक आठवे अगमें २० कारण बतलाये
हैं—१ अरहत, २ सिद्ध, ३ प्रवचन, ४ गुरु, ५ स्थविर, ६ बहुश्रुत और
७ तपस्वियोंमें वत्सलता, ८ अभीक्ष्णज्ञानोपयोग, ९ दर्शन, १० विनय, ११.
आवश्यक, १२. निरतिचार शीलव्रत, १३ क्षणलव, १४ तप, १५ त्याग,
१६ वैयावृत्य, १७ समाधि, १८ अपूर्व ज्ञानग्रहण, १९ श्रुतभक्ति, २० प्रव-
चनप्रभावना ।

इस अन्तरके सम्बन्धमें विशेष चर्चा तत्त्वार्थसूत्र सम्बन्धी प्रकरणमें की
जायेगी ।

बन्धस्वामित्वविचयकी सूत्रसंख्या ३२४ है ।

श्वेताम्बर परम्पराके तीसरे कर्मग्रन्थका नाम बन्धस्वामित्व है । कर्मग्रन्थ
प्राचीन और नवीनके भेदसे दो प्रकारके हैं । दोनोंका विषय प्रायः समान है ।
प्राचीनमें विषय-वर्णन थोड़ा विस्तृत है । तीसरे प्राचीन कर्मग्रन्थकी गाथासंख्या
५४ है जबकि नवीनकी गाथासंख्या २५ है । प्राचीनमें गति आदि मार्गणाओंमें
गुणस्थानोंकी संख्याका निर्देश अलगसे करके तब बन्धस्वामित्वका कथन है किन्तु
नवीनमें ऐसा नहीं किया है । उसमें जो मार्गणाओंके आश्रयसे गुणस्थानोंमें बन्ध-
स्वामित्वका कथन दिखाया, उससे मार्गणाओंमें गुणस्थानोंकी संख्याका बोध हो
जाता है ।

१ 'दर्शनविशुद्धिविनयसम्पन्नता शीलव्रतेश्वनतिचारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोगसवेगौ शक्तिस्त्या-
गनपसी साधुममाधिवैयावृत्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकपरिहाणि
मार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकरत्वस्य ॥'—न० सू०, ६।२४ ।

२ 'अरहतमिद्धपत्रयणगुरुथेरबहुसुदसु वच्छलयाव तवस्सी तेमि अभिक्खणाणोयआगे य ॥
दसण विणण आगस्सए य सोल्लवए निरड्यार । खणलव तव च्चियाए वेयावच्चे
समाही य ॥

अपुब्बणाणगहणे सुयमत्ती पत्रयणे पभावणया । एणहि कारणेहि तित्थयरत्त लहट जीवो ॥

पट्खण्डागममें गतिके आश्रयमे प्रकृतियोंका निर्देश करके यह बतलाया है कि इन प्रकृतियोंका वध अमुक गुणस्थानवाले करते हैं। जैसे—आदेशसे^१ गतिके अनुवादसे नरकगतिमें नारकियोंमे अमुक प्रकृतियोंका (७० प्रकृतियोंके नाम गिनाये हैं। कौन बन्धक है और कौन अबन्धक है ? मिथ्यादृष्टिमे लेकर असयत सम्यग्दृष्टि तक बन्धक है। निद्रानिद्रा आदि (२५ प्रकृतियोंके नाम गिनाये हैं) का कौन वधक है, कौन अबधक है ? मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि बन्धक है, शेष अबन्धक है। मिथ्यात्व आदि ४ का कौन वधक है और कौन अबधक है ? मिथ्यादृष्टि बन्धक है, शेष अबन्धक है। मनुष्यायुका कौन बन्धक है और कौन अबन्धक है ? मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि और असयतसम्यग्दृष्टि बन्धक है, शेष अबन्धक है। तीर्थकरनामकर्मका कौन बन्धक है और कौन अबन्धक है ? असयतसम्यग्दृष्टि बन्धक है, शेष अबन्धक है।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सामान्यसे नरकगतिमें बन्धयोग्य प्रकृतियाँ $७० + २५ + ४ + १ + १ = १०१$ हैं। उनमेंसे मिथ्यात्वगुणस्थानमें १०० ही बन्धयोग्य हैं, तीर्थकर बन्धयोग्य नहीं है। तथा १००मेंसे सासादनसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें ९६ ही बन्धयोग्य हैं, मिथ्यात्वादि चारका बन्ध केवल मिथ्यादृष्टिके ही होता है। तथा नरकगतिमे चार ही गुणस्थान होते हैं। इन सब फलितार्थोंके अनुसार कर्मग्रन्थमे^२ कथन किया है कि नारकी सामान्यसे १०१ कर्मप्रकृतियोंको बाँधते हैं। किन्तु पहले गुणस्थानमें वर्तमान नारकी १०१ मेंसे तीर्थकरके बिना १०० कर्मप्रकृतियोंको बाँधता है और सासादनगुणस्थानमें वर्तमान नारकी उनमेंसे ४ प्रकृतियोंको छोड़कर ९६ को ही बाँधता है

इसी तरह इस तीसरे खण्डके प्रारम्भमें सामान्यसे प्रकृतियोंका नाम निर्देश करके उनके बन्धक और अबन्धक गुणस्थानोंका निर्देश किया है। उससे यह फलित होता है कि अमुक गुणस्थानमें इतनी कर्मप्रकृतियाँ बन्धयोग्य हैं। तदनुसार दूसरे कर्मग्रन्थमें गुणस्थानोंमें बन्धयोग्य प्रकृतियोंका निर्देश किया है।

अतः गुणस्थान और मार्गणास्थानोंमें जो कर्मप्रकृतियोंके बन्धस्वामित्वका कथन दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परामे पाया जाता है उसका मूल बन्धस्वामित्वविचयनामक तीसरा यह खण्ड ही प्रतीत होता है क्योंकि श्वेताम्बर परम्परामें भी इस विषयका निरूपक कोई अन्य आकर ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

१. पट्ख० पु० ८, सूत्र ४३-४४।

२ 'सुरङ्गुणवीमवज्ज इसासउ ओहेण वधहि निरया। तित्थ विणा मिच्छिसय सासणि नपु चउ विणा छनुदं ॥ ४ ॥'—कर्म १० ३।

४ वेदनाखण्ड

एक तरहसे चतुर्थ वेदनाखण्डसे षट्खण्डागमका उत्तर भाग प्रारम्भ होता है क्योंकि इसके प्रारम्भमें भूतबलीने ४४ सूत्रोंसे मंगलाचरण किया है । और धवलाकारने उस मंगलको जेप तीनों खण्डोंका मंगलाचरण कहा है । क्योंकि पाँचवें और छठे खण्डके प्रारम्भमें कोई मंगल नहीं पाया जाता । इसी तरह—जीवद्वाराणके प्रथम अनुयोगद्वारा मत्प्ररूपणाके आदिमें पुष्पदन्तने मंगलाचरण किया था । वही मंगलाचरण दूसरे और तीसरे खण्डका भी मान लिया गया, क्योंकि इन दोनों खण्डोंके प्रारम्भमें कोई मंगलाचरण नहीं पाया जाता । अतः दोनों मंगलोंको पूर्वार्ध और उत्तरार्धका मंगलाचरण कहना उचित होगा ।

दूसरे, जिस महाकर्मप्रकृतिप्राभूतका उपमहार करके ये छै खण्ड रचे गये हैं, उसके चौबीस अनुयोगद्वारोंमें क्रमानुसार ही चौथे आदि खण्डोंका निर्माण हुआ है और उसीके मंगलसूत्रोंको वेदनाखण्डके आदिमें मंगलरूपमें स्थान दिया गया है । अतः चतुर्थ वेदनाखण्डमें षट्खण्डागमका उत्तर भाग प्रारम्भ होता है, यह कहना उचित ही है ।

इस चतुर्थ खण्डमें महाकर्मप्रकृतिप्राभूतके चौबीस अनुयोगद्वारोंमेंसे आदिके दो अनुयोगद्वार सक्षिप्त किये गये हैं । एक कृति अनुयोगद्वार और दूसरा वेदना अनुयोगद्वार इन दोनोंमेंसे वेदनाका प्राधान्य होनेसे खण्डको वेदना नाम दिया गया है ।

१ कृतिअनुयोगद्वार^१—इसके प्रारम्भमें सूत्रकार भूतबलीने 'णमो जिणाण' इत्यादि ४४ सूत्रोंसे मंगल किया है । ठीक यही मंगल 'योनिप्राभूत' ग्रन्थमें गणवर-वलयमन्त्रके रूपमें पाया जाता है । ऐसा माना जाता है कि योनिप्राभूतके कर्त्ता^२ आचार्य धरसेन थे और उन्होंने अपने शिष्य भूतबली^३ पुष्पदन्तके लिये उसकी रचना की थी । इन मंगलसूत्रोंमें अन्तिम सूत्र 'णमोवद्दमाणबुद्धरिसिस्स ॥४४॥' है । इसकी धवलाटीकामें वीरसेन स्वामीने इसे गौतमस्वामी रचित कहा है ।

इसके ४५वें सूत्रमें बतलाया है कि अग्रायणीय पूर्वकी पंचमवस्तुके चतुर्थ-प्राभूतका नाम कम्मपयडी (कर्मप्रकृति) है । उसके चौबीस अनुयोगद्वार कृति आदि है ।

१. षट्खण्डागम, पुस्तक ९ में मुद्रित है ।

२ 'योनिप्राभूत वीरात् ६०० धारसेन ।' वृद्धट्टिपणि०—

३ 'इय पण्हसवणरइण भूयवली-पुप्फथतआलिहिण । कुसुमडी उवहट्टे विज्जयवियम्मि अवियारे ।'—अनेकान्त, वर्ष २, पृ० ४८७ से ।

कृतिका वर्णन करते हुए सूत्र ४६में कृतिके सात भेद बतलाये हैं—नामकृति^१, स्थापनाकृति, द्रव्यकृति, गणनाकृति, ग्रन्थकृति, करणकृति और भावकृति ।

सूत्र ४७में प्रश्न किया गया है कि कौन नय किन कृतियोंकी इच्छा करता है ? सूत्र ४८, ४९, ५०से उत्तर देते हुए कहा है कि नैगम, सग्रह, व्यवहार सब कृतियोंको स्वीकार करते हैं । ऋजुसूत्रनय स्थापना कृतिको स्वीकार नहीं करता और शब्द आदि नय नामकृति और भावकृतिको स्वीकार करते हैं ।

सूत्र ५१से कृतिके उक्त सात भेदोंका स्वरूप बतलाया है, जो इसप्रकार है—जिस जीव या अजीव किसीका 'कृति' नाम रखा जाता है वह नामकृति है ।

काष्ठकर्म, चित्रकर्म, पोतकर्म (वस्त्रसे निर्मित प्रतिमा), लेप्यकर्म, लपन-कर्म (पर्वतको काटकर बनाई गई प्रतिमा), शैलकर्म, गृहकर्म (जिनालयोंमें बनाई गई प्रतिमा), भित्तिकर्म, दन्तकर्म और भेड (?) कर्ममें अथवा अक्ष (पासे—शतरङ्गके मोहरे) और वराटक (कौडी) में यह कृति है' ऐसा आरोप करनेको स्थापनाकृति कहते हैं ।

द्रव्यकृतिके दो भेद हैं—आगमद्रव्यकृति और नोआगमद्रव्यकृति । आगम-द्रव्यकृतिके नौ अर्थाधिकार हैं—स्थित, जित, परिजित, वाचनोपगत, सूत्रसम, अर्थसम, ग्रन्थसम, नामसम और घोषसम । धवलाटीकामें इन सबका स्वरूप बतलाया है । जिनमेंसे कुछ इसप्रकार हैं—

तीर्थङ्करके मुखसे निकले बीजपदोंको सूत्र कहते हैं । उस सूत्रसे उत्पन्न होनेके कारण गणधरदेवका श्रुतज्ञान सूत्रसम है । श्रुतज्ञानी आचार्योंकी सहायताके बिना ही स्वयंबुद्धोंको जो श्रुतज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमसे द्वादशागका ज्ञान हो जाता है उसे अर्थसम कहते हैं । गणधरदेवके द्वारा रचित द्रव्यश्रुतको ग्रन्थ कहते हैं । उनके द्वारा बोधितबुद्धोंको जो द्वादशागका ज्ञान होता है उसे ग्रन्थसम कहते हैं । द्वादशागके अनुयोगोंके मध्यमें स्थित द्रव्यश्रुतज्ञानके भेदोंको नाम कहते हैं, उससे उत्पन्न होनेके कारण शेष आचार्योंमें स्थित श्रुतज्ञान नामसम है ।

इस आगमके नौ अर्थाधिकारोंमें जो उपयोग है उसके भेद सूत्र ५५में बतलाये हैं । वे हैं—वाचना, पृच्छना, पृतीच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षणा, स्तव, स्तुति, धर्मकथा वगैरह ।

सूत्र ६६में गणनाकृतिके अनेक भेद बतलाये हैं—एक सख्या नोकृति है, दो सख्या न कृति है और न नोकृति । तीनसे लेकर सख्यात, असख्यात, अनन्त, राशियाँ कृति हैं ।

१ 'कदि ति सत्तविहा कदी—गामकदी, ठवणकदी, दव्वकदी गणणकदी गथकदी करणकदी भावकदी चेदि ॥४६॥

धवलाटीकामे इसका रपष्टीकरण करत हुए कहा है कि जिस राशिके वर्गमें उसको मूल राशिको घटा देने पर जो शेष रहे उसका वर्ग करने पर वृद्धिको प्राप्त हो उसे कृति कहते हैं। जैसे तीनके वर्ग नीमसे तीनको घटा देने पर छं शेष रहते हैं उसका वर्ग ३६ होता है अतः तीन राशि कृति है। एक राशिका वर्ग करने पर भी एक ही लब्ध आता है, राशि बढ़ती नहीं और उसमेंसे मूलराशि एक को घटा देने पर कुछ भी शेष नहीं रहता। अतः एक राशि नोकृति है। दो का वर्ग करने पर राशि बढ़ जाती है, उसलिये दोनों नोकृति नहीं कह सकते। और चूँकि उसके वर्ग ४ मेंसे उसके मूल दोको घटाने पर दो शेष रहते हैं और उसका वर्ग करने पर चार ही होते हैं—राशि बढ़ती नहीं, अतः दोको कृति भी नहीं कह सकते।

सूत्र ६७में ग्रन्थकृतिका स्वरूप बतलाते हुए कहा है—‘लोकमें’, वेदमें, समयमें शब्दप्रबन्धरूप अक्षरकाव्यादिकी जो ग्रन्थरचना की जाती है उसे ग्रन्थ-कृति कहते हैं। सब कृतियोंका स्वरूप बतलानेके बाद सूत्रकारने यह प्रश्न किया है कि इन कृतियोंमेंसे कौन-सी कृतिसे यहाँ प्रयोजन है। और उनका उत्तर दिया है कि गणनाकृतिसे यहाँ प्रयोजन है। इसकी व्याख्यामे धवलाकारने लिखा है कि गणनाको जाने बिना शेष अनुयोगद्वारोका स्थान नहीं हो सकता।

इस कृति अनुयोगद्वारमे ७६ सूत्र है।

कृति अनुयोगद्वार और श्वेताम्बरी अनुयोगद्वारकी निरूपणशैलीमें बहुत कुछ समानता है। कृति अनुयोगद्वारमें कृतिके सात भेद किये हैं और अनुयोगद्वारसूत्रमें आवश्यककी चर्चा होनेसे आवश्यकके चार भेद किये हैं। नामआवश्यक स्थापनाआवश्यक, द्रव्यावश्यक और भावावश्यक। कृतिके सात भेदोंमें भी नाम-कृति, स्थापनाकृति, द्रव्यकृति और भावकृति ये चार भेद हैं। इन चारों भेदोंके स्वरूपबोधक सूत्रोंमें कितनी समानता है, यह दोनों ग्रन्थोंके सूत्रोंके मिलानसे स्पष्ट हो जाता है।

१ ‘जा सा णामकदी णाम सा जीवस्स वा अजीवस्स वा, जीवाण वा, अजीवाण वा, जीवस्स च अजीवस्स च, जीवस्स च अजीवाण च, जीवाण च अजीवस्स [च], जीवाण च अजीवाण च ॥ ५१ ॥’—षट्ठ०, पु० ९, पृ० २४६।

१ ‘से कि त नामावस्सयं ? जस्स ण जीवस्स वा अजीवस्स वा जीवाण वा अजीवाण वा तदुभयस्स वा तदुभयाण वा आवस्सएत्ति नाम कज्जइ से त नामावस्सय ॥ ९ ॥’—अनु० सू०।

१ ‘जा सा गथकदी णाम सा लोप वेदे समण सद्धपवधणा अक्खरकब्बादीण जा च गथ रयणा कीरये सा सच्चा गथकदी णाम ॥ ६७ ॥’—पु० ९, पृ० ३२१।

कृतिमें आठो भंगोका निर्देश किया गया है, किन्तु अनुयोगद्वारसूत्रमें छहका निर्देश किया है । किन्तु उनमें शेष दो भी गर्भित है ।

स्थापनाका लक्षण लीजिये—

२ 'जा सा ठवणकदी णाम सा कट्ठकम्मेसु वा चित्तकम्मेसु वा, पोत्तकम्मेसु लेप्पकम्मेसु वा लेण्णकम्मेसु वा सेलकम्मेसु वा गिहकम्मेसु वा भित्तिकम्मेसु वा वत्तकम्मेसु वा भेंडकम्मेसु वा अक्खो वा वराडओ वा जे चामण्णे एवमादिया ठवणाए ठविज्जति कदि त्ति सा सब्वा ठवणकदी णाम ॥५२॥'—षट्ख, पु० ९, पृ० २४८ ।

२ 'से किं त ठवणावस्सयं ? जण्ण कट्ठकम्मे वा पोत्थकम्मे वा चित्तकम्मे वा लेप्पकम्मे वा गथिमे वा वेढिमे वा पूरिमे वा सघाइमे वा अक्खे वा वराडए वा एगो वा अणेगो वा सम्भावठवणा वा असम्भावठवणा वा आवस्सएत्ति ठवणा ठविज्जइ से त ठवणावस्सय ॥ १० ॥'—अनु० सू० ।

३ जा सा आगमदो दव्वकदी णाम तिरसे इमे अट्ठाहियारा भवति—डिद जिद परिजिद वायणोपगद सुत्तसम अत्थसम गथसम णामसम घोससम ॥५४॥ जा तत्थ वायणा वा पुच्छणा वा पडिच्छणा वा परियट्ठणा वा अणुपेक्खा वा थथुइ धम्मकहा वा जे चामण्णे एवमादिया ॥ ५५ ॥'—षट्ख० पु० ९, पृ० २५१, २६२ ।

३ से किं त आगमओ दव्वावस्सय ? जस्स ण आवस्सए त्ति पद सिक्खित्ति ठित्तित्तमित्त परिजित्त नामसम घोससम गुरुवायणोवगय, से ण तत्थ वायणाए पुच्छणाए परिअट्ठणाए धम्मकहाए अणुपेहाए, कम्हा ? अणुवओगे दव्वमित्ति कट्ठ ॥ १३ ॥ अनु० सू० ।

यद्यपि दोनोके उक्त उद्धरणोंमें कुछ अन्तर भी है । किन्तु जो समानता है वह उल्लेखनीय है ।

दोनोकी द्रव्यनिक्षेपमें नययोजना भी दृष्टव्य है—

४ 'णोगमववहाराणमेगो अणुवजुत्तो आगमदो दव्वकदी अणेया वा अणुवजुत्तो आगमदो दव्वकदी ॥ ५६ ॥ सगहणयस्स एयो वा अणेया वा अणुवजुत्तो आगमदो दव्वकदी ॥ ५७ ॥ उजुसुदस्स एओ अणुवजुत्तो आगमदो दव्वकदी ॥ ५८ ॥ सट्ठणयस्स अक्खव ॥ ५९ ॥ सा सब्वा आगमदो दव्वकदी णाम ॥ ६० ॥'—षट्ख०, पु० ९, पृ० २६४-२६६ ।

४ "नेगमस्स णं एगो अणुवजुत्तो आगमओ एगं दव्वावस्सय दोण्णि अणुवजुत्ता आगमओ दोण्णि दव्वावस्सयाइ तिण्णि अणुवजुत्ता आगमओ तिण्णि दव्वावस्सयाइ एव जावइया अणुवजुत्ता आगमओ तावइयाइ दव्वावस्सयाइ, एवमेव

व्यवहारस्सवि । सगहस्स ण एगो वा अणो गो वा अणुवउत्तो वा अणुवउत्ता वा आगमओ दव्वास्सयं दव्वावस्सयाणि वा से एगे दव्वावस्सए । उज्जुसुअस्स एगो अणुवउत्तो आगमतो एग दव्वावस्सय पुहत्तं नेच्छइ । तिण्ह सद्दयाण जाणए अणुवउत्ते अवत्थु, कम्हा ? जइ जाणए अणुवउत्ते न भवति, जइ अणुवउत्ते जाणए ण भवति, तम्हा णत्थि आगमओ दव्वावस्सयं । से त आगमओ दव्वावस्सय ॥ १४ ॥'—अनु० सू० ।

दोनो नययोजनाओंमें कोई अन्तर नहीं है । कृतिका वर्णन सक्षिप्त है और अनुयोगद्वारका विस्तृत है ।

इस साम्यसे केवल यही प्रकट होता है कि जैन आगमिक शैली यही थी । अनुयोगोके प्रारम्भमें निक्षेप और निक्षेपोमें नययोजना होना आवश्यक था । और उसको लेकर विषयगत और शब्दगत साम्य था । किन्तु श्वेताम्बरीय आगमोंमें इस शैलीके दर्शन नहीं होते । सम्भव है यह शैली पूर्वोक्तोंसे सम्बद्ध हो, क्योंकि अनुयोग पूर्वगत श्रुतके भेद है ।

२ वेदना अनुयोगद्वारा—वेदना अधिकारमें १६ अनुयोगद्वारा है—वेदनानिक्षेप, वेदनानयविभाषणता, वेदनानामविधान, वेदनद्रव्यविधान, वेदनक्षेत्रविधान, वेदनकालविधान, वेदनभावविधान, वेदनस्वामित्वविधान, वेदनवेदनविधान, वेदनगतिविधान, वेदनअनन्तरविधान, वेदनसन्निकर्षविधान, वेदनपरिमाणविधान, वेदनभागभागविधान, और वेदनअल्पबहुत्वविधान । प्रथम सूत्रके द्वारा इन १६ अनुयोगद्वारोका निर्देश किया गया है ।

१ वेदनानिक्षेप—दो सूत्रोके द्वारा वेदनामें निक्षेपोका विधान किया है । वेदनाके चार भेद हैं—नामवेदना, स्थापनावेदना, द्रव्यवेदना और भाववेदना । वेदनाशब्दके अनेक अर्थ हैं । उनमेंसे अप्रकृत अर्थका निराकरण करके प्रकृत अर्थको बतलानेके लिए यह अनुयोगद्वारा है ।

२ वेदनानयविभाषणता—सब व्यवहार नयाधीन है । अतः नामादि निक्षेपगत व्यवहार किस नयके अधीन है, यह इस अनुयोगद्वारामें बतलाया है । अर्थात् आगमिक शैलीके अनुसार चार सूत्रोके द्वारा निक्षेपोमें नययोजनाका कथन है । वेदनासे यहाँ बन्ध, उदय और सत्त्वरूप द्रव्यकर्मकी वेदना ली गई है ।

३ वेदनानामविधान—बन्ध, उदय और सत्त्वरूपसे जो कर्मपदगल जीवमें स्थित है उनमें किस-किस नयका कहाँ-कहाँ कैसा प्रयोग होता है इसके लिये यह वेदनानामविधान अधिकार है । कर्मके आठ भेद हैं, अतः आठो कर्मोंकी वेदनाके अनुसार वेदना भी आठ रूप है । सगृह्यकी अपेक्षा आठो कर्मोंकी एक वेदना है क्योंकि सगृह्य अनेकोको एकरूपसे ग्रहण करता है । और ऋजुसूत्रनय वर्तमान

पर्यायको ही ग्रहण करता है, अतः चूँकि वेदनाका अर्थ सुख-दुःख लोकमें लिया जाता है और वे सुख-दुःख वेदनीयकर्मके सिवाय अन्य कर्मद्रव्योसे उत्पन्न नहीं होते । अतः उदयागत वेदनीयकर्म ही ऋजुसूत्रनयसे वेदना है । इसमें भी ४ सूत्र है ।

४. वेदनाद्रव्यविधान—वेदनारूप द्रव्यके विधान अर्थात् भेद उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य आदि अनेक है । उनका इस अनुयोगमें कथन है । इस अनुयोगद्वारेके अन्तर्गत तीन अनुयोगद्वार है—पदमीमासा, स्वामित्व और अल्पबहुत्व । पदमीमासामें बतलाया है कि ज्ञानावरणीयद्रव्यवेदना उत्कृष्ट भी है, अनुत्कृष्ट भी है, जघन्य भी है और अजघन्य भी है । सूत्रको देशामर्पक मानकर ध्वलाकारने सादि, अनादि आदि अन्य भी नौ पदोंकी योजना की है । तथा बतलाया है कि सप्पम पृथिवीके गुणितकर्मांशिक नारकीके अन्तिम समयमें उत्कृष्ट द्रव्य पाया जाता है, अतः ज्ञानावरणीयवेदना उत्कृष्ट भी है और उक्त नारकीके सिवाय अन्यत्र सर्वत्र उसका अनुत्कृष्ट द्रव्य पाया जाता है, अतः अनुत्कृष्ट भी है । क्षपित कर्मांशिक जीवके बारहवें गुणस्थानके अन्तिम समयमें उसका जघन्यद्रव्य पाया जाता है, अतः ज्ञानावरणीयवेदना जघन्य भी है और उक्त जीवके बारहवें गुणस्थानके अन्तिम समयको छोड़कर अजघन्यद्रव्य पाया जाता है, अतः अजघन्य भी है । शेष सातो कर्मोंमें भी इसी प्रकार जानना चाहिये ।

स्वामित्व अनुयोगद्वारमें ज्ञानावरणीय आदि कर्मोंके उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट आदि पद किन-किन जीवोंमें किस प्रकारसे सम्भव है, इस तरह उनके स्वामियोका कथन बहुत विस्तारसे किया है । और अल्पबहुत्वमें ज्ञानावरण आदि आठ कर्मोंकी जघन्य उत्कृष्ट और जघन्य उत्कृष्ट वेदनाओंके अल्पबहुत्वका प्रतिपादन किया है ।

इस प्रकार पदमीमासा, स्वामित्व और अल्पबहुत्व अनुयोगद्वारोंके पश्चात् वेदनाद्रव्यविधानकी चूलिका आती है । इसके आरम्भिक सूत्रमें चूलिकाकी उपयोगिता अथवा विषयका प्रतिपादन करते हुए कहा है कि उत्कृष्ट स्वामित्वका कथन करते हुए कहा है कि 'बहुत-बहुत बार उत्कृष्ट योगस्थानोंको प्राप्त करना है और जघन्य स्वामित्वका भी कथन करते हुए कहा है कि बहुत-बहुत बार जघन्य योगस्थानोंको प्राप्त होता है । इन दोनों ही सूत्रोंका अर्थ भलीभाँति अवगत नहीं हो सका । इसलिए दोनों ही सूत्रोंका निश्चय करानेके लिए योगविषयक अल्पबहुत्व और प्रदेशविषयक अल्पबहुत्वका कथन किया जाता है । यथा—

सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्तिकका जघन्य योग सबसे थोड़ा है ॥१४५॥ वादर एकेन्द्रिय अपर्याप्तिकका जघन्य योग उससे असख्यात गुणा है ॥१४६॥ उससे दो इन्द्रिय अपर्याप्तिकका जघन्य योग असख्यात गुणा है ॥ १४७॥ उससे तेइन्द्रिय

१०६ जैनसाहित्यका इतिहास

अपर्याप्तकका जघन्य योग असंख्यातगुणा है ॥१४८॥ उससे चौइन्द्रिय अपर्याप्तकका जघन्य योग असंख्यात गुणा है ॥१४९॥ इत्यादि ।

जिस प्रकार योगविषयक अल्पबहुत्वकी प्ररूपणा की गई है, उसी प्रकार प्रदेशविषयक अल्पबहुत्वकी प्ररूपणा करनेका निर्देश सूत्रकारने किया है ।

योगस्थानकी प्ररूपणाके लिए इन दस अनुयोगद्वारोको जानने योग्य कहा है—

अविभागप्रतिच्छेदप्ररूपणा, वर्गणाप्ररूपणा, स्पर्धकप्ररूपणा, अन्तरप्ररूपणा, स्थानप्ररूपणा, अनन्तरोपनिधा, परम्परोपनिधा, समयप्ररूपणा, वृद्धिप्ररूपणा और अल्पबहुत्व ॥१७६॥ और आगे इनका कथन किया है । यथा—

एक-एक जीवप्रदेशमें असंख्यातलोकप्रमाण योग-अविभागप्रतिच्छेद होते हैं ॥१७८॥ असंख्यातलोकप्रमाण योगअविभागप्रतिच्छेदोकी एक वर्गणा होती है ॥१८०॥ असंख्यात वर्गणाओका एक स्पर्धक होता है ॥१८२॥ इस प्रकार एक योगस्थानमें श्रेणिके असंख्यातवें भाग मात्र स्पर्धक होते हैं ॥१८३॥ (दूसरे शब्दोंमें) श्रेणिके असंख्यातवें भाग स्पर्धकोका एक जघन्य योगस्थान होता है ॥१८६॥

अनन्तरोपनिधाके अनुसार जघन्य योगस्थानमें थोड़े स्पर्धक हैं ॥१८८॥ दूसरे योगस्थानमें स्पर्धक विशेष अधिक हैं ॥१८९॥ तीसरे योगस्थानमें स्पर्धक विशेष अधिक हैं ॥१९०॥ इस प्रकार उत्कृष्ट योगस्थानपर्यन्त उत्तरोत्तर विशेष अधिक स्पर्धक होते गये हैं ॥१९१॥

समयप्ररूपणाके अनुसार चार समय तक रहनेवाले योगस्थान श्रेणिके असंख्यातवें भागमात्र हैं ॥१९७॥ पाँच समय तक रहनेवाले योगस्थान श्रेणिके असंख्यातवें भाग हैं ॥१९८॥ इसी तरह छै समय, सात समय और आठ समय तक रहनेवाले योगस्थान श्रेणिके असंख्यातवें भाग हैं ॥१९९॥

अल्पबहुत्वके अनुसार आठ समय तक रहनेवाले योगस्थान सबसे थोड़े हैं ॥२०६॥ सात समय तक होनेवाले योगस्थान उनसे असंख्यातगुणे हैं । इसी तरह क्रमशः ६, ५, ४ आदि समय तक होनेवाले योगस्थान उत्तरोत्तर असंख्यातगुणे जानना चाहिये ।

वेदनाद्रव्यविधानके अन्तिम सूत्रमें कहा है कि जो योगस्थान है वे ही प्रदेशबन्धस्थान हैं । अर्थात् प्रदेशबन्धके कारण योगस्थान ही हैं । जैसा उत्कृष्ट या जघन्य योगस्थान होता है तदनुसार ही ज्ञानावरणादि कर्मोंका उत्कृष्ट या जघन्य प्रदेशबन्ध होता है । और प्रदेशबन्धके अनुसार ही ज्ञानावरणादि कर्मोंकी उत्कृष्ट या जघन्य द्रव्यवेदना होती है । इसीसे वेदनामें योगस्थान और उनके अवयवों—वर्गणा आदिका कथन किया गया है ।

योग जीवकी एक शक्तिविशेष है, जो कर्मोंके आगमनमें कारण होती है । जक्तिके अविभागी अशको अविभागीप्रतिच्छेद कहते हैं और उनके समूहको वर्गणा, वर्गणाके समूहको स्पर्धक कहते हैं ।

५ वेदनाक्षेत्रविधान—आठो कर्मोंके द्रव्यकी वेदना सज्ञा है । वेदनाके क्षेत्रको वेदनाक्षेत्र और उसके विधानको वेदनाक्षेत्रविधान कहते हैं । इसमें भी तीन अनुयोगद्वार हैं ।

पदमीमासा, स्वामित्व और अल्पबहुत्व ।

वेदनाद्रव्यविधानकी ही तरह वेदनाक्षेत्रविधानका भी कथन किया गया है । पदमीमासामें बतलाया है कि ज्ञानावरणीयकर्मकी क्षेत्रकी अपेक्षा वेदना उत्कृष्ट भी है, अनुत्कृष्ट भी है, जघन्य भी है, और अजघन्य भी है । इसीप्रकार सातो कर्मोंको जानना ।

स्वामित्वके दो प्रकार हैं जघन्यपदरूप और उत्कृष्टपदरूप । स्वामित्वसे उत्कृष्टपदमें ज्ञानावरणीयवेदना क्षेत्रकी अपेक्षा उत्कृष्ट किसके है ॥७॥ इस प्रश्नका समाधान करते हुए सूत्रकारने कहा है—‘एक हजार योजनकी अवगाहना वाला जो मत्स्य स्वयंभुरमण समुद्रके बाह्य तट पर स्थित है ॥८॥ वह वेदना-समुद्घातसे समुद्घातको प्राप्त हुआ और तनुवातबल्यको उसने स्पृष्ट किया है । फिर तीन मोडोके साथ वह मारणान्तिक समुद्घातको प्राप्त हुआ । अनन्तर समयमें वह मातवें नरकमें उत्पन्न होगा । उसके ज्ञानावरणीयवेदना क्षेत्रकी अपेक्षा उत्कृष्ट होती है । क्यों होती है, इसका समाधान धवलाटीकामें किया गया है ।

इसी तरह ज्ञानावरणकी क्षेत्रकी अपेक्षा जघन्य वेदना सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्य-पर्याप्तक जीवके बतलाई है ।

अल्पबहुत्वमें भी तीन अनुयोगद्वार कहे हैं—जघन्यपद, उत्कृष्टपद और जघन्य-उत्कृष्टपद । और उनके द्वारा आठो कर्मोंकी उक्त वेदनाओंके अल्पबहुत्वकी प्ररूपणा की है ।

६ वेदनाकालविधान—इसमें भी पूर्ववत् तीन अनुयोगद्वार हैं । पदमीमासा, स्वामित्व और अल्पबहुत्व । पदमीमासामें ज्ञानावरणीय आदि कर्मोंकी वेदना कालकी अपेक्षा उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य बतलाई है ।

स्वामित्वमें, ज्ञानावरणादि कर्मोंकी उत्कृष्ट आदि वेदना कालकी अपेक्षा किसके होती है, यह पूर्ववत् बतलाया है । तथा ज्ञानावरणीयकी उत्कृष्ट वेदना कालकी अपेक्षा सज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवके बतलाई है और वह सज्ञी पञ्चेन्द्रिय कैसा होना चाहिये, उसका विस्तारसे कथन किया है । इसी तरह आठो कर्मोंकी वेदनाके

સ્વામીના મનન દિવા હે । અગવહુ-પમે સ્વ-મયદ, ૩-૪૨૫૮ એક મનન-
સત્કૃષ્ટવદત્તિ એકા બાઠો મર્મોત્તિ વા મંદરાતે સ્વવહુ (તો પ્રાપ્તિ થી હે ।

[illegible]

શ્રીગણેશાય નમઃ ૧૫મી જાણીએ જાણવું શ્રીગણેશાય
અભયજીવિ પ્રાપ્તિ થઈ છે ।

मना—शुद्धमप्योन्निव्य अपर्माणां तेषां विज्ञानं तद्विषयम् । यथाह श्रौतम् ॥ १ ॥ याश्च
अप्योन्निव्य अपर्माणां ते स्मृतियस्तान् ज्ञानं यन्मत्तामुद्यतेः, इत्यादिः ।

[illegible]

समयेन-विद्युदित्थानां अन्तर्गतं कथं भवेत् पश्चात् स्थितिवन्तः
अन्तर्गततां त्वयि १ । यथा—समयं मनुष्यकं त्वयि स्थितिवन्तः मयि भवेत् ॥६५॥
उत्तमं वाच्यं त्वेन्द्रियं पर्याप्ततां त्वयि स्थितिवन्तः मयि भवेत् ॥६६॥
उत्तमं मूढं त्वेन्द्रियं त्वयि पर्याप्ततां त्वयि स्थितिवन्तः त्वेन्द्रियं भवेत् ॥६७॥
इत्यादि, विस्तारमे कथं १ ।

निपेक्षप्ररूपणा—कर्मपरमाणुओंके स्वस्वोंके निक्षेपण करनेको निपेक्ष कहते हैं । योगस्थानके द्वारा प्रदेशवन्ध होता है । मोक्षवन्धो प्राप्त हुए कर्मपरमाणु-स्वन्ध आठो कर्मोंमें विभाजित हो जाते हैं । और आवाधागत धीतनेपर क्रममे उदयमें आने लगते हैं और स्थिति पूरी होने तक उदयमे आते रहते हैं । उमीका कथन निपेक्षप्ररूपणामे है । यथा—'अन्तरोपनिधाती अपेक्षा सती पञ्चोन्द्रिय पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि जीवोंके ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, चेदनीय, और अन्तराग कर्मकी तीन हजार वर्ष प्रमाण आवाधातो छोडकर जो प्रदेशाग्र प्रथम समयमें निक्षिप्त है वह बहुत है । दूसरे समयमें जो प्रदेशाग्र निक्षिप्त है वह उससे विशेष हीन है, तीसरे समयमें जो प्रदेशाग्र निक्षिप्त है वह उससे विशेष हीन है । इसप्रकार उत्कृष्ट स्थिति तीस कोडाकोडी सागर पर्यन्त प्रति समय निक्षिप्त प्रदेशाग्र उत्तरोत्तर विशेष हीन होता जाता है ॥१०२॥

सभी कर्मोंके प्रदेशाग्रेके निक्षेपणका यही क्रम है। सूत्रकारने मोहनीय, आयु आदिके भी प्रदेशाग्रेके निक्षेपणका वचन इसी प्रकार किया है। उक्त कर्मोंसे मोहनीय और आयु कर्मोंकी स्थिति और आवाधामें अन्तर होनेसे ही उनका पृथक् वचन किया है।

आवाधाकाण्डकप्ररूपणा— 'अवाधकंदयपरूवणदाए' ॥१२१॥ सूत्रकी ध्वला-टीकामें यह शका की गई है कि आवाधाकाण्डकप्ररूपणा किम लिये की गई है ? समाधानमें कहा गया है कि जब स्थितिवन्धस्थानोंमें एक ही आवाधा होती है या भिन्न-भिन्न आवाधा होती है, यह बतलानेके लिये आवाधाकाण्डकप्ररूपणा की गई है। यथा—

'सज्जी और अमज्जी पञ्चेन्द्रिय, तेइन्द्रिय, दोइन्द्रिय, वादर और सूक्ष्म ऐकेन्द्रिय, इन पर्याप्त व अपर्याप्त जीवोंके आयुको छोड़कर शेष मात कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थितिमें समय समयमें पल्लोपमके असख्यातवें भाग नीचे उतर कर एक आवाधाकाण्डकको करता है। यह क्रम जघन्य स्थिति तक है ॥१२२॥

आशय यह है कि उत्कृष्ट आवाधाके अन्तिम समयमें पकड़नेपर उत्कृष्ट स्थितिसे पल्लोपमके असख्यातवें भाग मात्र नीचे उतरकर एक आवाधाकाण्डकको करता है। अर्थात् आवाधाके अन्तिम समयको पकड़कर उत्कृष्ट स्थितिको बाँधता है, उससे एक समय कम स्थितिको बाँधता है, दो समय कम स्थितिको बाँधता है। इस प्रकार पल्लोपमके असख्यातवें भाग क्रम स्थिति तक ले जाना चाहिये। इस तरह आवाधाके अन्तिम समयमें बन्धयोग्य स्थितिविकल्पोको एव आवाधाकाण्डक कहते हैं। आवाधाके उपान्त्य समयको पकड़कर भी इसी प्रकार दूसरे आवाधाकाण्डकका वचन करना चाहिये। आवाधाके त्रिचरम समयको पकड़कर तीसरे आवाधाकाण्डककी प्ररूपणा करना चाहिये। जघन्य स्थिति तक यही क्रम जानना चाहिये।

अल्पबहुत्वमें^२—सूत्रकारद्वारा चौदह जीवसमामोमें ज्ञानावरणादि मात कर्मों तथा आयुकर्मकी जघन्य व उत्कृष्ट आवाधा, आवाधा स्थान, आवाधाकाण्डक, नाना प्रदेशगुणहानिस्थानान्तर, एकप्रदेशगुणस्थानान्तर, जघन्य और उत्कृष्ट स्थितिवन्ध तथा स्थितिवन्धस्थान इन सबके अल्पबहुत्वकी प्ररूपणा विस्तारमें की गई है। यथा—

सज्जी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक और अपर्याप्तक मिथ्यादृष्टि जीवोंके आयुको छोड़कर

षोप मात कर्माग्नी जपन्त्या आवाभा मवमे धोती है ॥१२॥ आवाभास्यान और आवाभाकाण्डक दोनो ही समान मर्यादागुण है ॥१३॥

उत्कृष्ट आवाभामेमे एक ममम तम जपन्त्या आवाभा दो भद्रा श्वेतर आवाभा मवानोती उत्पत्ति होती है । अन तूँकि जपन्त्या आवाभा की प्रथा उत्पत्ति आवाभा मर्यादागुण है उगलिये आवाभास्यान भी उगमे मर्यादागुण है । और क्योंकि एक-एक आवाभास्यानमर्यादा की प्रयोगमके अमर्यादाते भाग भाग स्थितिवन्धस्यान है उनही आवाभाकाण्डक मजा है । उनलिये आवाभास्यान और आवाभाकाण्डक दोनो समान है । उग मर्यादा अमर्यादाता विरेज किया गया है ।

दूसरी तूँलकामे—स्थितिवन्धाप्रवासागम्यानीता धर्मपदा तीन अनुयोगके द्वारा भी गई है—

ये तीन अनुयागद्वारा है—जीवममदाहारा प्रकृतिममदाहारा और विवि-ममदाहारा ।

स्थितिवन्धास्यानीते कारणभूत मवरेज-विशुद्धिस्वानोंको स्थितिवन्धाप्रवासागम-स्यान कहते हैं । अमातावेदनीयके वन्धयाग्य कपागोदगम्यानीको मवरेज कहते हैं और मातावेदनीयके वन्धयोग्य पणिमामोंको विशुद्धिस्वान कहते हैं । ये मवरेज-विशुद्धिस्वान स्थितिवन्धक मन्त्र कारण है । उनका वर्णन यहा तीन अनुयागद्वारामे किया गया है ।

माता और अमाताको एक एक स्थितिमें इतने जीव हैं और इतने नहीं हैं, इस बातका ज्ञान प्रथम अनुयोगद्वारा जीवममदाहाराके द्वारा कराया गया है । गया—‘ज्ञानावरणीयके वन्धक जीव दो प्रकारके हैं—मातवन्धक और अमातवन्धक ॥१६॥

मातवन्धकजीव तीन प्रकारके हैं चतुःस्थानवन्धक, त्रिस्थानवन्धक और द्विस्थानवन्धक ।

अमातवन्धकजीव तीन प्रकारके हैं—द्विस्थानवन्धक, त्रिस्थानवन्धक और चतुःस्थानवन्धक ।

आशय यह है कि माता या अमातावेदनीयके बिना ज्ञानावरणीयका वन्ध नहीं होता । इसलिये ज्ञानावरणीयकर्मका वन्ध करनेवालोंके दो भेद कर दिये—मातवेदनीयवन्धक और अमातवेदनीयवन्धक । माताकी अनुभागशक्तिकी उपमा गुड, खाण्ड, शक्कर और अमृतमे दी गई है । गुडके समान प्रथम भागको पहला स्थान, खाण्डके समान दूसरे भागको दूसरा स्थान, शक्करके समान तीसरे भागको तीसरा स्थान और अमृतके समान चौथे भागका चौथा स्थान कहा जाता है । इसी तरह दुःखदायी अमाताके अनुभागको नीम, काजीर, विष और हालाहलकी उपमा दी

गई है । नीमके समान प्रथम भागको पहला स्थान, काजीरके समान दूसरे भाग-
को दूसरा स्थान, चिपके समान तीसरे भागको नीमका स्थान और हालाहलके
समान चतुर्थ भागको चौथा स्थान कहते हैं ।

जिम गाता अथवा अगाताके अनुभागमें अपने-अपने उक्त चारों स्थान होते हैं
यह अनुभागबन्ध चतु स्थान कहा जाता है और उगको बांधनेवाले जीव चतु स्थान-
बन्धक कहलाते हैं । उमीप्रकार त्रिस्थानबन्धक और द्विस्थानबन्धक भी समझना
चाहिये ।

सातवेदनीयके चतु स्थानबन्धक जीव मद्यगे त्रिशुद्ध है ॥ १६० ॥ त्रिस्थान-
बन्धक सविलप्टतर (उत्कृष्ट ज्ञानवाले) है ॥ १७० ॥ द्विस्थानबन्धक जीव
उनगे सविलप्टतर है ॥ १७१ ॥

असातवेदनीयके द्विस्थानबन्धक जीव मद्यविशुद्ध है ॥ १७२ ॥ त्रिस्थानबन्धक
जीव सविलप्टतर है ॥ १७३ ॥ चतु स्थानबन्धक जीव उनगे सविलप्टतर है ॥ १७४ ॥

सातवेदनीयके चतु स्थानबन्धक जीव ज्ञानावरणीयकी जघन्य स्थितिको बांधते
हैं ॥ १७५ ॥ साताके त्रिस्थानबन्धक जीव ज्ञानावरणीयकी मध्यम स्थितिको बांधते
हैं ॥ १७६ ॥ इत्यादि कथन जीवसमुदाहारमें किया गया है ।

प्रकृतिसमुदाहारमें दो अनियोगद्वार हैं—प्रमाणानुगम और अल्पबहुत्व ।
प्रमाणानुगमके अनुसार ज्ञानावरणीयके असख्यात लोकप्रमाण स्थितिवन्धाध्यव-
सायस्थान है । इसीप्रकार शेष सात कर्मोंकी भी प्रमाणप्ररूपणा करना चाहिये ।
अल्पबहुत्वके अनुसार आयुवर्गके स्थितिवन्धाध्यवसायस्थान मद्यगे कम है । नाम
और गोत्रकर्मके स्थितिवन्धाध्यवसायस्थान दोनों ही तुल्य असख्यातगुणे हैं । ज्ञाना-
वरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और अन्तर्गम्य चारों कर्मोंके स्थितिवन्धाध्यवसाय-
स्थान तुल्य हैं किन्तु नाम-गोत्रमें असख्यातगुणे हैं । मोक्षनीयके स्थितिवन्धाध्यव-
सायस्थान मख्यातगुणे हैं ॥ २४५ ॥

तीसरे स्थितिसमुदाहार अधिकारमें तीन अनुयोगद्वार हैं—प्रगणना, अनुकृष्टि
और तीव्रमन्दता ॥ २४६ ॥

प्रगणना अनुयोगद्वार 'अमुक अमुक स्थितिके बन्धके कारणभूत स्थितिवन्धा-
ध्यवसायस्थान इतने इतने होते हैं' इसप्रकार स्थितिवन्धाध्यवसायस्थानोंके
प्रमाणकी प्ररूपणा करता है । यथा—ज्ञानावरणीयकी जघन्य स्थितिके स्थिति-
बन्धाध्यवसायस्थान असख्यातलोकप्रमाण है ॥ २४७ ॥ द्वितीय स्थितिके स्थिति-
बन्धाध्यवसायस्थान असख्यातलोकप्रमाण है ॥ २४८ ॥ तीसरी स्थितिके स्थिति-
बन्धाध्यवसायस्थान असख्यातलोकप्रमाण है । इसप्रकार उत्कृष्ट स्थिति तक
असख्यातलोक असख्यातलोक प्रमाण स्थितिवन्धाध्यवसायस्थान है ॥ २५० ॥

उसीप्रकार मातो कर्मोंके स्थितिवन्धाध्यवसायमनानोंकी प्रसूषणा करना चाहिये ॥ २५१ ॥ इत्यादि ।

अनुकृष्टि अनुयोगद्वारा प्रत्येक स्थितिके स्थितिवन्धाध्यवसायमनानोंकी समा-
नता व असमानताको बतलाता है । यथा—ज्ञानावरणीयकी जघन्य स्थितिमें जो
स्थितिनन्धाध्यवसायमन है द्वितीय स्थितिमें ने स्थितिवन्धाध्यवसायमन भी
है और अपूर्व भी है ।

तीव्र-मन्दता अनुयोगद्वारा जघन्य व उत्कृष्ट परिणामोंके अनिभागी प्रतिच्छेदो-
के अल्पबहुत्वकी प्रसूषणा करता है । यथा — ज्ञानावरणीयका जघन्यस्थितिमन्वन्त्री
जघन्यस्थितिवन्धाध्यवसायमन मन्वे मन्द अनुभागवाला है ॥ २७० ॥ उसीका
उत्कृष्ट स्थितिवन्धाध्यवसायमन अनन्तगुणा है ॥ २७३ ॥ उन्वादि ।

७. वेदनाभावविमान^१—चौथे वेदनानामक गण्टक वेदनाभावविमाननामक
साप्तम अधिवारमें भी तीन अनुयोगद्वारा है—पदमीमागा, स्वामित्व और अल्प-
बहुत्व । पदोती भीमागाको पदमीमागा कहते हैं । यह पहला अनुयोगद्वारा है ।
स्वामित्वमें यहाँ कर्मभावके स्वामित्वका ग्रहण किया गया है । यह दूसरा अनुयोग-
द्वारा है । अल्पबहुत्वसे भी यहाँ कर्मभावके अल्पबहुत्वका ही ग्रहण किया गया है ।
यह तीसरा अनुयोगद्वारा है ।

पदमीमामावे ज्ञानावरण आदि आठ कर्मोंकी उत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य
भाववेदनाओंका विचार किया गया है । यथा—ज्ञानावरणीयवेदना उत्कृष्ट भी
होती है, अनुत्कृष्ट भी होती है, जघन्य भी होती है और अजघन्य भी होती है ।
इसी प्रकार शेष मातो कर्मोंकी भी जाननी चाहिये ।

स्वामित्वमें उत्कृष्ट आदि चार पदोंकी अपेक्षा ज्ञानावरणीय आदि कर्मोंकी
भाववेदनाके स्वामीका कथन किया है । यथा—भावमें ज्ञानावरणीयकर्मकी उत्कृष्ट
वेदना किसके होती है ? पञ्चेन्द्रिय सजी मिथ्यादृष्टि, सब पर्याप्तियोंसे पर्याप्त
अवस्थाको प्राप्त, साकार उपयोगसे युक्त, जागृत और नियामसे उत्कृष्ट सक्लेश-
को प्राप्त जीवके द्वारा बाँधे गये उत्कृष्ट अनुभागका सत्त्व जिम जीवके होता है
उसके ज्ञानावरणीय वेदना भावकी अपेक्षा उत्कृष्ट होती है । चूँकि उक्त उत्कृष्ट
अनुभागका सत्त्व एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय, सजी और
असजी, वादर-सूक्ष्म, पर्याप्त और अपर्याप्त अवस्थाको प्राप्त जीव जीवोंके यथा-
योग्य चारों गतियोंमेंसे किसी भी एक गतिमें वर्तमान रहते हुए होता है अतएव
उक्त जीवके ज्ञानावरणीयकी वेदना भावकी अपेक्षा उत्कृष्ट होती है । इसी प्रकार-
से आठों कर्मोंकी उत्कृष्ट आदि वेदनाओंके स्वामित्वका कथन किया गया है ।

अल्पबहुत्वमें जघन्य, उत्कृष्ट और जघन्योत्कृष्ट पदोंके द्वारा पहले आठो मूल-कर्मोंके आश्रयसे अल्पबहुत्वका विचार किया है। फिर उत्तरप्रकृतियोंके आश्रयसे अनुभागके अल्पबहुत्वका कथन किया गया है।

इस कथनमें उल्लेखनीय बात यह है कि पहले गाथासूत्रोंके द्वारा कथन किया गया है फिर गाथासूत्रोंमें प्रतिपादित कथनको गद्यात्मक सूत्रोंके द्वारा कहा गया है। धवलाटीकामे इन गाथासूत्रोंके आधारपर रचे गये गद्यात्मक सूत्रोंको चूर्णिसूत्र नाम दिया है। कसायपाहुडकी गाथाओंके ऊपर यत्तिवृषभ द्वारा रचे गये चूर्णिसूत्रोंकी तरह ही उन्हें यह सजा दी गई है। ये गाथासूत्र छै है और तीन-तीनकी सख्यामें दो बार आये हैं। अर्थात् पहले तीन गाथाएँ देकर उनपर चूर्णिसूत्र दिये गये हैं और पुन तीन गाथाएँ देकर उनपर चूर्णिसूत्र दिये गये हैं।

ये गाथाएँ प्रचीन प्रतीत होती हैं, इसीसे उन्हें ज्यो-का-र्यो देकर भूतबलीने अपने सूत्रोंके द्वारा उनमें कथित विषयका प्रतिपादन किया है।

अल्पबहुत्वानुगमके पश्चात् तीन चूलिकाएँ हैं।

प्रथमचूलिकाके प्रारम्भमें ये दो गाथाएँ हैं—

‘सम्मत्तुप्पत्ती’^१ वि य सावय विरदे अणतकम्मसे ।

दसणमोहक्खवए कसाय उवसामए य उवसते ॥ ७ ॥

खवए य खीणमोहे जिणे य णियमा भवे असखेज्जा ।

तव्विवरीदो कालो सखेज्जगुणा य सेडीओ ॥ ८ ॥

‘सम्यक्त्वोत्पत्ति’ अर्थात् सातिशय मिथ्यादृष्टि, श्रावक, विरत (महाव्रती), अनन्तानुबन्धी कषायका विसयोजन करनेवाला, दर्शनमोहका क्षपक, चारित्रमोहका उपशामक, उपशान्तकषाय, क्षपक, क्षीणमोह, स्वस्थानजिन और योगनिरोधमें प्रवृत्त जिन इन ग्यारह स्थानोंमें उत्तरोत्तर असख्यात गुणी निर्जरा होती है। परन्तु निर्जराका काल उससे विपरीत है अर्थात् अन्तसे आदिकी ओर बढ़ता हुआ सख्यात गुणित श्रेणिरूप है।

इन दोनों गाथाओंको देकर सूत्रकारने गद्यसूत्रके द्वारा गाथोक्त विषयका प्रतिपादन किया है।

ये दोनों गाथाएँ दिगम्बर^२ तथा श्वेताम्बर साहित्यमें अन्यत्र भी पाई जाती हैं किन्तु इनकी सबसे प्राचीन उपलब्ध पदखण्डागममें ही पाई जाती है क्योंकि अन्य जिन ग्रन्थोंमें ये दोनों गाथाएँ पाई जाती हैं उन सबमें कर्मप्रकृति^३ प्राचीन

१ पदख, पु० १२, पृ० ७८ ।

२ कार्ति० अनु०, गा०, गो० जी० का० गा० ।

३ ‘सम्मत्तुप्पत्तिसावयविरए सज्जोयणाविणासे य । दसणमोहक्खवगे कसायउवसामगुव-

है। किन्तु कर्मप्रकृति पदार्थगणनामें अर्वाचीन है और उसमें योग-मा शब्द-भेद भी है। उन्ही गाथाओंके आधारमें तत्त्वार्थसूत्रमें भी एक सूत्र द्वारा उक्त विषयका प्रतिपादन किया गया है। उस तर्क ऐतिहासिक दृष्टिमें भी उक्त दोनों गाथाओंकी स्थिति उल्लेखनीय है।

दूसरी चूल्हिका

दूसरी चूल्हिकामें अनुभागवन्वाच्यवनायक्यानी प्रस्थापना द्वारा अनुयोग-द्वारेको द्वारा की गई है। वे वास्तव अनुयोगद्वार उस प्रकार हैं—अविभागीप्रतिच्छेदप्रस्थापना, स्थानप्रस्थापना, अन्तःप्रस्थापना, काण्डकप्रस्थापना, ओजयुग्मप्रस्थापना, पदस्थानप्रस्थापना, अवस्थानस्थानप्रस्थापना, समयप्रस्थापना, बुद्धिप्रस्थापना, यवमध्य-प्रस्थापना, पर्यवमानप्रस्थापना और अल्पवृत्त्य प्रस्थापना ॥१२८॥

एक-एक अनुभागवन्स्थानमें इतने-इतने अविभागी प्रतिच्छेद होते हैं, यह बतलानेके लिए अविभागीप्रतिच्छेदप्रस्थापना की गई है। एक परमाणुमें जो जघन्य अनुभाग पाया जाता है उसे अविभागीप्रतिच्छेद कहते हैं। यथा—जो जघन्य अनुभागस्थान है उसके सब परमाणुओंको एक जगह स्थापन करके, उनमेंसे सबसे मन्द अनुभाग वाले परमाणुको ग्रहण करो। उन परमाणुके रूप, रस और गन्नाओ छोड़कर केवल स्पर्शों ही बुद्धि द्वारा ग्रहण करो और बुद्धिके ही द्वारा उस स्पर्शगुणका सब तक छेद करो जब तक निभागरहित छेद हो गये। उसी विभागरहित अन्तिम छेदको अविभागप्रतिच्छेद कहते हैं। उस अविभागप्रतिच्छेद रूपमें स्पर्शगुणके स्रण्डित करनेपर उसमें समस्त जीवराशिमें अनन्तगुण अविभागी प्रतिच्छेद प्राप्त होते हैं। उन सब अविभागी प्रतिच्छेदोंके समूहका नाम वर्ग है। पुन उस परमाणुसमूहमेंसे उसी परमाणुके समान दूसरे परमाणुको ग्रहण करके उसके स्पर्शगुणके भी पूर्ववत् प्रज्ञाके द्वारा छेद करनेपर उतने ही अविभागी प्रतिच्छेद प्राप्त होते हैं। इस क्रममें पूर्वपरमाणुके सदृश एक-एक परमाणुको लेकर प्रज्ञाके द्वारा उसके स्पर्शगुणके अविभागी प्रतिच्छेद करनेपर एक-एक वर्ग उत्पन्न होता है। जघन्यगुणवाले सब परमाणुओंके समाप्त होने तक यह क्रिया करनी होती है। इन सब वर्गोंके समूहको वर्गणा कहते हैं।

पुन पूर्वोक्त परमाणुसमूहमेंसे एक परमाणुको ग्रहण करके प्रज्ञा द्वारा उसका छेद करनेपर उसमें पूर्वोक्त परमाणुसे एक अधिक अविभागी प्रतिच्छेद पाये जाते

सते ॥८॥ सबगे य खीणमोहे बिणे य दुविहे असखगुणसेही । उदओ तन्निवरीओ कालो सबवेज्जगुणमेही ॥९॥ —कर्मप्र० उदया० ।

१. 'सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्तमोहक्षपक्षीणमोह-जिना क्रमशोऽसख्येयगुणनिर्जरा ।—त० सू० ९।४५ ।

२. पु० १२, पृ० ८७ से ।

है। यह एक वर्ग हुआ। इसे अलग स्थापित करना चाहिए। इसी क्रमसे उसके समान अन्य परमाणुओको भी ग्रहण करके प्रत्येकका प्रज्ञाके द्वारा छेदन करनेपर तत्सदृश ही अविभागी प्रतिच्छेद प्राप्त होते हैं। उन सब वर्गोंके समूहकी दूसरी वर्गणा होती है। इस प्रकार उत्तरोत्तर एक-एक अविभागी प्रतिच्छेदकी अधिकताके क्रमसे तीसरी, चौथी, पाँचवी आदि वर्गणाओको उत्पन्न करना चाहिये। इन सब वर्गणाओके समूहको स्पर्धक कहते हैं। एक जघन्यस्थानमें ऐसे बहुतसे स्पर्धक होते हैं। इनका विस्तृत विवेचन धवलाटीकामें किया गया है। इस तरह अविभागप्रतिच्छेदप्ररूपणामें अविभागप्रतिच्छेदोका कथन है। एक जीवमें एक समयमें जो कर्मानुभाग पाया जाता है उसे स्थान कहते हैं। स्थानके दो भेद हैं—अनुभागबन्धस्थान और अनुभागसत्त्वस्थान। उनका वर्णन स्थानप्ररूपणामें है। एक स्थानसे उसके अनन्तरवर्ती स्थानमें कितना अन्तर होता है, इसका कथन अन्तरप्ररूपणामें किया गया है।

छै वृद्धियाँ होती हैं—अनन्तभागवृद्धि, असख्यातभागवृद्धि, सख्यातभागवृद्धि, सख्यातगुणवृद्धि, असख्यातगुणवृद्धि और अनन्तगुणवृद्धि। काण्डकप्रमाण पूर्ववृद्धिके होनेपर एक बार उत्तरवृद्धि होती है। यथा—काण्डकप्रमाण अनन्तभागवृद्धिके होनेपर एक बार असख्यातभागवृद्धि होती है। और काण्डकप्रमाण असख्यातभागवृद्धियोंके होनेपर एक बार सख्यातभागवृद्धि होती है। इस प्रकार अनन्तगुणवृद्धि तक यही क्रम जानना चाहिये। एक स्थानमें इन वृद्धियोंका विचार काण्डकप्ररूपणामें किया गया है।

ओजयुग्मप्ररूपणामें कहा गया है कि अविभागी प्रतिच्छेद कृतयुग्म है, स्थान कृतयुग्म है और काण्डक कृतयुग्म है। इसका खुलासा करते हुए धवलाकार श्री वीरसेनस्वामीने लिखा है कि समस्त अनुभागस्थानोंके अविभागी प्रतिच्छेद कृतयुग्म है, क्योंकि उन्हें चारसे भाजित करनेपर कुछ शेष नहीं रहता। अतः विवक्षित राशिमें चारसे भाग देनेपर जहाँ कुछ शेष नहीं रहता या दो शेष रहते हैं उसे युग्म कहते हैं और जहाँ एक या तीन शेष रहते हैं उसे ओज कहते हैं।

उक्त सब प्ररूपणाओका कथन सूत्रकारने तो केवल एक-एक सूत्रके द्वारा ही किया है। धवलाकारने प्रत्येकका व्याख्यान विस्तारमें करते हुए प्रत्येक प्ररूपणाका अभिप्राय व्यक्त किया है।

पटस्थानप्ररूपणामें बतलाया है कि अनन्तभागवृद्धि और अनन्तगुणवृद्धिमें अनन्तसे जीवराशिका प्रमाण लेना चाहिये। असख्यातभागवृद्धि और असख्यातगुणवृद्धिमें असख्यातसे असख्यातलोकका प्रमाण लेना चाहिये। और सख्यातभागवृद्धि तथा सख्यातगुणवृद्धिमें मख्यातसे उत्कृष्टसख्यात लेना चाहिये। अधस्तन-

स्थानप्ररूपणामे बतलाया है कि एक पट्स्थानवृद्धिमें अनन्तभागवृद्धि कितनी होती है, असख्यातभागवृद्धि कितनी होती है, सख्यातभागवृद्धि कितनी होती है इत्यादिका कथन किया है ।

समयप्ररूपणामें जघन्यअनुभागबन्धस्थानसे लेकर उत्कृष्टअनुभागबन्धस्थान तक जितने अनुभागबन्धस्थान हैं उनका प्रमाण बतलाकर उनमें परस्परमें अल्प-बहुत्व बतलाया है । यथा—आठ समय वाले अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान सबसे थोड़े हैं । सात समय वाले अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान असख्यातगुणे हैं, इत्यादि ।

वृद्धिप्ररूपणामे प्रथम तो यह बतलाया है कि अनुभागबन्धस्थानोंमें अनन्त-भागवृद्धि और अनन्तभागहानिस लेकर छह वृद्धियाँ और छह हानियाँ होती हैं । फिर इन वृद्धि-हानियोंका काल बतलाया है कि अमुक वृद्धि और अमुक हानि इतने काल तक होती हैं । यथा—अनन्तगुणवृद्धि और अनन्तगुणहानि कितने काल तक होती हैं ? जघन्यसे एक समय तक और उत्कृष्टसे अन्तर्मुहूर्त काल तक होती हैं ॥२५२॥

यवमध्यप्ररूपणामें यवमध्यके दो भेद बताये हैं—कालयवमध्य और जीवयवमध्य । यहाँ कालयवमध्यका कथन है । यद्यपि समयप्ररूपणासे ही कालयवमध्य सिद्ध है तथापि उस यवमध्यका प्रारम्भ और समाप्ति कौन-सी वृद्धि अथवा हानिमें हुई है, यह नहीं जाना जाता है । अतः उसका प्रारम्भ और समाप्ति इन वृद्धि-हानियोंमें हुई है, यह बतलानेके लिए यवमध्यप्ररूपणा को गई है । इसमें केवल एक सूत्र है ।

पर्यवसानप्ररूपणामे बतलाया है कि सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवके जघन्यस्थानसे लेकर पहले कहे गये समस्त स्थानोंका पर्यवसान अनन्तगुणके ऊपर अनन्तगुणा होगा । इसमें भी एक ही सूत्र है ।

अल्पबहुत्वप्ररूपणा अधिकारमें दो अनुयोगद्वार हैं—अनन्तरोपनिधा और परम्परोपनिधा । अनन्तरोपनिधासे अनन्तगुणवृद्धिस्थान सबसे थोड़े हैं । उनसे असख्यातगुणवृद्धिस्थान असख्यातगुणे हैं । उनसे सख्यातगुणवृद्धिस्थान असख्यातगुणे हैं । उनसे सख्यातभागवृद्धिस्थान असख्यातगुणे हैं । उनसे असख्यातभागवृद्धिस्थान असख्यातगुणे हैं । उनसे अनन्तभागवृद्धिस्थान असख्यातगुणे हैं । परम्परोपनिधामें अनन्तभागवृद्धिस्थान सबसे थोड़े हैं । उनसे असख्यातभागवृद्धिस्थान असख्यातगुणे हैं । उनसे सख्यातभागवृद्धिस्थान सख्यातगुणे हैं । उनसे सख्यातगुणवृद्धिस्थान सख्यातगुणे हैं । उनसे असख्यातगुणवृद्धिस्थान असख्यातगुणे हैं । उनसे अनन्तगुणवृद्धिस्थान असख्यातगुणे हैं, इत्यादि कथन है ।

तीसरी चूलिका—

तीसरी चूलिकामे जीवसमुदाहारका कथन है । पहले जिन असख्यातलोक-

प्रमाण अनुभागबन्धस्थानोंकी प्ररूपणा की गई है उन सब स्थानोंमें जीव क्या सदृश होते हैं अथवा विसदृश होते हैं अथवा सदृश-विसदृश होते हैं ? इन प्रश्नोंका समाधान जीवसमुदाहारमें किया गया है । इसमें आठ अनुयोगद्वार है—एकस्थानजीवप्रमाणानुगम, निरन्तरस्थानजीवप्रमाणानुगम, सान्तरस्थानजीवप्रमाणानुगम, नानाजीवकालप्रमाणानुगम, वृद्धिप्ररूपणा, यवमध्यप्ररूपणा, स्पर्शनप्ररूपणा और अल्पबहुत्व ॥२६८॥

एकस्थानजीवप्रमाणानुगममें बतलाया है कि एक-एक स्थानमें यदि जीव होते हैं तो एक, दो, तीन अथवा उत्कृष्टसे असख्यातवें भाग होते हैं ॥२६९॥

निरन्तरस्थानजीवप्रमाणानुगममें बतलाया है कि निरन्तरजीवसहितस्थान उत्कृष्टसे आवलीके असख्यातमें भाग मात्र ही होते हैं ॥२७०॥

सान्तरस्थानजीवप्रमाणानुगममें बतलाया है कि जीवोंसे रहित अनुभागबन्धस्थान एक भी होता है, दो भी होते हैं, तीन भी होते हैं । इस तरह उत्कृष्टसे असख्यात लोकप्रमाण होते हैं ॥२७१॥

नानाजीवकालप्रमाणानुगममें बतलाया है कि एक-एक अनुभागबन्धस्थानमें नाना जीवोंका काल जघन्य एक समय और उत्कृष्ट आवलीके असख्यातवें भाग होते हैं । वृद्धिप्ररूपणामें दो अनुयोगद्वार है—अनन्तरोपनिधा और परम्परोपनिधा । अनन्तरोपनिधासे जघन्य अनुभागबन्धस्थानमें जीव सबसे थोड़े हैं ॥२७६॥ उनसे दूसरे अनुभागबन्धस्थानमें जीव विशेष अधिक हैं ॥२७७॥ उनसे तीसरे अनुभागबन्धस्थानमें जीव विशेष अधिक हैं ॥२७८॥ इस प्रकार यवमध्य तक जीव विशेष-अधिक विशेष-अधिक हैं ॥२७९॥ इसके आगे जीव विशेषहीन हैं ॥२८०॥

इस प्रकार उत्कृष्ट अनुभागबन्धाव्यवसायस्थान तक जीव विशेषहीन विशेषहीन हैं । इसी प्रकार परम्परोपनिधासे कथन किया गया है ।

यवमध्यप्ररूपणामें बतलाया है कि सब स्थानोंके असख्यातवें भागमें यवमध्य होता है । और यवमध्यके नीचेके स्थान थोड़े हैं और ऊपरके स्थान असख्यात-गुण हैं ।

स्पर्शनप्ररूपणामें उत्कृष्ट अनुभागबन्धस्थान, जघन्य अनुभागबन्धस्थान, काण्डक और यवमध्य आदिका स्पर्शनकाल बतलाया है ।

अल्पबहुत्वमें उत्कृष्ट अनुभागबन्धस्थान, जघन्य अनुभागबन्धस्थान, काण्डक और यवमध्यमें स्थित जीवोंके अल्पबहुत्वका विचार किया गया है ।

इस वेदनाभावविधानमें ३१४ सूत्र है ।

८ वेदनाप्रत्ययविधान^१

इस अनुयोगद्वारमें नैगम आदि नयोंके आश्रयसे ज्ञानावरण आदि आठो कर्मों-

की वेदनाके बन्धके कारणोंका विचार किया गया है। यथा—नैगम, मग्नह और व्यवहारनशील अपेक्षा ज्ञानावरणीयवेदना प्राणातिपात (प्राणीके प्राणोंका घातन) प्रत्ययगे, मृपावादप्रत्ययगे (अगत्य जानन), अदत्तादानप्रत्ययगे (विना दी हुई वस्तुका ग्रहण), मैथुनप्रत्ययगे, परिग्रहप्रत्ययगे, रात्रिभोजनप्रत्ययगे, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मोह और प्रेम प्रत्ययगे, निदानप्रत्ययगे, तथा अभ्याख्यान, कलह, पैशून्य, रति, अरति, उपधि, निकृति, मान, माया, मोह, मिथ्याज्ञान, मिथ्यादर्शन और प्रयोग प्रत्ययगे होती हैं। प्रत्ययका अर्थ कारण है। अतः उक्त कारणोंगे ज्ञानावरणीय वेदना होती है। दोष गत कर्मोंकी वेदनाके प्रत्यय भी इसी प्रकार जानने चाहिए।

उनमें प्राणातिपात, मृपावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह ये पांच पाप हैं, जिनका गर्वत त्याग महाव्रत और एादेन त्याग अणुव्रत कहलाता है। अभ्याख्यान, कलह आदिको अकलकदेवने बारह भाषाओंके रूपमें गिनाया है।

वेदनाप्रत्ययविधानमें केवल १६ सूत्र हैं।

९ वेदनास्वामित्वविधान

इस अनुयोगद्वारेके प्रथम सूत्र 'वेयणमामित्त^३ विहाणे त्ति' की ध्वलाटी नामे यह शका भी गई है कि जिग जीनके द्वारा जो कर्म बांधा गया है वह जीव उस कर्मकी वेदनाका स्वामी है, यह बात बिना कहे ही जानी जाती है, तब इस अनुयोगद्वारेकी क्या आवश्यकता है? इसका समाधान करते हुए श्री वीरसेनरवामीने लिखा है कि कर्मोंकी उत्पत्ति न केवल जीवसे होती है और न केवल अजीवसे होती है। किन्तु मिथ्यात्व, अमयग, कपाय और योगको उत्पन्न करनेमें समर्थ पुद्गलद्रव्य और जीव कर्मबन्धके कारण हैं। अतः दो, तीन अथवा चार कारणोंसे उत्पन्न होकर जीवमें स्थित वेदना उनमेंसे एकके ही होती है, अन्यके नहीं होती, ऐसा नहीं कहा जा सकता। अतः वेदनास्वामित्वका कथन करना उचित है।

वेदनास्वामित्वका विधान करते हुए कहा गया है कि नैगम और व्यवहार नयकी अपेक्षा ज्ञानावरणीयकी वेदना कथञ्चित् जीवके होती है ॥२॥ कथञ्चित् नोजीवके होती है ॥३॥ धवलामे लिखा है कि अनन्तानन्त विस्रसोपचयोसे

१ 'पचमहव्वया पणत्ता, त जहा—सव्वातो पाणातिवायाओ वेरमण, जाव सव्वातो परिग्गहातो वेरमण। पचाणुव्वता पणत्ता, त जहा—थूलातो पाणाव्वायातो वेरमण थूलातो मुमावायातो वेरमण थूलातो अदिन्नादाणातो वेरमण मदारसतोसे इच्छापरिमाणे।'—स्थाना० रथा० ५, उ० १, सू० ३८९।

२ 'अभ्याख्यानकलहपैशून्यासम्बद्धप्रलापरत्परत्युपधिनिकृत्यप्रणतिभोपमम्यङ्गमिथ्यादर्शनात्मिका भाषा द्वादशधा।'—त० वा०, पृ० ७५।

३ पट्ख०, पु० १२, पृ० २९४-२९५।

उपचित कर्मपुद्गलस्कन्ध कथञ्चित् जीव है, क्योंकि वह जीवसे भिन्न नहीं पाया जाता। इस विवक्षासे जीवके वेदना होती है। तथा अनन्तानन्तविस्रसोपचयोसे उपचित कर्मपुद्गलस्कन्ध प्राणरहित होनेसे अथवा ज्ञान-दर्शनसे रहित होनेसे नोजीव है और उससे अभिन्न होनेसे जीव भी कथञ्चित् नोजीव है।

इस तरह जीव, नोजीव, अनेक जीव, अनेक नोजीव, एक जीव और एक अजीव, एक जीव और अनेक नोजीव, अनेक जीव और एक नोजीव, तथा अनेक जीव और अनेक नोजीवोकी वेदनाका स्वामी उक्त दो नयोसे बतलाया है। धवलाकारने प्रत्येक भगका स्पष्टीकरण धवलाटीकामे किया है। इस तरह वेदनाके स्वामी जीव और पुद्गल दोनों होते हैं। सग्रहनयकी अपेक्षा वेदनाका स्वामी जीव है क्योंकि सग्रहनय जीव और अजीवका अभेद मानता है। इस अनुयोगद्वारमे केवल १५ सूत्र हैं।

१० वेदनावेदनाविधान

जिसका वर्तमानमें वेदन किया जाता है या भविष्यमे वेदन किया जायगा, वह वेदना है। इस निश्चितिके अनुसार आठ प्रकारके कर्मपुद्गलस्कन्धको वेदना कहा है। और अनुभवन करनेका नाम वेदना है। वेदनाकी वेदनाको वेदनावेदना कहते हैं अर्थात् आठ प्रकारके कर्मपुद्गलस्कन्धोके अनुभवन करनेका नाम वेदनावेदना है। उसके विधान—कथन करनेको वेदनावेदनाविधान^१ कहते हैं।

वेदनावेदनाका विधान करते हुए सूत्र २ के द्वारा कहा है कि नैगम नयकी अपेक्षा सभी कर्मको प्रकृति मानकर यह प्ररूपणा की जाती है। इस सूत्रकी धवला-में स्पष्टीकरण करते हुए यह अभिप्राय व्यक्त किया है कि नैगमनय वध्यमान (जो वध रहा है), उदीर्ण (जो उदयमें आ गया है) और उपशान्त (जो सत्तामें स्थित है) इन तीनों ही कर्मोंकी वेदनासज्ञा स्वीकार करता है। तदनुसार कहा गया है कि ज्ञानावरणीयवेदना कथञ्चित् वध्यमानवेदना है, कथञ्चित् उदीर्णवेदना है, कथञ्चित् उपशान्तवेदना है, इत्यादि अनेक भगोके द्वारा वेदनावेदनाका विधान कुछ विस्तारसे किया है। और धवलाटीकामे उन सब भगोके स्पष्टीकरणके साथ ही उनके अनेक अवान्तर भगोका भी कथन किया है।

इस अनुयोगद्वारमे ५८ सूत्र हैं।

११ वेदनागतिविधान

इस अनुयोगद्वारमे वेदनाकी गति अर्थात् गमनका कथन है। इसलिए इसे

१, 'का वेयणा ? वेयते वेदिष्यत गति वेदनाशब्दसिद्धे । अट्ठविहकम्मपोगलक्ख-
धो वेयणा अनुभवन वेदना । वेदनाया वेदना वेदनावेदना अष्टकर्मपुद्गल-
स्कन्धानुभव इत्यर्थ ।—पट्.२०, पु० १२, पृ० ३०२ ।

वेदनागतिविधान नाम दिया है। पहले लिग आगे हैं कि जीवके माथ मन्वत् कर्मपुद्गलस्कन्धोकी वेदनासजा है। अतः माथके द्वारा जीवप्रदेशों में मन्वत् होने पर उनसे अभिन्न कर्मरान्धोका भी संचार होता है, क्योंकि यदि ऐसा नहीं माना जायगा और कर्मप्रदेशोंको स्थित ही माना जायगा, तो दशान्तरमें गये हुए जीवको सिद्धजीवके समान मानना होगा। क्योंकि पूर्वमंचित कर्म तो पूर्वस्थानमें ही स्थित हैं, उनका दशान्तरमें जाना संभव नहीं है। अतः जीव और कर्मके पार-तन्त्र्यस्वरूप मन्वन्धको वतलानेके लिए और जीवप्रदेशोंके परिग्रहण हेतु योग ही है, इस बातको वतलानेके लिए उक्त अनुयोगद्वारा कथन किया गया है। इसमें वतलाया गया है कि नैगम, मन्त्र और व्यवहारनयोकी अपेक्षा ज्ञाना-वरणीयवेदना कथञ्चित् स्थित है, क्योंकि जीवप्रदेशोंमें कर्मप्रदेश स्थित ही रहते हैं। और उक्त वेदना कथञ्चित् स्थित-अस्थित है, क्योंकि उक्त जीवके जो प्रदेश जिग मगय मन्वत् रहित होते हैं उनमें स्थित कर्मप्रदेश भी स्थित होते हैं तथा जो प्रदेश मन्वत् करते हैं उनमें स्थित कर्मप्रदेश भी मन्वत् करते हैं। चूंकि उसकी वेदना एक है, अतः यह वेदना स्थित-अस्थित नहीं जाती है। दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराग कर्मोंकी वेदना भी ज्ञानावरणीयके समान स्थित और स्थित-अस्थित होती है। वेदनीयकर्मकी वेदना कथञ्चित् स्थित है क्योंकि चौदहों गुणस्थानवर्ती जीवके प्रदेश अवस्थित रहते हैं। तथा वह कथञ्चित् अस्थित और कथञ्चित् स्थित-अस्थित है। नाम, गोत्र और आयुवर्गकी वेदना वेदनीयके तुल्य है क्योंकि ये सब कर्म अधातिया हैं। ऋजुसूयनयकी अपेक्षा आठ कर्मोंकी वेदना कथञ्चित् स्थित और कथञ्चित् अस्थित है।

इस अनुयोगद्वारमें १२ सूत्र हैं।

१२. वेदनाअन्तरविधान^१

वेदनावेदनाविधान अनुयोगद्वारमें यह कहा है कि वध्यमान कर्म भी वेदना है, उदीर्ण और उपशान्त कर्म भी वेदना है। उनमें जो वध्यमान कर्म हैं वह क्या वधनेके समयमें ही पक कर अपना फल देता है अथवा द्वितीयादिक समयमें अपना फल देता है, यह वतलानेके लिये इस अनुयोगद्वारा अवतार हुआ है। बन्धके दो प्रकार हैं—अनन्तरबन्ध और परम्पराबन्ध। मिथ्यात्व आदि प्रत्ययोके द्वारा कार्मणवर्णारूप पुद्गलस्कन्धोके कर्मरूपसे परिणत होनेके प्रथम समयमें जो बन्ध होता है उसे अनन्तरबन्ध कहते हैं और बन्ध होनेके द्वितीय समयसे लेकर कर्मरूप पुद्गलस्कन्धो और जीवप्रदेशोंका जो बन्ध होता है उसे परम्परा-बन्ध कहते हैं।

इसमें बतलाया है कि नैगम और व्यवहारनयकी अपेक्षा ज्ञानावरणादि आठो कर्मोंकी वेदना अनन्तरबन्ध है, पराम्पराबन्ध है और तदुभयबन्ध है । सग्रह-नयकी अपेक्षा ज्ञानावरणादि आठो कर्मोंकी वेदना अनन्तरबन्ध और परम्पराबन्ध है । ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा आठो कर्मोंकी वेदना परम्पराबन्ध है ।

इसमे ११ सूत्र है ।

१२ वेदनासन्निकर्षविधान^१

ज्ञानावरणादि कर्मोंकी वेदना द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा उत्कृष्ट भी होती है और जघन्य भी होती है । जघन्य तथा उत्कृष्ट भेदरूप द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावोंमेंसे किसी एकको विवक्षित करके उसमे शेष पद क्या उत्कृष्ट है, क्या अनुत्कृष्ट है, क्या जघन्य है, अथवा क्या अजघन्य है इस प्रकारकी जो परीक्षा की जाती है उसे सन्निकर्ष कहते हैं । उसके दो भेद हैं—स्वस्थानवेदनासन्निकर्ष और परस्थानवेदनासन्निकर्ष । किसी एक विवक्षित कर्मका जो द्रव्य, क्षेत्र, काल एव भाव विषयक सन्निकर्ष होता है वह स्वस्थानवेदनासन्निकर्ष है । और आठो कर्मविषयक सन्निकर्ष परस्थानवेदनासन्निकर्ष है ।

स्वस्थानवेदनासन्निकर्ष दो प्रकारका है—जघन्य और उत्कृष्ट । उत्कृष्ट स्वस्थानवेदनासन्निकर्ष चार प्रकारका है, द्रव्यसे, क्षेत्रमें, कालसे और भावसे ॥ ॥

जिसके ज्ञानावरणीयवेदना द्रव्यकी अपेक्षा उत्कृष्ट होती है उसके वह क्षेत्रकी अपेक्षा क्या उत्कृष्ट होती है या अनुत्कृष्ट ॥ ६ ॥ नियमसे अनुत्कृष्ट और असंख्यातगुणी हीन होती है ॥ ७ ॥ इसका खुलासा ध्वलाटीकामें किया है ।

इसी तरह, जिसके ज्ञानावरणीयवेदना क्षेत्रसे उत्कृष्ट होती है उसके वह द्रव्यकी अपेक्षा क्या उत्कृष्ट होती है अथवा अनुत्कृष्ट ? नियमसे अनुत्कृष्ट होती है ॥ १६ ॥

इत्यादि कथन है । इस अनुयोगद्वारमे ३२० सूत्र है ।

१४ वेदनापरिमाणविधान

पहले द्रव्यार्थिक नयका अवलम्बन करके आठ ही प्रकृतियाँ कही हैं । तथा उन आठो प्रकृतियोंके द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव आदिके प्रमाणकी भी प्ररूपणा की है । यहाँ पर्यायार्थिकनयका अवलम्बन करके प्रकृतियोंके परिमाणका कथन किया गया है । इसमें यह तीन अनुयोगद्वार है—प्रकृत्यर्थता, समयप्रवद्धार्थता और क्षेत्रप्रत्याश्रय ॥ २ ॥

प्रकृतिभेदसे कर्मभेदकी प्ररूपणा पहला अधिकार है । एक समयमें जो बाँधा जाता है वह समयप्रवद्ध है । समयप्रवद्धोके भेदसे प्रकृतिभेदकी प्ररूपणा दूसरा

१२२ : जैनसाहित्यका इतिहास

अधिकार है और क्षेत्रभेदमें प्रकृतिभेदका कथन करनेवाला तीसरा अधिकार है ।
 उस प्रकार वेदनापरिमाणकी प्ररूपणा तीन प्रकारमें की है ।

गद्या—प्रकृत्यर्थता-अधिकारकी अपेक्षा ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म-
 का कितनी प्रकृतियाँ हैं ? ॥३॥

ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीयकर्मोंकी अमर्यादलोकाप्रमाण प्रकृतियाँ
 हैं ॥४॥

आजय यह है कि जितने ज्ञानके भेद हैं उतना ही कर्मोंकी आवरणशक्तियाँ हैं ।
 उनके बिना अमर्यादलोकाप्रमाण ज्ञान नहीं बन सकने । तथा गद्य ज्ञान दर्शन-
 पूर्वक ही होता है और जितने दर्शन हैं उतनी ही दर्शनावरणीय आवरणशक्तियाँ
 हैं । इस प्रकारमें ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीयकी प्रकृतियाँ अमर्यादलोका-
 प्रमाण हैं ।

वेदनीयकर्मकी दो प्रकृतियाँ हैं ॥-॥ मोहनीयकर्मोंकी अट्टाईस प्रकृतियाँ
 हैं ॥१०॥ आयुर्कर्मकी चार प्रकृतियाँ हैं ॥१३॥ नामकर्मकी अमर्यादलोकमात्र
 प्रकृतियाँ हैं ॥१६॥ मोक्षकर्मोंकी दो प्रकृतियाँ हैं ॥१९॥ अन्तरायकर्मोंकी पाँच
 प्रकृतियाँ हैं ॥२२॥

समयप्रवद्धार्थता-अधिकारकी अपेक्षा ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्त-
 रायकर्मकी कितनी प्रकृतियाँ हैं ? ॥२५॥ ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्त-
 रायकर्मकी एक-एक प्रकृति, तीस कोडाकाठी मागरापमोंको नमयप्रवद्धार्थतासे
 गुणित करनेपर जो प्राप्त हो, उतनी हैं ॥२६॥

आशय यह है कि इन तीनों कर्मोंकी स्थिति तीस कोडाकोठी सागरोपम प्रमाण
 है । उसके अन्तिम समयमें कर्मस्थितिप्रमाण समयप्रवद्ध होते हैं, क्योंकि कर्म-
 स्थितिके प्रथम समयमें लेकर उसके अन्तिम समय तक बाँधे गये नमयप्रवद्धोंके
 एक परमाणुसे लेकर अनन्तपरमाणु तक कर्मस्थितिके अन्तिम नमयमें पाये जाते
 हैं । कालभेदमें प्रकृतिभेदको प्राप्त हुए इन समयप्रवद्धोंका सकलन करनेपर एक
 समयप्रवद्धकी शलाकाओंको स्थापित करके उसे तीस कोडाकोठी सागरोपमोंसे
 गुणित करनेपर उतनी मात्र ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायमेंसे एक-एक
 कर्मकी प्रकृतियाँ होती हैं । इसी प्रकार प्रत्येक कर्मकी स्थितिको उसकी समय-
 प्रवद्धार्थतासे गुणित करनेपर प्रत्येक कर्मकी प्रकृतियाँ जाननी चाहिये । आयुर्कर्म
 इसका अपवाद है । अन्तर्मुहूर्तकालको समयप्रवद्धार्थतासे गुणित करनेपर जो प्राप्त
 हो उतनी ही आयुर्कर्मकी प्रकृतियाँ बतलाई हैं, क्योंकि आयुर्कर्मका बन्ध सदा
 नहीं होता ।

一、本會之宗旨，在於研究我國經濟，以謀國家之富強，及社會之進步，凡我會員，均應以此為共同之目標，而共同努力之。

1. 1945년 8월 15일, 일제강점기 종결과 함께 조선민주주의인민공화국이 수립되었다. 이 시점에서, 조선민주주의인민공화국은 '조선민주주의인민공화국 헌법'을 제정하고, '조선민주주의인민공화국 인민군대'를 창설하였다.

770 17 17 17 17

76. 7511 100-117511

[illegible][illegible]

219 24 57.4

21-11-77 11:00 AM 11:00 AM 11:00 AM 11:00 AM

7-1077-102

मार्गानुयोगः

મર્મપાલિકા પ્રાપ્તિ મુદ્રાસ્થાપનાનું મુદ્રા ૬. ૨૫ મુદ્રાસ્થાપનાનું ૨૬

7 42510, 42512, 42514

२ गदा, १० १३, १० १ ११ ।

[illegible]

હાથમે પાડ્ય મ્હારાં જી ઓર મ્હારીયાં ભાવજી મારાં હો મ્હારું મ્હારુંશ્રુ-
 યોગદારમે કિયા મ્હારાં હો ।

स्वर्वाभिप्रायः । तत्र कर्मणि ह्यत्र नानाभिप्रायः नानाभिप्रायः । तत्र प्रमाणं
चतुष्टयम्—नामस्वार्थः, स्वार्थनामस्वार्थः, प्रत्ययस्वार्थः, प्रत्ययनामस्वार्थः
स्वार्थः, स्वार्थनामस्वार्थः, प्रत्ययस्वार्थः, प्रत्ययनामस्वार्थः, प्रत्ययस्वार्थः, प्रत्ययनामस्वार्थः
प्रमाणम् ।

[illegible]

तीर्त्थेन गतामीते यास्तादीनाम इत्यत्र यातान् प्रकृतं है । ततो अमुक नम
अमुक मदीहा ही विषय । गता है और अमुक मदीहो विषय नहीं रहता ।

गर्शनिभोगं नयताजना कर्मणेक पद तात् नूय ताम्ने गर्शनिभोगे तंग् प्रवारो-
का अर्थ बतलाया हैं—

जिस जीव या अजीवका स्पर्श नाम रखा जाता है वह नामस्पर्श है । नाष्ठ-
कर्म, चित्रकर्म आदिमें स्पर्शकी स्थापना स्थापनास्पर्श है । एतद् द्रव्यना दूनरे द्रव्यके
साथ स्पर्शको प्राप्त होना द्रव्यस्पर्श है ॥१२॥ इसकी भयलाटीनाम वीरमनस्वामीने
द्रव्यस्पर्शके ६३ विकल्पोका कथन किया है ।

जो द्रव्य एक क्षेत्रके साथ स्पर्श करता है वह एकक्षेत्रस्पर्श है ॥१४॥ जैसे एकआकाशप्रदेशमें स्थित पुद्गलस्तन्धोका जो स्पर्श होता है वह एकक्षेत्रस्पर्श है । जो द्रव्य अनन्तर क्षेत्रके साथ स्पर्श करता है वह अनन्तरक्षेत्रस्पर्श है ॥१५॥

जो द्रव्य एक देशरूपसे अन्य द्रव्यके अवयवके साथ स्पर्श करता है वह देश-स्पर्श है ॥१८॥ जो द्रव्य त्वचा (छाल) या नोत्वचा (ऊपरी पपड़ी) को स्पर्श करता है वह त्वक्स्पर्श है ॥२०॥ जो द्रव्य सबका गव सर्वात्मना स्पर्श करता है वह सर्वस्पर्श है, जैसे परमाणु ॥२२॥ कर्कश, मृदु, आदि आठ प्रकारका स्पर्श स्पर्शस्पर्श है ॥२४॥

आशय यह है कि जो स्पर्श किया जाता है उसे स्पर्श कहते हैं, जैसे कोमलता आदि । और जिसके द्वारा स्पर्श किया जाता है उसे भी स्पर्श कहते हैं, जैसे स्पर्शन इन्द्रिय । इन दोनोंका स्पर्श स्पर्शस्पर्श है । और वह आठ प्रकारका है ।

कर्मोंका कर्मोंके साथ जो स्पर्श होता है वह कर्मस्पर्श है । उसके ज्ञानावरणादि आठ भेद हैं । धवलाटीकामें^१ कर्मस्पर्शके भेदोंका विवेचन विस्तारसे किया है ।

बन्धस्पर्शके पाँच भेद हैं—औदारिकशरीरबन्धस्पर्श, वैक्रियिकशरीरबन्धस्पर्श, आहारकशरीरबन्धस्पर्श, तैजसशरीरबन्धस्पर्श और कार्मणशरीरबन्धस्पर्श । धवलाटीकामें^२ इन पाँचोंके २३ भग वतलाये हैं, जिनमें १४ अपुनरुक्त है, शेष नौ पुनरुक्त है ।

विप, कूट (चूहेदान), यत्र, पिंजरा, कन्दक (हाथी पकडनेका यत्र) वागुरा (हिरण फँसानेकी फासा) आदि तथा इनके कर्ता और इन्हें इच्छित स्थानमें स्थापित करनेवाले, जो स्पर्शनके योग्य होंगे परन्तु अभी उसे स्पर्श नहीं करते, उन सबको भव्यस्पर्श करते हैं ॥३०॥

आशय यह है कि जो पर्याय भविष्यमें होने वाली होती है उसे भव्य या भावी कहते हैं । अतः जो भविष्यमें स्पर्शपर्यायसे युक्त होगा वह भव्यस्पर्श है । उक्त यत्रादिका निर्माण पशुओंको पकडनेके लिए किया जाता है । अतः चूँकि भविष्यमें वे पशुओंका स्पर्श करेंगे, अतः उन्हें भव्यस्पर्श कहा है । इसी तरह कारणमें कार्यका उपचार करके उनके निर्माताओंको और उन्हें इच्छित स्थानमें स्थापित करनेवालोंको भी भव्यस्पर्श कहा है । जो स्पर्शप्राप्तताका ज्ञाता उसमें उपयुक्त है वह भावस्पर्श है ॥३२॥

इन तरह प्रकारके स्पर्शोंमेंसे प्रकृत स्पर्शअनुयोगद्वारमें 'कर्मस्पर्श' लिया गया है ॥३३॥

इसमें ३३ सूत्र हैं ।

कर्मअनुयोगद्वार

इसमें १६ अनुयोगद्वार हैं—कर्मनिक्षेप, कर्मनयविभाषणता, कर्मनामविधान, कर्मद्रव्यविधान, कर्मक्षेत्रविधान, कर्मकालविधान, कर्मभावविधान, कर्मप्रत्ययविधान, कर्मस्वामित्वविधान, कर्मकर्मविधान, कर्मगतिविधान, कर्मअनन्तरविधान, कर्मसन्निकर्षविधान, कर्मपरिमाणविधान, कर्मभागाभागाविधान, कर्मअल्पबहुत्व ।

कर्मनिक्षेपके दस भेद हैं — नामकर्म, स्थापनाकर्म, द्रव्यकर्म, प्रयोगकर्म, सम-वदानकर्म, अध कर्म, ईर्यापथकर्म, तप कर्म, क्रियाकर्म और भावकर्म ॥४॥

१ पट्ख०, पु० १३, पृ० २६-२९ ।

२, वही, पृ० ३१-३३ ।

१२६ : जैनसाहित्यका इतिहास

जिस जीव या अजीवका कर्म नाम रखा जाता है, वह नामकर्म है ॥१०॥ काष्ठकर्म, चित्रकर्म आदिमे यह कर्म है, इस प्रकारकी स्थापनाको स्थापनाकर्म कहते हैं ॥१२॥ जो द्रव्य अपनी-अपनी स्वाभाविक क्रियारूपसे निष्पन्न है वह सब द्रव्यकर्म है, जैसे जीवद्रव्यका ज्ञानादिरूपसे परिणमन और पुद्गलद्रव्यका रूप-रसादिरूपसे परिणमन उनकी स्वाभाविक क्रिया है ।

प्रयोगकर्मके तीन भेद हैं—मन प्रयोगकर्म, वचनप्रयोगकर्म और वायुप्रयोगकर्म ॥१६॥ यह प्रयोगकर्म सप्तादशमे वर्तमान पहलेसे बारहवे गुणस्थान तकके जीवोके तथा तेरहवें गुणस्थानवर्ती सयोगकेवली जीवोके होता है ॥१७॥

कार्मणपुद्गलोका मिथ्यात्व, असयम, योग और कषायके निमित्तसे आठकर्म-रूप, सातकर्मरूप या छहकर्मरूप भेद करना समवदानकर्म है ॥२०॥

जो उपद्रावण (उपद्रव करना), विद्रावण (अगच्छेदन आदि करना), परितापन (सन्ताप उत्पन्न करना) और आरम्भ (प्राणियोके प्राणोका घात करना) रूप कार्यसे निष्पन्न होता है वह अध कर्म है ॥२२॥

ईर्याका अर्थ योग है । योगमात्रसे जो कर्म वधता है वह ईर्यापथकर्म है । वह छद्मस्थ वीतरागोके और सयोगकेवलियोंके होता है । धवलाटीकामें^१ इसका विवेचन थोड़ा विस्तारसे किया है ।

बारह प्रकारके अभ्यन्तर और बाह्य तपको तप कर्म कहते हैं ॥२६॥ धवलाटीकामें^२ तपोका विस्तृत वर्णन है ।

आत्माधीन होना, प्रदक्षिणा करना, तीन बार करना, तीन बार नमस्कार, चार बार सिर नवाना और बारह आवर्त यह सब क्रियाकर्म है ॥२८॥

अर्थात् ये क्रियाकर्मके छै प्रकार हैं । क्रियाकर्म करते समय आत्माधीन होना चाहिये, पराधीन नहीं । वन्दना करते समय गुरु, जिन और जिनालयकी प्रदक्षिणा करके नमस्कार करना प्रदक्षिणा है । तीनों सन्ध्याकालोमें वन्दनाका नियम करनेके लिये तीन बार करना कहा है ।

पैर धोकर शुद्ध मनसे जिनेन्द्रदेवके दर्शनसे उत्पन्न हुए हर्षसे पुलकितवदन होकर जिनेन्द्रके आगे नमना प्रथम नमस्कार है । पुन उठकर विनन्ति करके नमना दूसरा नमस्कार है । फिर उठकर सामायिक दण्डकके द्वारा आत्मशुद्धि करके कषायसहित कायका उत्सर्ग करके, जिनके अनन्तगुणोका ध्यान करके, चौबीस तीर्थङ्करोकी वन्दना करके, फिर जिन, जिनालय और गुरुकी स्तुति करके

१ पट्ख०, पु० १३, पृ० ४८-५४ ।

२ वही, पु० १३, ५४-८८ ।

पृथ्वी पर नत होना तीसरा नमस्कार है। इस प्रकार एक-एक क्रियाकर्म करते समय तीन नमस्कार होते हैं।

सब क्रियाकर्मोंमें चार बार सिर नमाया जाता है। सामायिकके आदिमें, फिर उसके अन्तमें, फिर 'त्थोस्सामि' दण्डकके आदिमें और फिर अन्तमें। इस प्रकार एक क्रियाकर्ममें चार बार सिर नमाया जाता है।

सामायिक और 'त्थोस्सामि' दण्डकके आदि और अन्तमें मन-वचन-कायकी विशुद्धिके परावर्तनके बारह बार होते हैं। इसलिये एक क्रियाकर्म बारह आवर्तों-से युक्त होता है। यह सब क्रियाकर्म है।

कर्मप्राभूतका जो ज्ञाता उसमें उपयुक्त होता है उसे भावकर्म कहते हैं।

कर्मके इन भेदोंमेंसे यहाँ समवदानकर्मसे प्रयोजन है, क्योंकि कर्म अनुयोगद्वार-में समवदानकर्मका ही विस्तारसे कथन किया है।

इस अनुयोगद्वारमें ३१ सूत्र^१ है। ३१वें सूत्रकी ध्वलाटीकामें श्रीवीरसेन-स्वामीने लिखा है कि 'मूलतन्त्रमें तो प्रयोगकर्म, समवदानकर्म, अध कर्म, ईर्यापथ-कर्म, तप कर्म और क्रियाकर्म प्रधान है, क्योंकि वहाँ इनका विस्तारसे कथन है।

यहाँ इन छै कर्मोंको आधार मानकर सत्, द्रव्य, क्षेत्र, काल, स्पर्शन, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व अनुयोगोंके द्वारा कथन करते हैं। तदनुसार लगभग सौ पृष्ठोंमें उन्होंने विस्तारसे कथन किया है।

सूत्रकार भूतबलिने तो कर्मानुयोगद्वारमें समवदानकर्मसे ही प्रयोजन बतलाया है। इसलिये मूलतन्त्रसे अभिप्राय महाकर्मप्रकृतिप्राभूतसे जान पड़ता है। उसके अन्तर्गत कर्मानुयागद्वारमें उक्त छै कर्मोंका वर्णन रहा होगा।

प्रकृति अनुयोगद्वार^२

प्रकृति अनुयोगद्वारके अन्तर्गत १६ अनुयोगद्वार ज्ञातव्य हैं—प्रकृतिनिक्षेप, प्रकृतिनयविभाषणता, प्रकृतिनामविधान, प्रकृतिद्रव्यविधान, प्रकृतिक्षेत्रविधान, प्रकृतिकालविधान, प्रकृतिभावविधान, प्रकृतिप्रत्ययविधान, प्रकृतिस्वामित्वविधान, प्रकृतिप्रकृतिविधान, प्रकृतिगतिविधान, प्रकृतिअन्तरविधान, प्रकृतिसन्निकर्षविधान, प्रकृतिपरिमाणविधान, प्रकृतिभागविधान और प्रकृतिअल्पबहुत्वविधान ॥ २ ॥

१, 'एद्वेदि कम्माण केण कम्मेण पयद ? समोदाणकम्मेण पयद ॥ ३१ ॥

(ध्व) — कुदो ? कम्माणियोगद्वारस्मि समोदाणकम्मस्सेव वित्थरेण परूविदत्तादो । . .
मूलतन्त्रे पुण पयोगकम्म-समोदाणकम्म-आधाकम्म-इरियावथकम्म-तवोकम्म-किरियाकम्मा-
णि पहाय तत्थ वित्थरेण परूविदत्तादो—पट्ख०, पु० १३, पृ० ९० ।

२, वही, पु० १३, पृ० १९७ से ।

प्रकृतिनिक्षेपके चार प्रकार हैं—नामप्रकृति, स्थापनाप्रकृति, द्रव्यप्रकृति और भावप्रकृति ॥४॥ इनमेंसे नैगम, सग्रह और व्यवहारनय सबको स्वीकार करते हैं ॥६॥ ऋजुसूत्रनय स्थापनाप्रकृतिको नहीं चाहता ॥७॥ शब्दनय नाम-प्रकृति और भावप्रकृतिको स्वीकार करता है ॥८॥ जिस जीव या अजीवका 'प्रकृति' नाम किया जाता है वह नामप्रकृति है ॥९॥ काष्ठकर्म, चित्रकर्म आदि-में 'यह प्रकृति है' ऐसी स्थापनाको प्रकृति कहते हैं ॥१०॥ द्रव्यप्रकृतिके दो भेद हैं—आगमद्रव्यप्रकृति और नोआगमद्रव्यप्रकृति ॥११॥ आगमद्रव्यप्रकृतिके अर्थाधिकार इस प्रकार है—स्थित, जित, परिजित, वाचनोगत, सूत्रसम, अर्थसम, ग्रथ-सम, नामसम और घोषसम ॥१२॥

वेदनाखण्डके कृति अनुयोगद्वारमे भी इन सबका कथन आ चुका है ।

नोआगमद्रव्य प्रकृतिके दो प्रकार हैं—कर्मप्रकृति और नोकर्मप्रकृति ॥१५॥ घट, थाली, सकोरा, अरजण और उलुचण आदि विविध भाजनविशेषोकी मिट्टी प्रकृति है । धान 'तप्पण' (तर्पण) आदि की जौ और गेहूँ प्रकृति है । सब नोकर्मप्रकृति है ॥१८॥ कर्मप्रकृतिके ज्ञानावरणादि आठ भेद हैं ॥१९॥ और ज्ञानावरणीयके आभिनिबोधिकज्ञानावरणीय, श्रुतज्ञानावरणीय आदि पाच भेद हैं ॥२१॥

पहले कहा है कि जितने ज्ञानके भेद हैं उतनी ही ज्ञानको आवृत करनेवाले ज्ञानावरणीयकर्मकी प्रकृतियाँ हैं । इस प्रकृतिअनुयोगद्वारमें सूत्रकारने ज्ञानके भेदोका आलम्बन लेकर ज्ञानावरणकर्मकी प्रकृतियोका कथन किया है । यथा—आभिनिबोधिकज्ञानावरणीय कर्मके चार, चौबीस, अट्ठाईस और बत्तीस भेद जानने चाहिये ॥२२॥ अवग्रहावरणीय, ईहावरणीय, अवायावरणीय और धारणावरणीय ये चार भेद हैं ॥२३॥ अवग्रहावरणीय कर्मके दो भेद हैं—अर्थावग्रहावरणीय, और व्यञ्जनावग्रहावरणीय ॥२४॥ व्यञ्जनावग्रह केवल चार इन्द्रियोसे होता है, अत व्यञ्जनावग्रहावरणीय कर्मके भी चार भेद हैं । अर्थावग्रह पाँचो इन्द्रियो और मनसे होता है, अत अर्थावग्रहावरणीय कर्मके छै भेद हैं । इसी तरह ईहा-वरणीय, अवायावरणीय और धारणावरणीय कर्मोके भी छै-छै भेद होते हैं, क्योंकि ये चारो ज्ञान इन्द्रियो और मनसे उत्पन्न होते हैं ।

उक्त चारो ज्ञानोको छहो इन्द्रियोसे गुणा करने पर मतिज्ञानके चौबीस भेद होते हैं और उनके आवरण भी २४ ही होते हैं । इन चौबीस भेदोंमें जिह्वा, स्पर्शन, घ्राण और श्रोत्र इन्द्रिय सम्बन्धी चार व्यञ्जनावग्रहोके मिलानेपर आभिनिबोधिक

१ 'घटपिढरसरावारजणोलु चणादीण विविधभायणविसेमाण मट्ठिया पयडी, धाणतप्पणादीण च जवगोधूमा पयटी, मा सव्वा णोक्कम्मपयटी णाम ॥१८॥—पृ १३, पृ २०४-२०५ ।

ज्ञानके २८ भेद होते हैं और उतने ही उनके आवरणोंके भी भेद होते हैं । इनमें चार मूल भेदोंके मिलाने पर वत्तीस आभिनिबोधिक ज्ञानके भेद और उतने ही उनके आवरणोंके भी भेद होते हैं ।

आभिनिबोधिक ज्ञानके ये भेद चार, चौबीस, अट्ठाईस और वत्तीस होते हैं ।

ये ज्ञान बारह प्रकारके पदार्थोंको विषय करते हैं । वे हैं बह्व, बहुविध, क्षिप्र, अनिसृत, अनुक्त और ध्रुव, तथा इनके प्रतिपक्षी—एक, एकविध, चिर, निसृत, उक्त, अध्रुव । अत उक्त चौबीस भेदोंको छैसे गुणा करने पर आभिनिबोधिक-ज्ञानके एकसौ चवालीस भेद होते हैं । उक्त अट्ठाईस भेदोंको छैसे गुणा करने पर १६८ भेद होते हैं । और उक्त वत्तीस भेदोंको छैसे गुणा करने पर १९२ भेद होते हैं । और उक्त चौबीस, अट्ठाईस और वत्तीस भेदोंको १२ से गुणा करने पर आभिनिबोधिकज्ञानके दोसौ अट्ठासी, तीनसौ छत्तीस और तीनसौ चौरासी भेद होते हैं । जितने ज्ञानके भेद हैं उतने ही उसके आवरणके भेद हैं । अत आभिनिबोधिकज्ञानावरणीयकर्मके भेदोंको बतलाते हुए सूत्रकारने कहा है—‘इस प्रकार आभिनिबोधिकज्ञानावरणीयकर्मके चार, चौबीस, अट्ठाईस, वत्तीस, अड-तालीस, एकसौ चवालीस, एकसौ अडसठ, एकसौ वानवे, दोसौ अठासी, तीन सौ छत्तीस, और तीनसौ चौरासी भेद होते हैं ॥३५॥

श्रुतज्ञानावरणीयकर्मकी प्रकृतियाँ बतलाते हुए कहा है—कि जितने अक्षर और अक्षरसंयोग हैं उतनी श्रुतज्ञानावरणीयकर्मकी प्रकृतियाँ हैं ॥४५॥

आशय यह है कि एक एक अक्षरसे श्रुतज्ञानकी उत्पत्ति होती है, अत जितने अक्षर हैं उतने ही श्रुतज्ञान हैं । तेतीस व्यञ्जन, नौ स्वर अलग अलग ह्रस्व, दीर्घ और प्लुतके भेदसे सत्ताईस और चार अयोगवाह—जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, अनुस्वार और विसर्ग इस तरह चौंसठ मूल अक्षर हैं । इनके संयोगी अक्षरोंको लानेके लिए सूत्रकारने एक ‘गणित-गाथा’ दी है—

सजोगावरणद्व चउसट्ठि थावए दुवे रासी ।

अण्णोण्णसमम्भासो रूवूण णिहिसे गणिद ॥४६॥

अर्थात् संयोगावरणोंको लानेके लिए चौंसठसंख्याप्रमाण दो राशि स्थापित करो—एक एकसे चौंसठ तक और दूसरी उसके नीचे चौंसठसे एक तक । दोनोंको परस्परमें गुणा करके जो लब्ध आवे उसमेंसे एक कम करनेपर कुल संयुक्ताक्षरोंका प्रमाण होता है । इसके स्पष्टीकरणके लिये सूत्र ४६ की धवलाटीका देखना चाहिये ।

उसी श्रुतज्ञानावरणीय कर्मके बीस भेद बतलानेके लिये सूत्रकारने एक गाथा-सूत्र दिया है ।

‘पज्जय-अगार-पद-मपादय-पटिपत्ति-जोगशगउं ।

पाहुउपाहुउ-वत्त् पुज्ज ममागा म वो ण्वा ॥१॥’

अर्थात् पर्याय, पर्यायमगाम, अगार, जगामगाम, पद, पदमगाम, मपात, मपातमगाम, पतिपत्ति, प्रतिपत्तिशगाम, अनुयोगार, अनुगाम, पमगाम, प्राभूत, प्राभूतमगाम, प्राभूतप्राभूत, प्राभूतप्राभूतमगाम, पग्नु, पग्नुमगाम, पुरं और पूर्वमगाम ये श्रुतज्ञानके बीस भेद हैं ।

इन्हींको लेकर मूलग्रन्थ में मूल ४८ में श्रुतज्ञानावर्णीयभेदों के बीस भेद गिनाये हैं । श्रुतज्ञानके इन भेदोंके विवेचनके लिये धराश्रयीका देगना चाहिये ।

देवताम्यगीम नन्दिसूत्रमें ज्ञानको मुन्दर चर्चा है । किन्तु श्रुतज्ञानके इन बीस भेदोंका कोई मकेत तक आगमिक परम्परामें नहीं मिलता । हाँ, तर्कमन्त्रमें एक गाथाके द्वारा श्रुतज्ञानके ये बीस भेद अवश्य गिनाये गये हैं ।

मूलकार श्रुतवेदिने एक मूलके द्वारा श्रुतज्ञानके उत्तमोत्तम पर्यायशब्द गिनाये हैं । जो इस प्रकार हैं—प्रावचन, पचनीय, प्रवचनार्थ, गतियोगे मार्ग-णता, आत्मा, परम्पगालक्षि, अनुत्तर, प्रवचन, प्रवचनी, प्रवचनाद्धा, प्रवचन-सन्निकर्ष, नयविधि, नयान्तरविधि, भगविधि, भंगविधिविधोप, पृच्छाविधि, पृच्छाविधिविधोप, तत्त्व, भूत, भन्य, भविष्यत्, अतितय, अविहत, वेद, न्याय, शुद्ध, सम्यग्दृष्टि, हेतुवाद, नानाद, प्रवरवाद, मार्गवाद, श्रुतवाद, परवाद, लौकिकवाद, लोकोत्तरीयवाद, अग्य, मार्ग, गथानुमार्ग, पुरं, गथानुपूर्व और पूर्वाति-पूर्व ये श्रुतज्ञानके पर्यायनाम हैं ॥५०॥ धवलामें इनका व्याख्यान किया है ।

अवधिज्ञानावरणीयकर्मोंकी अमर्याद प्रकृतियाँ बतलाते हुए अवधिज्ञानके दो भेद किये हैं—भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय । भवप्रत्ययअवधिज्ञान देवनारकियोंके होता है और गुणप्रत्ययअवधिज्ञान तिर्यञ्चो और मनुष्योंके होता है ।

अवधिज्ञानके अनेक भेद हैं - देशावधि, परमावधि, सर्वावधि, हीयमान, वर्धमान, अवस्थित, अनवस्थित, अनुगामी, अननुगामी, मप्रतिपाती, अप्रतिपाती, एक-क्षेत्र और अनेकक्षेत्र ॥५६॥

जिसके अवधिज्ञान होता है उसके शरीरमें नाभिसे ऊपर श्रीवत्स, कलश, शख, स्वस्तिक, नन्दावर्त आदि आकार बन जाते हैं । इन्हीं चिन्होंसे अवधिज्ञान उत्पन्न होता है । उन्हींके कारण उसे एक क्षेत्र या अनेक क्षेत्र कहते हैं ।

आगे गाथासूत्रोंके^१ द्वारा सूत्रकारने अवधिज्ञानके क्षेत्रसे सम्बद्ध कालका और कालसे सम्बद्ध क्षेत्रका, तथा देवोंके अवधिज्ञानके विषयका कथन किया है । सूत्र-गाथा १५ के द्वारा परमावधिज्ञानके द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावका कथन किया

है। गाथा न० १७ के द्वारा जघन्य और उत्कृष्ट अवधिज्ञानके स्वामित्वका कथन किया है।

अवधिज्ञानसे सम्बद्ध ये गाथाएँ दिग्म्वर परम्पराके माहित्यमें अन्यत्र भी पाई जाती हैं। गोमटसार जीवकाण्ड^१ तो षट्खडागम और उसकी टीका धवलाके आधार पर ही सगृहीत किया गया है, अतः उसमें तो कतिपय गाथाएँ यहीसे ली गई हैं।

महाबन्धके^२ आदिमें ये सब गाथाएँ थोड़ेसे व्यतिक्रमके साथ पायी जाती हैं।

चूँकि महाबन्ध भूतबलीकी ही रचना है, अतः उनका वहाँ पाया जाना सम्भव है। गाथा न० १२, १३, १४ तिलोयपण्णत्तिके^३ आठवें अधिकारमें पाई जाती हैं। गाथा न० १२-१३, मूलाचारके^४ बारहवें अधिकारमें पाई जाती हैं। श्वेताम्बर परम्पराके नन्दिसूत्रमें भी ज्ञानकी चर्चा है। उसमें अवधिज्ञानके प्रकरणमें गाथाएँ (गा० न० ५०, ५१, ५२, ५३, ५४) ऐसी हैं जो इस अनुयोगद्वारकी गा० ४-८ से मिलती हैं। कुछ पाठभेदके सिवाय और भेद नहीं है।

षट्खडागमके वेदना और वर्गणा खण्डमें जो सूत्ररूपमें गाथाएँ आई हैं, हमारा विश्वास है कि वे गाथाएँ प्राचीन होनी चाहिये। इसीसे भूतबलिने उन्हें ज्यो-का-त्यो अपने ग्रन्थमें सूत्ररूपमें रख लिया है। सम्भवतया इसीसे उनमेंसे कुछ गाथाएँ अन्यत्र भी उपलब्ध होती हैं।

मन पर्ययज्ञानावरणकर्मकी दो प्रकृतिर्या—ऋजुमतिमन पर्ययज्ञानावरण और विपुलमतिमन पर्ययज्ञानावरण बतलाई हैं। उनके प्रसंगसे दोनो ज्ञानोके स्वरूप, विषय आदिका कथन सूत्रकारने विस्तारसे किया है।

मन पर्ययज्ञानका विषय बतलाते हुए सूत्रकारने कहा है—‘मनके द्वारा मानस-को जानकर मन पर्ययज्ञान दूसरोकी सज्ञा, स्मृति, मति, चिन्ता, जीवित-मरण, लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, नगरविनाश, देशविनाश, जनपदविनाश, खेटविनाश, कर्वटविनाश, मडबविनाश, पट्टनविनाश, द्रोणमुखविनाश, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, सुवृष्टि, दुर्वृष्टि, सुभिक्ष, दुर्भिक्ष, क्षेम, अक्षेम, भय और रोगरूप पदार्थोंको जानता है ॥६३॥

केवलज्ञानका वर्णन करते हुए लिखा है—‘स्वय उत्पन्न हुए ज्ञान और दर्शनसे युक्त भगवान् देवलोक और असुरलोकके साथ मनुष्यलोककी आगति, गति, चयन, उपपाद, वन्ध, मोक्ष, ऋद्धि, स्थिति, युति (द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके साथ

१ गो०जी०का०गा०, ४०३-४०६, ४०७, ४२५, ४२६, ४२९, ४३१ ।

२ म०ब०, भा० १, पृ० २१-२४ ।

३ ति० प०, गा० ६८५, ६८६, ६८७ ।

४ मूलाचा० अधि० १२, गा० न० १०७-११० ।

जीवादि द्रव्योका सम्मिलन), अनुभाग, तर्क, कला, मन, मानसिक, भुक्त, कृत, प्रतिरोधित आदिकर्म (अर्थपर्याय और व्यञ्जन पर्यायरूपमे सब द्रव्योकी आदि), अरह कर्म (सब द्रव्योकी अनादिता), सब लोक, सब जीव, और सब भावोको सम्यक् प्रकारसे एक साथ जानते-देराते हुए विहार करते हैं ॥८२॥

इस प्रकार प्रकृतिअनुयोगद्वारमे ज्ञानावरणकर्मकी प्रकृतियोके सम्बन्धमे ज्ञानके भेदोकी मौलिक चर्चा है । यही चर्चा सार्वार्यगिद्धि और तत्त्वार्थयातिके प्रथम अध्यायमे आगत ज्ञानविषयक कथनका आधार है । इसका कथन इन गन्धोके प्रकरणमे किया जायगा । इसी प्रकार दर्शनावरणीय आदि कर्मोकी प्रकृतियोका कथन प्रकृतिअनुयोगद्वारमे किया गया है । अन्तमे कहा है कि उन प्रकृतियोमेंमे यहाँ कर्मप्रकृतिका प्रकरण है ।

बन्धनअनुयोगद्वार^१

बन्धनअनुयोगद्वारको आरम्भ करते हुए सूत्रकारने बन्धनके चार भेद किये हैं—१ बन्ध, २ बन्धक, ३ बन्धनीय और ४ बन्धविधान ॥१॥

बन्धके चार भेद हैं—नामबन्ध, स्थापनावन्ध, द्रव्यबन्ध और भावबन्ध ॥२॥ नैगम, सग्रह और व्यवहानय सब बन्धोको स्वीकार करते हैं ॥४॥ ऋजुमूनय स्थापनावन्धको स्वीकार नहीं करता ॥५॥ शब्दनय नामबन्ध और भावबन्धको स्वीकार करता है ॥६॥

जिस जीव या अजीवका 'बन्ध' यह नाम रखा जाता है वह नामबन्ध है । काष्ठकर्म, चित्रकर्म आदिमे 'यह बन्ध है' ऐसी स्थापना करना स्थापनावन्ध है । भावबन्धके दो भेद हैं—आगम भावबन्ध और नोआगम भावबन्ध । यह सब वर्णन पूर्ववत् है ।

नोआगम भावबन्धके दो भेद हैं—जीवभावबन्ध और अजीवभावबन्ध ।

जीवभावबन्धके तीन भेद हैं—विपाकप्रत्ययिक, अविपाकप्रत्ययिक और तदुभयप्रत्ययिक ॥१४॥

कर्मोके उदय और उदीरणाको विपाक कहते हैं । विपाक जिस भावका कारण होता है वह विपाक प्रत्ययिक जीवभावबन्ध है । और कर्मोके उदय और उदीरणाके अभावको अथवा कर्मोके उपशम वा, क्षयको अविपाक कहते हैं । अविपाक जिस भावका कारण है वह अविपाकप्रत्ययिक जीवभावबन्ध है । और विपाक तथा अविपाकसे जो भाव उत्पन्न होता है वह तदुभयप्रत्ययिक जीवभावबन्ध है ।

'देवभाव, मनुष्यभाव, तिर्यञ्चभाव, नारकभाव, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसक-

वेद, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, दोष, मोह, कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ललेश्या, असंगतभाव, अविरतभाव, अज्ञानभाव, मिथ्यादृष्टिभाव ये सब विपाकप्रत्ययिक अथवा औदयिक भाव हैं ॥१५॥'

अविपाक प्रत्ययिक जीवभावबन्धके दो प्रकार हैं—औपशमिक और क्षायिक ॥१६॥

उपशान्तक्रोध, उपशान्तमान, उपशान्तमाया, उपशान्तलोभ, उपशान्तराग, उपशान्तदोष, उपशान्तमोह, उपशान्तकपाय, वीतरागछद्मस्थ, औपशमिकसम्यक्त्व और औपशमिकचारित्र आदि जितने औपशमिक भाव हैं वे सब औपशमिक अविपाक प्रत्ययिक जीवभावबन्ध हैं ॥१७॥

क्षीणक्रोध, क्षीणमान, क्षीणमाया, क्षीणलोभ, क्षीणराग, क्षीणदोष, क्षीणमोह, क्षीणकपाय, वीतरागछद्मस्थ, क्षायिकसम्यक्त्व, क्षायिकचरित्र, क्षायिकदानलब्धि, क्षायिकलाभलब्धि, क्षायिकभोगलब्धि, क्षायिकपरिभोगलब्धि, क्षायिकवीर्यलब्धि, केवलज्ञान, केवलदर्शन, सिद्ध, बुद्ध, परिनिर्वृत्ति, सर्वदुःखअन्तकृत्, इसी प्रकार अन्य भी जो क्षायिक भाव हैं वे सब क्षायिक अविपाक प्रत्ययिक जीवभावबन्ध हैं ॥१८॥

एकेन्द्रिय लब्धि, द्वीन्द्रिय लब्धि, त्रीन्द्रिय लब्धि, चतुरिन्द्रिय लब्धि, पञ्चेन्द्रिय लब्धि, मत्त्यज्ञानी, श्रुताज्ञानी, विभगज्ञानी, आभिनिवोधिकज्ञानी, श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी, मन पर्ययज्ञानी, चक्षुदर्शनी, अचक्षुदर्शनी, अवधिदर्शनी, सम्यक्-मिथ्यात्वलब्धि, सम्यक्त्वलब्धि, सयमासयमलब्धि, सयमलब्धि, दानलब्धि, लाभलब्धि, भोगलब्धि, परिभोगलब्धि, वीर्यलब्धि, आचारधर, सूर्यकृद्धार, स्थानधर, समवायधर, व्याख्याप्रज्ञप्तिधर, नाथधर्मधर, उपासकाध्ययनधर, अन्तकृद्धार, अनुत्तरोपपादिकदशधर, प्रश्नव्याकरणधर, विपाकसूत्रधर, दृष्टिवादधर, गणी, वाचक, दशपूर्वधर, चतुर्दशपूर्वधर ये तथा इसी प्रकारके अन्य जो क्षायोपशमिक भाव हैं वे सब तदुभयप्रत्ययिक जीवभावबन्ध हैं ॥१९॥

इसी प्रकार अजीवभावबन्धके भी तीन भेद करके विपाकप्रत्ययिक, अविपाक प्रत्ययिक और तदुभयप्रत्ययिक अजीवभावबन्धोका कथन किया है ।

द्रव्यबन्धके दो भेद हैं—आगमद्रव्यबन्ध और नोआगमद्रव्यबन्ध ।

नोआगमद्रव्यबन्धके दो भेद हैं—प्रयोगबन्ध और विस्रसाबन्ध ।

विस्रसाबन्धके दो भेद हैं—सादि और अनादि । धर्मास्तिकाय, धर्मास्तिकाय-देश और धर्मास्तिकायप्रदेश, अधर्मास्तिक, अधर्मास्तिकदेश, और अधर्मास्तिकप्रदेश, आकाशास्तिक, आकाशास्तिकदेश, आकाशस्तिकप्रदेश, इन तीनों ही अस्तिकायोका जो परस्पर प्रदेशबन्ध है वह अनादिविस्रसाबन्ध है ॥३१॥

सादिवैश्वसिकबन्ध कहते हैं—विगदृश स्निग्धता और विगदृश रुक्षतामे बन्ध होता है । और रामस्निग्धता और रामरुक्षतामे भेद होता है ॥ अतः

णिद्धस्स णिद्धेण दुराहिणं रहुक्करसं रहुक्खेण दुराहिणं ।

णिद्धरसं लुक्खेण ह्वेदि वधो जहण्णवज्जो विगमे गमे वा ॥३६॥

स्निग्ध पुद्गलका दो अधिक स्निग्ध पुद्गलके साथ और रुक्ष पुद्गलका दो अधिक रुक्ष पुद्गलके साथ बन्ध होता है तथा स्निग्धगुण पुद्गलका रुक्षगुण पुद्गलके साथ राग या विषम गुण होने पर बन्ध होता है, जघन्यगुणवाला राग वध नहीं होता ।

उक्त गाथा श्वेताम्बर परम्परासे भी पाई जाती है । किन्तु द्वितीय पक्षिके अर्थमे दोनोमे मतभेद है । इसका विवेचन यथास्थान किया जायेगा ।

उक्त गाथासे पहले इस बन्धनअनुयोगद्वारागे दो सूत्र हैं—

‘वेमादा णिद्धदा वेमादा ल्हारादावधो ॥ ३२ ॥ गमणिद्धदा गमल्लुक्खदा भेदो ॥ ३३ ॥

श्वेता० प्रज्ञापनामे भी ठीक इसी आशयको शब्दशः लिये हुए एक गाथा और तदनन्तर उक्त गाथा इस प्रकार आती है—

समणिद्धयाए वधो न होति गमल्लुक्खयाए वि ण होति ।

वेमायणिद्धलुक्खसत्तणेण वधो उ गवाण ॥ १ ॥

णिद्धस्स णिद्धेण दुराहिणं लुक्खस्स लुक्खेण दुराहिणं ।

निद्धस्स लुक्खेण उवेइ वधो जहण्णवज्जो विगमो गमो वा ॥२॥

—प्रज्ञापना०, परि० पद १३, सू० १८५

पुद्गलके बन्धका स्वरूप बतलाकर आगे लिखा है—

‘इस प्रकार वे पुद्गल बन्धनपरिणामको प्राप्त होकर अभ्ररूपसे, मेघरूपसे, सन्ध्यारूपसे, विजलीरूपसे, उल्कारूपसे, कनक (वज्र) रूपसे, दिशादाहरूपसे, धूमकेतुरूपसे, इन्द्रधनुसरूपसे, क्षेत्रके अनुसार, कालके अनुसार, ऋतुके अनुसार, अयनके अनुसार, पुद्गलके अनुसार, बन्धनपरिणामरूपसे परिणत होते हैं ।’

ये सब तथा इनसे अन्य जो अमगलप्रभृति बन्धनपरिणामरूपसे परिणत होते हैं वह सब सादिवैश्वसिक बन्ध है ॥३७॥

प्रयोगबन्धके दो भेद हैं—कर्मबन्ध और नोकर्मबन्ध । नोकर्मबन्धके पाँच भेद हैं—आलापनबन्ध, अल्लोचनबन्ध, संश्लेषबन्ध, शरीरबन्ध और शरीरिवन्ध ॥४०॥

शकटोका, यानोका, युगोका,^१ गड्डियोका^२, गिल्लियोका, रथोका, स्यन्दनो^३—

१ जो घोड़े और खच्चरोंसे खींची जाती है ।

२ हल्का भार ढोने वाली गाड़ी ।

३ युद्धोपयोगी साधनोंसे सम्पन्न रथ ।

का, शिविकाओका, गुहोका, प्रासादोका, गोपुरोका और तोरणोका काष्ठसे, लोहसे, रस्सीरो, चमड़ेकी रस्सीसे, और दर्भसे जो बन्ध होता है वह आलापनबन्ध है ॥४१॥ कटकोका (चटाईका), कुड्योका, गोवरपिण्डोका, प्राकारोका और शाटिकाओका, तथा इस प्रकारके अन्य द्रव्योका जो बन्ध होता है वह अल्लीवण-बन्ध है ॥४२॥ लकड़ी और लाखके बन्धको सश्लेषबन्ध कहते हैं ॥४३॥ औदारिक आदि शरीरोके बन्धको शरीरबन्ध कहते हैं ।

जीवके आठ मध्य प्रदेशोका जो परस्परमें प्रदेशबन्ध है वह अनादि शरीर-बन्ध है ।

कर्मबन्धको कर्मानुयोगद्वारकी तरह जानना चाहिये ॥६४॥

इस बन्धनअनुयोगद्वारमें ६४ सूत्र हैं ।

२ बन्धकअनुयोगद्वार

बन्धकअनुयोगको खुदाबन्ध नामक दूसरे खण्डकी तरह जान लेना चाहिये । खुदाबन्धमें इसका कथन हो चुका है ।

३ बन्धनीयअनुयोगद्वार

जो बन्धके योग्य होता है उसे बन्धनीय कहते हैं । पुद्गल बन्धनीय है क्योंकि पुद्गलके सिवाय अन्य कोई पदार्थ बन्धनीय नहीं है । वे बन्धनीय पुद्गल स्कन्ध-स्वरूप होते हैं । और वे स्कन्ध वर्गणारूप होते हैं । अतः बन्धनीयका कथन करते हुए वर्गणाका कथन अवश्य करना चाहिये ।

वर्गणाओके सम्बन्धमें आठ अनुयोगद्वार जानने योग्य हैं—वर्गणा, वर्गणाद्रव्य-समुदाहार, अनन्तरोपनिधा, परम्परोपनिधा, अवहार, यवमध्य, पदमीमासा और अल्पबहुत्व ॥६९॥

वर्गणा—वर्गणाअनुयोगद्वारके विषयमें ये सोलह अनुयोगद्वार हैं—वर्गणा-निक्षेप, वर्गणानयविभाषणता, वर्गणाप्ररूपणा, वर्गणानिरूपणा, वर्गणाध्रुवाध्रुवानुगम, वर्गणासान्तरनिरन्तरानुगम, वर्गणाओजयुग्मानुगम, वर्गणास्पर्शानुगम, वर्गणा-अन्तरानुगम, वर्गणाभावानुगम, वर्गणाउपनयनानुगम, वर्गणापरिमाणानुगम, वर्गणाभागाभागांशानुगम और वर्गणाअल्पबहुत्व ॥७०॥

वर्गणानिक्षेप छै प्रकारका है—नामवर्गणा, स्थापनावर्गणा, द्रव्यवर्गणा, क्षेत्र-वर्गणा, कालवर्गणा, और भाववर्गणा ॥७१॥ नैगम, सग्रह और व्यवहार सब वर्गणाओको स्वीकार करते हैं । ऋजुसूत्र स्थापनावर्गणाको स्वीकार नहीं करता । शब्दनय नामवर्गणा और भाववर्गणाको स्वीकार करता है । इस तरह सूत्रकारने वर्गणाके सोलह अनुयोगद्वारोंमेंसे आदिके दो ही अनुयोगद्वारोका कथन किया है ।

आगे वर्गणाका कथन करते हुए २३ वर्गणाएँ बतलाई हैं, जो इसप्रकार हैं—

एकप्रदेशी परमाणु पुद्गलद्रव्यवर्गणा १, द्विप्रदेशी, त्रिप्रदेशी, चतु प्रदेशी, पञ्च-प्रदेशी, षट्प्रदेशी, सप्तप्रदेशी, अष्टप्रदेशी, नवप्रदेशी, दसप्रदेशी, आदि सख्यात-प्रदेशी, परमाणु पुद्गल द्रव्यवर्गणा २, असख्यातप्रदेशी परमाणु पुद्गलद्रव्यवर्गणा ३, अनन्तप्रदेशी, परमाणु पुद्गलद्रव्यवर्गणा ४, आहार द्रव्यवर्गणा ५, अग्रहण द्रव्यवर्गणा ६, तैजसशरीर द्रव्यवर्गणा ७, अग्रहण द्रव्यवर्गणा ८, भापाद्रव्य-वर्गणा ९, अग्रहणद्रव्यवर्गणा १०, मनोद्रव्यवर्गणा ११, अग्रहण द्रव्यवर्गणा १२, कार्मणद्रव्यवर्गणा १३, ध्रुवस्कन्धद्रव्यवर्गणा १४, सान्तर निरन्तर द्रव्यवर्गणा १५, ध्रुवशून्यवर्गणा १६, प्रत्येक शरीर द्रव्यवर्गणा १७, ध्रुवशून्य द्रव्यवर्गणा १८, वादर निगोद द्रव्यवर्गणा १९, ध्रुवशून्य द्रव्यवर्गणा २०, सूक्ष्म निगोद-वर्गणा २१, ध्रुवशून्य द्रव्यवर्गणा २२, महास्कन्धवर्गणा २३ ।

इन तीस वर्गणाओंके नाम सूत्रकारने बाईस सूत्रोंके द्वारा बतलाये हैं ।

इसका कारण यह है कि उन्होंने प्रथम चार वर्गणाओंके पश्चात् प्रत्येक वर्गणा का निर्देश इस प्रकार किया है—‘अनन्तानन्त प्रदेशी परमाणु पुद्गल द्रव्यवर्गणाके ऊपर आहार द्रव्यवर्गणा है ॥७९॥’ ‘आहार द्रव्यवर्गणाके ऊपर अग्रहणद्रव्य-वर्गणा है ॥८०॥’ ‘अग्रहणद्रव्यवर्गणाके ऊपर तैजसद्रव्यवर्गणा है ॥८१॥’ ‘तैजस द्रव्यवर्गणाके ऊपर अग्रहण द्रव्यवर्गणा है ॥८२॥’ इत्यादि ।

इसका कारण यह है कि पूर्वपूर्वकी उत्कृष्ट वर्गणामें एक अक मिलाने पर आगेकी जघन्य वर्गणाका प्रमाण होता है । यथा—सबसे प्रथम परमाणु पुद्गल द्रव्यवर्गणा तो एकपरमाणुरूप है । उसमें एक परमाणुके मिल जानेसे अर्थात् दो परमाणुओंके समागमसे द्विप्रदेशी परमाणुपुद्गलद्रव्यवर्गणा होती है । यह जघन्यसख्याताणुवर्गणा है क्योंकि जघन्य संख्यातका प्रमाण दो है । उत्कृष्ट सख्यातप्रदेशी परमाणुपुद्गलद्रव्यवर्गणामें एक अक मिलाने पर जघन्य असख्यात-प्रदेशी द्रव्यवर्गणा होती है । उत्कृष्ट असख्यातासख्यातप्रदेशी परमाणुपुद्गल-द्रव्यवर्गणामें एक अंक मिलाने पर जघन्य अनन्तप्रदेशी परमाणुपुद्गलद्रव्यवर्गणा होती है । अपने जघन्यसे अनन्तगुणी उत्कृष्ट अनन्तप्रदेशी पुद्गलद्रव्यवर्गणा होती है । ये चारो ही वर्गणाएँ अग्राह्य हैं—जीवके द्वारा इनका ग्रहण नहीं होता ।

उत्कृष्ट अनन्तप्रदेशी द्रव्यवर्गणामें एक अक मिलाने पर जघन्य आहारद्रव्य-वर्गणा होती है । औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीरके योग्य पुद्गल स्कन्धोको आहारद्रव्यवर्गणा कहते हैं । उत्कृष्ट आहारद्रव्यवर्गणामें एक अक मिलाने पर प्रथम अग्रहणद्रव्यवर्गणा सम्बन्धी सर्वजघन्यवर्गणा होती है । जो

पुद्गलस्कन्ध पाँचो शरीर, भापा और मनके अयोग्य होते हैं उनको अग्रहणवर्गणा कहते हैं । प्रथम उत्कृष्ट अग्रहण द्रव्यवर्गणामें एक अक मिलाने पर जघन्य तैजस-शरीरद्रव्यवर्गणा होती है । इसके पुद्गलस्कन्ध तैजसशरीरके योग्य होते हैं । इसलिए यह ग्रहणवर्गणा है ।

उत्कृष्ट तैजसशरीरद्रव्यवर्गणामें एक अक मिलाने पर दूसरी अग्रहण द्रव्य-वर्गणा सम्बन्धी जघन्य अग्रहणद्रव्यवर्गणा होती है । यह पाँच शरीरके योग्य नहीं होती, इसलिये इसे अग्रहणद्रव्यवर्गणा कहा गया है ।

दूसरी उत्कृष्ट अग्रहण द्रव्यवर्गणामें एक अक मिलाने पर जघन्य भापाद्रव्य-वर्गणा होती है । भापाद्रव्यवर्गणाके परमाणु पुद्गलस्कन्धभापाओके तथा शब्दो-के योग्य होते हैं ।

उत्कृष्ट भापाद्रव्यवर्गणामें एक अक मिलाने पर तीसरी जघन्य, अग्रहणद्रव्य-वर्गणा होती है । इसके भी पुद्गलस्कन्ध ग्रहणयोग्य नहीं होते । तीसरी उत्कृष्ट अग्रहणद्रव्यवर्गणामें एक अक मिलाने पर जघन्य मनोद्रव्यवर्गणा होती है । मनोद्रव्यवर्गणासे द्रव्यमनकी रचना होती है । उत्कृष्ट मनोद्रव्यवर्गणामें एक अक मिलाने पर चौथी जघन्यअग्रहणद्रव्यवर्गणा होती है । यह भी ग्रहण योग्य नहीं होती । चौथी उत्कृष्ट अग्रहणद्रव्यवर्गणामें एक अक मिलाने पर जघन्यकार्मण-शरीरद्रव्यवर्गणा होती है । कार्मणद्रव्यवर्गणाके पुद्गलस्कन्ध आठ कर्मके योग्य होते हैं ।

इस प्रकार पूर्वपूर्वकी उत्कृष्ट वर्गणामें एक एक प्रदेशकी वृद्धि होने पर आगेकी जघन्य वर्गणा होती है । प्रथम परमाणुपुद्गलद्रव्यवर्गणाको छोड़कर प्रत्येक वर्गणाके अपने जघन्यसे लेकर उत्कृष्टपर्यन्त बहुतसे भेद होते हैं । धवला-टीकामें उनका कथन किया है । विस्तार भयसे यहाँ हमने कथन नहीं किया ।

इन तेईस वर्गणाओमेंमें आहारवर्गणा, तैजसवर्गणा, भापावर्गणा, मनोद्रव्य-वर्गणा और कार्मणवर्गणा ये पाँच वर्गणाएँ ही ग्राह्यवर्गणाएँ हैं क्योंकि जीवके द्वारा इनका ग्रहण होता है । अतः बन्धनीयमें इन पाँचकी ही उपयोगिता है, शेष-वर्गणाएँ बन्धनीय नहीं हैं । किन्तु शेषवर्गणाओका कथन किये बिना इन पाँच बन्धनीयवर्गणाओका कथन नहीं किया जा सकता । इसलिये बन्धनीयके सम्बन्ध-में २३ पुद्गलवर्गणाओका कथन किया गया है । और उसीके कारण इस पचम खण्डका नाम वर्गणा खण्ड है ।

धवलाटीकामें वीरसेनस्वामीने प्रत्येक शरीरद्रव्यवर्गणा और बादरनिगोद द्रव्यवर्गणाका विवेचन बहुत विस्तारसे किया है ।

इसके पश्चात् सूत्रकारने यह बतलाया है कि इन तेईस वर्गणाओमेंसे कौन वर्गणा

भेदसे उत्पन्न होती है, कौन वर्गणा सघातसे उत्पन्न होती है और कौन वर्गणा भेद और सघात दोनोंसे उत्पन्न होती है ।

स्कन्धोका विभाग होनेको भेद कहते हैं । और परमाणुपुद्गलोके सम्मिलनका नाम सघात है । तथा भेदपूर्वक होनेवाले सघातको भेदसघात कहते हैं ।

परमाणुद्रव्यवर्गणा तां द्विप्रदेशी आदि ऊपरकी वर्गणाओके भेदगे ही उत्पन्न होती है । शेष वर्गणाएँ भेदसे, सघातसे और भेदसघातसे उत्पन्न होती हैं । अर्थात् अपनेसे नीचेकी वर्गणाओके सघातसे और ऊपरकी वर्गणाओके भेदसे तथा स्वस्थान की अपेक्षा भेद-सघातसे उत्पन्न होती हैं ।

उक्त वर्गणाओका कथन करनेके पश्चात् सूत्रकार भूतवल्लिने कहा है—

‘अथ इस बाह्यवर्गणाकी अन्य प्ररूपणा करनी चाहिये ॥११७॥ इसके विषयमें ये चार अनुयोगद्वारा ज्ञातव्य हैं—शरीरिशरीरप्ररूपणा, शरीरप्ररूपणा, शरीर-विससोपचयप्ररूपणा और विससोपचयप्ररूपणा ॥११८॥’

धवलाटीकामे बतलाया है कि पाँचो शरीरोंकी बाह्यवर्गणा सज्ञा है । अतः सूत्रकारने उक्त चार अनुयोगोंके द्वारा उनका विशेष कथन किया है । सबसे प्रथम शरीरिशरीरप्ररूपणाका कथन करते हुए कहा कि ‘जीव प्रत्येकशरीरवाले और साधारणशरीरवाले होते हैं ॥११९॥ साधारणशरीरवाले जीव नियमसे वनस्पति-कायिक होते हैं । और शेष जीव प्रत्येकशरीरी होते हैं ॥१२०॥ आगे सात गाथाओंसे साधारणशरीरवाले जीवोंका कथन किया है । उनके प्रारम्भका सूत्र इस प्रकार है—‘तत्थ इमं साधारणलक्षणं भण्णिदं ॥१२१॥’ ‘वहाँ साधारणका यह लक्षण कहा है ।’ इससे स्पष्ट है कि साधारणका कथन करनेवाली गाथा या गाथाएँ प्राचीन हैं । और अपने स्थलसे ‘सम्भवतया’ महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके वचनअनुयोगद्वारा ही उठाकर यहाँ रखी गई है । यहाँ हम उन सातों गाथाओंको अर्थके साथ देते हैं—

“साहारणमाहारो साहारणमाणपाणगहणं च ।

साहारणजीवाणं साहारणलक्षणं भण्णिदं ॥१२२॥”

साधारण आहार, साधारण उच्छ्वास-निश्वासका ग्रहण, यह साधारणकायवाले जीवोंका साधारणलक्षण कहा है ।

‘एयस्स’ अणुग्रहणं बहूणं साहारणाणमेयस्स ।

एयस्स जं बहूणं समासदो तं पि होदि एयस्स ॥१२३॥’

एक जीवका जो अनुग्रहण (पर्याप्तियोंके योग्य पुद्गल परमाणुओंका ग्रहण

१. ‘इक्कस्स उ जं गहणं बहूणं साहारणाणं तं चेव । जं बहुयाणं गहणं समासदो तं पि इक्कस्स ॥१२६॥—प्रज्ञा० १ पद ।

अथवा निष्पन्न शरीरके योग्य परमाणु पुद्गलोका ग्रहण) है वह बहुतसे साधारण जीवोका तथा उस एक ग्रहण करनेवाले जीवका भी है । तथा बहुत जीवोका जो अनुग्रहण है वह गिण्डरूपसे उस एक विवक्षित निगोदिया जीवका भी है ।

‘समग वक्कताण समगं तेसिं सरीरणिप्पत्तो ।

समग च अणुग्गहण समग उस्सासणिस्सासो ॥१२४॥’

“एक साथ उत्पन्न होनेवाले उन जीवोके शरीरकी निष्पत्ति एक साथ होती है । एक साथ अनुग्रहण होता है और एक साथ उच्छ्वास-निश्वास होता है ।”

‘जत्थेउ मरइ जीवो तत्थ दु मरणं भवे अणताण ।

वक्कमइ जत्थ एक्को वक्कमण तत्थ णताण ॥१२५॥’

“जिस शरीरमे एक जीवका मरण होता है वहाँ अनन्त जीवोका सरण होता है और जिस शरीरमे एक जीव उत्पन्न होता है वहाँ अनन्त जीवोकी उत्पत्ति होती है ॥१२५॥”

‘वादर-मुहुमणिगोदा वद्धा पुट्ठा य एयमेएण ।

ते हु अणता जीवा मूलयथूहल्लयादीहि ॥१२६॥’

“वादरनिगोदजीव और सूक्ष्मनिगोदजीव ये परस्परमे वद्ध और स्पृष्ट होकर रहते हैं । वे जीव अनन्त होते हैं और मूलक, थूहर, आर्द्रक आदि कारणोंसे होते हैं ।”

‘अत्थि अणता जीवा जेहिं ण पत्तो तसाण परिणामो ।

भावकलंकअपउरा णिगोदवास ण मुंचति ॥१२७॥’

“ऐसे अनन्त जीव हैं जिन्होंने त्रसभावको प्राप्त नहीं किया, क्योंकि वे भावकलक अर्थात् सकलेशपरिणामोकी अधिकतासे युक्त होते हैं, इसलिये निगोदवासको नहीं छोड़ते ।”

‘एगणिगोदशरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा ।

सिद्धेहि अणतगुणा सव्वेण वि तीदकालेण ॥१२८॥’

“एक निगोदिया जीवके शरीरमें द्रव्यप्रमाणकी अपेक्षा समस्त अतीत कालमें सिद्ध हुए जीवोंसे भी अनन्तगुणे जीव देखे गये हैं ।”

इनमेंसे गाथा न० १२२, १२३ और १२४ श्वे० प्रज्ञापनासूत्रके प्रथम पदमें भी पाई जाती है । वहाँ इनका क्रम विपरीत है अर्थात् १२४ (९५), १२३ (९६) और १२२ (९७) के क्रमसे है । गाथा १२३ में पाठभेद भी है । अस्तु,

उक्त गाथाओंके पश्चात् सूत्रकारने लिखा है—

‘एदेण अट्ठपदेण तत्थ इमाणि अणियोगद्दाराणि णादव्वाणि भवति—सतपरू-

वणा, द्रव्यप्रमाणानुगमो, खेत्तानुगमो फोसणानुगमो, कालानुगमो, अतरानुगमो भावानुगमो अल्पवहुत्वानुगमो चेदि ॥ १२९ ॥

इस अर्थपदके अनुसार यहाँ ये अनुयोगद्वार ज्ञातव्य हैं—सत्प्ररूपणा, द्रव्य-प्रमाणानुगम, क्षेत्रानुगम, स्पर्शनानुगम, कालानुगम, अन्तरानुगम, भावानुगम और अल्पवहुत्वानुगम ।

ये आठो अनुयोगद्वार वही हैं, जिनका जीवद्वाराणके सत्प्ररूपणा अनुयोगद्वारके आदिमें पुष्पदन्ताचार्यने निर्देश किया था । भूतवल्लिने शरीरिशरीरप्ररूपणाका कथन इन्ही आठ अनुयोगोके द्वारा किया है ।

ओघसे कथन करते हुए कहा है कि—‘ओघसे दो शरीरवाले, तीन शरीर-वाले, चार शरीरवाले और शरीररहित जीव होते हैं ॥ १३१ ॥

विग्रह गतिमें वर्तमान चारो गतियोंके जीव दो शरीरवाले होते हैं क्योंकि उनके वहाँ तैजस और कार्मण ये दो ही शरीर होते हैं । औदारिक, तैजस और कार्मण शरीरवाले मनुष्य और तिर्थञ्च अथवा वैक्रियिक, तैजस और कार्मण शरीरवाले देव और नारकी तीन शरीरवाले होते हैं । औदारिक, वैक्रियिक, तैजस और कार्मण अथवा औदारिक, आहारक, तैजस और कार्मण शरीरवाले जीव चार शरीरवाले होते हैं । और मुक्त जीव शरीररहित होते हैं ।

आगे सूत्रकारने आदेशसे १४ मार्गणाओमें उक्त शरीरवाले जीवोंकी सत्ताका कथन किया है । सत्प्ररूपणाके पश्चात् छै अनुयोगद्वारोका कथन सूत्रकारने नही किया । टीकाकार वीरसेनस्वामीने धवलाटीकामें उनका कथन किया है । सूत्रकारने अन्तिम अल्पवहुत्वानुगमका कथन किया है । उसके साथ ही शरीरिशरीर-प्ररूपणाका कथन समाप्त हो जाता है । उसके पश्चात् शरीरप्ररूपणाका कथन प्रारम्भ होता है ।

शरीरप्ररूपणा

शरीरप्ररूपणा छै अनुयोगोके द्वारा की गई है । वे छै अनुयोगद्वार हैं—नाम-निरुक्ति, प्रदेशप्रमाणानुगम, निषेकप्ररूपणा, गुणकार, पदमीमासा और अल्प-बहुत्व ॥ २३६ ॥ नामनिरुक्तिमें सूत्रकारने प्रत्येक शरीरके नामकी निरुक्ति की है—‘उरालमिदि ओरालिय ॥२३७॥’ उदार—स्थूल होनेसे औदारिक कहा जाता है ।

‘विविहगुणइडिद्वजुत्तमिदि वेउव्वियं ॥ २३८ ॥’ विविध गुणो और ऋद्धियोसे युक्त होनेसे वैक्रियिक कहा जाता है ।

‘णिवुणाण वा णिणाणं वा सुहुमाण वा आहारदव्वाण सुहुमदरमिदि आहारय

॥ २३९ ॥ अर्थात् आहारद्रव्यमेंसे निष्पत्तर, स्निग्धतर और सूक्ष्मतर स्कन्धको आहार ग्रहण करता है, इसलिए आहारक कहा जाता है ।

‘तेयप्पहगुणजुत्तमिदि तेजइयं ॥ २४० ॥

तेज और प्रभा गुणसे युक्त है, इसलिये तैजस कहते हैं ।

‘सव्वकम्माण परूहणुप्पादय सुहदुक्खाणं बीजमिदि कम्मइय ॥ २४१ ॥

सब कर्मोंका प्ररोहण अर्थात् आधार, उत्पादक और सुख-दुःखका बीज है, इसलिये इसे कर्मण कहते हैं । इस प्रकार नामनिश्चितमें पाँचों शरीरोंके नामोंकी निश्चित की गई है ।

प्रदेशप्रमाणानुगममें बतलाया है कि प्रत्येक शरीरके प्रदेश अभव्योंसे अनन्त-गुणों और सिद्धोंके अनन्तवें भाग है । निषेकप्ररूपणाका कथन छै अनुयोगोंके द्वारा किया है । वे छै अनुयोग हैं—समुत्कीर्तना, प्रदेशप्रमाणानुगम, अनन्तरोपनिधा, परम्परोपनिधा, प्रदेशविरच और अल्पबहुत्व ।

इन छै अनुयोगद्वारोंका कथन करनेके पश्चात् पदमीमासानामक अनुयोगद्वारका कथन है । उसमें बतलाया है कि औदारिकशरीरके उत्कृष्ट प्रदेशाग्रका स्वामी तीन पत्न्यकी आयुवाला उत्तरकुरु और देवकुरुका मनुष्य होता है ॥ ४१८ ॥

आगे अनेक सूत्रोंके द्वारा उसकी अन्य विशेषताएँ भी बतलाई हैं, जिनके होनेसे ही वह उत्कृष्टप्रदेशसंचयका स्वामी होता है ।

वैक्रियिकशरीरके उत्कृष्ट प्रदेशाग्रका स्वामी बाईस सागरकी स्थितिवाला आरण-अच्युतकल्पका वासी देव होता है ॥ ४३१ ॥ उसकी भी अनेक विशेषताएँ बतलाई हैं । आहारकशरीरके उत्कृष्ट प्रदेशाग्रका स्वामी उत्तरशरीरकी विक्रिया करने वाला प्रमत्तसयत्त मुनि होता है ॥ ४४६ ॥ तैजसशरीरके उत्कृष्ट प्रदेशाग्रका स्वामी वह है जो पूर्वकोटिकी आयुवाला जीव सातवी पृथिवीके नारकियोंकी आयुका बन्ध करके सातवी पृथिवीमें उत्पन्न हुआ, वहाँसे निकल कर पुन पूर्वकोटिकी आयुवालोंने उत्पन्न हुआ । उसी प्रकार मरण करके पुन सातवी पृथिवीके नारकियोंमें उत्पन्न हुआ । वहाँ तेतीस सागरकी आयुको पालता हुआ रहा । चरम समयवर्ती वह जीव तैजस शरीरके उत्कृष्ट प्रदेशाग्रका स्वामी होता है ।

कर्मणशरीरके उत्कृष्ट प्रदेशाग्रका स्वामी वह जीव होता है जो बादर-पृथिवीकायिक जीवोंमें दो हजार सागर कम कर्मस्थितिप्रमाणकाल तक रहता है । इत्यादि ।

इसी तरह प्रत्येकशरीरके जघन्य प्रदेशाग्रके स्वामीका भी कथन किया है । अल्पबहुत्वमें बतलाया है कि औदारिकशरीरका प्रदेशाग्र सबसे थोड़ा है । उससे वैक्रियिकशरीरका प्रदेशाग्र असख्यातगुणा है ॥ ४९८ ॥ उससे आहारकशरीरका

प्रदेशाग्र असख्यातगुणा है ॥४९९॥ उससे तैजसशरीरका प्रदेशाग्रका अनन्त-गुणा है ॥५००॥ उससे कार्मणशरीरका प्रदेशाग्र अनन्तगुणा है ॥५०१॥

शरीरविस्रसोपचयग्ररूपणाका कथन अविभागप्रतिच्छेद, वर्गणा, स्पर्धक, अन्तर, शरीर और अल्पबहुत्व इन छै अनुयोगोके द्वाग किया गया है। इनके कथनमे बतलाया है कि एक-एक औदारिकशरीरमे सब जीवोंसे अनन्तगुणे अविभागी प्रतिच्छेद होते हैं। अनन्त अविभागी प्रतिच्छेदोकी एक वर्गणा होती है। इस प्रकार अभव्योमे अनन्तगुणी और सिद्धोके अनन्तवे भागप्रमाण वर्गणाएँ होती हैं और अभव्योसे अनन्तगुणी और सिद्धोके अनन्तवे भाग वर्गणाओका एक स्पर्धक होता है। इस प्रकार अभव्योमे अनन्तगुणे और सिद्धोके अनन्तवे भाग-प्रमाण अनन्त-स्पर्धक होते हैं ॥५०१॥ तथा शरीरके बन्धनके कारणभूत गुणोका बुद्धिके द्वारा छेद करने पर अविभागी प्रतिच्छेद उत्पन्न होते हैं ॥५१२॥ औदारिक शरीरके अविभागी प्रतिच्छेद सबसे कम है। उससे आगेके शेष चार शरीरोंके अविभागी प्रतिच्छेद उत्तरोत्तर अनन्तगुणे होते हैं।

इसी तरह विस्रसोपचयका कथन करते हुए बतलाया है कि एक-एक जीव-प्रदेशपर अनन्त विस्रसोपचय उपचित होते हैं, जो कि सब जीवोंसे अनन्त गुणे हैं और वे सब लोकमेंसे आकर बद्ध हुए हैं। इत्यादि रूपसे विस्रसोपचयका कथन पूर्ण होनेके साथ बाह्यवर्गणाका कथन समाप्त होता है।

‘इससे आगेके गन्थका नाम चूलिका है ॥५८१॥’ ऐसा स्वयं सूत्रकारने निर्देश किया है।

चूलिका

जैसा कि चूलिकाका लक्षण कहा है, इसमें पहले सूचित किये गये अर्थोंका विशेष रूपसे कथन किया गया है। पहले जो ‘जत्थेय मग्दि जीवो’ आदि गाथा कही थी उसके उत्तरार्धमें कहा गया था कि ‘जिस शरीरमें एक जीव उत्पन्न होता है वहाँ अनन्त जीव उत्पन्न होते हैं।’ उसीका विशेष कथन प्रारम्भमें किया गया है। तत्पश्चात् उक्त गाथाके पूर्वार्धका, जिसमें कहा है कि ‘जिस शरीरमें एक जीवका मरण होता है वहाँ अनन्तानन्त जीवोंका मरण होता है’, विशेष कथन किया है।

पहले तेईस वर्गणाओका कथन किया है। उसमें बतलाया है कि ये वर्गणाएँ ग्रहणयोग्य हैं और ये वर्गणाएँ गृहणयोग्य नहीं हैं। उसीका कथन करनेके लिए—बन्धनीयके चार अनुयोगद्वारा ज्ञातव्य बतलाये हैं—वर्गणा, वर्गणानिरूपणा, प्रदेशार्थता और अल्पबहुत्व ॥७०६॥

वर्गणाप्ररूपणामें पुरानी बात ही दोहराई है—‘आहार द्रव्यवर्गणाके ऊपर अग्रहण द्रव्यवर्गणा होती है । अग्रहण द्रव्यवर्गणाके ऊपर तेजोद्रव्यवर्गणा होती है, इत्यादि । यहाँ केवल पाँच ग्रहणवर्गणापर्यन्त ही उक्त कथनको दोहराया है क्योंकि यहाँ पाँच शरीरोके ग्रहणयोग्य और अग्रहणयोग्यका ही कथन किया है । अत इस वर्गणाप्ररूपणाके ७०८ से ७१८ तकके सूत्र बन्धनअनुयोगद्वारकी वर्गणा-प्ररूपणाके ७६ से ८७ तकके सूत्रोके साथ प्राय अक्षरश मिलते हैं । इसीसे सूत्र नं० ७१८ की धवलाटीकामें बीरसेनस्वामीने लिखा है कि इन सब सूत्रोंके द्वारा पूर्वोक्त वर्गणाओकी ही सम्हाल की गई है ।

दूसरे वर्गणानिरूपणाअनुयोगद्वारमें पाँचों शरीरोंके ग्रहणयोग्य और अग्रहण-योग्य वर्गणाओका थोडा प्रकारान्तरसे कथन किया है । इस कथनमें आहार-वर्गणा आदि पाँचो ग्रहणवर्गणाओका और उनके मध्यकी अग्रहणवर्गणाओंका स्वरूप भी बतलाया है । यथा—‘औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीरके जिन द्रव्योको ग्रहण कर जीव औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीर रूपसे परिणमाते हैं उन द्रव्योकी आहारवर्गणा सज्ञा है ॥७३॥’ ‘जिन द्रव्योको ग्रहण कर जीव तैजसशरीररूपसे परिणमाता है उन द्रव्योकी तैजसवर्गणा संज्ञा है ॥’ इसी तरह जो वर्गणा चार प्रकारकी भापारूपसे ग्रहण होकर प्रवृत्त होती है वह भापावर्गणा है और जो वर्गणा चार प्रकारके मनरूपसे ग्रहण होकर प्रवृत्त होती है वह मनोवर्गणा है । जो वर्गणा आठ प्रकारके कर्मरूपसे ग्रहण होकर प्रवृत्त होती है वह कर्मवर्गणा है ।

प्रदेशार्थता-अनुयोगद्वारमें बतलाया है कि औदारिकशरीरवर्गणा, वैक्रियिक-शरीरवर्गणा और आहारकशरीरवर्गणामें तो पाँचो वर्ण, पाँचो रस, दोनो गंध और और आठो स्पर्श गुण होते हैं । किन्तु तैजसशरीरद्रव्यवर्गणा, भापा-द्रव्यवर्गणा, मनोद्रव्यवर्गणा और कर्मवर्गणावर्गणामें पाँचों वर्ण, पाँचो रस, दोनो गन्ध होते हैं किन्तु स्पर्श चार ही होते हैं—स्निग्ध या रूक्ष, शीत या उष्ण, कठोर या कोमल, और गुरु अथवा लघु ।

अल्पबहुत्वमें प्रदेशोकी अपेक्षा उक्त वर्गणाओके अल्पबहुत्वका कथन किया है । अल्पबहुत्वकी समाप्तिके साथ ही बन्धनीय अनुयोगद्वार समाप्त हो जाता है ।

बन्ध, बन्धक, बन्धनीयका कथन कर चुकनेके पश्चात् केवल एक बन्ध-विधान शेष बचता है । वर्गणाखण्डके अन्तिम सूत्रमें उसका निर्देश करते हुए केवल इतना कहा है—‘जो बन्धविधान है वह चार प्रकारका है—प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध ॥७९७॥

१४४ • जैनसाहित्यका इतिहास

इस सूत्रकी धवलाटीकामें श्रीवीरगेनस्वाभीने लिखा है—‘इन चारों बन्धो-का विधान भूतबलीभट्टारकने महाबन्धमें विस्तारके साथ लिखा है । इसलिये यहाँ हमने नहीं लिखा । अतः मूल महाबन्धका यहाँ कथन करनेपर बन्धविधान समाप्त होता है ।

इस तरह पाँचवें वर्णणागण्डकी समाप्तिके साथ भूतबली विरचित षट्गण्डागमके पाँच खण्ड समाप्त हो जाते हैं । किन्तु चूँकि महाबन्धकी प्रथमे अलग स्वतंत्र ग्रंथके रूपमें गिना जाता है, अतः वर्णणागण्डके साथ ही षट्गण्डागम नामक ग्रन्थ समाप्त हो जाता है ।

इसकी सूत्रसंख्या इस प्रकार है—

१ जीवद्वाराण	प्र० पुस्तक १	सत्प्ररूपणा	१७७ सूत्र सख्या
	पुस्तक ३	द्रव्यप्रमाण	१९२ ”
	पुस्तक ४	क्षेत्रानुगम	९२ ”
	”	स्पर्शानुगम	१८५ ”
	”	कालानुगम	३४२ ”
	पुस्तक ५	अन्तर	३९७ ”
	”	भाव	९३ ”
	”	अल्पबहुत्व	३८२ ”
	पु० ६ चूलिका—	प्रकृतिसमुत्कीर्तन	४६ ”
	”	स्थानसमुत्कीर्तन	११७ ”
	”	प्रथम महादण्डक	२ ”
	”	द्वितीय महादण्डक	२ ”
	”	तृतीय महादण्डक	२ ”
	”	उत्कृष्टस्थितिचू०	४४ ”
	”	जघन्यस्थितिचू०	४३ ”
	”	सम्यक्त्वोत्पत्तिचू०	१६ ”
	”	गत्यागतिचूलिका	२४३ ”
२. खुदाबन्ध	पुस्तक ७	सत्त्वप्ररूपणा	४३ ”
	”	एक जीवकी अपेक्षा स्थायित्व	९१ ”
	”	एक जीवकी अपेक्षा काल	२१६ ”
	”	एक जीवकी अपेक्षा अन्तर	१५१ ”
	”	नानाजीवोकी अपेक्षा भंगविचय	२३ ”
	”	द्रव्य प्रमाणानुगम	१७१ ”

२ खुदाबंध	७ पुस्तक	क्षेत्रानुगम	१२४ सूत्र स०
"	"	स्पर्शनानुगम	२७९ "
"	"	नाना जीवोकी अपेक्षा कालानुगम	५५ "
"	"	" " अन्तरानुगम	६८ "
"	"	भागाभागानुगम	८८ "
"	"	अल्पवहुत्वानुगम	२०५ "
"	"	महादण्डक	७९ "
३ बन्धस्वामित्वविचार	८ पुस्तक	बन्धस्वामित्व	३२४ "
४ वेदना	९ पु०	कृतिअनुयोगद्वार	७६ ,
"	१० पु०	वेदनानिक्षेप	३ "
"	"	नयविभाषणता	४ "
"	"	नामविधान	४ "
"	"	द्रव्यविधान	२१३ "
"	११ पुस्तक	क्षेत्रविधान	९९ "
"	"	कालविधान	२७९ "
"	१२ पुस्तक	भावविधान	३१४ , गा०स०८
"	"	प्रत्ययविधान	१६ "
"	"	स्वामित्वविधान	१५ "
"	"	वेदनाविधान	५८ "
"	"	गतिविधान	१२ "
"	"	अनन्तरविधान	११ "
"	"	सन्निकर्षविधान	३२० "
"	"	परिमाणविधान	५३ "
"	"	भागाभागविधान	२१ "
"	"	अल्पवहुत्व	२६ "
५ वर्गणाखण्ड	१३ पुस्तक	स्पर्शअनियोगद्वार	३३ , गा० २
"	"	कर्मानुयोगद्वार	३१ "
"	"	प्रकृतिअनुयोगद्वार	१४२ , गा० १७
"	१४ पुस्तक	बन्धनअनुयोगद्वार	७९७ "

कुल सूत्रसंख्या ६८१९, गा०स० २७

कसायपाहुड और छक्खंडागमका तुलनात्मक विवेचन
कसायपाहुड और छक्खंडागमके विश्लेषण और विवेचनके अनन्तर उक्त
१०

१४६ : जैनसाहित्यका इतिहास

दोनों गिद्धान्त-ग्रन्थोंके तुलनात्मक अध्ययनपर प्रकाश डालना अनुचित न होगा। शैली और भाषाकी दृष्टिसे दोनोंकी भिन्नता पहले ही लिखी जा चुकी है। अतएव इस सन्दर्भमें विषय-वस्तुके प्रतिपादनकी दृष्टिसे दोनोंका तुलनात्मक निरूपण आवश्यक है।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि छक्खंडागमके वेदना और वर्गणा गड्ढे पच्चीस गाथा-सूत्र आये हैं, जो प्राचीन प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार कसायपाहुडकी भी कुछ गाथाएँ गुणधर-विरचित न भी हो, पर वे जिग कसायपाहुडकी उपसंहृत किया गया है उमीने ज्यो-जी-त्यो ले ली गयी हो। यत प्राचीन परिपाटी ऐसी रही है।

एक विचारणीय बात यह है कि कसायपाहुड और छक्खंडागमकी कुछ गाथाएँ अन्य ग्रन्थोंमें मिलती हैं। परन्तु कसायपाहुडकी कोई भी गाथा न तो छक्खंडागममें मिलती है और न छक्खंडागमकी कोई गाथा कसायपाहुडमें ही उपलब्ध होती है। अन्य भी कोई ऐसा तथ्य नहीं मिलता है, जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि एककी छाया दूसरेपर है अथवा एकके रचयिताने दूसरेकी कृतिको देखा है। किन्तु थोड़ा-सा सादृश्य जहाँ प्रतीत होता है उसका उल्लेख कर देना भी अनुचित न होगा।

कसायपाहुडके सम्यक्त्वअधिकारके प्रारम्भमें चार गाथाओंके द्वारा पृच्छा की गयी है। गाथाएँ इस प्रकार हैं—

दसणमोहउवसामगस्स परिणामो केरिसो हवे ।
जोगे कसाय उवजोगे लेस्सा वेदो य को भवे ॥९१॥
काणि वा पुव्व वद्धाणि के वा असे णिवंधदि ।
कदि आवलिय पविसति कदिण्हं वा पवेसगो ॥९२॥
के असे झीयदे पुव्वं वंधेण उदएण वा ।
अंतरं वा कहि किच्चा के के उवसामगो कहि ॥९३॥
कि द्विदियाणि कम्माणि अणुभागेषु केसु वा ।
ओवट्टेद्वण सेसाणि कं ठाणं पाडवज्जदि ॥९४॥

अर्थ — दर्शनमोहका उपशम करने वाले जीवका परिणाम कैसा होता है ? किस योग, कपाय और उपयोगमें वर्तमान होता है, उसके कौन-सी लेश्या और कौन-सा वेद होता है ? ॥९१॥ उसके पूर्ववद्ध कर्म कौनसे हैं और अब कौनसे नवीन कर्माशिको बाधता है ? किन-किन प्रकृतियोंका उसके उदय होता है और किन-किनकी वह उदीरणा करता है ? ॥९२॥ दर्शनमोहके उपशमकालसे पूर्व बन्ध अथवा उदयकी अपेक्षा कौन-कौनसे कर्माश क्षीण होते हैं ? कहाँ अन्तर करता है और कहाँपर किन-किन कर्मोंका उपशामक होता है ? ॥९३॥ किस-किस स्थिति और

अनुभाग वाले किन-किन कर्मोंका अपवर्तन करके किस स्थानको प्राप्त करता है और अवशिष्ट कर्म किस-किस स्थिति और अनुभागको प्राप्त होते हैं ?

उधर जीवस्थानकी^१ चूलिकाके आरम्भमे ये पृच्छाएँ की गई हैं—

‘कदिकाओ पयडीओ वधदि, केवडि कालट्ठिदिएहि कम्मेहि सम्मत लब्भदि वा ण लब्भदि वा, केवच्चिरेण कालेण वा कदि भाए का करेदि मिच्छत्त, उवसामणा वा खवणा वा केसु व खेत्तेसु कस्स व मूले केवडियं वा दसणमोहणीय कम्म खवेत्तस्स चारित्त वा सपुण्ण पडिवज्जनस्स ॥१॥’

अर्थ—सम्यक्त्वको उत्पन्न करने वाला मिथ्यादृष्टि जीव कितनी और किन प्रकृतियोंको बाँधता है ? कितनी कालस्थिति वाले कर्मोंके द्वारा सम्यक्त्वको प्राप्त करता है अथवा नहीं प्राप्त करता है ? कितने कालके द्वारा मिथ्यात्वकर्मको कितने भागरूप करता है और किन-किन क्षेत्रोंमें तथा किसके पासमें कितने दर्शनमोहनीयकर्मको क्षपण करने वाले जीवके और सम्पूर्ण चारित्रिकको प्राप्त होने वाले जीवके मोहनीयकर्मकी उपशामना और क्षपणा होती है ? ॥१॥

दोनों ग्रन्थोंका प्रकरण एक ही है और पृच्छापूर्वक कथन करनेकी जैन आगमिक शैली है । किन्तु कसायपाहुडपे उक्त चार गाथाओंके द्वारा केवल पृच्छा ही की गई है । इन पृच्छाओंका उत्तर तो चूर्णिसूत्रकारने दिया है । किन्तु जीवस्थानचूलिकामें प्रारम्भमें सामूहिक रूपसे सब पृच्छाओंको देकर फिर एक-एक प्रकरणमें एक-एक पृच्छाका उत्तर दिया है । दोनों ग्रन्थोंकी उक्त पृच्छाओंमें केवल दो पृच्छा ऐसी हैं जो आपसमें मेल खाती हैं । किन्तु इतने मात्रसे निष्कर्ष निकालना तो दूर, कोई सभावना भी नहीं की जा सकती ।

इसी तरह कसायपाहुडके इसी प्रकरणमें आगे १५ गाथाएँ आती हैं । उनमेंसे दो गाथाएँ उल्लेखनीय हैं । उनमें एक गाथा इस प्रकार है—

दसणमोहस्सुवसामणो दु चट्ठसु वि गदीसु बोद्धव्वो ।

पच्चिदिओ य सण्णी णियमा सो होई पज्जत्तो ॥९५॥

अर्थ—दर्शनमोहनीयकर्मका उपशम करने वाला जीव चारों ही गतियोंमें जानना चाहिये । वह जीव नियमसे पञ्चैन्द्रिय, सज्ञी और पर्याप्तक होता है ।

जीवस्थानकी सम्यक्त्वोपत्तिचूलिकामें इसीको विस्तारसे कहा है । यथा—

‘उवसामेंतो^२ कम्हि उवसामेदि, चट्ठसु वि गदीसु उवसामेदि । चट्ठसु वि गदीसु उवसामेंतो पच्चिदिएसु उवसामेदि, णो एद्ददियविगल्लिदिएसु । पच्चिदिएसु उवसामेंतो सण्णीसु उवसामेदि, णो असण्णीसु । सण्णीसु उवसामेंतो गम्भोवक्कतिएसु

१ पट्ख०, पु० ६, पृ० १ ।

२ पट्ख०, पु० ६, पृ० २३८

उवसामेदि णो सम्मुच्छिमेसु । गम्भोवयकंतिएसु उवसामेंतो पज्जत्तएसु उवसामेदि णो अपज्जत्तएसु । पज्जत्तएसु उवसामेंतो संखेज्जवस्साउगेसु वि उवसामेदि, असंखेज्जवस्साउगेसु वि ॥९॥

अर्थ—दर्शनमोहनीयकर्मको उपशमाता हुआ जीव कहाँ उपशमाता है ? चारो ही गतियोंमें उपशमाता है । चारो ही गतियोंमें उपशमाता हुआ पञ्चेन्द्रियोमें उपशमाता है, एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रियोंमें नहीं उपशमाता है । पचेन्द्रियोंमें उपशमाता हुआ सन्नियोंमें उपशमाता है, असन्नियोंमें नहीं । सन्नियोंमें उपशमाता हुआ गर्भज जीवोंमें उपशमाता है, सम्मूर्छनजन्मवालोंमें नहीं । गर्भजोंमें उपशमाता हुआ पर्याप्तिकोमें उपशमाता है, अपर्याप्तिकोमें नहीं । पर्याप्तिकोमें उपशमाता हुआ सख्यातवर्षकी आयुवाले जीवोंमें भी उपशमाता है, और असख्यातवर्षकी आयुवाले जीवोंमें भी उपशमाता है ॥९॥

दोनोकी तुलना करनेसे ऐसा आभास होता है कि ऊपरकी गाथाकी ही विभाषा नीचेके सूत्र द्वारा की गई है । किन्तु इतनेसे यह नहीं कहा जा सकता कि पट्खण्डागमकारके सम्मुख कसायपाहुड था । अतः इस तरहके उल्लेखोंके आधार-पर कोई निश्चित निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता ।

कसायपाहुडके^१ प्रदेशविभक्तिनामक अधिकारमें चूर्णिकारने मिथ्यात्वकर्म जघन्यप्रदेशसत्कर्मके स्वामीका कथन किया है और पट्खण्डागमके वेदनाखण्डके वेदनाद्रव्यविधान नामक अनुयोगद्वारमें द्रव्यसे ज्ञानावरणीयकर्मकी जघन्य-वेदनाके स्वामीका कथन किया है । दोनोका यह कथन कुछ अर्थदृष्टिसे और कुछ शब्द-दृष्टिसे भी परस्परमें मेल खाता है । यद्यपि दोनो ग्रन्थकारोंमें उक्त विषयमें कुछ मौलिक मतभेद भी हैं, जो दोनो उद्धरणोंसे स्पष्ट हैं और जिसकी चर्चा आगे करेंगे, तथापि दोनोका यह साम्य भी उल्लेखनीय है । इस साम्यका कारण यह भी हो सकता है, कि दोनो ग्रन्थकारोंको अपनी-अपनी परम्परासे वह इसी रूपमें प्राप्त

१ सुहुमणिगोदेसु कम्मट्ठिदिमच्छिदाउओ । तत्थ सच्चवहुआणि अपज्जतभवग्गहणाणि । दीहाओ अपज्जत्तद्धाओ । जदा जदा आउअ वधदि तदा तदा तप्पाओग्ग-उक्कस्सण्णसु जोगट्ठाणेसु वधदि । हेट्ठिल्लीणं टिठ्ठीदीणं णिसेयस्स उक्कस्स पदेस तप्पाओग्ग उक्कस्सविसोहिमभिक्ष गदो—क० पा० सु०, पृ० १८८ ।

‘जो जीवो सुहुमणिगोदजीवेषु पल्लिदोवमस्स असखिज्जदिभागेण ऊणिय कम्मट्ठिदि मच्छिदो । तत्थ थ ससरमाणस्स बहुआ अपज्जतभवा, थोवा पज्जतभवा । दीहाओ अप-ज्जत्तद्धाओ रहस्साओ पज्जत्तद्धाओ । जदा जदा आउअ वधदि तदा तदा तप्पाओग्ग-उक्कस्सण्ण जोगेण वधदि । उवरित्ठीणं टिठ्ठीदीणं जिसेयस्स जहण्णपदे हेट्ठिल्लीणं टिठ्ठीदीणं जिसेयस्स उक्कस्सपदे बहुसो बहुसो जहण्णाणि जोगट्ठाणाणि गच्छदि । बहुसो बहुसो मदसकिलेसपरिणामो भवदि ।—पट्खं, पु० १०, पृ० २६८-२७६ ।

हुआ हो, क्योंकि मूल सिद्धान्त तो एक ही है, किन्तु उनमें जो मौलिक मतभेद हैं उसको देखते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि केवल यह अश चूर्णिसूत्रकारने वेदनाखण्डसे लिया होगा।

पहले हम लिख आये हैं कि कसायपाहुड (चूर्णिसूत्रसहित) और षट्खण्डागम ये दोनो दो भिन्न आचार्यपरम्पराओके उत्तराधिकारी हैं क्योंकि दोनोमें अनेक सैद्धान्तिक मतभेद हैं। अतः उन दोनोका उद्गम यदि स्वतंत्र भावसे हुआ हो तो असंभव नहीं है। फिर यह हम पहले लिख आये हैं कि यतिवृषभके गुरु नाग-हस्ती भी कर्मप्रकृतिप्रधान थे और यतिवृषभने अपने चूर्णिसूत्रोंमें कर्मप्रकृतिका निर्देश किया है। अतः यह संभव है कि यतिवृषभ भी महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके ज्ञाता हो, जिसके आधारपर षट्खण्डागमके सूत्र रचे गये हैं। अतः दोनोमें क्वचित् शब्दगत या अर्थगत साम्य हो सकता है।

छक्खण्डागम और पणवणा

षट्खण्डागममें चर्चित विषयोका कोई-कोई अश विभिन्न इवे० आगमिक साहित्यमें मिलता है। यथा, षट्खण्डागमके वर्गणाखण्डके अन्तर्गत बन्धनअनुयोग-द्वारके आदिमें विस्रसाबन्ध और प्रयोगबन्धके भेदो-प्रभेदोका कथन है। भगवती सूत्रके ८वें शतकके नौवें उद्देशमें भी वही कथन किञ्चित् अन्तरके साथ पाया जाता है। बन्धनअनुयोगद्वारमें^१ प्रयोगबन्धके दो भेद किये हैं—कर्मबन्ध और नोकर्मबन्ध। तथा नोकर्मबन्धके पाँच भेद किये हैं—आलापनबन्ध, अल्लीवनबन्ध, सरलेषबन्ध, शरीरबन्ध और शरीरीबन्ध। भगवतीसूत्रमें प्रयोगबन्धके तीन भेद किये हैं—अनादिअपर्यवसित, सादिअपर्यवसित और सादिसपर्यवसित। तथा सादिसपर्यवसितके चार भेद किये हैं—आलापनबन्ध, अल्लियावणबन्ध, शरीर-बन्ध और शरीरप्रयोगबन्ध। दोनो ग्रन्थोंमें अपने-अपने ढंगसे इन बन्धोंके जो लक्षण दिये हैं उनमें शब्दभेद होते हुए भी अभिप्रायभेद नहीं है।

षट्खण्डागमकी जीवस्थानचूलिकामें जो कर्मोंकी जघन्य स्थिति, उत्कृष्ट स्थिति तथा आवाधा आदिका कथन है, प्रज्ञापनाके २३वें आदि पदोंमें भी उसीसे मिलताजुलता हुआ कथन है। जैसे, जीवस्थानचूलिकाके आरम्भमें 'कदिकाओ पयडीओ वधदि' इत्यादि प्रथमसूत्रके द्वारा पाँच प्रश्नोका सूत्रपात करके फिर क्रमसे एक-एक चूलिकाके द्वारा उसका उत्तर दिया गया है। प्रज्ञापनाके^२ २३ वें पदके

१ षट्ख० पु० १४, पृ० ३६ आदि।

२ 'कति पगडी कहि वधइ कतिहि टठाणेहि वधई जीवो। कइ वेदेइ य पगडी अणभाओ कतिविहो कस्स ॥१॥'—प्रज्ञा०

प्रारम्भमें भी एक गाथाके द्वारा कर्मविषयक पाँच प्रश्नोंको उठाया गया है—१ कितनी प्रकृतियाँ हैं ? २ किस प्रकारसे उनका बन्ध होता है, ३ कितने स्थानोंके द्वारा बन्ध होता है, ४. कितनी प्रकृतियोंका जीव वेदन करता है, और ५ किस कर्मका अनुभाग कितने प्रकारका होता है ? और फिर क्रमसे इन पाँचों प्रश्नोंका समाधान किया गया है ।

मूलकर्मोंका नाम बतलानेके पश्चात् उत्तरप्रकृतियोंकी गणना जैसे चूलिकामें की है, प्रज्ञापनामें भी की है । चूलिकामें प्रत्येक उत्तरप्रकृतिका नाम गिनाया है । प्रज्ञापनामें कही पूरा नाम गिनाया है तो कही सक्षिप्त । जिस प्रकार छठी चूलिका^१-में कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थिति, उनकी आवाधा और निपेक बतलाये हैं, प्रज्ञापनामें भी अपने ढंगसे उनका उसी प्रकार कथन किया है । चूलिकामें जघन्य और उत्कृष्ट स्थितिका कथन पृथक् पृथक् किया है, प्रज्ञापनामें^२ एक साथ है । विषयकी दृष्टिसे दोनों ग्रन्थोंके अन्य भी कोई-कोई कथन मिलते हुए हैं । किन्तु प्रज्ञापनामें सकलित कर्मविषयक कथन साधारण कोटिका है । भगवती और प्रज्ञापना दोनों ही सग्रह ग्रन्थ हैं, जिनमें विविध विषय सगृहीत हैं । उनके देखनेसे प्रकट होता है कि उनकी सकलनाके समय श्रुतका कितना विच्छेद हो चुका था और अवशिष्ट अशोको सुरक्षित रखनेका किस प्रकार प्रयत्न किया गया था ।

ग्यारहवाँ अंग विपाकसूत्र कर्मसिद्धान्तसे ही सम्बद्ध था, किन्तु उपलब्ध विपाकसूत्रमें वह बात नहीं है, यह उसका परिचय कराते हुए बतला चुके हैं । कसायपाहुड, चूर्णिसूत्र, षट्खण्डागम तथा प्रज्ञापना आदि आगमिक साहित्यके पर्यवेक्षणसे एक बात स्पष्ट है कि प्रश्नपूर्वक कथन करनेकी ही प्राचीन आगमिक-शैली थी ।

छक्खण्डागम और कर्मप्रकृति

एक कर्मप्रकृति नामक प्राचीन ग्रन्थ श्वेताम्बर परम्परामें मान्य है । उसकी उपान्त्य गाथामें कहा गया^३ है कि 'मुञ्ज अल्पबुद्धिने जो जैसा सुना वैसा कर्मप्रकृति

१. 'पचण्ह णाणावरणीयाण णवण्ह दमणावरणीयाण असादावेदणीय पचण्हमतराइयाण-मुक्कस्सओ टिट्ठिदिवधो तीस सागरोवमकोडाकोडीओ ॥४॥ तिण्णि वाससहस्साणि आवाधा ॥५॥ आवाधूणिआ कम्मट्ठिदी कम्मणिसेओ ॥६॥'—षट्ख०, पु० ६, पृ० १४६-१५० ॥

२. 'नाणावरणिज्जस्स ण भते । कम्मस्स केवतिय काल ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! जहन्नेण अतोमुहुत्त उक्कोसेण तीस सागरोवमकोडाकोडीओ तिन्निय वाससहस्साइ अबाहा अवाहूणिता कम्मठिई कम्मणिसेगो ।'—प्रज्ञा०, २३ प० ।

३. 'इय कम्मप्पगडीओ जहासुय तीयम्पभ ईणा वि । सोहियाणाभोगकय कह तु वरदिट्ठीवायन्नु ॥५६॥—कर्मप्र०, सत्ता० ।

से इस ग्रन्थका उद्धार किया। जो मुझसे स्खलित कथन हुआ हो, दृष्टिवादके ज्ञाता उसे शुद्ध करके कहें।' इस परसे इस कर्मप्रकृतिको भी उसी कर्मप्रकृति प्राभूतसे उद्धृत कहा जाता है, जिसके आधारपर पट्खण्डागमसूत्रोकी रचना हुई थी। किन्तु दोनोंकी तुलना करनेसे यह प्रकट नहीं होता कि भूतबलि आचार्य जिस प्रकार महाकर्मप्रकृतिप्राभूतके ज्ञाता थे, उस प्रकार कर्मप्रकृतिकार भी उसके ज्ञाता थे। हाँ, उसके कुछ अशोके वे ज्ञाता अवश्य थे, जिन्हें उन्होंने दृष्टिवादके वचे अवशिष्टाशके रूपमें गुरुमुखसे श्रवण किया होगा और इसलिए कर्मप्रकृति-की प्रथम गाथाकी उत्थानिकाकी चूर्णमें चूर्णिकारने जो कुछ कहा है वही समुचित प्रतीत होता है। चूर्णिकारने कहा है कि—'दुषमाकालके कारण जिनकी बुद्धि, आयुष्य वगैरह घटता जाता है ऐसे आजकलके साधुजनोका उपकार करनेकी कामनासे आचार्यने विच्छिन्न हुए कर्मप्रकृति नामक महाग्रन्थके अर्थका ज्ञान कराने-के लिए उसी सार्थक नामवाले कर्मप्रकृतिसग्रहणी नामक प्रकरणको आरम्भ किया है।' अतः कर्मप्रकृतिप्राभूतका विच्छेद होनेपर ही उक्त कर्मप्रकृतिसग्रहणी नामक ग्रन्थ रचा गया है। उसका नाम कर्मप्रकृतिसग्रहणी है, यही उसके लिए उचित भी है। उसीको लघु करके कर्मप्रकृति नामसे उसकी ख्याति हुई है।



तृतीय परिच्छेद

महाबन्ध

कसायपाहुड और छक्खडागम इन दो मूल आगम-ग्रन्थोंके रचयिता, रचना-काल, विषयवस्तु एवं उनके महत्वके विवेचनके पश्चात् तृतीय आगम-ग्रन्थ महाबधका विमर्श उपस्थित किया जा रहा है। यहाँ यह स्मरणीय है कि इस महाबध सिद्धान्तग्रन्थके रचयिता भी आचार्य भूतबलि है।

यह सिद्धान्त-ग्रन्थ छक्खण्डागमका अन्तिम खण्ड है। अपनी विशालता और विषयकी गम्भीरताके कारण इसे स्वतन्त्र सिद्धान्त-ग्रन्थकी सजा प्राप्त है।

आचार्य वीरसेनने छक्खडागमपर अपनी धवलाटीका लिखी है, पर उनकी यह टीका पूर्वके पाँच खण्डोंपर ही है। इस छठे खण्डपर इनकी टीका नहीं है और न अन्य किसी आचार्यकी टीका प्राप्त है। इसका प्रधान कारण यही है कि आचार्य भूतबलिने इसे स्वयं विवरणात्मक शैलीमें रचा है। जो ग्रन्थ इस शैलीमें लिखा जाता है, उसपर भाष्य या वृत्तियाँ बड़ी कठिनाईसे लिखी जाती हैं। यत् सुगम-पर विवृत्ति या भाष्य लिखनेमें सौकर्य रहता है और उसकी व्याख्या सुबोध होनेके कारण छोड़ दी जाती है।

इस ग्रन्थकी शैली भी पूर्वके खण्डोंकी सूत्रात्मक शैलीसे भिन्न है और इसका प्रमाण भी शेष पाँच खण्डोंसे पाँच गुना है। अतः यह छठा खण्ड अपने पाँचों बड़े भाईयोसे अलग पड़ गया है और महाबन्ध नामसे एक स्वतन्त्र ग्रन्थके रूपमें ही प्रकाशित^१ हुआ है।

इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें^२ महाबन्धको तीस हजार श्लोकप्रमाण बतलाया है और ब्रह्मा हेमचन्द्रने^३ चालीस हजार श्लोकप्रमाण बतलाया है। इसके रचयिता भी आचार्य भूतबलि है। उन्होंने चतुर्थ वेदनाखण्डके आदिमें ४४ सूत्रोंके द्वारा

१ महाबन्धका प्रकाशन ७ भागोंमें भारतीय ज्ञानपीठ काशीकी ओरसे हुआ है।

२ 'सुत्राणि पट्सहस्रग्रन्थान्यथ पूर्वसूत्रसहितानि। प्रविरच्य महाबन्धाह्वय तत् षष्ठक खण्डम् ॥१३९॥ त्रिशत्सहस्रसूत्रग्रन्थ व्यवचयदसौ महात्मा।'—श्रुताव०

३ 'सदरीसहस्स धवलो जयधवलो सट्ठिसहस्स बोधव्वो। महवधो चालीस सिद्ध तत्ताय अह वदे ॥८८॥'

जो मगल किया है उसे टीकाकार^१ वीरसेनने शेष तीनों खण्डोंका अर्थात् वेदना, वर्गणा और महाबन्धका मंगल बतलाया है, क्योंकि वर्गणा और महाबन्धखण्डके आदिमें मगल नहीं किया है। अतः यह स्पष्ट है कि महाबन्धके प्रारम्भमें ग्रन्थकार भूतबलिने मंगल नहीं किया।

महाबन्धका प्रकाशन हो जानेपर भी यह बात हमें इसलिये लिखनी पड़ी है कि इस ग्रन्थराजकी केवल एक ही प्रति मूढविद्वीके सिद्धान्तवसतिभण्डारमें सुरक्षित मिली, किन्तु उसके भी १४ ताडपत्र नष्ट हो गये थे। उनमें पहला पत्र भी था। इसलिये भूतबलिने इस खण्डग्रन्थका आरम्भ किस रूपमें किया था, उसके जाननेका कोई उपाय नहीं है।

वर्गणाखण्डके बन्धनअनुयोगद्वारेके अन्तमें अथवा यह कहना चाहिये कि महाबन्धके आरम्भसे पूर्वमें बन्धनके चार भेदोंमेंसे बन्ध, बन्धक और बन्धनीयका कथन करनेके पश्चात् बन्धविधानके^२ चार भेद कहे हैं—प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध। इन्हीं चार बन्धोंका वर्णन महाबन्धमें है। बन्धोंका विस्तारसे कथन होनेके कारण ही इसका नाम महाबन्ध रखा गया है। पहले प्रकृतिबन्धका कथन है।

चूँकि प्रथम ताडपात्र नष्ट हो गया है, अतः अवधिज्ञानका निरूपण करने वाली गाथाओंसे उपलब्ध महाबन्धका प्रारम्भ होता है। ये गाथाएँ वर्गणाखण्डके प्रकृतिअनुयोगद्वारमें भी आई हैं। एक तरहसे प्रकृतिअनुयोगद्वारसे ही महाबन्धका आरम्भ होता है। यहाँ उसका नाम प्रकृतिसमुत्कीर्ण है। महाबन्धका प्रकृतिसमुत्कीर्तन वर्गणाखण्डके अन्तर्गत प्रकृतिअनुयोगका ही सक्षिप्त रूप है। वर्गणाखण्डके प्रकृतिअनुयोगद्वारमें पृच्छासूत्र भी है—‘मणपज्जवणाणावरणीयस्स कम्मस्स केवडियाओ पयडीओ’—अर्थात् मन पर्ययज्ञानावरणीयकर्मकी कितनी प्रकृतियाँ हैं। इस प्रकारके पृच्छासूत्र महाबन्धमें नहीं है, केवल विषयप्रतिपादन है और वह प्राकृतगद्यरूपमें है। दोनोंका अन्तर दिखानेके लिए यहाँ दोनों ग्रन्थोंसे कुछ पक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं—

‘मणपज्जवणाणावरणीयस्य कम्मस्स दुवे पयडीओ उजुमदिमणपज्जवणाणावरणीय चेव विउलमदिमणपज्जवणाणावरणीय चेव ॥६१॥ ज त उजुमदिमणपज्जवणाणावरणीय णाम कम्म त तिविह—उजुग मणोगद जाणदि

१. ‘उवरि उच्चमायेसु तिषु खड्डेसु कस्सेद’ मगल ? तिण्ण खड्डाण । कुदो ? वर्गणामहावंधाणमादीए मगलाकरणादो ।’—पट्ख पु० ९, पृ० १०५।

२. ‘ज त बधविहाण त चउव्विह—पयडिबधो दिठ्ठिदिवधो अणुभागवधो पदेसवधो चेदि ॥७९७॥’

उज्जुग वचिगद जाणदि उज्जुग कायगद जाणदि ॥६२॥ मणेण माणस पडिविदइत्ता परेसि सण्णा सदि मदि चिंता, जीविदमरण लाहालाह सुहदुक्ख णयरविणास देसविणास जणवयविणास सेटविणासं कव्वटविणास मडवविणाम पट्टण-विणास दोणामुहविणाग अइवुट्ठि अणानुट्ठि सुवुट्ठि दुवुट्ठि सुभिक्ष दुब्भिक्ष खेमाखेमभयरोगकालस[५]जुत्ते अत्थे वि जाणदि ॥६३॥ किं नि भूयो—अप्पणो परेसि च वत्तमाणाण जीवाण जाणदि णो अवत्तमाणाण जीवाण जाणदि ॥६४॥ कालदो जहण्णेण दो-तिणिण-भवग्गहणाणि ॥६५॥ उक्कस्सेण सत्तट्ठ-भवग्गहणाणि ॥६६॥ जीवाण गदिमार्गदि पटुप्पादेदि ॥६७॥ सेत्तदो ताव जहण्णेण गाउदपुधत्त उक्कस्सेण जोयणपुधत्तस्स अब्भतरदो णो वहिद्धा ॥६८॥ (छक्स-डागम, पृ० १३, पृ० ३२८-३३८) ।

उक्त सूत्रोको महाबन्धमें इस प्रकार निबद्ध किया गया है—

‘ज त मणपज्जवणाणावरणीय कम्म वधतो त एयविध । तस्म दुविहपस्स-वणा उज्जुमदिणाण चेव विपुलमदिणाण चेव । ज त उज्जुमदिणाण त तिविध उज्जुग मणोगदं जाणदि । उज्जुग वचिगद जाणदि । उज्जुग कायगद जाणदि । मणेण माणस पडिविदइत्ता परेसि सण्णा सदि मदि चिंतादि विजाणदि, जीविद-मरण लाभालाभ सुहदुक्ख णगरविणासं देह(देस)विणास जणपदविणासं अदिवुट्ठि अणानुट्ठि सुवुट्ठि दुवुट्ठि सुभिक्ष दुब्भिक्ष खेमाखेमभयरोगं उब्भय इब्भय सभम वत्तमाणाण जीवाण णो अवत्तमाणाण जीवाण जाणदि । जहण्णेण गाउदपुधत्त । उक्कस्सेण जोयणपुधत्तस्स अब्भतरादो, णो वहिद्धा । जहण्णेण दो-तिणिण भवग्गहणाणि, उक्कस्सेण सत्तट्ठभवग्गहणाणि गदिरागदि पटुप्पादेदि ।’ (म०व०, भा० १, पृ० २४-२५ ।)

महाबन्धमें ज्ञानावरणीयकी प्रकृतियोंके निमित्तसे ज्ञानके भेदका विवेचन तो प्रकृतिअनुयोगद्वारके अनुसार किया है । किन्तु वाकीके सात कर्मोंकी प्रकृतियोंकी केवल सख्या बतला दी है । यथा दर्शनावरणीयकर्मकी नौ प्रकृतियाँ हैं, वेदनीयकी दो प्रकृतियाँ हैं, आदि । चूँकि वर्गणाखण्डके प्रकृतिअनुयोगद्वारमें कर्मोंकी प्रकृतियोंका वर्णन किया जा चुका था, इसीसे महाबन्धमें उन सबका वर्णन नहीं किया गया ।

आगे बन्धस्वामित्वविचय-बन्धके स्वामीपनेके विचारका प्रतिपादन किया गया है । यह कथन बन्धस्वामित्वविचय नामक तीसरे खण्डका सक्षिप्त रूप है ।

महाबन्धमें भी तीर्थंकरप्रकृतिके बन्धके सोलह कारण बतलाये हैं किन्तु सोलह कारणोंके क्रममें थोड़ा अन्तर है । यहाँ आठवें नम्बरपर ‘साधुसमाधिसधारणता’के स्थानमें ‘साधुप्रासुकपरित्यागता’ पाठ है और नौवें नम्बरपर ‘वैयावृत्ययोगयुक्तता’के स्थानमें ‘समाधिसधारणता’ पाठ है । तथा न० १०में ‘साधु-

प्रासुकपरित्यागता' के स्थानमें 'वैयावृत्ययोगयुवतता' पाठ है। शेष पाठ समान है।

आगेका ताडपत्र ध्रुवित होनेसे वन्धस्वामित्वका आदेशकथन अधूरा रह गया है। आगे कालप्ररूपणा है। इसका भी आरम्भिक भाग नहीं है। इसमें गति आदि मार्गणाओकी अपेक्षा प्रत्येक कर्मप्रकृतिका जघन्य और उत्कृष्ट वन्ध-काल बतलाया है। यथा—नरकगतिमें एक जीवकी अपेक्षा तीर्थंकरप्रकृतिका जघन्यवन्धकाल ८४ हजार वर्ष और उत्कृष्ट साधिक तीन-तीन सागर है। आदि।

आगे एक जीवकी अपेक्षा अन्तरानुगमका कथन करते हुए प्रत्येक कर्मके वन्ध-का अन्तरकाल बतलाया है। यह कथन जीवस्थानके अन्तरानुगम अनुयोगद्वारपर आधृत है, उसीके आधारपर कर्मके वन्धके अन्तरकालका कथन किया गया है।

तत्पश्चात् सन्निकर्षका कथन है। उसके दो भेद किये हैं—स्वस्थानसन्निकर्ष और परस्थानसन्निकर्ष। स्वस्थानसन्निकर्षमें बतलाया है कि ज्ञानावरणीय-कर्मकी जो एक भी प्रकृतिका वन्ध करता है वह उस कर्मकी शेष प्रकृतियोंका भी वन्धक होता है। इस प्रकार स्वस्थानसन्निकर्षमें एकजातीय प्रकृतियोंके वन्धके सन्निकर्षका कथन है और परस्थानसन्निकर्षमें सजातीय तथा विजातीय प्रकृतियोंके वन्धके सन्निकर्षका कथन है। यथा—मतिज्ञानावरणीय कर्मका वन्धक शेष चार श्रुतज्ञानावरण आदि सजातीय प्रकृतियोंका और दर्शनावरणकी चार तथा अन्तरायकर्मकी पाँच प्रकृतियोंका वन्धक है। कथन बहुत विस्तारसे किया गया है।

भगविचयअनुयोगद्वारमें भगोका विचार किया गया है। यथा सातावेदनीय-के अनेक वन्धक और अनेक अवन्धक होते हैं। चारो आयुकर्मोंके अनेक वन्धक हैं, अनेक अवन्धक हैं। इस तरह प्रत्येक प्रकृतिके भगोका विचार वन्धक और अवन्धककी अपेक्षा किया गया है।

भागाभागानुगममें बतलाया है कि अमुक प्रकृतिके वन्धक अथवा अवन्धक सब जीवोंके कितने भागप्रमाण है ? यथा—सातावेदनीयके वन्धक सब जीवोंके कितने भाग है ? सख्यातर्वे भाग है। अवन्धक सब जीवोंके सख्यात बहुभाग है। असाताके वधक सर्वजीवोंके कितने भाग है ? सख्यात बहुभाग है। अवधक सर्व-जीवोंके कितने भाग है ? सख्यातर्वे भाग है। आदि।

परिमाणानुगम अनुयोगद्वारमें कर्मप्रकृतियोंके वन्धको और अवन्धकोका परिमाण बतलाया है। यथा—सातावेदनीयके वन्धक और अवन्धक कितने हैं ? अनन्त है। असाताके वन्धक और अवन्धक कितने हैं ? अनन्त है। दोनो वेदनीय-कर्मोंके वन्धक और अवन्धक अनन्त हैं, इत्यादि।

क्षेत्रानुगममें बतलाया है कि कर्मप्रकृतियोंके बन्धक और अवन्धक जीव कितने क्षेत्रमें रहते हैं । यथा—साता और असाताके बन्धक और अवन्धक जीव कितने क्षेत्रमें रहते हैं ? सर्वलोकमें । दोनो वेदनीयकर्माके बन्धक कितने क्षेत्रमें रहते हैं ? सर्वलोकमें । अवन्धक कितने क्षेत्रमें रहते हैं ? लोकके अमंख्यातवें भागमें ।

स्पर्शानुगममें स्पर्शनका कथन है । यथा—साताके बन्धको और अवन्धकोने कितने क्षेत्रका स्पर्शन किया है ? सर्वलोकका । असाताके बन्धको और अवन्धकोने कितने क्षेत्रका स्पर्शन किया है ? सर्वलोकका । दोनो प्रकृतियोंके बन्धकोने सर्वलोकका स्पर्शन किया है । और अवन्धकोने लोकके अमंख्यातवें भागका स्पर्शन किया है ।

कालानुगममें नाना जीवोंकी अपेक्षा प्रकृतियोंके बन्धकोका काल बतलाया है । यथा—साता और असाताके बन्धक और अवन्धक कितने काल तक होते हैं ? सर्वकाल होते हैं । दोनोके बन्धक और अवन्धक कितने काल तक होते हैं ? सर्वकाल होते हैं । नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तरानुगममें कर्मप्रकृतियोंके बन्धको और अवन्धकोका अन्तरकाल नाना जीवोंकी अपेक्षा बतलाया है । नरकायु, मनुष्यायु और देवायुके बन्धकोका जघन्यसे एक समय और उत्कृष्टसे २४ मुहूर्त अन्तर है । अर्थात् अधिक-से-अधिक २४ मुहूर्तका समय ऐसा आ सकता है जिनमें कोई जीव इन तीनों आयुक्रमोंका बन्धक न हो । अवन्धकोका अन्तर नहीं है । तीर्थञ्चायुके बन्धको और अवन्धकोका अन्तर नहीं है । इत्यादि ।

भावानुगममें बतलाया है कि कर्मप्रकृतियोंके बन्धको और अवन्धकोका कौन भाव है ? यथा—मिथ्यात्वके बन्धकोका कौन भाव है ? औदयिक भाव है । अवन्धकोमें कौन-सा भाव है ? औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक या पारिणामिक ।

अल्पबहुत्वके दो भेद किये हैं—एकजीवअल्पबहुत्व और दूसरा कालअल्पबहुत्व । इन दोनोंके भी स्वस्थान और परस्थानकी अपेक्षा दो-दो भेद हैं । यथा—साता और असाता दोनो प्रकृतियोंके अवन्धक जीव सबसे कम हैं । साताके बन्धक जीव अनन्तगुणे हैं । असाताके बन्धक जीव उनसे संख्यातगुणे हैं । दोनोके बन्धक जीव इनसे विशेष अधिक हैं । यह स्वस्थानजीवअल्पबहुत्वके कथनका उदाहरण है ।

ओघकी अपेक्षा आहारकशरीरके बन्धक जीव सबसे कम हैं । तीर्थकर-प्रकृतिके बन्धक जीव उनसे असंख्यातगुणे हैं । मनुष्यायुके बन्धक जीव उनसे असंख्यातगुणे हैं, इत्यादि । यह परस्थानजीवअल्पबहुत्वका उदाहरण है ।

चौदह जीवसमासोंमें साता-असाता इन दोनो प्रकृतियोंके बन्धकोका जघन्यकाल समान रूपसे स्तोक है । सूक्ष्मअपर्याप्तकोमें साताके बन्धकका उत्कृष्टकाल

संख्यातगुणा है । असाताके बन्धकका उत्कृष्टकाल सख्यातगुणा है । इत्यादि । यह स्वस्थानकालअल्पबहुत्वका उदाहरण है ।

परस्थानकालअल्पबहुत्वमें परिवर्तमान प्रकृतियोंका परस्थानमें अल्पबहुत्वका कथन किया है । ऐसी परिवर्तमान प्रकृतियाँ यहाँ २१ ली हैं—४ गति, २ गोत्र, २ वेदनीय, ४ आयु, हास्य-रतिका युगल और यश कीर्ति-अयश कीर्तिका युगल । इन्हींके अल्पबहुत्वका विवेचन है ।

इस प्रकार उक्त अनुयोगोके द्वारा प्रकृतिबन्धका कथन ओघसे और आदेशसे किया गया है ।

बन्धस्वामित्वविचयमें तो गुणस्थानो और मार्गणाओमें कर्मप्रकृतियोंके बन्धके केवल स्वामियोंका ही कथन था । यहाँ उनके बन्धको और अबन्धकोके काल क्षेत्र, अन्तर आदि अनुयोगद्वारोका कथन किया गया है ।

२ स्थितिबन्धाधिकार

स्थितिबन्धके मुख्य अधिकार दो हैं—मूलप्रकृतिस्थितिबन्ध और उत्तर-प्रकृतिस्थितिबन्ध । मूलप्रकृतिस्थितिबन्धके मुख्य अधिकार चार हैं—स्थितिबन्धस्थानप्ररूपणा, निषेकप्ररूपणा, आबाधाकाण्डकप्ररूपणा और अल्पबहुत्वप्ररूपणा ।

प्रत्येक कर्मके जघन्यस्थितिबन्धस्थानसे लेकर उत्कृष्टस्थितिबन्धस्थान तकके समस्त विकल्पोको स्थितिबन्धस्थान कहते हैं । समस्त ससारी जीव चौदह जीवसमासोंमें विभक्त है । इनमेंसे एक-एक जीवसमासमें अलग-अलग कितने स्थिति-विकल्प होते हैं, स्थितिबन्धके कारणभूत सक्लेशस्थान और विशुद्धिस्थान कितने हैं, और सबसे जघन्य स्थितिबन्धसे लेकर उत्तरोत्तर किसके कितना स्थितिबन्ध होता है, अल्पबहुत्वकी प्रक्रिया द्वारा इन तीन बातोंका कथन स्थितिबन्धस्थानप्ररूपणामें किया गया है ।

एक समयमें बँधे हुए कर्मोंके निषेकोका उस समय प्राप्त स्थितिमें जिस क्रमसे निषेक होता है उसे निषेकरचना कहते हैं । इसका कथन करनेवाली प्ररूपणाको निषेकप्ररूपणा कहते हैं । निषेकप्ररूपणाका कथन दो अनुयोगोके द्वारा किया गया है—अनन्तरोपनिधा और परम्परोपनिधा । अनन्तरोपनिधाके द्वारा बतलाया है कि आयुकर्मके सिवाय शेष सात कर्मोंका जितना स्थितिबन्ध होता है उसमेंसे आबाधाकालको कम करके जो स्थिति शेष रहती है उसके प्रथम समयमें सबसे अधिक कर्मपरमाणु निक्षिप्त होते हैं, और उसके आगे द्वितीयादि समयोंमें क्रमसे उत्तरोत्तर एक-एक चयहीन कर्मपरमाणुओंका निषेक होता है । इस प्रकार प्रति समयमें जिस कर्मके जितने परमाणुओंका बन्ध होता है उनका उक्त प्रकारसे

स्थितिके समयोमें विभाग हो जाता है । किन्तु आयुकर्मकी आवाधा उसके स्थिति-बन्धमे सम्मिलित नहीं है । इसलिये आयुकर्मके कर्मपरमाणुओंका विभाग उक्त क्रमसे स्थितिवन्धके सब समयोमें होता है ।

किस कर्मकी कितनी आवाधा होती है, इस बातका भी यहाँ गकेत किया है । जीवस्थानके चूलिकाअनुयोगद्वारकी छटवी और गतवी चूलिकामे क्रमसे उत्कृष्ट-स्थितिवन्ध और जघन्यस्थितिवन्धका कथन करते हुए आवाधाका भी कथन किया गया है । अतः उसको फिर यहाँ लिखना जरूरी नहीं है ।

परम्परोपनिधामें बतलाया है कि प्रथम निपेकमे आगे पत्यके असख्यातवे भागप्रमाणस्थान जानेपर प्रथम निपेकमें जितने कर्मपरमाणु निक्षिप्त होते हैं उनमे वे आधे रह जाते हैं । इसी प्रकार जघन्यस्थिति प्राप्त होने तक उत्तरोत्तर पत्यके असख्यातवे भागप्रमाण जानेपर वे आधे-आधे रह जाते हैं । मग कर्मोंकी निपेक-रचनाका यही क्रम है ।

बधको प्राप्त कर्म जितने काल तक फल देनेमें समर्थ नहीं होते उतने कालको आवाधाकाल कहते हैं । और जितने स्थितिविकल्पोका एक-गा आवाधाकाल होता है उतने स्थितिविकल्पोकी एक आवाधा होनेसे आवाधाकाण्डक सजा है । इसका विचार जिसमें किया जाता है उसे आवाधाकाण्डकप्ररूपणा कहते हैं ।

आवाधाकाण्डकप्ररूपणामें बतलाया है कि उत्कृष्टस्थितिमे पत्यके असख्यातवे भागप्रमाणस्थान जाने तक इन सब स्थितिविकल्पोका एक आवाधाकाण्डक होता है अर्थात् इतने स्थितिविकल्पोकी उत्कृष्ट आवाधा होती है ।

उसके बाद इतने ही स्थितिविकल्पोकी एक समय कम आवाधा होती है । इस प्रकार जघन्यस्थितिपर्यन्त ले जाना चाहिये । यहाँ जितने स्थितिविकल्पोकी एक आवाधा होती है उसकी आवाधाकाण्डकसज्ञा है । आवाधारहित उत्कृष्ट स्थितिमें उत्कृष्टआवाधाकालका भाग देनेपर एक आवाधाकाण्डकका प्रमाण आता है । किन्तु आयुकर्ममें यह नियम लागू नहीं होता, क्योंकि आयुकर्मकी आवाधा उसके स्थितिवन्धके अनुपातसे नहीं होती ।

चौथे अल्पबहुत्वप्रकरणमें जीवसमासोमे जघन्यआवाधा, आवाधास्थान, आवाधाकाण्डक, उत्कृष्टआवाधा, नानाप्रदेशगुणहानिस्थानान्तर, एकप्रदेशगुणहानि-स्थानान्तर, जघन्यस्थितिवन्ध, स्थितिवन्धस्थान और उत्कृष्टस्थितिवन्ध इन सबके अल्पबहुत्वका कथन किया है ।

आगे उक्त विवेचनको अर्थपद मानकर चौबीस अधिकारोंके द्वारा मूलप्रकृति-स्थितिवन्धका कथन किया गया है । वे अधिकार हैं—अद्धाछेद, सर्ववन्ध, नो-

सर्वबन्ध, उत्कृष्टबन्ध, अनुत्कृष्टबन्ध, जघन्यबन्ध, अजघन्यबन्ध, सादिवन्ध, अनादिवन्ध, ध्रुवबन्ध, अध्रुवबन्ध, स्वामित्व, बन्धकाल, बन्धान्तर, बन्धसन्निकर्ष, नाना-जीवोकी अपेक्षा भगविचय, भागाभाग, परिमाण, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पवहुत्व । इसके बाद भुजगारबन्ध, पदनिक्षेप, वृद्धिबन्ध, अध्यवसान-समुदाहार और जीवसमुदाहार । इन प्रकरणों द्वारा भी मूलप्रकृतिस्थितिवन्धका विचार किया गया है । इनमेंसे भुजगारबन्धके तेरह अनुयोगद्वार हैं, पदनिक्षेपके तीन अनुयोगद्वार हैं, वृद्धिबन्धके तेरह अनुयोगद्वार हैं और अध्यवसानसमुदाहारके तीन अनुयोगद्वार हैं । जीवसमुदाहारका कोई अवान्तरअनुयोगद्वार नहीं है ।

आगे उत्तरप्रकृतिस्थितिवन्धका भी विचार इसी प्रकारसे किया गया है । अन्तर इतना है कि मूलप्रकृतिस्थितिवन्धमें केवल आठ मूलकर्मोंके आश्रयसे विचार किया गया है और उत्तरप्रकृतिस्थितिवन्धमें १२० उत्तरप्रकृतियोंके आश्रयसे विचार किया गया है क्योंकि यद्यपि आठो कर्मोंकी उत्तरप्रकृतियाँ १४८ हैं तथापि दर्शन-मोहनीयकी तीन प्रकृतियोंमेंसे सम्यक्त्वप्रकृति और सम्यक्मिथ्यात्वप्रकृति ये दो अबन्धप्रकृतियाँ हैं और पाँच बन्धनो तथा पाँच संघातोका पाँच शरीरोंमें अन्तर्भाव हो जाता है, तथा स्पर्शनामकर्मके ८, रसनामकर्मके ५, गन्धनामकर्मके २ और वर्णनामकर्मके ५, इन बीस भेदोंमेंसे स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण इन चारका ही ग्रहण किया जाता है । इस तरह $२ + १० + १६ = २८$ प्रकृतियोंके कम हो जानेसे १२० बन्धप्रकृतियाँ अभेदविवक्षामें ली गई हैं ।

३ अनुभागबन्धाधिकार

आत्माके साथ बन्धको प्राप्त होने वाले कर्मोंमें राग, द्वेष और मोहके निमित्तसे जो फलदानशक्ति पडती है उसे अनुभागबन्ध कहते हैं । मूलप्रकृति और उत्तर-प्रकृतिकी अपेक्षा उसके भी दो भेद हैं—एक मूलप्रकृतिअनुभागबन्ध और दूसरा उत्तरप्रकृतिअनुभागबन्ध । इस प्रकरणमें इन्ही दोनों बन्धोका विस्तारसे कथन किया गया है ।

सबसे प्रथम मूलप्रकृतिअनुभागबन्धका कथन किया गया है । उसमें दो मुख्य अनुयोगद्वार हैं—निपेकप्ररूपणा और स्पर्धकप्ररूपणा । निपेकरचना दो प्रकारकी है, एक स्थितिकी अपेक्षा और एक अनुभागकी अपेक्षा । आवाधाकालको छोड़कर स्थितिके प्रत्येक समयमें बन्धको प्राप्त कर्मपुजका जो निक्षेप होता है वह स्थितिकी अपेक्षा निपेकरचना है । स्थितिवन्धाधिकारमें उसका कथन किया गया है । अनुभागके आधारसे निपेकरचनाका कथन वेदनाखण्डका परिचय कराते हुए किया गया है । अनुभागकी मुख्यतासे निपेक दो प्रकारके होते हैं—सर्वधाति और देश-धाति । यद्यपि सर्वधाती और देशधाती भेद धातिकर्मोंमें ही सम्भव है तथापि

यहाँ अघातिकर्मोंमें भी ये दो भेद किये गये हैं क्योंकि अघातिकर्म भी जीवके प्रतिजीवीगुणोको घातनेके कारण घातिप्रतिबद्ध ही है। अतः निषेकप्ररूपणामें सब कर्मोंके सर्वघाति और देशघाति निषेकोका कथन किया गया है।

अनन्तानन्तअविभागीप्रतिच्छेदोके समुदायको एक वर्ग कहते हैं। अनन्तानन्त वर्गोंकी एक वर्गणा होती है और अनन्तानन्त वर्गणाओके समूहको स्पर्धक कहते हैं। वेदनाखण्डमें स्पर्धकप्ररूपणाका परिचय कराया गया है। स्पर्धकप्ररूपणामें स्पर्धकोका कथन है।

ये दोनो अनुयोगद्वारा आगेकी प्ररूपणाके मूलाधार हैं। उनको आधार बनाकर सज्ञा, सर्वबन्ध, नोसर्वबन्ध, उत्कृष्टबन्ध, अनुत्कृष्टबन्ध आदि चौबीस अनुयोगोके द्वारा अनुभागबन्धका कथन किया गया है। यहाँ संक्षेपमें इनका परिचय कराया जाता है।

सज्ञा—सज्ञाके दो भेद हैं, घातिसज्ञा और स्थानसज्ञा। आठ कर्मोंमेंसे चार कर्म घाती हैं और चार अघाती हैं। घातिकर्मके भी दो भेद हैं, सर्वघाती और देशघाती। जो जीवके ज्ञानादि गुणोको पूरी तरहसे घातते हैं उन्हें सर्वघाती कर्म कहते हैं और जो एकदेशघात कहते हैं उन्हें देशघाती कहते हैं। चार घातिकर्मोंका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध सर्वघाती होता है। अनुत्कृष्ट अनुभागबन्ध सर्वघाती और देशघाती होता है। जघन्य अनुभागबन्ध देशघाती होता है तथा अजघन्य अनुभागबन्ध देशघाती और सर्वघाती होता है। शेष चार कर्मोंका उत्कृष्ट अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य अनुभागबन्ध घातीसे सम्बद्ध अघाती होता है। घातिसज्ञामें यह कथन किया गया है।

घातिकर्मोंमें लता, दारु, अस्थि और शैलकी उपमाको लिये हुए चार प्रकारका अनुभाग माना गया है। जिसमें यह चारो प्रकारका अनुभाग होता है, उसे चतुःस्थानिक अनुभाग कहते हैं। जिसमें शैलके बिना शेष तीन प्रकारका अनुभाग होता है उसे त्रिस्थानिक अनुभाग कहते हैं। जिसमें लता और दारुरूप अनुभाग होता है उसे द्विस्थानिक अनुभाग कहते हैं। और जिसमें केवल लता रूप अनुभाग होता है उसे एकस्थानिक अनुभाग कहते हैं। चारो घातिकर्मोंका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध चतुःस्थानिक होता है। अनुत्कृष्ट अनुभागबन्ध त्रिस्थानिक, द्विस्थानिक और एकस्थानिक होता है। जघन्यअनुभागबन्ध एकस्थानिक होता है, और अजघन्य अनुभागबन्ध एकस्थानिक, द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक और चतुःस्थानिक होता है।

अघातिकर्म दो प्रकारके होते हैं—प्रशस्त और अप्रशस्त। प्रशस्त कर्मोंके अनुभागकी उपमा गुड, खाण्ड, शक्कर और अमृतसे दी जाती है। और अप्रशस्त

कर्मोंके अनुभागकी उपमा नीम, काजीर, विष और हालाहलसे दी जाती है। अघातिकर्मोंमें भी पाये जानेवाले चारो प्रकारके अनुभागको चतु स्थानिक अन्तके भेदको छोड़कर पाये जानेवाले शेष तीन प्रकारके अनुभागको त्रिस्थानिक और अन्तके दो भेदोंको छोड़कर पाये जाने वाले शेष दो प्रकारके अनुभागको द्विस्थानिक कहते हैं। चार अघातिकर्मोंका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध चतु स्थानिक होता है। अनुत्कृष्ट अनुभागबन्ध चतुस्थानिक, त्रिस्थानिक, और द्विस्थानिक होता है। जघन्य अनुभागबन्ध द्विस्थानिक होता है। तथा अजघन्य अनुभागबन्ध द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक और चतुस्थानिक होता है। यह सब कथन घातिसंज्ञामें किया गया है।

सर्व-नोसर्वबन्ध—सब अनुभागोंके बन्धको सर्वबन्ध और उससे कम अनुभाग बन्धको नो सर्वबन्ध कहते हैं। इनका विचार इस अनुयोगमें किया है। आठो कर्मोंका अनुभागबन्ध सर्वबन्धरूप भी होता है और नो सर्वबन्ध रूप भी होता है।

उत्कृष्ट अनुत्कृष्टबन्ध—सबसे उत्कृष्ट अनुभागबन्धको उत्कृष्ट अनुभागबन्ध और उससे कम अनुभागबन्धको अनुत्कृष्ट अनुभागबन्ध कहते हैं।

सभी कर्मोंमें दोनो प्रकारका अनुभागबन्ध होता है।

जघन्य-अजघन्य अनुभागबन्ध—सबसे कम अनुभागबन्धको जघन्य अनुभागबन्ध कहते हैं। और उससे अधिक अनुभागबन्धको अजघन्य अनुभागबन्ध कहते हैं। सभी कर्मोंमें दोनो प्रकारका अनुभागबन्ध होता है।

सादि-अनादि ध्रुवाध्रुवबन्ध—किसी कर्मका बन्ध न होकर पुन बन्ध होवे तो उसे सादि बन्ध कहते हैं। जो जीव अनादि कालसे पहले ही गुणस्थानमें वर्तमान है उसका बन्ध अनादिबन्ध है। अभव्यका बन्ध ध्रुव है और भव्यका कर्मबन्ध अध्रुव है। ऊपर जो उत्कृष्ट आदि चार प्रकारका बन्ध कहा है वह सादि है अथवा अनादि, इसका कथन इन अनुयोगद्वारोंमें किया गया है।

स्वामित्व—इसका कथन तीन अनुयोगद्वारोंकी अपेक्षा किया गया है वे तीन अनुयोगद्वार हैं—प्रत्ययानुगम, विपाकदेश और प्रशस्ताप्रशस्तप्ररूपणा। प्रत्यय कहते हैं। कारणको कर्मबन्धके चार प्रत्यय हैं—मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग। इन चारोंमेंसे किसके निमित्तसे किस कर्मका बन्ध होता है इसका विस्तार प्रत्ययानुगममें किया गया है। यथा-छह कर्म मिथ्यात्वप्रत्यय, असंयम प्रत्यय और कषाय प्रत्यय होते हैं। वेदनीयकर्म मिथ्यात्वप्रत्यय, असंयमप्रत्यय कषाय प्रत्यय और योगप्रत्यय होता है।

कर्मके अनुभागका विपाक जीवमें, पुद्गलमें, क्षेत्रमें या भवमें होता है।

तदनुसार कर्मोंके चार भेद किये गये हैं— जीवविपाकी, भवविपाकी, पुद्गल-विपाकी और क्षेत्रविपाकी । चार घातिकर्म, वेदनीय और गोत्र ये जीवविपाकी हैं । आयुकर्म भवविपाकी हैं क्योंकि नारक आदि भवोंमें उसका विपाक देखा जाता है नामकर्मकी कुछ प्रकृतियाँ जीवविपाकी हैं, कुछ पुद्गलविपाकी और कुछ क्षेत्रविपाकी । यह सब कथन विपाकदेशमें किया गया है ।

प्रशस्ताप्रशस्तप्ररूपणमें कहा है कि चार घातिकर्म अप्रशस्त हैं और अघाति-कर्म प्रशस्त भी है अप्रशस्त भी । इन तीन अनुयोगद्वारोंका कथन करनेके बाद उसके आधारमें स्वामित्वका कथन विस्तारमें किया गया है ।

भुजगगारबन्ध—भुजगारसे यहाँ भुजगार, अल्पतर, अवस्थित और अवक्तव्य बन्ध लिये गये हैं । वर्तमान समयमें पिछले समयमें अधिक भागबन्ध होना भुजगार बन्ध है । और कम अनुभागबन्ध होना अल्प- अनु-तरबन्ध है । तथा पिछले समयमें जितना अनुभागबन्ध हुआ हो, वर्तमानमें भी उतना ही अनुभागबन्ध होना अवस्थितबन्ध है । तथा पिछले समयमें बन्ध न होकर वर्तमानमें बन्ध होनेको अवक्तव्यबन्ध कहते हैं । इन चारों प्रकारके बन्धोंकी अपेक्षा अनुभागबन्धका विचार इस अनुयोगद्वारमें किया गया है । इसमें तेरह अवान्तर अधिकार हैं—समुत्कीर्तना, स्वामित्व, काल, अन्तर, नाना जीवोंकी अपेक्षा भगविचय, भागाभाग, परिमाण, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व ।

पदनिक्षेप—इस अनुयोगद्वारमें अनुभागबन्ध मन्वन्धी उत्कृष्ट वृद्धि, उत्कृष्ट हानि, उत्कृष्ट अवस्थान, जघन्यवृद्धि, जघन्य हानि और जघन्य अवस्थानका समुत्कीर्तना, स्वामित्व और अल्पबहुत्व इन अवान्तर अधिकारोंके द्वारा कथन किया गया है ।

वृद्धि—वृद्धिवन्धमें छह वृद्धि, छह हानि, अवस्थित और अवक्तव्य पदोंका समुत्कीर्तना, स्वामित्व काल, अन्तर, नानाजीवोंकी अपेक्षा भग विचयानुगम भागाभाग, परिमाण, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व, इन तेरह अनुयोगोंके द्वारा कथन किया गया है ।

अध्यवसान समुदाहार—इसमें ये बारह अनुयोगद्वार हैं—अविभाग प्रतिच्छेद, स्थान, अन्तर, काण्डक, ओजयुग्म, षट्स्थान, अधस्तन स्थान, समय, वृद्धि, यवमध्य पर्यवसान और अल्पबहुत्व प्ररूपणा । चतुर्थ वेदना खण्डके अन्तर्गत वेदनाभाव विधान नामक अनुयोगद्वारकी द्वितीय चूलिकाका परिचय कराते हुए इन सबका परिचय करा आये हैं ।

जीवसमुदाहार—इसमें आठ अनुयोगद्वार हैं—एक स्थान जीव स्थान प्रमाणा-

नुगम, निरन्तर स्थान-जीव प्रमाणानुगम, सान्तर स्थान जीव प्रमाणानुगम, नानाजीव काल प्रमाणानुगम, वृद्धि प्ररूपणा, यवमध्य प्ररूपणा, स्पर्शन प्ररूपणा और अल्पबहुत्व । उक्त वेदना भाव विधानके परिचयसे इनका परिचय भी ज्ञात किया जा सकता है ।

इसप्रकार मूलप्रकृति अनुभागबन्धका कथन करके पश्चात् उत्तर प्रकृति अनु-भागबन्धका कथन उक्त अनुयोगोके द्वारा किया गया है ।

प्रदेशबन्धाधिकार

महाबन्धके इस अन्तिम अधिकारमें मूलप्रकृति प्रदेशबन्ध और उत्तर प्रकृति-प्रदेशबन्धका कथन किया गया है । दोनोंके कथनका प्रकार एक ही है । सबसे प्रथम भागाभाग समुदाहारका कथन है—

भागाभाग समुदाहार—आठ मूलकर्मोंका बन्ध होते समय किस कर्मको समय-प्रबद्धका कितना भाग मिलता है यह इसमें बतलाया गया है । सबसे कम भाग आयुको मिलता है क्योंकि उसका स्थितिवन्ध सब कर्मोंसे अल्प है । उससे नामकर्म और गोत्रकर्मको विशेष अधिक भाग मिलता है—क्योंकि दोनोंका स्थितिवन्ध तुल्य होते हुए भी आयुकर्मसे अधिक है । इन दोनोंसे ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तरायकर्मको विशेष अधिक भाग मिलता है क्योंकि इन तीनोंका स्थितिवन्ध नाम गोत्रसे अधिक है किन्तु परस्परमें समान है । उनसे मोहनीय-कर्मको अधिक भाग मिलता है क्योंकि उसका स्थितिवन्ध सबसे अधिक है । किन्तु वेदनीयकर्मको मोहनीयसे भी विशेष अधिक भाग मिलता है क्योंकि सुख दुःखके निमित्तसे वेदनीयकी निर्जरा बहुत होती रहती है । आठो कर्मोंको जो भाग मिलता है वह उनकी बन्धको प्राप्त अवान्तर कर्म प्रकृतियोंमें बँट जाता है । धातिकर्मोंको प्राप्त द्रव्य दो भागोंमें हो जाता है सर्वधाती और देशधाती । सर्वधाती द्रव्य सब प्रकृतियोंमें बट जाता है किन्तु देशधाती द्रव्य केवल देशधाती प्रकृतियोंमें ही बटता है । वेदनीयकर्म, आयुकर्म और गोत्रकर्मकी एक समयमें एक ही प्रकृति वधती है अतः इन्हें जो द्रव्य मिलता है वह सब उस एक ही कर्मप्रकृतिको मिल जाता है । अतः इनमें अवान्तर विभाग नहीं होता । शेष पाँच कर्मोंमें ही अवान्तर विभाग होता है । उनकी जिस समय जितनी अवान्तर प्रकृतियाँ वधती हैं । उतनेमें ही बटवारा होता है ।

यद्यपि महाबन्धकी रचना गद्य सूत्रात्मक है । तथापि उत्तर प्रकृति प्रदेश बन्धाधिकारके प्रारम्भमें दो गाथाएँ आती हैं । उनके द्वारा धातिकर्मोंकी उत्तर प्रकृतियोंमें बटवारेके क्रमका निर्देश किया गया है । गाथाएँ इस प्रकार हैं—

‘ज सन्वधादिपत्त सगकम्म पदेसाणत्तिमो भागो ।

आवरणाण चदुधा तिधा च तत्थ पचधाविग्घे ॥

मोहे दुधा चदुद्धा पचधा वा पि वज्झमाणीण ।

वेदणीयाउगगोदे य वज्झमाणीणं भागो से ॥

(म० व०, भा० ६, पृ० ८९)

इनमें बतलाया है कि प्रदेशबन्धके होने पर घातिकर्मोंको जो द्रव्य प्राप्त होता है उसका अनन्तवाँ भाग सर्वघाती द्रव्य है और शेष बहुभाग देशघाती द्रव्य है । ज्ञानावरणको जो देशघाती द्रव्य मिलता है वह उसकी चारो देशघाती प्रकृतियोंमें विभक्त हो जाता है । दर्शनावरणको जो देशघाती द्रव्य मिलता है वह उसकी तीनो देशघाती प्रकृतियोंमें बट जाता है । अन्तरायकर्म देशघाती ही है । अतः उसको प्राप्त द्रव्य उसकी पाँचो देशघाती प्रकृतियोंमें बट जाता है । मोहनीयकर्मके देशघाती द्रव्यके मुख्य दो भाग होते हैं एक भाग कपायवेदनीयको मिलता है और एक भाग नोकषाय वेदनीयको । कपायवेदनीयका द्रव्य बन्धानुसार चार भागोंमें और अकषायवेदनीयका द्रव्य पाँच भागोंमें विभक्त हो जाता है । वेदनीय, आयु और गोत्रकर्मकी उत्तर प्रकृतियोंमेंसे एक कालमें एकका ही बन्ध होता है । इसलिये इन कर्मोंको प्राप्त द्रव्य बधने वाली उस एक प्रकृतिको ही मिल जाता है ।

भागाभाग समुदाहारके पश्चात् चौबीस अनुयोगद्वारोका निर्देश है । जो इस प्रकार हैं—स्थानप्ररूपणा, सर्वबन्ध, नोसर्वबन्ध, उत्कृष्टबन्ध, अनुत्कृष्टबन्ध, जघन्यबन्ध, अजघन्यबन्ध, सादिवन्ध, अनादिवन्ध, ध्रुवबन्ध अध्रुवबन्ध, स्वामित्व, एक जीवकी अपेक्षाकाल, अन्तर, सन्निकर्ष, नानाजीवोकी अपेक्षा भगविचय, भागाभाग, परिमाण, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व । उनके पश्चात् भुजगार, पदनिक्षेप, वृद्धि, अध्यवसान समुदाहार और जीव समुदाहारका कथन किया गया है । इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

स्थान प्ररूपणा—इसके अवान्तर अधिकार दो हैं—योग स्थान प्ररूपणा और प्रदेशबन्ध प्ररूपणा । योग स्थान प्ररूपणामें चौदह जीव समासोके आश्रयसे पहले जघन्य और उत्कृष्ट योगस्थानोंके अल्प बहुत्वका कथन किया है । फिर दस अनुयोगोके द्वारा उनका विशेष कथन किया है । वे दस अनुयोगद्वार हैं—अविभाग प्रतिच्छेदप्ररूपणा, वर्गणाप्ररूपणा, स्पर्धकप्ररूपणा, अन्तरप्ररूपणा, स्थानप्ररूपणा, अनन्तरोपनिधा, परम्परोपनिधा, समयप्ररूपणा, वृद्धिप्ररूपणा और अल्पबहुत्व ।

मन, वचन और कायसे युक्त जीवकी जो शक्ति कर्मोंको लानेमें कारण है

उसे योग कहते हैं । जीवके सब प्रदेशोंमें योग शक्ति तारतम्यरूपसे रहती है । उसीसे योग स्थान बनते हैं । पहली अविभागी प्रतिच्छेद प्ररूपणामें बतलाया है कि प्रत्येक आत्म प्रदेशमें योगशक्तिके कितने अविभागी प्रतिच्छेद होते हैं । उन्हींके समूहको वर्गणा और वर्गणाओके समूहको स्पर्धक कहते हैं । वर्गणा और स्पर्धक प्ररूपणामें उनकी वर्गणाओ और स्पर्धकोका कथन है ।

अन्तर प्ररूपणामें बतलाया है कि एक स्पर्धककी अन्तिमवर्गणासे दूसरे स्पर्धककी प्रथमवर्गणामें अविभागी प्रतिच्छेदोकी अपेक्षा कितना अन्तर होता है । स्थानप्ररूपणामें बतलाया है कि कितने स्पर्धक मिलकर एक योगस्थान बनता है । अनन्तरोपनिधामें बतलाया है कि जघन्य योगस्थानसे लेकर उत्कृष्ट योगस्थान तक प्रत्येक योगस्थानमें कितने स्पर्धक बढ़ते जाते हैं । परम्परोपनिधामें बतलाया है कि कितने योगस्थान जानेपर वे स्पर्धक दूने हो जाते हैं । समय प्ररूपणामें बतलाया है कि चार समय वाले, पाँच समय वाले, छह समय वाले, सात समय वाले, आठ समय वाले तथा पुनः सात समय वाले, छह समय वाले, पाँच समय वाले, चार समय वाले, और इनसे ऊपरके तीन समय वाले तथा दो समय वाले योगस्थान अलग-अलग जगत् श्रेणिके असख्यातवें भाग प्रमाण है । वृद्धि प्ररूपणामें योगस्थानमें होने वाली असख्यात भाग वृद्धि, असख्यातभाग हानि, सख्यातभाग-वृद्धि-सख्यातभागहानि सख्यातगुणवृद्धि-सख्यातगुणहानि, असख्यातगुणवृद्धि-असख्यात गुणहानि, इन चार हानि-वृद्धियोंका कथन किया गया है । अल्पबहुत्व प्ररूपणमें आठ समयवाले सात समय वाले आदि योगस्थानोके अल्पबहुत्वका कथन है । योगस्थान प्रकरणका दूसरा अधिकार प्रदेशबन्ध स्थान प्ररूपणा है । इसमें बतलाया है कि जो योगस्थान है वे ही प्रदेशबन्धस्थान है किन्तु इतनी विशेषता है कि प्रदेशबन्धस्थान प्रकृति विशेषकी अपेक्षा विशेष अधिक होते हैं ।

सर्व-नो सर्वबन्ध—समस्त प्रदेशबन्धको सर्वबन्ध और उससे कमको नो सर्वबन्ध कहते हैं । ओघसे सभी कर्मोंका सर्वबन्ध भी होता है और नो सर्वबन्ध भी होता है । आदेशसे नरक गतिमें मोहनीय और आयु कर्मके सिवाय शेष कर्मोंका नो सर्वबन्ध होता है ।

उत्कृष्ट-अनुकृष्ट प्रदेशबन्धप्ररूपणा—में बतलाया है कि ओघसे सभी कर्मोंका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध भी होता है और अनुकृष्ट प्रदेशबन्ध भी होता है । आदेशसे नरक गतिमें मोह और आयुकर्मके सिवाय शेष छै कर्मोंका अनुकृष्ट प्रदेशबन्ध होता है ।

जघन्यअजघन्य प्रदेशबन्ध प्ररूपणा—में बतलाया है कि ओघसे सब कर्मोंका जघन्य प्रदेशबन्ध भी होता है और अजघन्य प्रदेशबन्ध भी होता है ।

सादि-अनादि-ध्रुव-अध्रुव प्रदेशबन्ध प्ररूपणा—मे वतलाया है कि ओघसे छह कर्मोंका उत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य प्रदेशबन्ध सादि और अध्रुवबन्ध है अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध सादि आदि चारो प्रकारका होता है। मोहनीय और आयुर्कर्मका उत्कृष्ट अनुत्कृष्ट जघन्य अजघन्य प्रदेशबन्ध सादि और अध्रुवबन्ध होता है। इत्यादि कथन है।

स्वामित्वप्ररूपणामें—ओघ व आदेशसे मूल तथा उत्तर प्रकृतियोंमें उत्कृष्ट और जघन्य प्रदेशबन्धके स्वामियोका कथन किया है। सामान्यरूपसे जो उत्कृष्ट योगसे युक्त होता है और उत्कृष्ट प्रदेशबन्धके साथ कमसे कम प्रकृतियोंका बन्ध करता है वह उत्कृष्ट प्रदेश बन्धका स्वामी होता है। तथा जो जघन्य योगसे युक्त होता है और जघन्य प्रदेशबन्धके साथ अधिकसे अधिक प्रकृतियोंका बन्ध करता है, वह जघन्य प्रदेशबन्धका स्वामी होता है।

कालप्ररूपणामें—ओघ व आदेशसे मूल तथा उत्तरप्रकृतियोंमें जघन्य और उत्कृष्टप्रदेशबन्धके कालका कथन किया गया है। यथा—ओघसे छह कर्मोंके उत्कृष्ट प्रदेशबन्धका जघन्यकाल एक समय और उत्कृष्टकाल दो समय है, इत्यादि।

अन्तरप्ररूपणामें—ओघ व आदेशसे मूल व उत्तरप्रकृतियोंके उत्कृष्ट आदि प्रदेशबन्धोंके अन्तरकालका कथन है। यथा—ओघसे छह कर्मोंके उत्कृष्ट प्रदेशबन्धका जघन्य अन्तरकाल एक समय और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम अर्धपुद्गल परावर्तप्रमाण है, इत्यादि।

सन्निकर्षप्ररूपणामें—उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध और जघन्यप्रदेशबन्धके आश्रयसे स्वस्थान सन्निकर्ष और परस्थानसन्निकर्षका कथन किया गया है। पहले उत्कृष्ट-स्वस्थान और उत्कृष्टपरस्थान सन्निकर्षका कथन है, पश्चात् जघन्यस्वस्थान और जघन्यपरस्थान सन्निकर्षका कथन है। यथा—मतिज्ञानावरणकर्मका उत्कृष्टप्रदेशबन्ध करनेवाला जीव श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मन पर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरणका नियमसे उत्कृष्टप्रदेशबन्ध करता है। यह उत्कृष्टस्वस्थान सन्निकर्षका उदाहरण है। इसी प्रकार ओघ और आदेशसे सब सन्निकर्ष घटित किये हैं। यह प्रकरण काफी बड़ा है। उत्कृष्ट सन्निकर्षके अन्तमें 'यहाँ भी 'पवाइज्जमाण' और अपवाइज्जमाण उपदेशोंका निर्देश मिलता है। जैसा कि यतिवृषभके चूर्णिसूत्रोमें मिलता है।

भंगवचयप्ररूपणामें—ओघ व आदेशसे मूल व उत्तरप्रकृतियोंके उत्कृष्ट व जघन्य प्रदेशबन्धके भगोंका नानाजीवोंकी अपेक्षा कथन किया गया है। उसमेंसे मूलप्रकृतियोंकी अपेक्षा कथन नष्ट हो गया है।

भागाभागप्ररूपणा—मूलप्रकृतियोंमें भागाभागप्ररूपणाका कथन भी नष्ट हो

गया है। उत्तरप्रकृतियोंमें भागाभागका कथन वर्तमान है।
तीन आयु, वैक्रियिकपट्टक और तीर्थङ्कर प्रकृतिका उत्कृष्ट
जीव इनका बन्ध करनेवाले जीवोंके असख्यातवें भाग प्रम
प्रदेशबन्ध करनेवाले जीव असख्यात बहुभागप्रमाण होते हैं,
गया है। परिमाणप्ररूपणा—मूलप्रकृतियोंकी अपेक्षा कथन
हो गया है। उत्तरप्रकृतियोंकी अपेक्षा कथन करनेवाला भाग
बतलाया है—तीन आयु, और वैक्रियिकपट्टकका उत्कृष्टप्रदे
प्रदेशबन्ध करनेवाले जीव असख्यात हैं। आहारकट्टिका उत्
प्रदेशबन्ध करनेवाले जीव सख्यात हैं। इत्यादि रूपसे
परिमाण बतलाया गया है।

क्षेत्रप्ररूपणा—मूलप्रकृतियोंमें क्षेत्रप्ररूपणाका कथन तो
प्रकृति विषयक कथन अवशिष्ट है। उसमें बतलाया है कि
पट्टक, आहारकट्टिका और तीर्थङ्कर प्रकृतिका उत्कृष्ट औ
करनेवाले जीवोंका क्षेत्र लोकके असख्यातवें भाग है अ
उत्कृष्टप्रदेशबन्ध करनेवाले जीवोंका क्षेत्र लोकके सख्या
इत्यादि कथन है।

स्पर्शन प्ररूपणा—मूलप्रकृतियोंमें कथन करनेवाला भा
है। उत्तरप्रकृतियोंके उत्कृष्ट अनुकृष्ट जघन्य और अजघन्य
वालोंके स्पर्शनका कथन अवशिष्ट है।

नानाजीवोंकी अपेक्षाकाल—मूलप्रकृतियोंकी अपेक्षा उत्कृ
हो गई जघन्यकालप्ररूपणा तथा उत्तरप्रकृति विषयककाल प्र
नानाजीवोंकी अपेक्षा अन्तर—इसमें ओघतथा आदेशसे मूल
उत्कृष्ट आदि प्रदेशबन्धोंका अन्तरकाल नानाजीवोंकी अपेक्ष
यथा—आठो कर्मोंके उत्कृष्टप्रदेशबन्धका जघन्य अन्तर एक
प्रदेशबन्धका अन्तरकाल नहीं है। उत्तरप्रकृतियोंकी अपेक्ष
इत्यादि कथन है।

भावप्ररूपणा—चू कि सब प्रकृतियोंका बन्ध औदयिकभा
यहाँ सब मूल और उत्तरप्रकृतियोंका जघन्य और उत्कृष्ट
जीवोंके औदयिक भाव बतलाया है।

अल्पबहुत्वप्ररूपणा—अल्पबहुत्वके दो भेद हैं स्वस्था
परस्थान अल्पबहुत्व। मूलप्रकृतियोंमें स्वस्थान अल्पबहुत्व

भुजगार बन्ध

इस प्रकरणमें भुजगार, अल्पतर, अवस्थित और अवक्तव्यबन्धोका कथन है । पिछले समयकी अपेक्षा वर्तमानमें अधिक प्रदेशोका बन्ध करना भुजगार बन्ध है, कम प्रदेशोका बन्ध करना अल्पतरबन्ध है, पिछले समयमें जितना प्रदेश बन्ध किया था वर्तमान समयमें भी उतना ही प्रदेशबन्ध होना अवस्थितबन्ध है, और बन्ध न करके बन्ध करना अवक्तव्यबन्ध है । इन बन्धोका कथन तेरह अनुयोगो-के द्वारा किया गया है—समुत्कीर्तना, स्वामित्व, काल, अन्तर, नाना जीवोकी अपेक्षा भगविचय, भागाभाग, परिमाण, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर भाव और अल्पबहुत्व । ताडपत्रके नष्ट हो जानेसे इस प्रकरणका कुछ भाग लुप्त हो गया है ।

यहाँ भी मूल प्रकृतियोंमें ओघसे अवस्थित पदके कालका कथन करते हुए पवाइज्जंत तथा अपवाइज्जत उपदेशका निर्देश किया है ।

पदनिक्षेप

उक्त भुजगार अल्पतर आदि पद उत्कृष्ट भी होते हैं और जघन्य भी होते हैं । अतः इस प्रकरणमें भुजगारके उत्कृष्ट वृद्धि और जघन्य वृद्धि ये दो भेद करके अल्पतरके उत्कृष्ट हानि और जघन्य हानि ये दो भेद करके तथा अवस्थित पद-के उत्कृष्ट अवस्थान और जघन्य अवस्थान ये दो भेद करके कथन किया गया है । अतः पदनिक्षेपके समुत्कीर्तना, स्वामित्व और अल्पबहुत्व अनुयोगद्वारोमेंसे प्रत्येकके उत्कृष्ट और जघन्य ये दो भेद करके कथन किया है । तदनुसार उत्कृष्ट समुत्कीर्तना, उत्कृष्ट स्वामित्व और उत्कृष्ट अल्पबहुत्वमें ओघ और आदेशसे मूल और उत्तर प्रकृतियोंकी उत्कृष्ट वृद्धि, उत्कृष्ट हानि और उत्कृष्ट अवस्थान-का कथन है । तथा जघन्य समुत्कीर्तना, जघन्य स्वामित्व और जघन्य अल्पबहुत्व-में ओघ और आदेशसे मूल और उत्तर प्रकृतियोंकी जघन्य वृद्धि, जघन्य हानि और जघन्य अवस्थानका कथन है ।

इस प्रकरणका भी ताडपत्र नष्ट हो जानेसे कितना ही अंश लुप्त हो गया है ।

वृद्धि

वृद्धि पदसे यहाँ वृद्धि, हानि, अवस्थित और अवक्तव्य इन चारोका ग्रहण होता है । इन चारोके अवान्तर भेद वारह हैं—अनन्त भाग वृद्धि, अनन्तभाग हानि, असख्यातभागवृद्धि, असख्यातभागहानि, संख्यातभागवृद्धि, संख्यातभागहानि, संख्यातगुणवृद्धि, संख्यातगुणहानि, असख्यातगुणवृद्धि, असख्यातगुणहानि, अवस्थित और अवक्तव्य । यहाँ इन पदोकी अपेक्षा समुत्कीर्तना आदि तेरह अनुयोगोका ओघ

और आदेशसे मूल तथा उत्तर प्रकृतियोंमें कथन किया है। यहाँ भी मूल प्रकृतियोंकी अपेक्षा वृद्धि अनुयोगद्वारका कथन करने वाला प्रकरण ताडपत्रके नष्ट हो जानेसे नष्ट हो गया है। केवल उत्तर प्रकृतियोंका प्रकरण अवशिष्ट है।

अध्यवसानसमुदाहार

अध्यवसान समुदाहारके अन्तर्गत दो अनुयोगद्वार हैं—प्रमाणानुगम और अल्पवहुत्व। प्रमाणानुगममें योगस्थानों और प्रदेशबन्धस्थानोंके प्रमाणका कथन करते हुए बतलाया है कि ज्ञानावरणीय कर्मके असख्यात प्रदेशबन्धस्थान हैं जो योगस्थानोंसे सख्यातवें भाग प्रमाण अधिक हैं। इसका कारण भी बतलाया है। मूलप्रकृतियोंकी तरह ही उत्तर प्रकृतियोंमें प्रत्येक प्रकृतिकी अपेक्षा योगस्थानों और प्रदेशबन्धस्थानोंके प्रमाणका अलग-अलग कथन किया है। तथा अल्पवहुत्वमें इन योगस्थानों और प्रदेशबन्धस्थानोंके अल्पवहुत्वका कथन मूल व उत्तर प्रकृतियोंकी अपेक्षा किया है।

जीवसमुदाहार

जीवसमुदाहारके अन्तर्गत भी दो अनुयोगद्वार हैं—प्रमाणानुगम और अल्पवहुत्व। प्रमाणानुगममें चौदह जीवसमासोंके आश्रयसे जघन्य और उत्कृष्ट योगस्थानोंको कथन करनेके बाद, उन्ही चौदह जीवसमासोंके आश्रयसे जघन्य और उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध स्थानोंके अल्पवहुत्वका कथन किया है। तथा अल्पवहुत्वमें उसके जघन्य उत्कृष्ट और जघन्योत्कृष्ट भेद करके ओध व आदेशसे सब मूल व उत्तर प्रकृतियोंके प्रदेशोंके बन्धक जीवोंके अल्पवहुत्वका कथन किया है।

इस प्रकार महाबन्धके अन्तर्गत प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्धधारिकोंके विषयका यह सामान्य परिचय है। चारों अधिकारोंकी शैली तथा अनुयोगद्वार आदि सब समान हैं। केवल आधार भूत प्रकृतिबन्ध स्थितिबन्ध आदि बन्धोंको लेकर ही विषय भेद पाया जाता है।

महाबन्धके उपर्युक्त वस्तु-विश्लेषणसे यह स्पष्ट है कि इस सिद्धान्त-ग्रन्थमें अनुयोगद्वार पूर्वकबन्धके भेदोंका विवेचन किया गया है। इस विवेचन-सन्दर्भमें जिन भुजाकार आदि बन्ध-विकल्पोका कथन आया है उनका उत्तरकालीन साहित्यपर पूरा प्रभाव दिखायी पड़ता है। वास्तवमें बन्धका ऐसा सूक्ष्म और विस्तृत प्रतिपादन अन्यत्र दुर्लभ है।

द्वितीय अध्याय

चूर्णिसूत्र साहित्य

दिगम्बर परम्परामें मूल सिद्धान्त ग्रन्थोंके कुछ ही समय पश्चात् चूर्णिसूत्र साहित्य लिखा गया है। इस साहित्य विधाका उद्गम कब और कैसे हुआ यह तो निश्चित रूपसे नहीं कहा जा सकता पर 'कसायपाट्ट' पर यतिवृषभके जो चूर्ण सूत्र उपलब्ध हैं, उनके अध्ययनसे यह अनुमान होता है कि इतने प्रौढ सूत्र एकाएक नहीं लिखे जा सकते हैं। अवश्य कोई पूर्ववर्ती परम्परा रही होगी, जो अनवच्छिन्न कालके प्रवाहमें आज उपलब्ध नहीं है।

मूल सिद्धान्त ग्रन्थों और चूर्ण सूत्रोंके तुलनात्मक अध्ययनसे इतना अवश्य प्रकट होता है कि चूर्णिसूत्र सिद्धान्त ग्रन्थोंके पश्चात् और अन्य भाष्य एवं विवृत्तियोंके पूर्वमें रचे गये होंगे। यहाँ यह स्मरणीय है कि दिगम्बर परम्पराका 'चूर्णिसूत्र साहित्य' श्वेताम्बर-परम्पराके 'चूर्ण साहित्य' से स्थापत्य और वर्ण्य-विषय दोनों ही दृष्टियोंसे भिन्न है। श्वेताम्बर परम्पराकी चूर्णियाँ गद्यात्मक और पद्यात्मक मिश्रित शैलीमें लिखी गयी हैं। इनकी भाषा भी संस्कृत मिश्रित प्राकृत है तथा कतिपय चूर्णियाँ प्राकृतमें भी उपलब्ध हैं। इन चूर्णियोंकी शैलीकी एक प्रमुख विशेषता आख्यान-आत्मक उदाहरणों द्वारा विषयके स्पष्टीकरणकी है। चूर्णिकार अपनी ओरसे कोई सिद्धान्त-आत्मक नये तथ्य अंकित नहीं करता, अपितु नियुक्तियों और भाष्यों द्वारा विवृत तथ्योंकी ही पुष्टि करता है।

पर दिगम्बर परम्पराके चूर्ण सूत्रोंमें आगम सम्बन्धी नये तथ्योंकी प्रचुरता है। बीज पदरूप गाथा सूत्रों पर ये 'चूर्णिसूत्र' वृत्तिका कार्य करते हुए भी अनेक नये तथ्योंको सूत्र रूपमें प्रस्तुत करते हैं। यही कारण है कि जयधवलाकारने चूर्ण सूत्रोंके भी व्याख्यान लिखे हैं। बताया जाता है कि 'कसायपाट्ट' की गाथाओंका सम्यक् अर्थ अवधारण कर उन पर वृत्ति सूत्र लिखे गये हैं। ये वृत्ति सूत्र ही चूर्णिसूत्र कहे जाते हैं। 'जयधवला' में वृत्ति सूत्रका लक्षण निम्न प्रकार बताया है—

‘सुत्तस्सेव विवरणाए सखित्तसद्दयणाए सगहियसुत्तासेसत्थाए वित्तिसुत्तवव-
एसादो ।’

अर्थात् जिसकी शब्द रचना सक्षिप्त हो और जिसमें सूत्रगत विशेष अर्थोंका संग्रह किया गया हो, ऐसे सूत्रोंके विवरणको वृत्ति सूत्र कहते हैं ।

चूर्ण सूत्रोंके अध्ययनसे ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रकारके साहित्यमें वृत्ति रूप संक्षिप्त सूत्र लिखे जाने पर भी अर्थ बहुल पदोंका समावेश किया गया जिससे चूर्ण सूत्रोंमें पर्याप्त प्रमेयका समावेश हुआ है । यदि इन चूर्ण सूत्रोंको चूर्ण पदोंका समानार्थक मान लिया जाय, तो चूर्णपदकी व्याख्यामें समाहित सभी लक्षण इन सूत्रोंमें घटित होते हैं । हम यहाँ चूर्णपदका लक्षण प्रस्तुत करते हैं ।

अथबहुल महत्य हेउ-निवाओवसगगम्भीर ।

बहुपायमवोच्छिन्नं गम-णयसुद्ध त चुण्णपय ॥^१

अर्थात् अर्थबहुल, महान अर्थका धारक या प्रतिपादक, हेतु निपात और उपसर्गसे युक्त गम्भीर, अनेक पद समन्वित और अव्यवच्छिन्न चूर्णपद कहलाते हैं । आशय यह है कि जिनमें वस्तुका स्वरूप धारा प्रवाहसे कहा गया हो तथा जो अनेक प्रकारके जाननेके उपाय और नयोंसे शुद्ध हो, उन्हें चीर्ण अथवा चूर्ण सम्बन्धीपद कहते हैं ।

चूर्णपदका यह लक्षण चूर्ण सूत्रोंमें घटित होता है । अतः यह अनुमान सहज है कि 'वृत्ति' और 'चूर्ण' एकार्थक है । आचार्य यतिवृषभने 'कसायपाहुड' के गाथा-सूत्रोपर वृत्यात्मक ऐसे सूत्र लिखे, जो बीजपदोंके विश्लेषणके साथ प्रसंगगत नये तथ्योंके भी सूचक है । अतएव चूर्ण सूत्र सूत्रात्मक शैलीमें रचित बीजपद विवृत्यात्मक ऐसा साहित्य है, जिसमें शब्द अल्प और अर्थबहुल पाया जाता है । यथार्थतः चूर्णसूत्रकार गाथा-सूत्रोंके बीजपदोंका विश्लेषण कई सूत्रोंमें भी करते हैं । बीजपदोंमें अन्तर्निहित अर्थका विश्लेषण जब तक प्रकट नहीं हो जाता, तब तक वे सक्षिप्त रूपमें सूत्रोंका प्रणयन करते हैं । अपने इस कथनकी पुष्टिके हेतु "पेज्जदोसविहत्तिअत्थाहियारा" की दूसरी गाथा बाईसवी सख्यक ली जा सकती है । चूर्ण सूत्रकारने इस गाथाके प्रत्येक पदको बीज मानकर प्रकृति विभक्तिका १२९ सूत्रोंमें, स्थिति विभक्तिका ४०७ सूत्रोंमें, अनुमाग विभक्तिका १८९ सूत्रोंमें, प्रदेश विभक्तिका २९२ सूत्रोंमें, शीणाक्षीणका १४२ सूत्रोंमें और स्थित्यन्तिकका १०६ सूत्रोंमें वर्णन किया है । इस वर्णनसे यह ध्वनित होता है कि चूर्णसूत्र साहित्य बीजपदोंका व्याख्यात्मक तो है ही, साथ ही उसमें ऐसे भी अनेक पद प्रयुक्त हैं, जिनकी व्याख्या या वर्णन जाननेके लिये सकेत किया गया है । अणुचितिरुण णेदब्ब (सूत्र १९२, गाथा ६२), गेण्हियब्ब (सूत्र १५५, गाथा १२३), दट्ठब्ब (सूत्र ३३५, गाथा १२३), साहेयब्ब (सूत्र ८५

गाथा ५८९,) आदि पदोंमें यह प्रकट है कि चूर्णिमूत्रोंमें निहित अर्थ उच्चारणा-
चार्य या व्याख्यानाचार्यों द्वारा अवगन्तव्य अथवा मननीय है ।

चूर्णि सूत्रोंके निरूपणके सम्बन्धमें 'जयधवलाटीका' में भी कतिपय तथ्य
उपलब्ध है । हम यहाँ इस निगमको प्रस्तुतकर 'चूर्णि सूत्र' साहित्य विधाके
रत्नरूप निर्धारणका प्रयास करेंगे । यास्तवमें यह साहित्य विधा धृत्यात्मक ऐसी
मौलिक विधा है, जिसमें योज पदोंकी वृत्तिके साथ विषय सम्बन्धी नये तथ्य
भी मकेतित हैं । चूर्णि सूत्रोंमें प्रस्तुत की गयी वृत्तियाँ सूत्रात्मक हैं, साध्यात्मक
नहीं । साहित्य विधाकी मनोवैज्ञानिक पीठिकामें बतलाया जाता है कि मूल
आगम सम्बन्धी रचनाओंके तत्काल ही सूत्रात्मक वृत्तियाँ लिगी जाती हैं, जो
उत्तरकालीन वातिकों द्वारा पूर्ण रहती हैं, ऐसे सूत्रोंकी व्याख्या भी उत्तर-
कालमें टीकाकारों द्वारा लिगी जाती है ।

जयधवलाकी मूल गाथाओंमें यतिवृषभको 'वित्तिमुत्तात्ता'—वृत्तिसूत्र
कर्ता लिखा है । और जयधवलाके अन्तर^२ तो 'चुण्णिमुत्त करके बहुतायतमें
उनका उल्लेख पाया जाता है । इसी तरह 'पट्गण्डागमकी' टीका धवलामें भी
चुण्णिमुत्त नामसे उनका निर्देश पाया जाता है । उन्द्र नन्दिने अपने श्रुतावतारमें^३
वृत्तिसूत्र और चूर्णिमूत्र दोनों नामों का प्रयोग बड़े ढंगसे किया है । उन्होंने लिखा
है कि उसके पश्चात् यतिवृषभने उन गाथाओं पर वृत्ति सूत्र रूपमें छ हजार
प्रमाण चूर्णि सूत्रोंकी रचना की । उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यतिवृषभकी
इस कृतिका नाम चूर्णिमूत्र है और कपायपाहुडकी वृत्तिरूप होनेसे उन्हें वृत्ति सूत्र
कहते हैं ।

धवलामें इन्हें पाहुड^४ चुण्णिमुत्त भी कहा है । कसायपाहुडका सक्षिप्त
नाम पाहुड करके उसके चूर्णिसूत्र होनेसे पाहुडचुण्णिमुत्त कहना उचित ही है ।
त्रिलोकप्रज्ञप्तिकी अन्तिम^५ गाथामें त्रिलोकप्रज्ञप्तिका परिमाण बतलाते हुए

१. 'सो वित्तिमुत्तकत्ता जखसरो में वर देख ।' —क० पा०, भा० १, पृ० २ ।

२. क० पा० भा० १, पृ० ५, १२, २७, ८८, ९६ ।

३. 'पुणो सो अत्थो आइरियपरपराण आगतूण गुणहरभउरय सपत्तो । पुणो तत्तो
आइरियपरपराण आगतूण अजमखु णागहत्थिभटारयाण मूल पत्तो । पुणो तेहि दो-
हिवि कमेण जदिवसह भउरयस्म वक्खाणिदो, तेणवि अणुभागसंक्रमे सिस्साणुगहट्ठम
चुण्णिमुत्ते लिहिदो ।' —पट्खं, पु० १२, पृ० २३२ ।

४. 'तेन ततो यतिपतिना तद्गाथा वृत्तिसूत्ररूपेण । रचितानि पट्सत्तग्रन्थान्यथ चूर्णि-
सूत्राणि ॥ १५६ ॥ —तत्त्वानु ०, पृ० ८७ ।

५. 'प्यत्त कथं सिद्धं ? पाहुड चुण्णिमुत्ते सुप्पसिद्धं ।' —पट्खं, पु० १२, पृ० ९४ ।

६. 'चुण्णिसरूव छकरणसरूवमाण होइ किं ज त । अट्ठसहस्सपमाण तिलोपण्णत्ति-
णामाण ॥ ७७७ ॥ —ति० प० भा० २, प० ८८२ ।

‘चूर्णिसूत्र’ का निर्देश आया है जो यतिवृषभकृत चूर्णिसूत्रोके लिये ही आया है। इस गाथाके यतिवृषभकी कृती माने जानेसे यह मानना पड़ता है कि यतिवृषभने स्वयं अपनी इस कृतिको चूर्णि सज्ञा प्रदान की थी।

दि० जैनसाहित्यमें चूर्णिसूत्रके नामसे प्रसिद्ध अन्य किसी रचनासे हम अवगत नहीं हैं। किन्तु धवलाटीकामें वीरसेनस्वामीने पट्खण्डागमके सूत्रोको भी ‘चुणिसुत्त’ नामसे अभिहित किया है। परन्तु उन्हीं सूत्रोको चूर्णिसूत्र कहा है जो गाथाके व्याख्यानरूप है। बात यह है कि वेदनाखण्डमें कुछ गाथाएँ भी आती हैं जो सूत्र उनके व्याख्यानरूप हैं उन्हींको धवलाकारने चूर्णिसूत्र कहा है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि गाथाओके व्याख्यानरूप सूत्र चूर्णिसूत्र कहे जाते थे।

जयधवलाकारने यतिवृषभाचार्यके चूर्णिसूत्रोको वृत्तिसूत्र कहा है। जिस प्रसंगसे जयधवलाकारने वृत्तिसूत्रका लक्षण दिया है, उस प्रसंगको भी यहाँ दे देनेसे उसपर विशेषप्रकाश पड़ेगा।

प्रसंग यह है कि चूर्णिसूत्रोमें एक जगह केवल दोका अक रखा है। उसपर शकाकार पूछता है कि यह दोका अक यहाँ क्यों रखा ? तो जयधवलाकार उत्तर देते हैं कि अपने हृदयमें स्थित अर्थका ज्ञान करानेके लिये यतिवृषभाचार्यने २ का अक रखा है। इसपर शकाकार पुन पूछता है कि उस अर्थको अक्षरोके द्वारा क्यों नहीं कहा ? तो जयधवलाकार उत्तर देते हैं कि वृत्तिसूत्रका अर्थ कहनेपर चूर्णिसूत्रके उपयुक्त कोई नाम ही नहीं रहता क्योंकि जिसमें वृत्तिसूत्रका अर्थ भी कहा गया हो उसे वृत्तिसूत्र नहीं कहा जा सकता। ‘जो सूत्रका ही व्याख्यान करता है तथा जिसकी शब्द रचना सक्षिप्त है और जिसमें सूत्रके समस्त अर्थको सगृहीत कर दिया गया है उसे वृत्तिसूत्र^१ कहते हैं।

वृत्तिसूत्रका उक्त लक्षण यतिवृषभके चूर्णिसूत्रोमें पूर्णतया घटित होता है क्योंकि उसकी शब्द रचना सक्षिप्त है फिर भी उनमें गाथासूत्रोका समस्त अर्थ सगृहीत है। संभव है जयधवलाकारने वृत्तिसूत्रका यह लक्षण चूर्णिसूत्रोकी दृष्टि रखकर ही बनाया हो।

किन्तु इस प्रकारके वृत्तिसूत्रोको चूर्णिसूत्र नाम देनेका हेतु क्या है यह पूर्वमें लिखा जा चुका है।

महत्त्व

चूर्णिसूत्रोका महत्त्व कसायपाहुडकी गाथाओसे किसी तरह कम नहीं प्रतीत

१ ‘एदस्स गाहासुत्तस्म विवरणभावेण रचिद उवरिम चुणिसुत्तादो ।’

—पट्ख०, पु० १२, पृ० ४१।

२ क० पा०, भा० २, पृ० १४१।

होता । चू कि गाथासूत्रोमे जिन अनेक विषयोकी पृच्छा मात्र और सूचना मात्र है उन सबका प्रतिपादन चूर्णिसूत्रोमें किया गया है । अतः एक तरहसे कसायपाहुड और चूर्णिसूत्र दोनो मिलकर एक ग्रन्थरूप हो गये हैं और चूर्णिसूत्रकारका मत कसायपाहुणकारका मत माना जाता है । वीरगेनस्वामीने धवला टीकामें अनेक स्थानो पर चूर्णिसूत्रकारके मतको 'कसायपाहुड' के नामसे उल्लिखित किया है । इतना ही नहीं किन्तु चूर्णिसूत्रको उद्धृत करके उसे पाहुटसुत्त' नामसे अभिहित किया है ।

धवला^१में अनेक स्थानो पर पट्पण्डागमके मतके सामने चूर्णिसूत्रकारके मतको रखकर वीरसेनस्वामीने दोनोको परस्पर विरुद्ध बतलाया है । और इस तरह चूर्णिसूत्रकारके मतको पट्पण्डागमके मतोमे समकक्षता प्रदान की है । इसका प्रभाव हम उत्तर कालीन ग्रन्थकारो पर भी पाते हैं । विक्रमकी ग्यारहवीं शताब्दीके जैनाचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीने धवलाके आधार पर लब्धिसार^२ नामक ग्रन्थकी रचना की थी । उसमें उन्होने पहले यतिवृषभके मतका निर्देश किया है तदनन्तर भूतबलिके मतका निर्देश किया है । यतिवृषभका मत उनके चूर्णिसूत्रोके आधार पर ही दर्शाया गया है यह कहने की आवश्यकता नहीं है । अतः चूर्णिसूत्रोका महत्त्व स्पष्ट है ।

कसायपाहुड और चूर्णिसुत्त • अधिकार विमर्श

यह लिख आये हैं कि दो गाथाओके द्वारा गुणधराचार्यने कपाय प्राभृतके अधिकारोका नाम निर्देश किया है । और वे दोनो गाथाएं गुणधरकृत ही मानी गई हैं उसमें कोई मतभेद नहीं है ।

यति वृषभने भी अपने चूर्णिसूत्रोके द्वारा १५ अर्थाधिकारोका निर्देश किया है किन्तु गुणधर निर्दिष्ट अधिकारोसे उसमें अन्तर है ।

जयधवला टीकामें इस पर आपत्ति करते हुए यह आशङ्का की गयी है कि गुणधर भट्टारकके द्वारा कहे गये पन्द्रह अधिकारोके रहते हुए उन्हीं पन्द्रह अधिकारोको अन्य प्रकारसे बतलानेके कारण यतिवृषभ गुणधर भट्टारकके दोष दिखाने वाले क्यों नहीं होते ? इसका परिहार करते हुए जयधवलाकारने लिखा है कि

१. कसायपाहुडे सम्मत्तासम्मामिच्छत्ताणमुक्कस्साणु भागो दसणमोहकखवग मोत्तूण सव्वत्थ होदित्ति परुविदत्तादो वा णव्वदे—पट्ख, पु० १२, पृ० ११६, पृ० १२९, पृ० १३८ ।

२. पट्० पु० १०, पृ० २०१ । 'एसो पाहुड चूर्णिसुत्ताभिप्पाओ ।— पट्ख, पु० ६, पृ० ३३१

३. 'कसायपाहुडसुत्तेणेदसुत्त विरुद्धदि ।त्ति। सुत्ते सव्व विरुद्धइ—पट्ख पु० ८, पृ० ५६ । 'एसो मतकम्मपाहुडउवदेसो कसायपाहुड उवदेसो पुण . . पु० १, पृ० २१७ ।

४. यदि मरदि सासणों सो गिरय तिरिक्ख णर ण गच्छेदि । गियमा देवगच्छदि जइवसह मुणिदि वयणेण ॥३४९॥ उवसमसेदीदो पुण ओदिण्णो सासण ण पाउणदि । भूतबलिणाह गिम्मल सुत्तस्स फुडोवदेसेण ॥३५०॥ लब्धि०

यतिवृषभने गुणधराचार्यके द्वारा कहे गये अधिकारोका निषेध नहीं किया किन्तु उनके ही कथनका अभिप्रायान्तर व्यक्त किया है। गुणधराचार्यने तो पन्द्रह अधिकारोकी दिशा मात्र दिखलाई है। उससे यह आशय नहीं लेना चाहिये कि जिन अधिकारोका गुणधराचार्यने निर्देश किया है वे ही अधिकार होने चाहिये। इसी बातको दिखलानेके लिये यतिवृषभने अन्य प्रकारसे पन्द्रह अधिकार कहे हैं। सम्भवत अपने उक्त परिहारको उपपन्न करनेके लिये जयधवलकारने एक तीसरे प्रकारसे पन्द्रह अधिकारोका निर्देश किया है और लिखा है कि इसी प्रकार चौथे पाचवें आदि प्रकारोसे पन्द्रह अधिकारोका कथन कर लेना चाहिये। गुणधराचार्यके द्वारा निर्दिष्ट पन्द्रह अधिकारोका कथन करने वाली गाथाएँ इस प्रकार हैं—

‘पेज्जदोस विहत्ती टिठदि अणु भागे च वधगे चेय ।

वेदग उवजोगेवि य चउट्ठाण वियजणे चेय ॥१३॥

सम्मन देस विरयी सजम उवसामणा च खवणा च ।

दसण चरित्त मोहे अद्धापरिमाणिद्देसो ॥१४॥

१. पेज्जदोसविहत्ती (प्रेयोद्वेष विभक्ति), २ टिठदि (स्थिति विभक्ति), ३ अणु भाज (अनुभाग विभक्ति), ४-५ वधग (अकर्मबन्धकी अपेक्षा बन्धक और कर्मबन्धकी अपेक्षा बन्धक अर्थात् सक्रामक), ६ वेदग (वेदक), ७ उवजोग (उपयोग) ८ चउट्ठाण (चतु स्थान), ९ वियजण (व्यञ्जन), सम्मत्त (१० दर्शन-मोहकी उपशामना और ११ दर्शनमोहकी क्षपणा। १२ देस विरयी (देश विरति), १३ सजम (सकल समय), १४ उवसामणा च (चारित्र्य मोहकी उपशामना), १५ खवणा च (चारित्र्यमोहकी क्षपणा) ये पन्द्रह अधिकार गुणधराचार्यने कहे हैं। उक्त गाथाओ के ही आधार पर रचित चूर्णसूत्रोमें यतिवृषभने नीचे लिखे अनुसार पन्द्रह अधिकार गिनाये हैं—

पेज्ज दोसे १ (प्रेयोद्वेष, विहत्ति टिठदि अणु भागे च २ (प्रकृतिविभक्ति, स्थितिविभक्ति, अनुभागविभक्ति, प्रदेशविभक्ति, शीणाद्धीणा और स्थित्यन्तिकको लिये हुए दूसरा अधिकार), वधगेति वधो च ३ सकमो च ४ (बन्धकपदसे तीसरा बन्धक और चौथा सक्रम) अधिकार वेदएत्ति उदओ च ५. उदीरणा च ६ (वेदकपदसे पाचवा उदयाधिकार और छठा उदीरणाधिकार), उवजोगे च ७. (उपयोग), चउट्ठाणेच ८ (चतु स्थान), वजणे च ९ (व्यञ्जन), सम्मत्तेत्ति दसणमोहणीयस्स उवसामणा च १०. दसणमोहणीयखवणा च ११ (‘सम्यक्त्व’ पदसे दर्शन मोहनीयकी उपशामना नामक दसवा दर्शन मोहनीयकी क्षपणा नामक ग्यारहवाँ अधिकार), देसविरदी च १२ (देशविरति नामक बारहवा अधिकार), संजमे उवसामणा च खवणा च चारित्त मोहणीयस्स उवसामणा च १३, खवणा च १४ (चारित्र्य मोहनीयकी उपशामना नामक तेरहवा और चारित्र्य मोहनीयकी

अथवा नामक चोदहवा (अधिकार) अथवा परिमाणनिर्देशो १५. (और पन्द्रहवा अष्टापरिमाण निर्देश नामक अधिकार) ।

गुणव्यापार्यमे 'पिञ्जरो' । 'तन्त्री' इत्यादि गानाओं के पूर्वार्ध प्राग्वह्य वान अधिकारोंको सूचित किया है । किन्तु उनके नामोंके सम्बन्धमें 'पिञ्जरो' में विह्वली स्थिति अणु भागों में वर्णन है । 'तन्त्री' नामक ही कहा है । इस गानाओं में पञ्चदश विह्वली, विह्वली, अणुभाग और अणु भागों के चार नामोंका संग्रह मान्य होता है । उनमें यह स्पष्ट नहीं होता कि पञ्चदश वान अधिकारोंमें से तीन अधिकार किम नाम वाला है । उसीमें मान्य गानाओं में उक्त गानाओंके चारोंको अनुसरण करते हुए भी उनके द्वारा केवल चार अधिकारोंका निर्देश करते हैं और वेदक अधिकारोंके उदय और उदीयना से भेद करते गानाओं की प्रति करते हैं ।

तथा गुणव्यापार्यमे गयमानयम लब्धि और लब्धिओं के चारों और चोदहवा अधिकार माना है । किन्तु यद्विपुष्यने गयमानयम लब्धिओं तो स्वतन्त्र अधिकार माना है परन्तु गानाओं में आये हुए सजमे पदोंके उपशामना और क्षयणोंके साथ जोड़ दिया है और उन तन्त्रों उन्होंने गयम लब्धि नामक अधिकारोंको नहीं माना । इस तरह जो एक गयमारी कभी हुई उसको प्रति उन्होंने अष्टापरिमाण निर्देशों को पन्द्रहवां अधिकार मानार को है ।

जिन दो गानाओंमें पन्द्रह अधिकारोंका नाम निर्देश है, उनका अन्तिम पद 'अष्टापरिमाणनिर्देशो' है । उसमें कुछ वाक्योंके मतानुसार 'अष्टा परिमाण निर्देश' नामका पन्द्रहवां अधिकार है । परन्तु जिन एक नौ अस्सी गानाओंमें पन्द्रह अधिकारोंका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा की है उनमें अष्टापरिमाणका निर्देश करने वाली छह गानाओं नहीं आई है । तथा पन्द्रह अधिकारोंमें गानाओंका विभाग करने हुए उन प्रकारकी कोई सूचना भी नहीं की गई है । इनमें प्रतीत होता है कि गुणव्यापार्यको अष्टापरिमाण निर्देश नामका पन्द्रहवां अधिकार स्पष्ट नहीं था । किन्तु यद्विपुष्यने उसे एक स्वतन्त्र अधिकार माना है ।

यह समीकरण हमने उक्त अधिकार निर्देशक चूनिह्वलीको मानने रख कर किया है । किन्तु यद्विपुष्यने के समस्त चूनिह्वलीके अवलोकनसे पता चलता है कि उन्होंने उक्त पन्द्रह अधिकारोंका निर्देश करने भी अपने चूनिह्वलीकी रचना करनेवाले तारा निर्दिष्ट अधिकारोंके अनुसार ही की है ।

यह यह बात स्मरण रखना चाहिए कि यद्विपुष्यने अपने चूनिह्वलीके चारोंको अवलोकन करने के लिए है । यद्यपि यह निर्देशोंके चूनिह्वलीके निर्देशोंके है ।

इस दूसरे अधिकारके अन्तर्गत बाईसवी गाथाका^१ पदच्छेद करते हुए यति-वृषभने इसमें प्रकृतिविभक्ति, स्थितिविभक्ति, अनुभागविभक्ति, प्रदेशविभक्ति, क्षीणाक्षीण और स्थित्यन्तिकका समावेश कर लिया है।

आगे^२ बधकके दो भेद बध और सक्रम करके तीसरे और चौथे अधिकारका ग्रहण किया है। आगे वेदक^३ अणियोगद्वारके उदय और उदीरणा भेद करके पाँचवें और छठें अधिकारका निर्देश किया है। गुणधराचार्यने वेदकके दो भेद नहीं किये हैं। आगे 'उवजोगेत्ति' अणियोगद्वारस्स सुत्त' लिखकर सातवें उपयोग अधिकारका निर्देश किया है। आगे 'चउट्टाणेत्ति अणियोगद्वारे'^४ लिखकर आठवें चतुस्थान नामक अधिकारका निर्देश किया है। फिर^५ 'वजणेत्ति अणियोगद्वारस्स सुत्त' लिखकर नौवें व्यजन नामक अधिकारका निर्देश किया है।

कसायपाहुडकी अधिकार-निर्देशक गाथा १४ में 'सम्मत्त' पद आया है उससे यतिवृषभने भी दो अधिकार लिये हैं—एक दर्शनमोहकी उपशमना और एक दर्शनमोहकी क्षपणा। किन्तु अधिकारोका वर्णन करते समय एक सम्यक्त्व^६ नामक अनुयोगद्वारका ही निर्देश किया है। यद्यपि उसके अन्तर्गत दर्शनमोहकी उपशमना और क्षपणा दोनोंका कथन किया है किन्तु उनका निर्देश अनुयोगद्वार शब्दसे नहीं किया।

आगे देशविरत्ति^७ नामक १२ वें अधिकारका निर्देश है।

यह पहले लिख आये हैं कि गुणधराचार्यने तेरहवाँ अधिकार ~~अधिकार~~ नामक माना है और यतिवृषभने इसे नहीं माना। किन्तु ~~अधिकार~~

१. 'पयडीए मोहणिज्जा विहत्ती तह टिठदीण अणुभागे । उक्कस्स ~~अणुभागे~~ पदच्छेदो । त जहा ~~अणुभागे~~ ति एसा पयडिविहत्ती । तह टिठदी वेदि एसा ~~अणुभागे~~ विहत्ती । उक्कस्समणुक्कस्स ति पदेसविहत्ती । ~~अणुभागे~~ ।
—क० पा० सु०, पृ० ४८-४९ ।

२. 'बधगेत्ति एदस्स वे अणियोगद्वाराणि । त जह ~~अणियोगद्वाराणि~~ ।
पृ०-२४८) ।

३. 'वेदगेत्ति अणियोगद्वारे दोणिण अणियोगद्वारे ~~अणियोगद्वारे~~ ।
—क० पा० सु० पृ० ४६५ ।

४. क० पा० सु० पृ० ५५६ ।

५. क० पा० सु० पृ० १९७ ।

६. वही पृ० ६१२ ।

७. 'कसायपाहुडे सम्मत्ते ~~अधिकार~~ ।

८. 'देशविरदेत्ति ~~अधिकार~~ ।

‘लद्धि’ तथा ‘चरित्तस्से’ लिखकर यतिवृषभने चारिणलद्धिनामक अनुगोमटारका निर्देश किया है और यह भी लिखा है कि गममानगमर्त्तव्य नामक अधिकारमें जो गाथा आई है वही गाथा इन अधिकारमें है। यहाँ यह स्मरण दिलाना अनुचित न होगा कि जिन गाथाओंके द्वारा अधिकारोंमें गानाओंका विभाजन किया गया है, और जिन पर चूर्णिसूत्र नहीं है, वन्ती गाथाओंमेंसे ६ नम्बरकी गाथामें ‘लद्धि तथा चरित्तस्से’ पद आया है। और उमीमें यह कहा है कि दोनों अधिकारोंमें एक गाथा है। उमीका अनुगमरण यतिवृषभने भी किया है।

तथा गुणधरने अक्षापरिमाणनिर्देशको अधिकार नहीं माना, और यतिवृषभने माना है किन्तु उनके चूर्णिसूत्रोंमें अक्षापरिमाणनिर्देश नामक किसी अधिकारका व्याख्यान नहीं है। अतः गुणधरानाथमें कुछ भिन्न अधिकारोंको मानकर भी यतिवृषभने अधिकारोंके वर्णनमें प्रायः गुणधरानाथका ही अनुगमण किया है।

चूर्णिसूत्रोंकी रचना और व्याख्यानशैली

चूर्णिसूत्रोंकी रचनाशैली सूक्ष्म है। जिस तरह कसायपाहुडके गाथा-सूत्रोंका रहस्य आर्यमंजु और नागहस्तीके द्वारा यतिवृषभ जान गये उमी तरह यतिवृषभके चूर्णिसूत्रोंके व्याख्याता निरन्तनाचार्यों और उच्चारणाचार्योंके द्वारा ही जयधवलाकार जान गये थे, क्योंकि सूत्र तो सूत्रक होता है। २३३ गाथाओंके द्वारा सूचित अर्थकी सूचना यतिवृषभने ६००० प्रमाण चूर्णिसूत्रोंके द्वारा दी और उनका व्याख्यान उच्चारणाचार्यने १२००० प्रमाण उच्चारणावृत्तिके द्वारा किया और उसका आश्रय लेकर ६०००० प्रमाण जयधवला टीका रची गई। अतः छै हजारमें ६० हजार समाये हुए हैं। इसीसे चूर्णिसूत्रोंमें ‘अणुचितिकुण णेदव्व’ (चिन्तन करके ले जाना चाहिये), ‘अणुमाणिय णेदव्व’ (अनुमान करके घटित कर लेना चाहिये), ‘वत्तव्व’ (कहना चाहिये), ‘विहामियव्वाओ’ (विशिष्ट वर्णन करना चाहिये) इस प्रकारके शब्दोंका बाहुल्य है।

जिस प्रकार चूर्णिसूत्रोंकी सहायताके बिना कसायपाहुडके सूत्रोंका रहस्य समझना सम्भव नहीं है वैसे ही जयधवलाटीकाके साहाय्य बिना चूर्णिसूत्रोंके रहस्यको नहीं समझा जा सकता।

१. ‘लद्धि तथा चरित्तस्सेत्ति अणिओगदारे पुव्व गमणिज्ज सुत्त।’ त जहा। जा चेव सजमासजमे भणिदा गाहा सा चेव पत्थ वि कायव्वा।’ —वही, पृ० ६६९।
२. ‘लद्धीयं सजमासंजमरस लद्धि तथा चरित्तस्स। दोसु वि एवका गाहा अट्ठेवुवसामण द्दाम्मि ॥६॥

उदाहरणके लिये मूलपयडि^१ विभक्तिमें एक चूर्णिसूत्र केवल दो का अक रूप है। इसके सम्बन्धमें पीछे लिखा है।

शिष्यने शका की कि वह दो का अंक क्यों रखा है ? जयधवलाकारने उत्तर दिया—अपने मनमें स्थित अर्थका ज्ञान करानेके लिये चूर्णिसूत्रकारने यहाँ दो का अक रखा है। इसपर शिष्यने पुनः पूछा—उस अर्थका कथन अक्षरोसे क्यों नहीं किया ? तो जयधवलाकारने उत्तर दिया—इस प्रकार वृत्तिसूत्रोका अर्थ कहनेसे चूर्णिसूत्र ग्रन्थ वेनाम हो जाता, इस भयसे चूर्णिसूत्रकारने यहाँ अक द्वारा अपने हृदयस्थित अर्थका कथन किया।

जयधवलाकारने चूर्णिसूत्रोको देशामर्षक^२ कहा है अतः उन्होंने जगह-जगह लिखा है कि इससे सूचित अर्थका कथन उच्चारणावृत्तिके साहाय्यसे और एला-चार्यके प्रसादसे करता हूँ। इन बातोंसे चूर्णिसूत्रोकी सक्षिप्तता और अर्थबहुलता-पर प्रकाश पड़ता है, किन्तु सक्षिप्त और अर्थपूर्ण होनेपर भी चूर्णिसूत्रोकी रचना-शैली विशद और प्रसन्न है। भाषा और विषयका साधारण जानकार भी उनका पाठ सुगमतापूर्वक कर सकता है। चूर्णिसूत्रोकी व्याख्यानशैलीसे अभिप्राय यह है कि चूर्णिसूत्रोके द्वारा गाथासूत्रोके व्याख्यानकी क्या शैली है ? आगे उसपर प्रकाश डाला जाता है।

यह हम पहले लिख आये हैं कि कसायपाहुडकी सभी गाथाओपर चूर्णिसूत्र नहीं रचे गये हैं, कुछ गाथाएँ ऐसी भी हैं जिनपर चूर्णिसूत्र नहीं है। कसाय-पाहुडकी समस्त गाथासंख्या २३३ है। इनमें १८० मूलगाथा हैं, शेष ५३ सम्बन्ध-गाथा आदि हैं। इन ५३ गाथाओमेंसे केवल तीनपर ही चूर्णिसूत्र है १२ सम्बन्ध ज्ञापक गाथाओपर, ६ अद्धापरिमाणनिर्देश सम्बन्धी गाथाओपर और सक्रमवृत्ति-सम्बन्धी ३५ गाथाओमेंसे ३२ गाथाओ पर चूर्णिसूत्र नहीं है। और इस तरह २३३ गाथाओमेंसे ५० पर कोई चूर्णिसूत्र नहीं है।

जिन ५० गाथाओपर कोई चूर्णिसूत्र नहीं है उन्हें भी दो भागों में बाँटा जा सकता है। सक्रमवृत्तिसम्बन्धी बत्तीस गाथाओका उत्थानिकासूत्र और उपसहार सूत्र है। इन गाथाओकी क्रमसंख्या २७ से ५८ तक है। २७ वीं गाथाके प्रारम्भका चूर्णिसूत्र इस प्रकार है—^३‘एत्तो पयडिट्ठाण सकमो, तत्थ पुव्व गम-

१. ‘जइवसहाश्रियेण एसो दोएहमको किमट्ठमेत्थ ठविदो ? सगहियदिठ्यजत्थस्स जाणा वणट्ठं । मो अत्थो अक्खरेहि किण्ण परूविदो ? वित्तिमुत्तस्स अत्थे भण्णमाणे णिण्णामो गथो होदित्ति भएण ण परूविदो—क० पा०, भा० २, पृ० १४ ।

२. ‘पदेण वयणेण सुत्तस्स देसामासियत्त जेण जाणाविद तेण चउण्ह गईण उत्तुच्चारणावलेण एलाइरियपसाएण च सेसकम्माण परूवणा कीरदे’—ज० ध० प्रे० का०, पृ० ७५४५ ।

३. क० पा० सू०, पृ० २६० ।

णिज्जा सुत्तसमुक्किता । त जहा-’ अर्थात् यहाँसे आगे प्रकृतिस्थान सक्रमका प्रकरण है । उसमें प्रथम गाथासूत्रोकी समुत्कीर्तना करनी चाहिये ।’ इसके पश्चात् ३२ गाथाएँ आती हैं । उनके अन्तमें चूर्णिसूत्र इस प्रकार है ‘सुत्तसमुक्किता-णाए समत्ताए इमे अणिओगद्वारा ।’ अर्थात् संक्रम सम्बन्धी गाथाओकी समुत्कीर्तनाके समाप्त होनेपर ये (आगे कहे गये) अनुयोगद्वारा ज्ञातव्य है ।’

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ये वत्तीस गाथाएँ चूर्णिसूत्रकारके सन्मुख थी । किन्तु उन्होंने इनका पदच्छेदरूपसे या विभाषारूपसे व्याख्यान करना आवश्यक नही समझा । इनमें आगत विषयका परिज्ञान अनुयोगद्वारोमें आगत विवेचनसे हो जाता है । किन्तु शेष १८ गाथाओंका न तो कोई उत्थानिका-सूत्र है और न कोई उपसहारसूत्र । मानो ये गाथाएँ उनके मामले थी ही नहीं । यद्यपि चूर्णिसूत्रोके अनुगमसे ऐसा प्रमाणित नहीं होता । फिर भी साधारण दृष्टिसे देखनेपर ऐसा ही प्रतीत होता है ।

अब जिन गाथाओपर चूर्णिसूत्र है उनके विषयमें प्रकाश डालेंगे । गाथा^२ नम्बर एकपर जो चूर्णिसूत्र है उनकी उत्थानिकादि नहीं है तथा चूर्णिसूत्रकी रचना उपक्रमरूप होते हुए भी इस प्रकारसे की गई है कि उसमें गाथाका अभिप्राय आ जाता है । इस उपक्रमके रूपमें आगे अलगसे प्रकाश डालेंगे । गाथा नम्बर दो से बारह तक पर कोई चूर्णिसूत्र नहीं है । गाथा नम्बर^३ १३ और १४ में कसायपाहुडके पन्द्रह अधिकारोका निर्देश है । इन गाथाओकी भी कोई उत्थानिका नहीं है और चूर्णिसूत्रोमें केवल पन्द्रह अधिकारोके नाम इस तरहसे दर्शाए हैं कि दोनों गाथाओंके प्राय पूरे शब्द

१ क० पा० सू०, पृ० २८७ ।

२ ‘पुव्वम्मि पचमम्मि दु दसमे वत्थुम्मि पाहुडे तदिण । पेज्ज ति पाहुटम्मि दु हवदि कसा-याण पाहुड णाम ॥१॥ चू० सू०—‘णणप्पवादस्स पुव्वस्स दसमस्स वत्थुस्स तदियस्स पाहुडस्स पचविहो उवक्कमो ।’

३ पेज्जदोसविहत्ती टिठ्ठदि अणु भागे च वधगे चेय । वेदग उवजोगे वि य चउट्ठाण वियजणे चेय ॥१३॥ सम्मत्त देसविरयी सजम उवसामणा च खवणा च । दसण-चरित्त-मोहे अद्धापरिमाणणिहेसो ॥१४॥ चू० सू०—अत्थाहियारो पण्णारसविहो (अण्णेण पयारेण) । त जहा—पेज्जदोसे १, विहत्तिट्ठिदि अणुभागे च २, वधगे ति वधो च ३, सकमो ४, वेदए ति उदओ च ५, उदीरणा च ६, उवजोगे च ७, चउट्ठाणे च ८, वजणे च ९, सम्मत्ते ति दसणमोहणीयस्स उवसामणा च १०, दसणमोहणीय-क्खवणा च ११, देसविरदी च १२, सजमे उवसामणा च खवणा च—चरित्त-मोहणीयस्स उवसामणा च १३, खवणा च १४, ‘दसणचरित्तमोहे’ ति पदपरिवृण । अद्धापरिमाणणिहेसो ति १५, एसो अत्थाहियारो पण्णारसविहो ।

चूर्णिसूत्रोंमें आ पाये हैं, कोई पद छूटा नहीं है। यह पहले बतलाया जा चुका है कि गुणधराचार्यके द्वारा निर्दिष्ट १५ अधिकारोंसं यातवृषभके द्वारा निर्दिष्ट १५ अधिकारोंमें भेद है। अस्तु, गाथा नम्बर १५ से २० तक पर भी कोई चूर्णिसूत्र नहीं है। गाथा २१ में कामागपाहुडमें चर्चित विषयका आरम्भ होता है और सबसे प्रथम इसी गाथाका उत्थानिकासूत्र पाया जाता है। 'एत्तो सुत्तममोदारो' 'इसके अनन्तर गाथासूत्रका समवतार' होता है। 'समवतार' शब्द कितना आदर-सूचक है यह बतलानेकी आवश्यकता नहीं है। आगे किसी सूत्रकी उत्थानिकामें इस शब्दका व्यवहार मेरी दृष्टिसे नहीं गुजरा।

चूर्णिसूत्रकारने उपक्रमके पाँच भेद बतलाये हैं—आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वक्तव्यता और अर्थाधिकार। किन्तु अनुयोगद्वारासूत्रमें^१ उपक्रमके छै भेद भी बतलाये हैं—उनमें उक्त पाँच भेदोंके सिवाय एक भेद समवतार भी है। चूर्णिसूत्रकारने यद्यपि समवतारको उपक्रमके भेदोंमें नहीं गिना, फिर भी उन्होंने 'एत्तो सुत्तममोदारो' के द्वारा शायद उसी छठे भेदका उल्लेख किया है। अस्तु, गाथाके समवतारके पश्चात् चूर्णिसूत्र^२ में कहा है कि इस गाथाके पूर्वार्धकी 'विहासा' (विभाषा) करना चाहिये। जयधवलाकारने सूत्रके द्वारा सूचित अर्थका विशेष कथन करनेको विभाषा^३ कहा है। आव० नि०^४ के कर्तनि अनुयोग, निमोग, भाषा, विभाषा और वार्तिकोंको एकार्यक बतलाते हुए उनमें उत्तरोत्तर विशेष कथनकी अपेक्षा विशेष बतलाया है। विशेष भाष्यके^५ कर्तनि भी विविध प्रकारसे अथवा विशिष्ट प्रकारसे कथन करनेको विभाषा कहा है।

जयधवलाकारने^६ विभाषाके दो भेद किये हैं—एक प्ररूपणाविभाषा और एक

१. 'अह्वा उवक्कमे छव्विरे पणत्ते । त जहा—आणुपुब्बी १, नामं २, पमाण ३, वक्तव्वया ४, अत्थाहियारे ५, समोअरे ६ ।—अनु० द्वा०, सू० ७० ।

२. 'एट्ठिसे गाहाण पुरिमज्जस्स विहासा कायव्वा—क० पा० भा० १, पृ० ३६५ ।

३. 'सुत्तेण सच्चिदत्तस्स विमेषिऊण भासा विभासाविवरणं त्ति सुत्तं होदि ।'

ज० ध० प्रे० का० पृ० ३११९ ।

४. अनुओगो य निओगो भास विभासाय वतिय चैव । एण अनुओगस्स उ नामा एगट्ठिया पच्च ॥१०८॥ कट्ठे पोत्थे चित्ते सिरिधरिणं बोंड देसिणं चैव । भासण विभासण वा वित्ति-करणे य आहरणा ॥१३०॥ आ० नि०

५. विविहा विसेसओ वा होइ विभासा दुगादि पज्जाया । जह सामइय समओ सामाओ वा समाओ वा ॥१४००॥ विशेष० भा०

६. 'विहासा दुविहा होदि—परूवणाविहासा सुत्तविहासा चेदि ।' तत्थ परूवणाविहासा णाम सुत्तपदाणि अनुच्चारिय सुत्तसच्चिदासेसत्तस्स वित्थरपरूवणा । सुत्तविहासा णाम गाहासुत्ताणमवयवत्थपरामरसमुहेण सुत्तफासो—ज० ध० प्रे० का० ।

सूत्रविभाषा । सूत्रके पदोंका उच्चारण न करके सूत्रके द्वारा सूचित समस्त अर्थका विस्तारसे कथन करनेको प्रस्पणाविभाषा कहते हैं । और गाथासूत्रोंके अवयवार्थका परामर्श करते हुए सूत्रका स्पर्श करनेको सूत्रविभाषा कहते हैं । चूर्णिसूत्रकारने कही तो गाथासूत्रोंकी सूत्रविभाषा की है और कही प्रस्पणा-विभाषा की है । इसीसे जयधवलकारने उन्हें 'विभाषासूत्रकार' के नामसे भी अभिहित किया है ।

इन दोनों विभाषाओंमें सूत्रविभाषा गाथाके पदच्छेदपूर्वक होती है यद्यपि अवयवार्थका कथन पदच्छेद विना नहीं हो सकता । किन्तु ऐसी गाथाएँ स्वल्प ही हैं, जिनका चूर्णिसूत्रकारने पदच्छेदपूर्वक व्याख्यान किया है । अतः बहुत कम गाथाओंकी सूत्रविभाषा पाई जाती है, उसके विपरीत अधिकांश गाथाओंकी प्रस्पणाविभाषा की गई है ।

उदाहरणकेलिये गाथानख्या २२ का व्याख्यान पदच्छेदपूर्वक किया है और इसका कारण यह है कि यह एक ही गाथा प्रारम्भके कई अधिकारोंकी आधार-भूत है । इसीसे उसका पदच्छेद करके प्रत्येक पदकी विभाषा की गई है । इसी तरह सक्रम अधिकारके अन्तर्गत प्रकृतिसक्रमकी तीन गाथाओंका भी पदच्छेद-पूर्वक ही अर्थ किया है । यद्यपि ये गाथाएँ सरल हैं किन्तु उनमें उक्त अधिकार में आगत विषयोंकी सूचना है । अतः उनका पदच्छेद करके उनके द्वारा सूचित अर्थका विस्तारसे कथन किया है ।

डा० वासुदेवशरण अग्रवालने^१ लिखा है कि 'पाणिनिने दो अर्थोंमें वृत्ति-शब्दका प्रयोग किया है—एक तो शिल्प या रोजगारके लिये दूसरे ग्रन्थकी टीकाको भी वृत्ति कहा जाता था । पाणिनिसूत्र 'वृत्तिसर्गतामनेपुक्रम' (१।३।३८) की काशिकामें एक उदाहरण दिया है—'ऋक्षु अस्य क्रमते बुद्धि' । ऋग्वेदकी व्याख्यामें इनकी बुद्धि बहुत चलती है । इस उदाहरणमें वेदमन्त्रोंके व्याख्यानको वृत्ति कहा है । मन्त्रोंके प्रत्येक पदका विग्रह और उनका अर्थ यही इन आरम्भिक वृत्तियोंका स्वरूप था । जैसा शतपथकी मन्त्रार्थशैलीसे ज्ञात होता है । पतञ्जलिने व्याकरणसूत्रोंके व्याख्यानके लिये भी उसी शैलीका उल्लेख किया है ।'^२

यह हम लिख आये कि जयधवलकारने यतिवृषभके चूर्णिसूत्रोंको वृत्ति-सूत्र कहा है । किन्तु वेदमन्त्रोंके व्याख्यानरूप वृत्तिसे उनके इन वृत्तिसूत्रोंकी

१ 'एतौ एदांसि गाहाण पदच्छेदो कायवो होदि, अवयवत्थवक्खणो पयारतराभावादो ।'

—ज० ध० प्र० का० पृ० ३४७६ ।

२ पा० भा०, पृ० ३३२ ।

प्रक्रियामें अन्तर है। इसीसे जयधवलाकारने चूर्णिसूत्रोको विभाषाग्रन्थ^१ अथवा विभाषासूत्र भी कहा है और चूर्णिसूत्रकारको विभाषासूत्रकार कहा है। उक्त वृत्तिसे^२ विभाषामें अन्तर है। जो दोनोंके लक्षणोसे स्पष्ट है।

दर्शनमोहक्षपणानामक अधिकारमें चूर्णिसूत्रकारने^३ परिभाषाका भी निर्देश किया है और परिभाषाके पश्चात् सूत्रविभाषा करनेका निर्देश किया है। जयधवलाके^४ अनुसार गाथासूत्रमें निबद्ध अथवा अनिबद्ध किन्तु प्रकृतमें उपयोगी जितना अर्थसमूह है उस सबको लेकर विस्तारसे अर्थका कथन करनेको परिभाषा कहते हैं। परिभाषाका अनुगमन पहले करना चाहिये, पीछे सूत्रविभाषा करनी चाहिये, क्योंकि सूत्रपरिभाषा करनेसे सूत्रके अर्थके विषयमें निश्चय नहीं किया जा सकता।

विभाषा और परिभाषा शब्दोका यह अर्थ अन्यत्र देखनेमें नहीं आता।

सारांश यह है कि चूर्णिसूत्र विभाषारूप है—उनके द्वारा गाथासूत्रोके द्वारा सूचित समस्त अर्थोका विस्तारसे कथन किया है। कही यह कथन गाथाके अवयवार्थपूर्वक भी किया है। गाथासूत्रोका निर्देशकरके उनका विवरण करना यह उनकी सामान्यशैली है। प्रकृतचर्चापर और भी प्रकाश डालनेके लिये बन्धक नामक अधिकारकी व्याख्यानशैलीका चित्रण किया जाता है।

इस अधिकारके प्रारम्भमें ही यह चूर्णिसूत्र आता है—‘बधो गेति एदस्स वे अणिओगद्दाराणि । त जहा, ‘बधो च सकमो च’। इसके द्वारा चूर्णिसूत्रकार बन्धक अधिकारके प्रारम्भ होनेकी तथा उसके अन्तर्गत अनुयोगद्वारोकी सूचना करके ‘एत्थ सुत्तगाहा’ इस उत्थानिकाके द्वारा गाथाका अवतरण करके, उसके बाद गाथासे सूचित होनेवाले अर्थकी सूचना देकर पदच्छेदपूर्वक गाथाके प्रत्येक पदका व्याख्यान करते हैं। इस अधिकारका मुख्य विषय ‘सक्रम’ है। अतः

१ ‘सपहि एदस्सेवात्थस्स फुड्डीकरणट्टमुवरिम विहासागथमाट्ठवेइ’ ज० ध० प्रे० का० पृ० ७११८ ७१२३, ७१२५, ७१२७, ७१३४।

२ एतो अदीदासेसपवधेण विहासिदत्थाण गाहासुत्ताण सख्खणिदेस कुणमाणो विहासासुत्तयारो इदमाह—ज० ध० प्रे० का०, पृ० ६१७९।

३ ‘पच्छा सुत्तविहासा । तत्थ ताव पुब्ब गमणिज्जा परिहास ।—क० पा० सू० पृ० ६४२।

४ ‘आ सुत्तविहासा णाम ? गाहासुत्ताणमुच्चारण कादूण तेसि पदच्छेदाहिमुहेण जा अत्थपरिक्खा सा सुत्तविहासा ति भण्णदे । सुत्त परिहासा पुण गाहासुत्तणिबद्धमणिबद्ध च पयदोवजोगिजमत्थजाद त सव्व धेत्तूण वित्थरदो अत्थपरूवणा । सा ताव पुब्बमेत्थाणुगतत्वा पच्छा सुत्तविहामा कायन्वा । किं कारणम् ? सुत्तपरिभासमकादूण सुत्तविहासाण कीरमाणाय सुत्तत्थविषयणिच्छयाणुववत्तीदो—ज० ध० प्रे० का०, पृ० ६१७-१८।

चूर्णिसूत्रकार सस्कृतका वर्णन प्रारम्भ करनेमें पहले उनके प्रकृत अर्थका ज्ञान करानेके लिये पाँच उपक्रमोंका कथन करते हैं और यह बतलाकर कि यहाँ प्रकृतिसंक्रमसे प्रयोजन है। वे प्रकृतिसंक्रमभी तीन गाथाओंका कथन करते हैं। पुनः लिखते हैं—ये तीन गाथाएँ प्रकृतिसंक्रमअनुगोप्यद्वारमें हैं और उन गाथाओंका पदच्छेद इस प्रकार है। गाथाओंका व्याख्यान समाप्त होने पर चूर्णिसूत्र आता है—‘एस सुत्तफासो’। यह इस बातकी सूचना देता है कि सूत्रगाथाओंका अवयवार्थ समाप्त हुआ। इसमें चूर्णिसूत्रकारकी व्याख्यानशैलीकी क्रमवद्धता और स्पष्टता प्रकट है।

गाथाग्रहणकी दृष्टिमें चारित्र्यगोहक्षपणा नामक अन्तिम अधिकार सबसे बड़ा है। इसमें ११० गाथाएँ हैं, जिनमें २४ मूलगाथाएँ हैं और ८६ भाष्य-गाथाएँ हैं। प्रत्येक मूलगाथा और उससे सम्बद्ध भाष्यगाथाओंकी समुत्कीर्तना और विभाषा ऐसे सुन्दर ढंगसे की गई है कि प्रत्येक गाथाका हार्द समझनेमें सरलता होती है और पाठक उकताता नहीं।

यहाँ आगत ‘सुत्तफास’ शब्द अपना कुछ वैशिष्ट्य रखता है। अतः उसके सम्बन्धमें दो शब्द लिखना आवश्यक है।

गाथाओंकी उत्थानिकाके रूपमें ‘एत्थ सुत्तगाहा’, ‘तत्थ सुत्तगाहा’, ‘सुत्त-समुक्कित्तणा’ जैसे चूर्णिसूत्रोंकी तरह ‘एत्तो’ सुत्तफासो कायव्वो’ चूर्णिसूत्र भी क्वचित् पाये जाते हैं। इसका अर्थ होता है—आगे सूत्रस्पर्श करना चाहिये। यहाँ ‘सूत्रस्पर्श’ शब्द ‘सूत्रसमुत्कीर्तन’के अर्थमें ही प्रयुक्त हुआ है।

किन्तु गाथासूत्रके उपसहाररूपमें भी ‘एस सुत्तफासो’ चूर्णिसूत्र क्वचित् पाया जाता है। इसका अर्थ जयघवलाकारने^२ इस प्रकार किया है—‘यह गाथासूत्रोंके अवयवार्थका परामर्श (विचार) किया। स्पर्शका अर्थ परामर्श भी होता है।

अनु० ६१० सू०में अनुगमके दो भेद किये हैं—सूत्रानुगम और निर्युक्ति-अनुगम। तथा निर्युक्ति-अनुगमके तीन भेद किये हैं—निक्षेप-निर्युक्ति अनुगम, उपोद्धात-निर्युक्ति अनुगम और सूत्रस्पर्शक-निर्युक्ति अनुगम। सूत्रके व्याख्यानको सूत्रानुगम कहते हैं। निर्युक्त अर्थात् सूत्रके साथ सम्बद्ध अर्थोंको स्पष्ट करना,

१, ‘एत्तो सुत्तफासो कायव्वो भवदि।’ पुन्य परिभासितत्वाण गाहासुत्ताणमेण्हि समु-
क्कित्तणा जहाकम कायव्वा त्ति भणिद होइ’—ज० ध० प्रे० का० पृ० ६१७९।

२ ‘एसो गाहासुत्ताणामवयवत्थपरामरसो कओ त्ति भणिद होइ’—ज० ध० प्रे० का०
पृ० ३४९१।

तद्रूप व्याख्याको निर्युक्ति कहते हैं और सूत्रका स्पर्श करनेवाली निर्युक्तिको सूत्र-स्पर्शकनिर्युक्ति कहते हैं। इसमें प्रथम अस्खलित और अमिलित आदि रूपसे शुद्ध और निर्दोष सूत्रका उच्चारण करना होता है। सभ्यतया यही प्रथम 'सुत्तप्पास' है जो उत्थानिकारूपमें आया है।

वि० भा०में लिखा है कि सूत्रका उच्चारण करनेपर, उसकी शुद्धताका नियम हो जानेपर फिर पदच्छेद करनेपर और सूत्रमें आगत शब्दोका निक्षेप हो जानेपर सूत्रस्पर्शकनिर्युक्तिका अवसर आता है। यह दूसरा सुत्तप्पास है जो अन्तमें आया है।

इस तरह चूर्णिसूत्रमें आगत 'सुत्तप्पास' शब्दका अर्थ जानना चाहिये।

चूर्णिसूत्रकारने^१ जैसे कसायपाहुडकी गाथाओको सूचनासूत्र और पृच्छा-सूत्र कहा है वैसे ही किन्हीं गाथाओको वागरण (व्याकरण) सूत्र भी कहा है। जयधवलाकारने व्याकरणसूत्रका अर्थ व्याख्यानसूत्र^२ किया है। और वह भी व्याकरणशब्दकी व्युत्पत्तिपूर्वक किया है। किन्तु व्याख्यानके अर्थमें व्याकरणशब्दका प्रयोग न तो वैयाकरणोंमें देखा गया और न श्वेताम्बर परम्पराके आगमिक साहित्यमें ही।

किन्तु बौद्ध परम्परामें 'वेय्याकरण' शब्द 'अर्थवर्णना' अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। बौद्ध जातक पाँच भागोंमें विभक्त है—पच्चुप्पन्न वत्थु, अतीतवत्थु, गाथा, वेय्याकरण या अत्थवण्णना और समोधान। गाथाएँ जातकके प्राचीनतम अंश हैं। गाथाओके बाद प्रत्येक जातकमें वेय्याकरण या अत्थवण्णना आती हैं। इसमें गाथाओकी व्याख्या और उसका शब्दार्थ होता है। पालीके वेय्याकरण अर्थमें ही यतिवृषभने प्राकृत 'वागरण' शब्द का प्रयोग किया है।

आगामिक व्याख्यानशैली

चूर्णिसूत्र—किसी भी आगामिक विषयके प्रतिपादनकी जैन शैली अपना एक विशिष्ट स्थान रखती है और उस वैशिष्ट्यके दर्शन अन्यत्र नहीं होते। इसका एक कारण यह है कि जैन परम्परामें वस्तुदर्शनकी और दृष्टवस्तुके प्रतिपादनकी अपनी शैली पृथक् है। उस शैलीको समझ बिना जैन आगामिक साहित्यमें चर्चित विषयोको समझना कठिन है।

जैनदर्शन अनेकान्तवादी दर्शन है। वह प्रत्येक वस्तुको अनेकधर्मात्मक मानता है। उसके मतसे वस्तु अनेक धर्मोंका एक अखण्ड पिण्ड है। वस्तुके उन अनेक

१ क० पा० सू० पृ० ८८३।

२ वागरणसुत्तं ति व्याख्यानसूत्रमिति, व्याक्रियतेऽनेनेति व्याकरण प्रतिवचनमित्यर्थः।

धर्मोंको जान राखना किसी अल्पज्ञके लिये शक्य नहीं है । और अल्पज्ञ मनुष्य अपने अपने दृष्टिकोणसे वस्तुको जानते हैं और समझते हैं कि हमने पूर्ण वस्तुको जान लिया । फलतः वे एक ही वस्तुके विषयमें विभिन्न दृष्टिकोण रखनेके कारण परस्परमें टकरा जाते हैं । अनेकान्तदृष्टि उनके इस पारस्परिक विरोधको मिटाकर समन्वयका मार्ग दर्शाती है । वह बतलाती है कि एक ही वस्तुको लेकर परस्परमें टकरानेवाली दृष्टियाँ वस्तुके एक-एक अंशको ही ग्रहण करती हैं और एकांशको ही पूर्ण वस्तु मान बैठनेके कारण उनमें विरोध प्रतिभासित होता है । इस अनेकान्तग्राही दृष्टिको जैनदर्शन 'प्रमाण' के नामसे पुकारता है । और जो दृष्टि वस्तुके एक धर्मको ग्रहण करके भी वस्तुमें वर्तमान इतर धर्मोंका प्रतिक्षेप नहीं करती उसे नय कहते हैं । संक्षेपमें सकलग्राही ज्ञानको प्रमाण और एकांशग्राही ज्ञानको नय कहते हैं । यह नय प्रमाणका ही भेद माना गया है । चूँकि वस्तु द्रव्य-पर्यायात्मक है अतः द्रव्यदृष्टिसे वस्तुको जाननेवाले ज्ञानको द्रव्यार्थिक नय और पर्यायदृष्टिसे वस्तुको जाननेवाले ज्ञानको पर्यायार्थिक नय कहते हैं । द्रव्यदृष्टि अभेदप्रधान है और पर्यायदृष्टि भेदप्रधान है । द्रव्यार्थिक नयके तीन भेद हैं—नैगम, सग्रह और व्यवहार तथा पर्यायार्थिक नयके चार भेद हैं—ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवभूत ।

सकल्पमात्रमें ही वस्तुका व्यवहार करनेवाले ज्ञानको नैगमनय कहते हैं । जैसे रसोई करनेका संकल्प करके उसका सामान जुटानेमें लगा मनुष्य पूछने पर उत्तर देता है मैं रसोई बना रहा हूँ । समस्त पदार्थोंको अभेदरूपसे ग्रहण करनेवाला नय सग्रहनय है । जैसे वन, सेना, नगर । ये सजाए सग्रहनयमूलक हैं । और सग्रहनयके द्वारा सगृहीत पदार्थोंका क्रमशः भेद-प्रभेद करके ग्रहण करनेवाला नय व्यवहारनय है । जैसे वनमें आम आदिके वृक्ष हैं । पदार्थकी वर्तमान एक क्षणवर्ती पर्यायको ग्रहण करनेवाला नय ऋजुसूत्रनय है । इस नयकी दृष्टिमें एक वर्तमान क्षणवर्ती पर्याय अतीत और अनागतसे भिन्न है तथा अतीतके नष्ट हो जाने और अनागतके अनुत्पन्न होनेसे वर्तमान क्षण ही व्यवहारोपयोगी है ।

काल, कारक, लिंग, सख्या आदिके भेदसे भिन्न अर्थको ग्रहण करनेवाला नय शब्दनय है । आशय यह है कि इनके भेदसे यह नय एक ही वस्तुको भिन्नरूप ग्रहण करता है । शब्दभेदसे अर्थभेदका ग्राही समभिरूढ नय है । जैसे इन्द्र, शक्र, पुरन्दर शब्द एक लिंगवाले होनेपर भी विभिन्न अर्थके वाचक हैं क्योंकि इन शब्दोंकी प्रवृत्तिका निमित्त भिन्न है, इन्दन क्रिया इन्द्रशब्दकी प्रवृत्तिका निमित्त और पूर्दारण (नगरोका उजाडना) किया पुरन्दरशब्दकी प्रवृत्तिमें निमित्त है ।

शब्दनय इन तीनों शब्दोंमें अर्थभेद नहीं मानता, क्योंकि तीनोंमें लिगादि भेद नहीं है, परन्तु समभिरूढ नय मानता है, यही दोनोंमें अन्तर है।

क्रियाके भेदसे अर्थभेद माननेवाला एवभूतनय है। जिस शब्दका जिस क्रियारूप अर्थ हो उस क्रियाके कालमें ही उस शब्दका व्यवहार करना उचित मानता है। जब इन्द्र इन्दनक्रिया करता हो उसी समय उसे इन्द्र कहना उचित है। यह इस नयका मन्तव्य है।

इन नयोंके सिवाय जैनदर्शनकी एक देन निक्षेप है। उसके चार भेद हैं। नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। जाति, द्रव्य, गुण, क्रिया आदिकी अपेक्षा न करके व्यवहारके लिये वस्तुकी यथेच्छ सज्ञा रखनेको नाम निक्षेप कहते हैं, जैसे कि-ी साधारण मनुष्यके द्वारा अपने पुत्रका नाम 'राजा' रख लेना नाम निक्षेप है। किसी वस्तुमें किसी अन्यकी स्थापना कर लेना स्थापना निक्षेप है। जैसे राजाके मर जाने पर उसके प्रतिनिधिके रूपमें उसकी मूर्तिको राजा मानकर स्थापित करना।

जो भविष्यमें राजा होनेवाला हो या राज्यपदसे उतर चुका हो उसको राजा कहना द्रव्यनिक्षेप है और वर्तमानमें राज्यासीनको राजा कहना भाव निक्षेप है। इस निक्षेपके चार प्रयोजन हैं—अप्रकृतका निराकरण, प्रकृतका प्ररूपण, सशयका विनाश और तत्त्वार्थका व्यवहार।

अर्थात् जब प्रत्येक वस्तुका लोकमें चार रूपोंमें व्यवहार पाया जाता है तब श्रोताको यह जानना आवश्यक है कि कहाँ नामरूप वस्तुका व्यवहार अपेक्षित है और कहाँ स्थापना, द्रव्य या भाव रूप वस्तुका, जिससे वह विसवादमें न पड़े। इसके लिये निक्षेप आवश्यक है।

नयो और निक्षेपोंमें वही सम्बन्ध है जो ज्ञान और ज्ञेयमें होता है। नय ज्ञानरूप है तो निक्षेप ज्ञेयरूप है। आगमिक शैलीमें प्रत्येक वस्तुका विवेचन पहले नय और निक्षेपके द्वारा होता है। कपायपाहुड और चूर्णिसूत्रोंमें भी उसी शैलीको अपनाया गया है। यहाँ चूर्णिसूत्रोंके आधारपर उसका दिग्दर्शन कराया जाता है।

पहली गाथाके उत्तरार्ध 'पेज्ज ति पाहुडम्मि द्दु हवदि कसायाण पाहुड णाम।' में इस ग्रन्थके दो नाम कहे हैं—पेज्जदोसपाहुड और कसायपाहुड। ये दोनों नाम किस अभिप्रायसे कहे हैं यह बतलाते हुए चूर्णिसूत्रकार लिखते हैं—

१ नयोंका स्वरूप जाननेके लिये देखें—कसायपाहुड भा० १, पृ० १९९-२५८

२ 'अवगयणिवारणट्ठ पयदस्स परूवणाणिमिच्च च। ससयविणासणट्ठ तच्चत्यववहारणट्ठ च'। ज० ध० प्र० का०, पृ० ३४६५॥

‘उस’^१ प्राभृतके दो नाम हैं—पेज्जदोसपाहुड और कसायपाहुड । इन दोनों नामोंमेंसे पेज्जदोसपाहुड नाम अभिव्याहरण निष्पन्न है ।’

अभिमुख अर्थके व्याहरण अर्थात् कथनको अभिव्याहरण कहते हैं और जो उससे उत्पन्न हो उसे अभिव्याहरण निष्पन्न कहते हैं । अतः पेज्ज (प्रेय) और दोसका कथन करनेवाला प्राभृत पेज्जदोस प्राभृत कहलाता है ।

‘और कसायपाहुड नाम नय निष्पन्न है ।’

आशय यह है कि ‘पेज्ज और दोस’ ये दोनों कपाय कहलाते हैं । और कपायका कथन करनेवाले प्राभृतको कपाय प्राभृत कहते हैं । अतः कसायपाहुड नाम नयनिष्पन्न है क्योंकि द्रव्याधिक नयके द्वारा पेज्ज और दोसका एकीकरण करके उन्हें कपाय सज्ञा दी गई है । अस्तु

पेज्ज, दोस, कसाय और पाहुड ये शब्द जिनसे दोनों नाम बने हैं, अनेक अर्थोंमें व्यवहृत होते हुए पाये जाते हैं । इसलिये अप्रकृत अर्थका निषेध करके प्रकृत अर्थका, जो वहाँ लिया गया है—ग्रहण करनेके लिये चूर्णिसूत्रकार उनमें निक्षेपोकी योजना करते हैं—उन^२ चारो शब्दोंमेंसे पहले पेज्जका निक्षेप करना चाहिये—नामपेज्ज, स्थापनापेज्ज, द्रव्यपेज्ज, और भावपेज्ज ।’

ऐसा कहा है कि—‘पदका उच्चारण करके और उसमें किये गये निक्षेपोको जानकर ‘यहाँ इस पदका क्या अर्थ है’ इस प्रकार ठीक रीतिसे अर्थ तक पहुँचा देते हैं अर्थात् अर्थका ठीक-ठीक ज्ञान करा देते हैं इसलिये उन्हें नय कहते हैं ।’

अतः निक्षेपोकी योजना करके और उसके अर्थको स्थगित करके चूर्णिसूत्रकार यह बतलाते हैं कि कौन नय किस निक्षेपोको चाहता है—

‘नैगमनय, सग्रहनय और व्यवहारनय सभी निक्षेपोको स्वीकार करते हैं ।’

‘ऋजूसूत्रनय’^३ स्थापनाके सिवाय सभी निक्षेपोको स्वीकार करता है ।’

१ ‘तस्स पाहुडस्स दुवे णामपेज्जावि । त जहा-पेज्जदोसपाहुडे त्ति वि कसायपाहुडे त्ति वि । तत्थ अभिवाहरणनिष्पण्ण पेज्जदोसपाहुड । णयदो गिप्पण्ण कसायपाहुट— क० पा० भा० १, पृ० १९७-१९९ ।

२ ‘तत्थ पेज्ज गिक्खिव्व—णामपेज्ज ठ्वणपेज्ज दव्वपेज्ज भावपेज्ज चेदि ।—क० पा० भा० १, पृ० २५८

३ ‘उच्चारयस्मि दु पदे गिक्खेव वा कय तु दट्ठूण । अत्थ णयति ते तच्चदो त्ति तम्हा णया भणिदा ॥११८॥— क० पा० भा० १, पृ० २५९

४ ‘णैगमसगहववहारा सव्वे इच्छति— क० पा० भा० १, पृ० २५९ ।

५ ‘उजुसुदो ठवणवज्जे’ । पृ० २६० ।

‘शब्द,’ समभिरूढ और एवं भूतनय नाम निक्षेप और भाव निक्षेपकी विषय करते हैं।’ इनका विशेष खुलासेके लिये जयधवला टीका देखनी चाहिये। अब हम पुनः निक्षेपोंकी ओर आते हैं। ‘पेज्ज’ यह शब्द नाम पेज्ज है। किसी दूसरे पदार्थमें ‘यह पेज्ज है’ इसप्रकार पेज्जकी स्थापना करना स्थापना पेज्ज है। द्रव्य पेज्जके दो भेद हैं—आगम द्रव्य पेज्ज और नोआगम द्रव्यपेज्ज। जो जीव पेज्ज विषयक शास्त्रको जानता हुआ भी पेज्जविषयक शास्त्रके उपयोगसे रहित अर्थात् उसमें लगा हुआ नहीं है, उसे आगमद्रव्यपेज्ज कहते हैं।

नोआगमद्रव्यपेज्जके तीन भेद हैं—ज्ञायकशरीर, भावि और तद्व्यतिरिक्त। पेज्जविषयक शास्त्रके ज्ञाताके भूत, वर्तमान और भावि शरीरको ज्ञायक शरीर कहते हैं। जो भविष्यमें पेज्जविषयक शास्त्रको जाननेवाला होगा उसे भावि नोआगमद्रव्यपेज्ज कहते हैं। तद्व्यतिरिक्त नोआगमद्रव्यपेज्जके दो भेद हैं—कर्मपेज्ज और नोकर्मपेज्ज।

उक्त निक्षेपोंका अर्थ सुगम जानकर यतिवृषभाचार्यने इनका अर्थ नहीं कहा। आगेके निक्षेपका अर्थ करते हुए वह कहते हैं—‘नोकर्म^२-तद्व्यतिरिक्त-नोआगम-द्रव्यपेज्ज तीन प्रकारका है—हितपेज्ज, सुखपेज्ज और प्रियपेज्ज। इन तीनोंके सात भग होते हैं।’

जो द्रव्य व्याधिके उपशमनका कारण होता है उसे हित कहते हैं, जो द्रव्य जीवके आनन्दका कारण होता है उसे सुख कहते हैं और जो वस्तु अपनेको रचती है उसे प्रिय कहते हैं। तीन भग तो ये हैं ही। दाख हितरूप भी है और सुखरूप भी है। नीम हितरूप भी है और प्रिय भी है, पित्त ज्वरके रोगीको कड़वी वस्तु प्रिय लगती है। दूध सुखकर भी है और प्रिय भी है। ये तीन द्विसंयोगी भग हुए। गुड और दूध हितकर, सुखकर और प्रिय होते हैं। ये सब सात भग होते हैं।

‘यह^३ तद्व्यतिरिक्त-नोआगम-द्रव्यपेज्जका सात भगरूप कथन नैगमनयकी अपेक्षासे है।’ सग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्रकी अपेक्षा समस्त द्रव्यपेज्जरूप है।’ भावपेज्जका^४ कथन स्थगित करते हैं।

१ ‘[सद्गणयस्स] णाम भावो च’। क० पा० भा० पृ० २६४।

२. ‘नोआगमद्रव्यपेज्ज तिविह—हिद पेज्ज, सुह पेज्ज, पिय पेज्ज। गच्छगा च सत्त भगा क० पा० भा० १, पृ २७१।

३ ‘एद णेगमस्स। सगहववहारण उज्जुसुदस्स च सव्व दव्व पेज्ज।’ क० पा० भा० १, पृ २७४।

४ भावपेज्ज द्रव्यणिज्ज’ —क० पा० भा० १, पृ २७६।

इसप्रकार पेज्जमें निक्षेपोकी योजना करके चूर्णिसूत्रकार दोसमे निक्षेप योजना करते हैं ।

‘दोसका^१ निक्षेप करना चाहिये—नामदोस, स्थापनादोस, द्रव्यदोस और भावदोस । नैगम, संग्रह और व्यवहार सभी निक्षेपोको विषय करते हैं । ऋजु-सूत्रनय स्थापनाको छोड़ शेष तीन निक्षेपोको स्वीकार करते हैं । शब्दनय नाम निक्षेप और भाव निक्षेपको विषय करते हैं ।’

सुगम जानकर यतिवृषभाचार्यने नामनिक्षेप, स्थापनानिक्षेप आगमद्रव्यनिक्षेप और नोआगमद्रव्यनिक्षेपके दो भेदोका कथन नहीं किया । उसके तीसरे भेदका कथन करते हुए वह कहते हैं—

‘जो द्रव्य^२ जिस उपघातके निमित्तमे उपभोगको नहीं प्राप्त होता वह उपघात उस द्रव्यका दोष है । यही तद्व्यतिरिक्तनोआगमद्रव्यदोष है ।’

‘वह उपघात दोस कौनसा है ? साडीका अग्निसे जल जाना या चूहोके द्वारा खाया जाना आदि उपघातदोस है । भावदोसका कथन स्थगित करते हैं ।’

इस प्रकार दोसमें निक्षेप योजना करके चूर्णिसूत्रकार कषायमें निक्षेप योजना करते हैं—

‘कषायका^३ निक्षेप करना चाहिये—नामकषाय, स्थापनाकषाय, द्रव्यकषाय, समुत्पत्तिकषाय, आदेशकषाय, रसकषाय और भावकषाय ।’ नैगमनय सभी कषायोको स्वीकार करता है । संग्रह और व्यवहारनय समुत्पत्तिकषाय और आदेशकषायको स्वीकार नहीं करते । ऋजुसूत्रनय इन दोनोको और स्थापना कषायको स्वीकार नहीं करता ।

शब्द, समभिरूढ और एवभूतनय नामकषाय और भावकषायको विषय करते हैं ।’

नामकषाय, स्थापनाकषाय, आगमद्रव्यकषाय, ज्ञायकशरीर नोआगमद्रव्य-कषाय और भाविनोआगमद्रव्यकषायका स्वरूप सुगम जानकर यतिवृषभने नहीं कहा । नो आगम तद्व्यतिरिक्त द्रव्यकषायका स्वरूप वह कहते हैं—

१ ‘दोसो णिक्खियव्वो णामदोसो, दृवणदोसो, दव्वदोसो भावदोसो चेदि । वही पृ २७७ ।

२ ‘णोआगमदव्वदोसो णाम ज दव्व जेण उवघादेण उवभोग ण एदि तस्स दव्वस्स सो उवघादो दोसो णाम । त जहा, सादियाए अग्गिद्रद्ध वा मूसयभक्खिय वा एवमादि ।’ वही, पृ० २८१-२८२ ।

३ ‘कमाओ ताव णिक्खियव्वो णामकसाओ दृवणकसाओ दव्वकसाओ पच्चयक्साओ समुत्पत्तिकसाओ आदेशकसाओ रसकसाओ भावकसाओ चेदि । वही, पृ० २८३ ।

‘सर्जकपाय’^१ शिरीषकपाय आदि नोर्मतद्वचतिरिक्त नोभागमद्रव्यकपाय है ।
सालवृक्षके कसैले रसको सर्जकपाय और सिरसवृक्षके कसैले रसको शिरीष-
कपाय कहते हैं ।

क्रोध^२ वेदनीय कर्मके उदयसे जीव क्रोधरूप होता है । इसलिये प्रत्यय-
कषायकी अपेक्षा क्रोधवेदनीय कर्म क्रोध कहा जाता है । इसी तरह मानवेदनीय
कर्मके उदयसे जीव मानरूप होता है, इसलिये प्रत्ययकषायकी अपेक्षा मानवेदनीय
कर्मको मान कहा जाता है । मायावेदनीयकर्मके उदयसे जीव मायारूप होता है
इसलियेमायावेदनीय कर्म प्रत्ययकषायकी अपेक्षा माया है । लोभवेदनीयकर्मके
उदयसे जीव लोभी होता है इसलिये प्रत्ययकषायकी अपेक्षा लोभकर्म लोभ
कहलाता है । इस प्रकार जो क्रोधादिरूप कर्मको प्रत्ययकषाय कहा है वह नैगम,
सग्रह और व्यवहारनयकी अपेक्षासे कहा है । और ऋजुसूत्रनयकी दृष्टिमें क्रोध
कर्मके उदयकी अपेक्षा जीव क्रोधकषायरूप होता है इसलिये क्रोधकर्मका उदय
प्रत्ययकषाय^३ है । इसीप्रकार मान, माया आदिके विषयमें भी जानना चाहिये ।

समुत्पत्तिकषायकी^४ अपेक्षा कही जीव क्रोधरूप है और कही अजीव क्रोध-
रूप है । जिस मनुष्यके निमित्तसे क्रोध उत्पन्न होता है वह मनुष्य समुत्पत्ति-
कषायकी अपेक्षा क्रोध है और जिस लकड़ी, ईंट आदि टुकड़ेके निमित्तसे क्रोध
उत्पन्न होता है, समुत्पत्तिकषायकी अपेक्षा वह लकड़ी या ईंट आदिका टुकड़ा
क्रोध है । इसप्रकार एक जीव या एक अजीव, अनेक जीव या अनेक अजीव या
मिश्र, इनमेंसे जिसके निमित्तसे क्रोध उत्पन्न होता है वह समुत्पत्तिकषायकी
अपेक्षा क्रोध कहा जाता है । इसी प्रकार मान, माया और लोभके सम्बन्धमें भी
जानना चाहिये ।

आदेशकषायकी^५ अपेक्षा चित्रमें अकित क्रोधी जीवकी आकृति—भ्रुकुटि चढ़ी
हुई, मस्तकमें त्रिवली पड़ी हुई आदि—क्रोधरूप है । इसी तरह चित्रमें अकित
गर्विष्ठ पुरुष या स्त्री आदेशकषायकी अपेक्षा मान है । चित्रमें अकित दूसरेको
ठगते हुए मनुष्यकी आकृति आदेशकषायकी अपेक्षा माया है और चित्रमें अकित
लालची मनुष्यकी आकृति आदेशकषायकी अपेक्षा लोभ है । इसीप्रकार^६ लकड़ी-

१ ‘नोआगम द्रव्यकसाओ जहा सज्जकसाओ सिरिसकसाओ एवमादि । वही, पृ० २८५ ।

२ वही, पृ० २८७ ।

३ वही, पृ० २९० ।

४ क० पा० भा० १, पृ० २९३ आदि ।

५ वही, पृ० ३०१ ।

६ एवमेदे कटुकम्मे वा पोत्तकम्मे वा एस आदेसकसाओ णाम ॥ क० पा० भा० १,
पृ० ३०३ ।

पर खोदे गये, वस्त्रपर छापे गये, भित्तिपर चित्रित किये गये और पत्थर पर खोदे गये क्रोधी, मानी, मायावी और लोभीकी आकृतियाँ आदेशकषायकी अपेक्षा क्रोध, मान, माया और लोभ कहे जाते हैं ।

ये दोनो समुत्पत्तिकषाय और आदेशकषाय नैगमनयके विषय हैं । अन्य नयोंके नहीं ।

जिस^१ द्रव्य या जिन द्रव्योंका रस कसैला है उस या उन द्रव्योंको रसकषाय कहते हैं । और कषायसे रहित द्रव्यको नोकषाय कहते हैं ।

भावनिक्षेपके दो भेद हैं—आगमभावनिक्षेप और नोआगमभावनिक्षेप । नोआगमभावनिक्षेपकी अपेक्षा क्रोधका वेदन करनेवाला जीव क्रोधकषाय है । इसीप्रकार मान, माया और लोभको भी जानना चाहिये ।

इस तरह आचार्य यतिवृषभने 'कसायप्राभृत' नामके कषायशब्दका निक्षेपोके द्वारा कथन करके यह बतलाया कि कषायशब्दका व्यवहार कितने रूपोंमें किस-किस प्रकारसे होता है । और उनमेंसे यहाँ केवल भावकषाय ही विवक्षित है, शेष कषाय नहीं ।

आगे इस भावकषायका विशेष कथन करनेके लिये आचार्य यतिवृषभने छ' अनुयोगद्वारोका कथन किया है—

१. कषाय क्या है ? २ कषाय किसके होती है ? ३ कषाय किस साधनसे होती है ? ४ कषाय किसमें होती है ? ५ कषाय कितने काल तक होती है ? और ६ कषायके कितने प्रकार हैं ? इन छ' अनुयोगोंका नाम क्रमशः २ निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान है । इनके द्वारा कथन करनेसे कषायके विषयकी पूरी जानकारी या कथनी हो जाती है, इसीसे जैन आगामिक^३ परम्परामें सभी पदार्थोंका विवेचन इन छ' अनुयोगोंके द्वारा करनेका विधान है । अस्तु,

कषायका निक्षेपविधिसे कथन करनेके पश्चात् यतिवृषभने 'पाहुड' का कथन किया है—

१. वही, पृ० ३०४ ।

२. 'निर्देश-स्वामित्व-साधन-अधिकरण-स्थिति विधानतः । न० सू० -१-६ ।

३. 'किं केण कस्स कथं वि केवचिर कद्विविधो य भावो य । छहिं अणिओगदारे सव्वे भावाणुगतव्वा ।।' मूलाचा० ८-१५ । 'दुविहा पस्वणा छप्पया य नवहा य छप्पया षण्णमो । किं कम्म केण व कहिं केवचिर कइविधे य भवे । ८९१॥ आव० नि०

‘पाहुडका’^१ निक्षेप करना चाहिये । नामपाहुड, स्थापनापाहुड, द्रव्यपाहुड और भावपाहुड इसप्रकार पाहुडके विषयमें चार निक्षेप होते हैं ।

इनमेंसे सबका स्वरूप न बतलाकर आचार्य यतिवृषभने नोआगमतद्व्यतिरिक्त-निक्षेपका स्वरूप बतलाते हुए लिखा है—

तद्व्यतिरिक्तनोआगमद्रव्यनिक्षेपकी अपेक्षा पाहुडके तीन भेद हैं—सचित्त, अचित्त और मिश्र ।

यहाँ पाहुड (प्राभृत) का अर्थ भेंट है । भेंटमें दिये गये हाथी घोड़ा आदि सचित्त पाहुड हैं ।

मणि, मुक्ता आदि अचित्त पाहुड हैं और रत्नालंकार भूषित स्त्री मिश्र पाहुड हैं ।

‘नोआगम’^२ भावपाहुडके दो भेद हैं—प्रशस्त और अप्रशस्त । दोगथिय^३ पाहुड प्रशस्त नोआगम भावपाहुड है । और कलहपाहुड अप्रशस्त नोआगम भावपाहुड है ।

इनकी व्याख्या करते हुए जयधवलालकारने लिखा है कि परमानन्द और आनन्द सामान्यकी सज्ञा ‘दोगथिय’ है । जो वस्तु परमानन्द या आनन्दका कारण होती है उपचारसे उसे भी ‘दोगथिय’ कहते हैं । केवल आनन्द तो किसीको उपहारमें नहीं दिया जा सकता, अत आनन्द या परमानन्दका निमित्त कोई द्रव्य भेंट देना दोगथियपाहुड कहा जाता है । अत दोगथियपाहुडके दो भेद हैं—परमानन्दपाहुड और आनन्दमात्रपाहुड । केवलज्ञान और केवल-दर्शनरूप लोचनोसे समस्त लोकको प्रकाशित करनेवाले वीतराग जिनेन्द्रदेवने निर्दोष श्रेष्ठ विद्वान्, आचार्योंकी परम्परासे भक्तजनोके लिये भेजा गया जो बारह अग्ररूप वाणी या उसका एक देश परमानन्द दोग्गन्थिक पाहुड है । इस ग्रन्थमें पाहुडसे परमानन्द दो गथिय पाहुड ही इष्ट हैं ।

इसके पश्चात् यतिवृषभने ‘पाहुड’ शब्दकी निरुक्ति^४ की है—‘पदेहि पुद (फुडं) पाहुड’ । पदोसे जो स्फुट अर्थात् व्यक्त हो उसे ‘पाहुड’ कहते हैं ।

१ ‘पाहुड णिक्खियव्वं । णामपाहुड टठ्वणपाहुड दव्वपाहुड भावपाहुड चेदि एव चत्तारि णिक्खेवा सत्थ होंति ।’ वही, पृ० ३०० ।

२ ‘नोआगमदो भावपाहुड दुविह पसत्थमप्पसत्थ च’ वही, पृ० ३२३ ।

३ पसत्थ जहा दोग्गथिय पाहुड । अमत्थं जहा कलहपाहुड ।’ वही, पृ० ३२४, ३२५ ।

४ ‘पाहुडेत्ति का निरुत्ती ? जम्हा पदेहि पुद (फुडं) तम्हा पाहुट ।’ वही, पृ० ३०६ ।

माराज यह है कि यहाँ कपायप्रियमक श्रुतज्ञानको कपाय कहा है और उसके पाहुण्डको कपायपाहुण्ड कहा है ।

इसतरह 'कपायपाहुण्ड' के अर्थ विवेचन पुर्यक निमित्तोंके साथ उपक्रम समाप्त होता है ।

यह हम निम्न आगे कि निक्षेप और नयके द्वारा समुक्त विवेचन करनेकी आगमि पदाति थी । उगी पदातिता दर्शन हम उपायपाहुण्डके मायाश्रमों भी पाते हैं—

उपक्रमके पदनात् जिन मायाश्रमों^२ समग्रता होता है उगमें कहा है—

'विगमनयकी अपेक्षा किम-किम कपायमे पेज्ज (प्रेयस्त्र) होता है । अथवा 'किस नयकी अपेक्षा जिन कपायमे दोष होता है ? कौन नय किम द्रव्यमे दुष्ट होता है अथवा कौन नय किस द्रव्यमें पेज्ज होता है ?'

इस मायाके द्वारा उठाये गये प्रदोक्त समग्रता आचार्य यतिवृषभ अपने चूर्णश्रमोंके द्वारा करते हैं—

'इस मायाके पूर्वागि विभागा (चित्तरण) करना चाहिये । वह इसप्रकार है—

नैगमनय और समहनयकी अपेक्षा क्रोध द्वेष है, मान द्वेष है, माया प्रेय है और लोभ प्रेय है ।'

आशय यह है कि इस ग्रन्थके दो नाम हैं—कपायपाहुण्ड या पेज्जदोमपाहुण्ड । यहाँ कपायके लिये उगके स्थानमें दो शब्दोंका प्रयोग किया है पेज्ज (प्रेय) और दोस (द्वेष) । अतः यह बतलाना आवश्यक है कि कपायके भेदोंमें कौन प्रेय है और कौन द्वेषरूप है ? तभी तो कपायके लिए 'पेज्जदोस' नाम घटित हो सकता है ?

क्रोध द्वेष है क्योंकि मकल अनर्थकी जड़ है । मान भी इसीसे द्वेषरूप है, किन्तु माया पेज्ज है क्योंकि उगकी सफलतासे मनुष्यको सन्तोष होता है । यही बात लोभके विषयमें भी जानना चाहिये । आशय यह है कि जो कपाय उसके कर्तव्य लिये सतापका कारण हो वह द्वेष है और जो आनन्दका कारण हो वह पेज्ज है ।

'व्यवहारनयकी अपेक्षा क्रोध द्वेष है, मान द्वेष है, माया द्वेष है और लोभ पेज्ज है ।'

मायाचार लोकनिन्द्य और अविश्वासका कारण होनेसे द्वेष है किन्तु लोभसे द्रव्य बचाकर मनुष्य सुखपूर्वक जीवन बिताता है इसलिये लोभ पेज्ज है ।

२ 'पेज्ज वा दोसो वा कम्मि कसायम्मि कस्य व णयस्स । दुट्ठो व कम्मि दब्बे पियायण को कहिं वा वि॥ २१ । क० पा० अ० १, पृ० ३६४ ।

‘ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा क्रोध द्वेष है, मान न द्वेष है न पेज्ज है, माया न द्वेष है न पेज्ज है, किन्तु लोभ पेज्ज है ।’ शब्दनयकी अपेक्षा क्रोध द्वेष है, मान द्वेष है, माया द्वेष है और लोभ द्वेष है । क्रोध मान माया पेज्ज नहीं है किन्तु लोभ कथञ्चित् पेज्ज है ।

इसप्रकार चूर्णिसूत्रकारने गाथासूत्रकारके द्वारा प्रश्नरूपसे निर्दिष्ट विषयका ही नयदृष्टिमें विवेचन किया है । अतः जैन आगमिक परम्पराकी यह विषय-विवेचनपद्धति गाथासूत्रकारसे भी प्राचीन प्रतीत होती है । संभव है पूर्वोक्त विवेचन इसी शैलीमें हो ।

वर्तमान श्वेताम्बरमान्य मूलसूत्रोंमें हमें इस पद्धतिके दर्शन नहीं होते । किन्तु अनुयोगद्वारसूत्रमें निक्षेपयोजनाका क्रमबद्ध विधान विस्तारसे मिलता है और उसमें नयोका भी प्रयोग किया गया है ।^१ असलमें अनुयोगद्वारसूत्र, जैसा कि उसके नामसे प्रकट है—अनुयोगसे ही सम्बन्ध रखता है । प्रस्तुत अनुयोगद्वारसूत्रकी उत्थानिकामें उसके टीकाकार हेमचन्द्र मलधारीने लिखा है कि जिनवचनमें प्रायः आचार आदि समस्त श्रुतका विचार उपक्रम, निक्षेप, अनुगम और नयोके द्वारा होता है और इस अनुयोगद्वारमें उन्हीं उपक्रम आदि द्वारोका कथन है ।^२ अतः जिनवचनके व्याख्यानकी परिपाटी, जिसका अनुसरण गाथासूत्रकार और चूर्णिसूत्रकारने किया है उसीका विवेचन अनुयोगद्वारमें मिलता है, जो उस परिपाटीका ही समर्थक है ।^३ निर्युक्तियोंमें भी निक्षेप योजनाका विधान मिलता है । किन्तु प्रकृत विषय कपायमें निक्षेपयोजनाका विधान विशेषावश्यकभाष्यमें ही देखनेको मिलता है ।

छक्खंडागम और चूर्णिसूत्रोंकी तुलना

छक्खंडागम और चूर्णिसूत्रकी तुलनाकी दृष्टिसे अन्य भी दो-एक बातें उल्लेखनीय हैं । जिस तरह छक्खंडागममें निक्षेप और नय-योजना की गई है, चूर्णिसूत्रोंमें भी की गई है ।

किन्तु दोनोंमें अन्तर है । भूतवल्लिने वेदनाखण्ड और वर्णणाखण्डके अनुयोगद्वारोंमें निक्षेपयोजना करते हुए प्रत्येक निक्षेपका स्वरूप स्पष्ट रूपसे बतलाया है और उसमें पुनरुक्तिका भी ख्याल नहीं किया है । इसके प्रमाण रूपमें कृति

१ ‘जिणपवयणउप्पत्ती पवयण ण्णट्ठिया विभागी य । दारविही य नयविही वक्खाण विही य अणुओगो ॥१२५॥ नामं ठवणा दविण्, खित्ते, काले वयण भावे वा । एस्सो अणुओगस्स निक्खेवो होई सत्तविही ॥१२६॥ जत्थ य ज जाणिज्जा निक्खेव निक्खेवे निरवसेसं । जत्थज्जि य न जाणिज्जा चउक्कम निक्खेवे तत्थ । आ० नि० ॥४॥

२ जिनवचने द्वाचार्यादि श्रुत प्रायः सर्वमप्युपक्रमनिक्षेपानुगमनयद्वारं विचार्यते । प्रस्तुत शास्त्रे च तान्येवोपक्रमादि द्वाराण्यभिधास्यन्ते’ । अनु० टी० ।

अनुयोगद्वार तथा वर्गणारण्डके स्पर्श अनुयोगद्वार, कर्म अनुयोगद्वार, प्रकृति अनुयोगद्वार और वन्धन अनुयोगद्वारके प्रारम्भमें नामनिक्षेप और स्थापनानिक्षेपके लक्षणपरक सूत्रोको देख जाइये, कृति, स्पर्श आदि शब्दोके भेदके सिवाय उनमें कोई भेद नहीं है। किन्तु यतिवृषभने अपने चूर्णिसूत्रोमे आवश्यकतानुसार निक्षेप-योजना की, यथा—‘पेज्ज णिक्खियन्वो—णामपेज्ज, ठवणपेज्ज, दव्वपेज्ज, भावपेज्ज चेदि ।’ (क० पा० सु० पृ० १६)। ‘दोसो णिक्खियन्वो—णामदोसो, ठवणदोसो, दव्वदोसो, भावदोसो ।’ (पृ० १९), किन्तु सिवाय नोआगमद्रव्यनिक्षेपके किसी निक्षेपका स्वरूप या उदाहरण नहीं दिया। इससे कसायपाहुडकी तरह ही चूर्णिसूत्रोकी भी सक्षिप्त शब्दरचना द्योतित होती है। साथ ही ऐसा भी प्रकट होता है कि भूतवलि-पुण्डवन्ताचार्यको पट्खण्डागमके सूत्रोकी रचना करते हुए इस बातका ध्यान था कि जहाँ तक शक्य हो, सूत्ररचना स्पष्ट हो, जिससे उसके अध्येताको उसे समझनेमें कठिनाई नहीं हो, इसीलिये उन्होंने शब्दलाघवपर विशेष ध्यान नहीं दिया और न पुनरुक्तिको दोष माना और ऐसा शायद उन्होंने इसलिये किया—क्योकि वचे-पुचे महाकर्मकृतिप्राभूतके भी एकमात्र ज्ञाता धरसेनाचार्यका स्वर्गवास हो चुका था और अब आगे श्रुतज्ञानकी परम्पराके स्रोतका अन्त आ गया था।

किन्तु यतिवृषभके चूर्णिसूत्रोमें हम वह बात नहीं पाते। उनके द्वारा यद्यपि कसायपाहुडकी गाथाओका रहस्य खुलता है किन्तु स्वयं उनका रहस्य खोलनेके लिए व्याख्याकारोकी आवश्यकता है। इससे ऐसा लगता है कि या तो यतिवृषभके सामने श्रुतविच्छेदका वैसा भय उपस्थित नहीं हुआ था या उनकी शैली ही ऐसी थी।

एक बात और भी उल्लेखनीय है—‘चूर्णिसूत्रमें केवल चित्रकर्म, काष्ठकर्म और पोतकर्मका उल्लेख मिलता है। किन्तु पट्खण्डागमके स्थापनानिक्षेप विषयक सूत्रमें काष्ठकर्म, चित्रकर्म, पोतकर्मके सिवाय लेप्यकर्म, लेणकर्म, सेलकर्म, गृहकर्म, भित्तिकर्म, दन्तकर्म और भेडकर्मका भी निर्देश है।

इसी तरह जयधवलामें ही एक दूसरे स्थानमें चूर्णिसूत्रके साथ जीवट्ठाणका विरोध बतलाते हुए कहा^१ है—‘यदि कहा जाय कि आठ समय अधिक छह महीनाके नियमके बलसे एक-एक गुणस्थानमें जीवोके सचयका समानरूपसे कथन

१ ‘आदेसकसाएण जहा चित्तकम्मे लिहिदो । एवमेदे कट्ठकम्मे वा पोत्तकम्मे वा ।’

—क० पा० सु० पृ० २४।

२. ‘ण च जीवट्ठाणसुत्तेण अट्ठसमयाहियल्लमासणियमवलेण एगेगुणट्ठाणम्मि जीवसचय सरिसभावेण परूवणेण सह विरोहो, पुधभूदआइरियाण मुहविणिग्गयमेत्तेण दोण्ह थप्पभावमुवगयाण विरोहाणुववत्तीदो ।’ —क० पा०, भा० २, पृ० ३६१।

करनेवाले जीवस्थानके सूत्रके साथ इस कथनका विरोध हो जायगा, सो भी बात नहीं है क्योंकि ये दोनों उपदेश अलग-अलग आचार्योंके मुखसे निकले हैं अतः दोनों स्वतन्त्र रूपमें स्थित होनेके कारण उनमें विरोध नहीं हो सकता ।'

यहाँ चूर्णिसूत्रके कथनको जीवस्थानके कथनसे स्वतन्त्र मानते हुए उन्हें दो पृथक्-पृथक् आचार्योंका उपदेश बतलाया है ।

पट्खण्डागमका छठा खण्ड महावध है, जो स्वतन्त्र ग्रन्थके रूपमें माना जाता है, वह भी आचार्य भूतबलिकी कृति है । जयधवलामें उसको भी तन्त्रान्तर बतलाया है । महावन्ध और कसायपाहुडके मतभेदकी चर्चा करते हुए उसमें लिखा है— 'महावन्धमें विकलेन्द्रियोंमें स्वस्थानमें ही सकलेशक्षयमें सख्यातभागवृद्धिरूप बन्धके दो समय कहे हैं । उसके बलसे कसायपाहुडको समझना ठीक नहीं है क्योंकि भिन्न पुरुषके द्वारा रचित ग्रन्थान्तरसे ग्रन्थान्तरका ज्ञान नहीं हो सकता ।'

जयधवलाकी तरह धवला-टीकामें भी पट्खण्डागम और कसायपाहुडके मतभेदकी चर्चा अनेक स्थलों पर की गई है ।

धवलामें लिखा है कि अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमें पहले सोलह प्रकृतियोंका क्षय होता है, पीछे आठ कपायोका क्षय होता है, यह 'सतकम्मपाहुड' का उपदेश है । किन्तु कसायपाहुडका उपदेश है कि आठ कपायोका क्षय होनेपर पीछे सोलह कर्मोंका क्षय करता है । ये दोनों ही उपदेश सत्य हैं ऐसा कुछ आचार्य कहते हैं । किन्तु उनका ऐसा कहना घटित नहीं होता, क्योंकि उनका ऐसा कहना सूत्रसे विरुद्ध पड़ता है । तथा दोनों कथन प्रमाण हैं, यह वचन भी घटित नहीं होता, क्योंकि एक प्रमाणको दूसरे प्रमाणका विरोधी नहीं होना चाहिये ऐसा न्याय है ।'

प्रकृत विषयकी चर्चा करते हुए इसी प्रसंगमें धवलामें आगे जो शका-समाधान किया गया है वह भी दृष्टव्य है । लिखा है—

शका—उक्त दोनों वचनोंमेंसे कोई एक वचन ही सूत्ररूप हो सकता है, क्योंकि जिन अन्यथावादी नहीं होते । अतः उनके वचनोंमें विरोध नहीं होना चाहिये ।

समाधान—यह कहना ठीक है किन्तु उक्त वचन तीर्थङ्करके वचन नहीं हैं, आचार्योंके वचन हैं । आचार्योंके वचनोंमें विरोध होना सम्भव है ।

१. 'महावधम्मि विगल्लिदिप्पसु सत्थाणे चेव सक्खिलेसक्खण्ण सखेज्जभागवद्धिवधस्स वे समया परव्विदा, तव्वलेण कसायपाहुडस्स ण पडिवोहणा काउ जुत्ता, तततरेण भिण्ण-पुरिसकण्ण तततरेस्स पडिवोयणाणुववत्तीदो ।' —क० पा०, भा० ४, पृ० १६५ ।

२. 'एसो सतकम्मपाहुड-उवणसो । कसायपाहुड-उवणसो पुण ।'

शका—तो फिर 'आचार्यकथित मत्कर्मप्राभृत और कपायप्राभृतको सूत्रपना कैसे सम्भव हो सकता है ।

समाधान—तीर्थङ्करके द्वारा अर्थरूपमे कहे गये और गणवरके द्वारा ग्रन्थ-रूपसे निबद्ध द्वादशाग आचार्य परम्परासे निरन्तर चले आ रहे थे । परन्तु कालके प्रभावसे उत्तरोत्तर बुद्धिके क्षीण होनेपर और उन अगोको धारण कर सकनेवाले योग्य पात्रके अभावमें वे उत्तरोत्तर क्षीण होते गये । तब श्रेष्ठ बुद्धिवालोका अभाव देखकर तीर्थविच्छेदके भयसे पापभीरु और गुरु-परम्परासे श्रुतार्थको ग्रहण करनेवाले आचार्योंने उन्हें पोथियोंमें लिपिवद्ध किया । अतएव उनमें असूत्रपना नहीं हो सकता ।

शका—तब तो द्वादशागका अन्वय होनेसे उक्त दोनो ही वचन सूत्र हो जायेंगे ?

समाधान—दोनोमेंसे किसी एक वचनको सूत्रपना भले ही प्राप्त हो, किन्तु दोनोको सूत्रपना नहीं प्राप्त हो सकता, क्योंकि उन दोनोमे परस्परमे विरोध है ।

शका—दोनो वचनोमेंसे किसको सत्य माना जाये ?

समाधान—यह तो केवली या श्रुतकेवली ही जान सकते हैं, दूसरा नहीं जान सकता । उक्त विस्तृत चर्चासे मतभेदका कारण भिन्न आचार्यपरम्पराका होना ही प्रकट होता है ।

२ जीवट्टाणके 'अन्तरानुगममे चारो कपायोका उत्कृष्ट अन्तर काल छे मास वतलाया है । उसकी धवला टीकामें लिखा है कि ऐसा मानने पर पाहुडसुत्त (कसायपाहुड) के साथ व्यभिचार नहीं आता है क्योंकि उसका उपदेश भिन्न है ।

३ जीवस्थान चूलिकाकी 'धवलामें लिखा है—'यह व्याख्यान अपूर्वकरण गुणस्थानके प्रथम समयमें होनेवाले स्थितिवन्धका सागरोपम कोटिलक्ष पृथक्त्व-प्रमाण कथन करनेवाले पाहुडचूर्णिसूत्रसे विरोधको प्राप्त होता है, ऐसी आशङ्का नहीं करना चाहिये । वह तत्रान्तर है ।

४. उक्त चूलिकाकी 'धवळामे ही अन्यत्र लिखा है—'इस द्वितीयोपशम

१. आदरिय-ऊहियाण सत्कम्मकसायपाहुडाण कथ सुत्तत्तर्णमिदि चेण्ण, तिथयरकहिय-त्थाण गणहरदेवकयगथरयाण वारहगाण आइरियपरपराण णिरत्तरमागयाण जुग-सहावेण बुद्धीसु ओहट्टतीसु भायणाभावेण पुणो ओहट्टिय आगयाण पुणो सुट्ठुबुद्धीण खय दट्ठूण तिथवोच्छेदभएण वज्जभीरूहि गहिदत्थेहि आइरिएहि पोत्थएसु चडा-वियाण असुत्तत्तणविरोहादो ।' —पट्ख०, पु० १, पृ० २२१ ।

२. 'ण पाहुडसुत्तेण वियहिचारो, तस्स भिण्णोवदेसत्तादो ।' —पट्ख० पु० ५, पृ० ११२ ।

३. पट्ख० पु० ६, पृ० १७७ ।

४. पु० ६, पृ० ३११ ।

सम्यक्त्वकालके भीतर जीव असयमको भी प्राप्त हो सकता है, सयमासयमको भी प्राप्त हो सकता है और छह आवली काल शेष रहनेपर सासादन गुणस्थानको भी प्राप्त हो सकता है। यदि सासादनको प्राप्त करके मरता है तो नरकगति, तिर्यञ्चगति और मनुष्यगतिको प्राप्त नहीं कर सकता, किन्तु नियमसे देवगतिमें जाता है। यह पाहुडचूर्णिसूत्रका अभिप्राय है। किन्तु भगवन्त भूतबलिके उप-देशानुसार उपशमश्रेणिसे उतरता हुआ जीव सासादन गुणस्थानको प्राप्त नहीं करता।'

५ उसीमें, पुन अन्यत्र' लिखा है—'यह वात प्राभृतसूत्र (कसायपाहुडचूर्णिसूत्र) के अभिप्रायानुसार कही गई है। परन्तु जीवस्थानके अभिप्रायसे सख्यात-वर्षकी आयुवाले मनुष्योंमें सासादनगुणस्थान सहित निर्गमन नहीं बन सकता, क्योंकि उपशमश्रेणिसे उतरे हुए मनुष्यका सासादनगुणस्थानमें गमन सम्भव नहीं है।'

खुदावन्धकी धवला-टीकामें महाकर्मप्रकृतिप्राभृत और चूर्णिसूत्रकर्ताके उप-देशोंमें भेद बतलाते हुए लिखा है—'मिथ्यादृष्टि गुणस्थानके अन्तिम समयमें दस प्रकृतियोंकी उदयव्युच्छिति होती है, यह महाकर्मप्रकृतिप्राभृतका उपदेश है। चूर्णिसूत्रकर्ताके उपदेशके अनुसार मिथ्यादृष्टिगुणस्थानके अन्तमें पाँच प्रकृतियोंका उदयविच्छेद होता है, शेष पाँचका उदयविच्छेद सासादनसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें होता है।'

महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके आधारपर षट्खण्डागमकी रचना हुई है। अतः षट्खण्डागमके मत अवश्य ही महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके मत होने चाहिये। और इस तरहसे चूर्णिसूत्रकारके मत महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके मतोंसे भी भिन्न थे, यह कहा जा सकता है। अतः ये सैद्धान्तिक मतभेद बहुत प्राचीन प्रतीत होते हैं।

खुदावन्धकी ही धवला-टीकामें एक अन्य भी उल्लेखनीय चर्चा है, जो इस प्रकार है—

शका—कसायपाहुडसूक्तके साथ यह सूत्र विरोधको प्राप्त होता है ?

समाधान—सचमुचमें कषायप्राभृतके सूत्रसे यह सूत्र (२४) विरुद्ध पड़ता है किन्तु यहाँ एकान्तग्रह नहीं करना चाहिये कि यही सत्य है या वही सत्य है, क्योंकि श्रुतकेवलियों या प्रत्यक्ष ज्ञानियोंके बिना इस प्रकारका निश्चय करनेपर मिथ्यात्वका प्रसंग आयेगा।

१ पु० ६, पृ० ४४४।

२ 'एसो महाकम्मपपडिपाहुडउवएसो। चुर्णिसुत्तकत्ताराणमुवेण्सेण पचण्णं पयडीण सुदयवोच्छेदो।' —पु० ८, पृ० ९।

३. पु० ८, पृ० ५६-५७।

शका—सूत्रोमे विरोध कैसे हो सकता है ?

समाधान—अल्पश्रुतके धारक आचार्योंके द्वारा रचे गये सूत्रो व उपसहारोमे विरोधका होना सम्भव प्रतीत होता है ।

शका—उपसहारोको सूत्रपना कैसे सम्भव है ?

समाधान—घट, घटी, सकोरा आदिमे रसे हुए अमृतसागरके जलमें अमृतत्व पाया ही जाता है ।

इस प्रकार पट्सण्डागम और कसायपाहुडचूर्णिसूत्र दो भिन्न आचार्य-परम्पराओके उत्तराधिकारी प्रतीत होते हैं । इसीसे उनके कतिपय सैद्धान्तिक मन्तव्योमे मतभेद है ।

अनुयोगद्वार और चूर्णिसूत्र

अनुयोगद्वारसूत्र स्वतन्त्र ग्रन्थ है, व्याख्याग्रन्थ नहीं है, किन्तु चूर्णिसूत्र व्याख्यासूत्र है । अनुयोगद्वारमें जिस आगमिक शैलीका दर्शन मिलता है, चूर्णिसूत्रोमें भी उसी आगमिक शैलीका दर्शन होता है । इससे इतना तो स्पष्ट है कि प्राचीन आगमिक व्याख्या-शैली वही थी जो इन दोनों सूत्र-ग्रन्थोमें पाई जाती है ।

अनुयोगद्वारसूत्रको परम्परासे आर्यरक्षितकी कृति माना जाता है । पट्टावलियोंके अनुसार आर्यरक्षित आर्यमक्षु और नागहस्तीके मध्यमें हुए थे । अतः उनका समय^१ विक्रमकी प्रथम शतीका उत्तरार्ध माना जाता है । इस हिसाबसे अनुयोगद्वारसूत्र चूर्णिसूत्रोका पूर्वज सिद्ध होता है । किन्तु उसको देखनेसे उसकी प्राचीनतामें सन्देह होता है । नन्दिसूत्रमें अनुयोगद्वारका नाम आया है । और नन्दिसूत्र बलभी वाचनाके समय अर्थात् विक्रमकी छठी शताब्दीके प्रारम्भमें रचा गया माना जाता है । नन्दिमें मिथ्याश्रुत और अनुयोगमें^२ लौकिकश्रुतके नामसे अनेक ग्रन्थोके नाम दिये हैं । उनमें माठर और पण्डितत्रका भी नाम है । ईश्वरकृष्णकी साख्यकारिकापर माठरकी कृति प्रसिद्ध है तथा^३ अनुयोगद्वारमे लौकिक भावावश्यकका स्वरूप बतलाते हुए लिखा है—पूर्वाण्हमें भारतका और अपराण्हमें रामायणका वाचन अथवा श्रवण करना है यह लौकिक भावावश्यक है ।

१ 'श्रीमदार्थरक्षितसूरि सप्तनवत्यधिकपचशत ५९७ वर्षान्ते स्वर्गभणिति पट्टावल्यादौ दृश्यते ।' —पृ० स०, पृ० ४८ ।

२. से किं तं लोश्य भावावस्तय ? पुन्वण्हे भारह अवरण्हे रामायण, से त लोश्य भावा-वस्तय (सू० २५) ।

३ क० पा० भा० १, पृ० ।

४ 'जण्ण कट्ठकम्मे वा पोत्थकम्मे वा चित्तकम्मे वा लेप्पकम्मे वा (सू० १०) अ० ।

भारत और रामायणके इस प्रकार आवश्यक रूपसे वाचन अथवा श्रवणका परिचलन अवश्य ही गुप्तकालमें होना चाहिये । अतः अनुयोगद्वारसूत्र गुप्तकालसे पूर्वका नहीं होना चाहिये ।

चूर्णिसूत्रके साथ उसकी तुलना करनेपर भी उसका कोई प्रभाव परिलक्षित नहीं होता । प्रत्युत चूर्णिसूत्र ही उससे अधिक प्राचीन प्रतीत होते हैं । आदेश^१ कषायका स्वरूप बतलाते हुए चूर्णिसूत्रमें चित्रकर्म, काष्ठकर्म और पोत्थकर्मका ही उल्लेख है किन्तु अनुयोगद्वारसूत्रमें लेप्यकर्मका भी निर्देश मिलता है । इसी तरह उसमें पूर्ववत् शेषवत् आदि अनुमानके तीन भेद गिनाये हैं । जो न्यायसूत्रोंमें पाये जाते हैं ।

चूर्णिसूत्र · ऐतिहासिक महत्त्व—दो परम्पराएँ

यतिवृषभके चूर्णिसूत्रोंमें ऐतिहासिक दृष्टिसे उल्लेखनीय है उपदेशकी दो परम्पराएँ, जिनमेंसे एकको वह पवाइज्जमाण (प्रवाह्यमान) और दूसरीको अपवाइज्जमाण कहते हैं । इन दोनों परम्पराओंका निर्देश कसायपाहुडके उपयोग नामक अधिकारमें पाया जाता है ।

‘पवाइज्जमाण’की व्याख्या बतलाते हुए जयधवलाकारने लिखा है—‘जो सब आचार्योंके द्वारा सम्मत हो और प्राचीनकालसे बिना किसी विच्छेदके सम्प्रदायक्रमसे आता हुआ शिष्य-परम्पराके द्वारा लाया हो उसे पवाइज्जत उपदेश कहते हैं । अथवा यहाँ पर भगवान् आर्यमक्षुके उपदेशको अपवाइज्जमाण और नागहस्ती क्षपणके उपदेशको पवाइज्जमाण स्वीकार करना चाहिये ।

उपयोगाधिकारकी चतुर्थ गाथाकी विभाषा करते हुए चूर्णिसूत्रकारने^२ लिखा है कि इस गाथाकी विभाषाके विषयमें दो उपदेश पाये जाते हैं । एक उपदेशके द्वारा व्याख्यान समाप्त करके लिखा है कि अब पवाइज्जत उपदेशके द्वारा चौथी गाथाकी विभाषा करते हैं । इसी ‘पवाइज्जत’ की टीकामें जयधवलाकारने उक्त बात कही है ।

इससे ऐसा प्रकट होता है कि कसायपाहुडके गाथासूत्रोंके व्याख्यानमें आर्यमक्षु और नागहस्तीमें मतभेद था । आचार्य यतिवृषभने आर्यमक्षुके मतको प्रथम

१ (सू. ४१),

२. ‘एककेण उवएसेण चउत्थीए विहासा समत्ता भवदि । पवाइज्जतेण उवएसेण चउत्थीए गाहाए विभासा ।’ ज. ४०.—को पुण पवाइज्जतोवएसो णाम वुत्तमेद ? सच्चाइरिय-सम्मदो चिरकालमवोच्छिण्णसपदायकमेणागच्छमाणो जो सिस्तरपरराए पवाइज्जदे पणविज्जदे सो पवाइज्जतोवएसो ति भण्णदे । अथवा अज्जमखुभयवताणमुवएसो एत्थापवाइज्जमाणो णाम । णागहत्थिखवणाणमुवएसो पवाइज्जतवो ति धेतवो ।’

स्थान दिया, और यद्यपि दूसरे उपदेशको—जिगे जयधवलकाकार नागहस्तीका वतलाते हैं—पवाइज्जत वतलानेसे प्रथम उपदेशका अपवाइज्जत होना स्वयं सिद्ध है, किन्तु उन्होने अपनी लेखनीसे उसे अपवाइज्जत नहीं कहा। इसी तरह इसी अधिकारकी सातवीं गाथाकी विभापामें भी दोनों उपदेशोंका कथन करके एक^१ उपदेशको पवाइज्जत लिखा और अन्तमें लिख दिया कि इन दोनों उपदेशोंसे त्रसजीवोंके कपायोदयस्थान जान लेना चाहिये। ऐसा करके यतिवृषभने जहाँ प्राचीन उपदेशकी सुरक्षा की वहाँ दूसरेकी अवहेलना नहीं की। यह उनके बड़प्पनको तो धोतित करता ही है, साथ ही आर्यमक्षुके प्रति अनादरभावको भी प्रकट नहीं करता।

किन्तु जयधवलकाकारने इसी अध्यायमें तथा आगे आर्यमक्षु और नागहस्ती दोनोंके उपदेशको पवाइज्जत भी कहा है।

उपयोगाधिकारकी प्रथम गाथाकी विभापा करते हुए चूर्णिसूत्रकारने लिखा है—‘पवाइज्जत उपदेशकी अपेक्षा क्रोधादि कपायोका विशेष अन्तर्मुहूर्त है और उसी पवाइज्जत उपदेशकी अपेक्षा चारो गतियोंमें अल्पबहुत्वका कथन करते हैं।’

इस टीकामें ‘जयधवलकाकारने दोनोंके उपदेशको पवाइज्जत कहा है। इसी तरह सम्यक्त्व अनुयोगद्वारमें^३ भी उन्होने दोनोंके उपदेशको पवाइज्जत कहा है। ऐसी स्थितिमें उपयोगाधिकारकी चतुर्थ गाथाके चूर्णिसूत्रोकी व्याख्यामें जो उन्होने आर्यमक्षुके उपदेशको पवाइज्जत और नागहस्तीके उपदेशको अपवाइज्जत कहा है, उसके साथ सगति नहीं बैठती और दोनों कथन परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं। किन्तु जयधवलके शब्दोपर ध्यान देनेसे यह विसगति दूर हो जाती है।

जयधवलकाकारने वहाँ पहले ‘पवाइज्जत उपदेश’ की व्याख्या की है कि जो सर्वाचार्य सम्मत आदि हो वह पवाइज्जत उपदेश है। फिर ‘अथवा’ कहकर आर्यमक्षुके उपदेशको अपवाइज्जमाण कहा है। किन्तु अपवाइज्जमाणके पहले आगत ‘एत्थ’ शब्द खास ध्यान देने योग्य है जो वतलाता है कि यहाँपर अपवाइज्जमाणसे आर्यमक्षुका उपदेश ग्रहण करना चाहिये। अत आर्यमक्षुका प्रत्येक उपदेश अपवाइज्जमाण नहीं है। किन्तु नागहस्तीके साथ एत्थ पद नहीं है। अत नागहस्ती-

१ एत्तो उवण्णो पवाइज्जइ। अण्णो उवदेत्तो । एदेहिं दोहि उवदेसेहिं कसाय-उदयक्खणि णेदव्वाणि तसाण । —क० पा० सू०, पृ० ५९२-५९३।

२ ‘तेसिं चेव भयवताणमज्जमखु-णागहत्थीण पवाइज्जतेण उवण्णेण।’

—ज० ध० स० का०, पृ० ५८६४।

३ ‘पवाइज्जतेण पुण उवण्णेण सब्बाइरियसम्मदेण अज्जमखु-णागहस्तिमहावाचयसुह-कमल विणिग्गण।’ —ज० ध० प्रे० क०, ६२६१।

का कोई उपदेश अपवाड्जत नहीं था—सब उपदेश पवाड्जत था । किन्तु आर्यमधुका कोई-कोई उपदेश अपवाड्जत भी था ।

इस तरह चूर्णिसूत्रोमे विभिन्न उपदेशोंकी परम्पराके दर्जन होते हैं ।

चूर्णिसूत्रके रचयिता

चूर्णिसूत्रके रचयिता आचार्य यतिवृषभ हैं । ये गुणधर, आर्यमधु और नाग-हस्तिके उत्तराधिकारी हैं । पट्टावलि, शिलालेख तथा अन्य स्रोतोंमें आचार्य यतिवृषभके जीवन-परिचय, गमय आदिके सम्बन्धमें विशेष जानकारी प्राप्त नहीं है ।

इनकी दो ही कृतियाँ मानी जाती हैं—एक कर्मायपाहुटपर चूर्णिसूत्र और दूसरी त्रिलोकप्रज्ञप्ति । किन्तु उनमें अन्य बातोंका तो कहना ही क्या, ग्रन्थकर्ता तकका नाम नहीं पाया जाता । हाँ, त्रिलोकप्रज्ञप्तिके अन्तमें एक गाथा आई है—

“पणमह जिणवरवसह गणहरवमह तहेव गुणवसह ।

दट्ठण परिसवगह जदिवसह धम्मसुत्तपाटवसह ॥

इस गाथामें ‘जदिवसह’ (यतिवृषभ) नाम आया है । और उसके अन्तमें वपह (वृषभ) शब्द होनेसे उसका अनुप्रास मिटानेके लिये अन्य शब्दोंके अन्तमें भी ‘वसह’ पद दिया है । जिनवरवृषभ और गणधरवृषभ पद तो स्पष्ट ही हैं, क्योंकि जिनवर वृषभ प्रथम तीर्थङ्कर थे और उनके प्रथम गणधरका नाम भी वृषभ ही था । किन्तु ‘गुणवसह’ पद स्पष्ट नहीं है । यो तो उसे ‘गणहरवसह’ का विशेषण किया जा सकता है, ‘जैसा कि त्रिलोकप्रज्ञप्ति’ के हिन्दी अनुवादमें और श्री नाथूरामजी प्रेमीने अपने ‘लोकविभाग और तिलांघ्रिपण्णत्ति’^१ शीर्षक लेखमें किया है । किन्तु उससे कोई विशेष चमत्कार प्रतीत नहीं होता । इसी तरह ‘दट्ठण परिसवसह’ पद भी अस्पष्ट है ।

जयध्वलाके सम्यक्त्व-अनुयोगद्वारके प्रारम्भमें मगलाचरणरूपमें भी यह गाथा पाई जाती है । और उससे उक्त पदोंकी समस्या सुलझ जाती है । गाथा इस प्रकार है—

पणमह जिणवरवसह गणहरवसह तहेव गुणहरवसह

दुसहपरीसहविसह जइवसह धम्मसुत्तपाटवसह ॥

इससे अर्थ स्पष्ट हो जाता है जो इस प्रकार है—

‘जिनवरवृषभको, गणधरवृषभको, गुणधरवृषभ (श्रेष्ठ) और दुस्सह परीपह-

१ जीवराज ग्रन्थमाला शोलापुरसे प्रकाशित ।

२ जै० सा० ६०, पृ० ७ ।

का समाधान करते हुए वीरसेन स्वामीने' कहा है—'विपुलाचलके शिखरपर स्थित महावीररूपी सूर्यसे निकलकर गौतम, लोहार्य, जम्बूस्वामी आदि आचार्य-परम्परासे आकर, गुणधराचार्यको प्राप्त होकर गाथारूपसे परिणत हो, पुन आर्यमधु-नाग-हस्तीके द्वारा यतिवृषभके मुखसे चूर्णिसूत्ररूपसे परिणत हुई दिव्यध्वनिरूपी किरणोंसे हमने ऐसा जाना है।' यहाँ यतिवृषभके वचनोको भगवान महावीरकी दिव्यध्वनिके साथ एकरसता बतलानेसे यतिवृषभके प्रति वीरसेन स्वामीकी असीम श्रद्धा व्यक्त होती है। तभी तो वे जिनेन्द्रोमें श्रेष्ठ प्रथम जिन और गणधरोंमें श्रेष्ठ उनके प्रथम गणधरके साथ गुणधर और यतिवृषभको नमस्कार करनेकी प्रेरणा करते हैं।

स्वय यतिवृषभ अपने विषयमें ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि उक्त गाथामें आगत 'जइवसह' शब्द श्लेषरूपसे प्रयुक्त नहीं जान पड़ता। स्वय उसके साथ दो विशेषण पद लगे हुए हैं। यदि उसे श्लेषरूपमें प्रयुक्त माना जाता है तो गाथाके पूरे उत्तरार्धको किसी विशेष्यके साथ प्रयुक्त करना होगा। गाथाके पूर्वार्द्धमें तीन विशेष्यपद हैं, जिणवरवसह, गणहरवसह और गुणहरवसह। अब इन तीनों विशेष्योमेंसे किसके विशेषणरूपसे उक्त तीनो विशेषणोका प्रयोग किया जाये, यह समस्या उत्पन्न होती है। खीचातानी करके किसी एकके साथ या तीनोंके साथ तीनों भेदोको सयुक्त कर देनेपर भी यतिवृषभ जैसे ग्रन्थकारकी कृतिके अनुरूप स्वाभाविकता उसमें नहीं रहती। अस्तु,

दूसरा विशेषण 'धम्मसुत्तपाठरवसह' बतलाता है कि यतिवृषभ धर्मसूत्रके पाठकोंमें श्रेष्ठ थे, किन्तु धर्मसूत्रसे किस सूत्र-ग्रन्थका अभिप्राय है यह स्पष्ट नहीं होता। इस तरहके शब्दका व्यवहार भी जैनपरम्परामें मेरे देखनेमें नहीं आया।

वर्तमान त्रिलोकप्रज्ञप्तिके आधारपर यतिवृषभ महावीर-निर्वाणके एक हजार वर्ष पश्चात् अर्थात् ई० ४७३ से पूर्व नहीं हो सकते, क्योंकि उसमें महावीर-निर्वाणसे एक हजार वर्ष तकके प्रमुख राजवंशोकी कालगणना दी हुई है और वह इस रूपमें है कि सहसा उसे प्रक्षिप्त भी नहीं कहा जा सकता। उनके चूर्णिसूत्रोसे भी कोई बात ऐसी प्रकट नहीं होती, जिससे उनकी अर्वाचीनता प्रमाणित हो सके। उन्होंने अपने चूर्णिसूत्रोंमें 'एसा कम्मपवादे' और 'एसा कम्मपयडीसु' लिखकर कर्मप्रवाद और कर्मप्रकृतिका उल्लेख किया है।

१. "एदम्हादो विउलगिरिमत्थयत्थवड्ढमाणदिवायरादो विणिग्गमिय गोदम लोहउज्ज-जबु-सामियादिआइरियपरपराए आगतूण गुणहराइरिय पाविय गाहासरूवेण परिणमिय अज्जमखुणागहत्थीहिंतो जइवसहमुहणमिय चुणिसुत्तायारेण परिणददिव्वज्जुणिकिरणादो णव्वदे।" —क० पा०, भा० ५, पृ० ३८८।

कसायपाहुडके चारित्रमोहोपशामना नामक अधिकारमें यतिवृषभने उपशामना-
 के दो भेद किये हैं—एक करणोपशामना और दूसरा अकरणोपशामना । तथा
 करणोपशामनाके भी दो भेद किये हैं—देशकरणोपशामना और सर्वकरणोपशामना ।
 और लिखा है कि अकरणोपशामनाका कथन कर्मप्रवादमें और देशकरणोपशामना-
 का कथन कर्मप्रकृतिमें है । कर्मप्रवाद आठवें पूर्वका नाम है और कर्मप्रकृति दूसरे
 पूर्वके पञ्चम वस्तु-अधिकारके अन्तर्गत चतुर्थ प्राभृतका नाम है । अब प्रश्न यह
 होता है कि यतिवृषभने इन दोनों ग्रन्थोंका निर्देश स्वयं उन्हें देखकर किया है या
 अन्य किसी आधारपर किया है ? दिगम्बर उल्लेखोंके अनुसार पूर्वोक्त ज्ञान तो
 वीर निर्वाणसे ३४५ वर्ष पर्यन्त ही प्रचलित रहा है । उसके पश्चात् तो विश-
 कलित ज्ञान ही रह गया था । श्वेताम्बर उल्लेखोंके अनुसार वीरनिर्वाणसे लगभग
 छ सौ वर्ष पश्चात् स्वर्गगत हुए आर्यरक्षितसूरि साठे नौ पूर्वोक्त ज्ञाता थे । उन्हीं-
 के वंशज नागहस्ती थे । वे आठवें कर्मप्रवादके ज्ञाता हो सकते हैं । नन्दिसूत्रमें
 उन्हें कर्मप्रकृतिमें प्रधान तो बतलाया ही है । इसलिए उनके द्वारा यतिवृषभको
 कर्मप्रवाद और कर्मप्रकृति दोनोंका अनुगम होना शक्य है । इन्हीं दो का
 निर्देश चूर्णिसूत्रोंमें पाया जाता है । अनएव चूर्णिसूत्रकार यतिवृषभ आर्यमणुके
 न सही तो कम-से-कम नागहस्तीके तो लघु समकालीन होने ही चाहिये ।
 विबुध श्रीधरके श्रुतावतारमें आर्यमणुका नाम नहीं है । गुणधरने नागहस्तीको
 कसायपाहुडके सूत्रोंका व्याख्यान किया । और गुणधर नागहस्तीके पास
 यतिवृषभने उनका अध्ययन किया । इसमें गुणधरके पास अध्ययन करने वाली
 बातका समर्थन अन्यत्रसे नहीं होता, अतः उसे छोड़ देने पर भी नागहस्तीके
 समीप अध्ययन करनेकी ही बात पुष्ट होती है । एक अन्य बात यह भी है कि^१
 त्रिलोकप्रज्ञप्तिकी उपलब्ध प्रतिमें हम बहुत-सी ऐसी गाथाएँ पाते हैं जो
 कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंमें पाई जाती हैं और उनसे ली गई प्रतीत होती हैं । यद्यपि
 इससे यतिवृषभकी प्राचीनताको विशेष क्षति नहीं पहुँचती, क्योंकि कुन्दकुन्दका
 समय ईसाकी प्रथम शताब्दी माना गया है तथापि यतिवृषभमें यदि इस
 प्रकारका संग्रह करनेकी प्रवृत्ति होती तो उसका कुछ आभास उनके चूर्णिसूत्रोंमें
 भी परिलक्षित होता । अतः हमारा अनुमान है कि इन प्राचीन गाथाओंका
 कोई एक मूलस्रोत रहा है, जहाँसे कुन्दकुन्द और यतिवृषभ दोनोंने ही उन
 गाथाओंको ग्रहण किया होगा । दूसरे, धरसेनने महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके
 विच्छेदके भयसे ही भूतबलि-पुष्पदन्तको उसका ज्ञान दिया था । उन्होंने
 उसके आधारपर षट्खण्डागमकी रचना की और इस तरह महाकर्मप्रकृति-
 प्राभृतका ज्ञान उनके साथ समाप्त हो गया । तब यतिवृषभको कर्मप्रकृतिका

ज्ञान किससे मिला ? अतः यतिवृषभ ऐसे समयमें होने चाहिये जब कर्मप्रकृति-प्राभूतका ज्ञान अवशिष्ट था ।

तीसरे, यह आगे बतलायेंगे कि छक्खडागम और कसायपाहुडमें अनेक बातोंको लेकर मतभेद है, अतः उन दोनोंको तत्रान्तर कहा गया है । जो मतभेद बतलाया जाता है उसका आधार कसायपाहुड पर रचित चूर्णिसूत्र है । वही उस मतभेदका प्रतिनिधित्व करते हैं । उन्हीं परसे धवला व जयधवलामें भूत-वलि और यतिवृषभके मतभेदकी चर्चा देखनेमें आती है । उस चर्चापरसे यतिवृषभका व्यक्तित्व भूतवलिके समकक्ष प्रतीत होता है । दोनोंके सूत्रोंकी भी तुलनासे यही बात प्रमाणित होती है । अतः यतिवृषभ भूतवलि पुष्पदन्तसे विशेष अर्वाचीन प्रतीत नहीं होते । और जैसा कि हम आगे स्पष्ट करेंगे । चूँकि धरसेन और नागहस्ती लगभग समकालीन प्रमाणित होते हैं, क्योंकि दोनोंका समय वीर-निर्वाणकी सातवीं शताब्दीमें थोड़ा आगे-पीछे आता है । अतः यतिवृषभ भी उसी समयके लगभग होने चाहिये ।

यतिवृषभकी रचनाएं

आचार्य यतिवृषभकी कृतिरूपसे दो ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—एक प्रकृत चूर्णिसूत्र^१ और दूसरी तिलोयपण्णत्ती^२ । दोनों उपलब्ध हैं और हिन्दी अर्थके साथ छपकर प्रकाशित हो चुके हैं । तिलोयपण्णत्तीका विषय लोकरचनासे सम्बद्ध है, अतः उसका परिचय आदि इस ग्रन्थके लोकरचना विषयक प्रकरणमें दिया जायगा ।

तिलोयपण्णत्तीकी अन्तिम^३ गाथामें तिलोयपण्णत्तीका प्रमाण आठ हजार बतलाते हुए लिखा है कि चूर्णिस्वरूप और षट्करणस्वरूपका जितना प्रमाण है उतना ही तिलोयपण्णत्तीका परिमाण है । इससे यह अनुमान किया जाता है कि षट्करणस्वरूप नामक भी कोई ग्रन्थ यतिवृषभकृत होना चाहिये ।

प० जुगलकिशोर मुख्तारका कहना है कि 'करणस्वरूप' नामक भी कोई ग्रन्थ यतिवृषभके द्वारा रचा गया था जो अभी तक अनुपलब्ध है । बहुत सम्भव है कि वह ग्रन्थ उन करणसूत्रोंका ही समूह हो, जो गणितसूत्र कहलाते हैं और जिनका कितना ही उल्लेख त्रिलोकप्रज्ञप्ति, गोम्मटसार, त्रिलोकसार और धवला जैसे ग्रन्थोंमें पाया जाता है । चूर्णिसूत्रोंकी संख्या चूँकि छ हजार है अतः करणस्वरूप ग्रन्थकी संख्या दो हजार श्लोक परिमाण समझनी चाहिये,

१. श्री वीरशासन सभ, कलकत्तासे प्रकाशित ।

२. जीवराज ग्रन्थ माला, शोलापुरसे प्रकाशित ।

३. चूर्णिसूत्ररूपछक्खकरणसरूपप्रमाण होइ कि ज तं । अटठसहस्सप्रमाण तिलोयपण्णत्ति-
णामाण ॥७७॥ ति, प., भा २, पृ. ८८० ।

तभी दोनोंकी सग्या मिलकर आठ हजार परिमाण इस ग्रन्थ (तिलोयपण्णत्ती) का वैधता है (जं० सा० ३० वि० प्र०, पृ० ५८९) ।

किन्तु सिद्धान्तशास्त्री प० हीराचरणने कमायपाठ्युक्तकी प्रस्तावनामें उक्त अन्तिम गाथाके उक्त अक्षरों का भिन्न अर्थ किया है । उन्होंने गाथा उद्धृत करके लिखा है—‘इसमें बतलाया गया है कि आठ करणोंके स्वरूपका प्रतिपादन करने वाली कम्मपयडीया और उगकी चूर्णिता जितना प्रमाण है उतने ही आठ हजार प्रमाण इस तिलोयपण्णत्तीका परिमाण है ।’

गाथाके प्रथम चरण ‘चूर्णिसम्पन्न-उत्पत्तिसम्पन्न’ में ‘उ’ के स्थान पर ‘त्य’ पाठभेद भी मिलना है । पण्डितजीने ‘त्य’ के स्थानमें ‘ट्ठ’ मानकर ‘अट्ठकरण’ शब्द निष्पन्न किया है । चूँकि कर्मप्रकृतियोंमें आठ करणोंके स्वरूपका कथन है अतः ‘अट्ठकरण’ नाम कर्मप्रकृतिके लिए ही प्रयुक्त किया है, ऐसा प० जीका विचार है । और यत आप कर्मप्रकृतिकी चूर्णिका रचयिता आचार्य यतिवृषभको मानते हैं, इसलिये आपने उक्त प्रकारका अर्थ किया है ।

कर्मप्रकृतिकी चूर्णिके कर्ताका विचार करते समय इस बात पर प्रकाश डाला जायेगा कि यतिवृषभ उगके कर्ता नहीं हो सकते । यहाँ तो हम इतना ही लिखना उचित समझते हैं कि पण्डितजीने ति० प० की उक्त अन्तिम गाथाका जो अर्थ किया है वह अपनी उक्त कल्पनाके आधार पर उतावलीमें कर डाला है । यह ठीक है कि कर्मप्रकृतियोंमें आठ करणोंके भी स्वरूपका कथन है । किन्तु आठ करणोंके सिवाय उदय और सत्ताका भी कथन है और पहली गाथामें ही आठ करणोंके साथ उदय और गत्त्वके भी कथनकी प्रतिज्ञा ग्रन्थकारने की है । अतः ऐसे ग्रन्थका नाम ‘अट्ठकरणसंख’ नहीं हो सकता ।

दूसरे, प्रकृत कम्मपयडी या कर्मप्रकृतिका ‘अट्ठकरणसंख’ नाम भी था, इसका एक भी समर्थक प्रमाण मेरे देगनेमें नहीं आया । जिस चूर्णिको पंडितजी यतिवृषभकृत मानते हैं उसमें भी प्रथम गाथाकी उत्थानिकारूपसे ‘कम्मपयडी-सगहणी’ नामका निर्देश करते हुए उसे सार्थक बतलाया है ।

तीसरे, ‘चूर्णिसंखट्ठकरणसंख’का अर्थ ‘कर्मप्रकृति और उसकी चूर्णि’ करना भी कष्टसाध्य ही है । उसका सीधा-सा अर्थ होता है चूर्णि और अट्ठकरण (कर्मप्रकृति) । अट्ठकरणकी चूर्णि यह अर्थ तो नहीं होता । फिर कोई ग्रन्थकार अपने ग्रन्थका परिमाण बतलानेके लिए अपनी कृतियोंके सिवाय अन्य कृतिका निर्देश क्यों करेगा । अतः प० जीने तिलोयपण्णत्तीकी अन्तिम गाथाके स्वकल्पित अर्थके आधारपर जो कर्मप्रकृतिचूर्णिको यतिवृषभकी कृति बतलाया है वह ठीक नहीं है । इसी तरह सत्तरीचूर्णि तथा शतकचूर्णि भी यतिवृषभकृत नहीं हैं । इस पर विशेष प्रकाश चूर्णियोंके कर्तृत्वके विवेचनके समय डाला जायेगा ।

चूर्णिसूत्रोकी विषयवस्तु

आचार्य गुणधररचित गाथासूत्रोपर आचार्य यतिवृषभने चूर्णिसूत्रोकी रचना की है। अतः चूर्णिसूत्रोका भी मुख्य प्रतिपाद्य विषय वही है, जो कर्मायपाहुडका है। किन्तु आचार्य गुणधरने अपने पृच्छात्मक गाथासूत्रोमें जो जिज्ञासाए मात्र व्यक्त की थी या जिन विषयोकी सूचनामात्र की थी उन सबको चूर्णिसूत्रकारने भी सक्षेपमे ही कहनेका प्रयत्न किया है। उदाहरणके लिए आचार्य गुणधरने एकमात्र गाथा (२२) के द्वारा आदि के चार अधिकारोका निर्देशमात्र किया है। किन्तु यतिवृषभने उस एक गाथाका अवलम्बन लेकर चारों अधिकारोका कथन किया है। सबसे प्रथम उन्होंने गाथाका पदच्छेद किया है—‘पयडीए मोहणिज्जा विहत्ति’ इस पदमे प्रकृतिविभक्ति नामक पहला अर्थाधिकार है। ‘तह द्विदी’ से स्थितिविभक्ति दूसरा अर्थाधिकार है। ‘अणुभागे’ मे अनुभागविभक्ति तीसरा अर्थाधिकार है। ‘उक्कस्समणुक्कस्स’से प्रदेशविभक्ति चतुर्थ अर्थाधिकार है। ‘झीणाझीण’ पाचवाँ अर्थाधिकार है और ‘स्थित्यन्तक’ छठा है। प्रकृति-विभक्तिके दो भेद हैं—मूलप्रकृतिविभक्ति और उत्तरप्रकृतिविभक्ति। मूलप्रकृतिविभक्तिके आठ अनुयोगद्वार हैं—स्वामित्व, काल, अन्तर, नाना जीवोकी अपेक्षा भगविचय, काल, अन्तर, भागाभाग, अल्पबहुत्व। इन अनुयोगद्वारोका कथन करनेपर मूलप्रकृतिविभक्ति समाप्त होती है। इसके पश्चात् उत्तरप्रकृतिविभक्ति दो प्रकारकी है—एकैकउत्तरप्रकृति-विभक्ति और प्रकृतिस्थानउत्तरप्रकृतिविभक्ति। उनमेंसे एकैकउत्तर प्रकृतिविभक्तिके ये अनुयोगद्वार हैं—एक जीवकी अपेक्षा स्वामित्व, काल, अन्तर, नाना जीवोकी अपेक्षा भगविचयानुगम, परिमाणानुगम, क्षेत्रानुगम, स्पर्शनानुगम, कालानुगम, अन्तरानुगम, सन्निकर्ष और अल्पबहुत्व। इन अनुयोगद्वारोके कहने पर एकैकउत्तरप्रकृतिविभक्ति समाप्त होती है।

इस तरह चूर्णिसूत्रकारने गुणधराचार्यके द्वारा सूचित आद्य अधिकारोका विवेचन किया है। उक्त अनुयोगद्वार आगमिक परम्पराकी देन हैं। उनके द्वारा किसी भी वर्ण्य वस्तुका विवेचन करनेसे उसके विषयमें पूरी जानकारी प्राप्त हो जाती है।

प्रथम गाथाका व्याख्यान करते हुए चूर्णिसूत्रकारने पाँच उपक्रमोका निर्देश किया है—आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वक्तव्यता और अर्थाधिकार। आनुपूर्वी तीन प्रकारकी है। नामके छह भेद, प्रमाणके सात भेद, वक्तव्यताके तीन भेद और अर्थाधिकार केपन्द्रह भेद हैं।

तिलोपपण्णत्तिके प्रारम्भमें कहा है—

जो ण पमाण-णएहि णिक्खेवेण णिरक्खदे अत्थ ।

तस्साजुत्त जुत्त जुत्तमजुत्त च पडिहादि ॥८२॥

अर्थात् जो नय, प्रमाण, निक्षेपसे अर्थका निरीक्षण नहीं करता, उसको अयुक्त पदार्थ युक्त और युक्त पदार्थ अयुक्त प्रतीत होता है ।

इस आचार्यपरम्परासे आगत न्यायको दृष्टिमें रखकर चूर्णिसूत्रोंमें भी तदनुसार कथन किया है । प्रथम गाथामें आगत 'कसायपाहुड' शब्दपर चूर्णिसूत्र द्वारा कहा गया है—उस पाहुडके दो नाम हैं—पेज्जदोसपाहुड और कसायपाहुड । पेज्जदोसपाहुडनाम अभिव्याहरण निष्पन्न है और कसायपाहुडनाम नयनिष्पन्न है । पेज्जका निक्षेप करते हैं—नामपेज्ज, स्थापनापेज्ज, द्रव्यपेज्ज, भावपेज्ज । नैगम, सग्रह, व्यवहारनय सब निक्षेपको स्वीकार करते हैं । ऋजुसूत्रनय स्थापनाको छोड़कर शेष तीनको स्वीकार करता है । शब्दनय नामनिक्षेप और भावनिक्षेपको स्वीकार करता है ।

इसी तरह दोस कसाय और पाहुडमें भी निक्षेपकी योजना करके उनमें नयकी योजना की है ।

पाहुडशब्दकी निरुक्ति 'पदेहि पुद' की है अर्थात् पदोसे स्फुट होनेसे प्राभूत कहते हैं ।

प्रकृतिविभक्तिका कथन करते हुए विभक्तिका निक्षेप किया है—नामविभक्ति, स्थापनाविभक्ति, द्रव्यविभक्ति, क्षेत्रविभक्ति, कालविभक्ति, गणनाविभक्ति, सस्थानविभक्ति और भावविभक्ति । विभक्तिका अर्थ करते हुए कहा है—तुल्य-प्रदेशी द्रव्य तुल्यप्रदेशी द्रव्यका अविभक्ति है और वही द्रव्य असमानप्रदेशी द्रव्यका विभक्ति है अर्थात् विभक्तिका अर्थ असमानता है ।

प्रकृतिविभक्तिके अन्तर्गत प्रकृतिस्थानविभक्तिका कथन करते हुए मोहनीय कर्मके पन्द्रह प्रकृतिसत्त्वस्थान कहे हैं—२८, २७, २६, २४, २३, २२, २१, १३, १२, ११, ५, ४, ३, २ । चूर्णिसूत्रकारने इनका कथन एकसे किया है । किन्तु यहाँ हम मोहनीयकर्मके इन सत्त्वस्थानोको इसी क्रमसे लिख रहे जिस क्रमसे ऊपर कहे हैं । उससे पाठक यह जान सकेंगे कि मोहनीयकर्मका क्षय किस क्रमसे होता है ।

मोहनीयकर्मकी उत्तरप्रकृतियाँ अठाईस हैं । जिसके सब प्रकृतियोंकी सत्ता है वह अठाईस प्रकृतिस्थान विभक्तिवाला है । ऐसा जीव सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्या-दृष्टि या मिथ्यादृष्टि होता है । उनमेंसे सम्यक्त्वप्रकृतिकी उद्वेलना करने वाला जीव मिथ्यादृष्टि होता है । उसके सत्ताईस प्रकृतियोंकी सत्ता होती है । उनमेंसे सम्यक्मिथ्यात्वकी उद्वेलना करने वाला सादिमिथ्यादृष्टिजीव था

अनादि मिथ्यादृष्टि जीव उन्नीस प्रकृतियोंकी सत्ता वाला होता है। अठारह प्रकृतियोंमेंसे अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभका विसंयोजन करने वाला सम्यग्दृष्टि चौबीस प्रकृतियोंकी सत्ता वाला होता है। मिथ्यात्वका क्षय होने पर और सम्यक्त्वप्रकृति तथा सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृतिके शेष रहने पर मनुष्य सम्यग्दृष्टि तेईस प्रकृतियोंकी विभक्ति वाला होता है। मिथ्यात्व तथा सम्यक् मिथ्यात्वका क्षय होने पर और सम्यक्प्रकृतिके शेष रहने पर सम्यग्दृष्टि मनुष्य बाईस प्रकृतियोंकी विभक्ति वाला होता है। दर्शनमोहनीयका क्षय करने वाला जीव इक्कीस प्रकृतियोंकी विभक्ति वाला होता है। नौवें गुणस्थानमें अप्रत्याख्या-नावरण और प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभका क्षय करने वाला सयमी मनुष्य तेरह प्रकृतियोंकी विभक्ति वाला होता है। फिर उमी गुणस्थानमें नपुंसकवेदका क्षय करनेपर बारह प्रकृतियोंकी, स्त्रीवेदका क्षय करने पर ग्यारह प्रकृतियोंकी, छह नोकपायोका क्षय करनेपर पाँच प्रकृतियोंकी, पुरुष-वेदका क्षय करनेपर चार प्रकृतियोंकी, तथा क्रमसे सज्ज्वलन क्रोध, मान और मायाका क्षय करनेपर तीन, दो और एक विभक्ति वाला होता है। एक विभक्ति वालेके केवल एक सज्ज्वलनलोभकपाय शेष रहती है। इसका विनाश कृष्टिकरणके द्वारा किया जाता है।

चूर्णिसूत्रकारने इन्हीं प्रकृतियोंके स्थितिसत्त्व, अनुभागसत्त्व, प्रदेशसत्त्व आदि-का कथन अनुयोगद्वारासे किया है। किन्तु उन्होंने सभी अनुयोगद्वाराका कथन नहीं किया। जहाँ जिनका कथन आवश्यक समझा वहाँ उनका कथन किया है। समस्त कथन इतना अधिक परिभाषाबहुल है कि कर्मसिद्धान्तके अभ्यासी पाठकके लिये भी दुरुह है। उस सबका परिचय कराना भी कष्टसाध्य है। फिर भी कुछ कम दुरुह विषयोका परिचय कराते हैं—

बन्धक अधिकारमें आगत सक्रम-अधिकारमें मोहनीयके उक्त २८ आदि प्रकृतिस्थानोंके सक्रम पर भी विचार किया गया है। प्रत्येक प्रकृतिसत्त्वस्थानकी प्रकृतिया बतलानेके साथ किस स्थानका सक्रम होता है और किसका नहीं होता इसका स्पष्टीकरण किया है।

इस सक्रम-अधिकारको आचार्य गुणधरने भी विस्तारसे लिखा है और चूर्ण-सूत्रकारने भी उसे यथानुरूप स्पष्ट किया है। इसके स्पष्टीकरणके लिये उन्होंने स्थानसमुत्कीर्तन, सर्वसक्रम, नोसर्वसक्रम, उत्कृष्टसक्रम, अनुत्कृष्टसक्रम, जघन्य-सक्रम, अजघन्यसक्रम, सादिसक्रम, अनादिसक्रम, ध्रुवसक्रम, अध्रुवसक्रम, एक जीवकी अपेक्षा स्वामित्व, काल, अन्तर, नाना जीवोंकी अपेक्षा भंगविचय, काल, अन्तर, सन्निकर्ष, अल्पबहुत्व, भुजकार, पदनिक्षेप और वृद्धि अनुयोगद्वारा सूचित किये हैं। किन्तु विवेचन केवल स्थानसमुत्कीर्तन, काल अन्तर और अल्पबहुत्व-

का ही किया है। प्रकृतिसंक्रमकी तरह ही स्थितिसंक्रम, अनुभागसंक्रम, और प्रदेशसंक्रमका कथन किया है।

संक्रमके पश्चात् वेदक अधिकार है। इसमें आचार्य गुणधरने जो आशकासूत्र उपस्थित किये हैं उन सबका विवेचन चूर्णिसूत्र द्वारा किया गया है। वेदकके दो अनुयोगद्वारा है—उदय और उदीरणा। पहली गाथा प्रकृति-उदीरणा और प्रकृति-उदयसे सम्बद्ध है। आगेकी गाथाएँ उदीरणासे सम्बद्ध होनेसे चूर्णिसूत्रकारने उदीरणाका ही कथन विस्तारसे किया है। अनुयोगद्वारोका क्रम आवश्यकतानुसार परिवर्तनसे सर्वत्र चलता है।

आगे उपयोगाधिकारमें आशङ्कासूत्रोको स्पष्ट करते हुए प्रत्येक कपायका उपयोगकाल अन्तर्मुहूर्त कहा है अर्थात् क्रोध आदिकी ओर उपयोग अन्तर्मुहूर्त काल तक रहता है। गाथामें पूछा गया है कि किस कपायका उपयोग काल किस कपायके उपयोगकालसे अधिक है? इसके समाधानमें चूर्णिसूत्रकारने कहा है कि क्रोध कषायका काल मानकपायसे अधिक है। मायाकपायका काल क्रोध-कषायसे अधिक है। लोभकपायका काल मायाकषायसे अधिक है। यह कथन गतिको लेकर भी किया है। जैसे नरक गतिमें लोभकपायका काल सबसे कम है। देवगतिमें क्रोधका काल नरकगतिके लोभके कालसे अधिक है आदि। कपायोंके अध्ययनके लिये यह अधिकार बहुत उपयोगी है।

सम्यक्त्व-अधिकारमें चूर्णिसूत्रकारने अधकरण अपूर्वकरण, और अनिवृत्ति-करणका कथन किया है। इनके बिना सम्यक्त्वकी प्राप्ति नहीं होती। दर्शनमोह-क्षपणामें उसके प्रस्थापकका स्वरूप विस्तारसे कहा है। उसमें सम्यक्त्वप्रकृतिकी स्थितिकी सत्ताके सम्बन्धमें दो मतोंका भी निर्देश चूर्णिकारने किया है। कहा है कितने ही आचार्य कहते हैं कि उस समय (अर्थात् सम्यक्स्थित्यात्वके एक आवली प्रमाण स्थितिसत्त्व शेष रहने पर) सम्यक्त्वप्रकृतिकी स्थिति सख्यात हजार वर्ष शेष रहती है। किन्तु प्रवाह्यमान उपदेशसे आठ वर्ष प्रमाण शेष रहती है। अन्तिम दो अधिकारोंमें चारित्रमोहकी उपशमना और क्षपणाके सम्बन्धमें विपुल सामग्री भरी हुई है। लिखा है—वेदक सम्यग्दृष्टि जीव अनन्तनुबन्धी कषायका विसंयोजन किये बिना शेष कषायोंका उपशम करनेमें प्रवृत्त नहीं हो सकता। अनन्तानुबन्धीका विसंयोजन करने पर अन्तर्मुहूर्त काल तक अधःप्रवृत्त रहता है। फिर दर्शनमोहनीयका उपशम करके कषायोंका उपशम करनेके लिये अधःप्रवृत्तकरण करता है। चूर्णिसूत्रमें प्रश्न किया गया है कि उपशान्तकषाय वीतरागछद्मस्थ अवस्थित परिणामवाला होने पर भी क्यों गिरता है। उत्तर दिया है कि उपशमकालका क्षय हो जानेसे गिरता है। आगे उसका विस्तारसे कथन किया है।

२१४ . जैनसाहित्यका इतिहास

इसी तरह चारित्र्यमोहक्षपणा नामक अन्तिम अधिकारमें सर्वप्रथम उसके प्रस्थापकका कथन किया है । फिर उसकी विशेष क्रियाका कथन किया है । अन्तमें कृष्टिवेदकक्रियाका कथन है । पुन कृष्टिधपणक्रियाका कथन है ।

चूर्णिसूत्रोके अन्तमें उक्त पन्द्रह अर्थाधिकारोंसे अतिरिक्त एक पश्चिम स्कन्धाधिकार विशेष है । इसमें कहा है कि सयोगकेवली अन्तर्मुहूर्त आयु शेष रहने पर पहले आर्वाजित करण करते हैं, उसके बाद केवली समुद्धात करते हैं । इस तरह इसमें केवलीसमुद्धातका कथन है । केवलीसमुद्धातके अनन्तर सयोग-केवली सूक्ष्मक्रियाप्रतियाति ध्यानको करते हैं । फिर अयोगकेवली होकर समुच्छिन्नक्रियाअनिवृत्ति नामक चतुर्थ शुक्ल ध्यानको ध्याकर एक समयमें मुक्ति स्थान पहुच जाते हैं ।

नीचे हम चूर्णिसूत्रोकी सख्या अधिकारानुसार देते हैं—

अधिकारके क्रमसे चूर्णिसूत्रोकी सख्या

१	पेज्जदोसविहत्ती	११२
२	प्रकृतिविभक्ति	१३०
३	स्थितिविभक्ति	४०७
४	अनुभागविभक्ति	१८९
५	{ प्रदेशविभक्ति	२९२
	{ झीणाझीण	१४२
	{ स्थित्यन्तिक	१०६
६	{ बन्धक	११
	{ सक्रम	७४०
७	वेदक	६६८
८	उपयोग	३२१
९	चतुस्थान	२५
१०	व्यञ्जन	०
११	{ सम्यक्त्व	१४०
	{ दर्शनमोहक्षपणा	१२८
१२	सयमासयमलब्धि	९०
१३	सयमलब्धि	६६
१४	चारित्र्यमोहोपशमना	७०६
१५	चारित्र्यमोहक्षपणा	१५७२
	पश्चिमस्कन्ध	५२

तृतीय अध्याय

मूलागम-टीकासाहित्य

प्रथम परिच्छेद

धवला-टीका

कसायपाहुड और छक्खंडागम पर विशाल टीकाएँ लिखी गयी हैं। यह टीका-साहित्य अपने गुण और परिमाण दोनों ही दृष्टियोंसे इतना महत्त्वपूर्ण है कि इसे ग्रन्थोकी सजाएँ प्राप्त हैं। किसी भी विषयका टीका-साहित्य तब लिखा जाता है जब मूल ग्रन्थोका ज्ञान लुप्त होने लगता है और आगमकी वशवर्तिता अनिवार्य हो जाती है। दिगम्बर परम्परामें उक्त दोनों मूलागमोपर आचार्य कुन्दकुन्दसे ही टीकाएँ लिखी जाने लगी थी। शामकुण्ड, तुम्बूलराचार्य, वप्पदेव वीरसेन आदि अनेक आचार्योंने टीकाएँ लिखी।

इन्द्रनन्दिने^१ अपने श्रुतावतारमें लिखा है कि वप्पदेवके पश्चात् कुछ काल बीत जानेपर सिद्धान्तोके रहस्य ज्ञाता एलाचार्य हुए। ये चित्रकूटके निवासी थे। इनसे आचार्य वीरसेनने सकल सिद्धान्तका अध्ययन किया। तत्पश्चात् गुस्की अनुज्ञासे वाटकग्रामके आनतेन्द्र जिनालयमें षट्खण्डसे पहले व्याख्या-प्रज्ञप्तिको प्राप्त कर आगेके बन्धन आदि अठारह अधिकारोके द्वारा 'सत्कर्म' नामक छठे खण्डकी रचना की। और इसको पहलेके पाँच खण्डोंमें मिलाकर छह खण्ड किये।

धवला-टीका नामकरण

वीरसेनने पूर्वोक्त छह खण्डों पर बहत्तर हजार श्लोक प्रमाण सस्कृतमिश्रित प्राकृत-भाषामें 'धवला' नामक टीका लिखी। इस टीकाके नामकरणका कारण यह प्रतीत होता है कि अमोघवर्षकी उपाधि 'धवल' होनेके कारण इस टीकाका नाम उनकी स्मृतिमें रखा गया है। दूसरी बात यह है कि यह टीका अत्यन्त विशद और स्पष्ट है, इसी कारण इसे 'धवला' कहा गया ज्ञात होता है। तीसरी बात यह है कि यह टीका कार्तिक मासके धवल—शुक्ल पक्षकी त्रयोदशीको समाप्त हुई थी, अतएव सम्भव है कि इसी निमित्तसे उक्त नामकरण हुआ है।

महत्त्व

जयधवलकी अन्तिम प्रशस्तिमें वीरसेनके शिष्य जिनसेनने लिखा^१ है—
'टीका तो वीरसेनकृत है वाकी तो या तो पद्धति कहे जानेके योग्य है या पजिका कहे जानेके योग्य है' जिनसेनाचार्यका उक्त कथन कोरा श्रद्धा-भक्ति मूलक नहीं है किन्तु उसमें यथार्थता है। और उसका अनुभव सिद्धान्तके पारगामी ही नहीं साधारण ज्ञाता भी धवला और जयधवल टीकाके अवलोकनसे सरलता पूर्वक कर सकते हैं। इतनी बृहत्काय और शुद्ध सैद्धान्तिक चर्चाओंसे परिपूर्ण अन्य टीका जैन परम्परामें तो दूसरी है नहीं, भारतीय साहित्यमें भी नहीं है। फिर ये टीकाएँ तो प्राकृत-गद्यमें निबद्ध हैं, जिनके बीचमें कहीं-कहीं संस्कृत^२ की भी पुट है और वह ऐसी शोभित होती है जैसे मणियोंके मध्यमें मूंगे-के दाने।

जिनसेनके अनुसार सम्पूर्ण श्रुतकी व्याख्याको अथवा श्रुतकी सम्पूर्ण व्याख्याको टीका^३ कहते हैं। यह लक्षण वीरसेनकृत टीकाओंमें पूरी तरहसे घटित होता है। सम्भवतया वीरसेनकी टीकाको देखकर ही जिनसेनने टीकाका उक्त लक्षण बनाया जान पड़ता है। सचमुचमें धवला और जयधवल जैन सिद्धान्तकी चर्चाओंका आकर हैं। महाकर्मप्रकृतिप्राभत और कपायप्राभत सम्बन्धी जो ज्ञान वीरसेनको गुरुपरम्परासे तथा उपलब्ध साहित्यसे प्राप्त हो सका वह सब उन्होंने अपनी दोनों टीकाओंमें निबद्ध कर दिया है और इस तरहसे उनकी ये दोनों टीकाएँ एक प्रकारसे दृष्टिवादके अगभूत उक्त दोनों प्राभृतोका ही प्रतिनिधित्व करती हैं। वे मूल पट्खण्डागम तथा चूर्णिसूत्र सहित कसायपाहुडका ऐसा अंग बन गईं और उन्होंने उन्हें ऐसा आत्मसात् कर लिया कि उन्होंने अपना २ स्त्रीलिङ्गत्व छोड़कर सिद्धान्तका पुल्लिङ्गत्व स्वीकार कर लिया और पट्खण्डागम सिद्धान्त धवलसिद्धान्तके नामसे तथा कसायपाहुड सिद्धान्त जयधवलसिद्धान्त के नामसे ख्यात हो गया। और इन्हीं नामोंसे उनका उल्लेख किया जाने लगा। इतना ही नहीं, किन्तु जो धवलटीकाके साथ पट्खण्डागम सिद्धान्तका पारगामी होता था उसे सिद्धान्तचक्रवर्तीके पदसे भी भूषित किया जाने लगा। ऐसी महत्त्वपूर्ण ये दोनों वीरसेनीया टीकाएँ हैं।

१. 'टीका श्रीवीरसेनीया शेषा पद्धति पजिका ॥३९॥'—ज० ध० प्र०

२. 'प्रायः प्राकृतभारत धवचित्संस्कृतमिश्रया। मणिप्रवालन्यायेन प्रोक्तोऽय ग्रन्थ-विस्तर ॥३७॥' ज० ध० प्र०

३. 'कृत्स्नाकृत्स्नश्रुतव्याख्ये ते टीकापञ्जिके स्मृते ॥४०॥ ज० ध० प्र० ।

४. 'णउ बुज्झिउ आयमसद्धामु। सिद्धु धवलु जयधवलु णाम ॥—म० पु० प्रा० ।

प्रामाणिकता

इन टीकाग्रन्थोको इतना महत्त्व मिलनेका कारण वीरसेनका बहुश्रुत होना तो है ही, जिसका परिचय धवला तथा जयधवलाकी प्रत्येक पंक्तिसे मिलता है, साथ ही वीरसेनकी प्रामाणिकता भी उसका एक कारण है। वीरसेन स्वामीको जो कुछ प्राप्त हुआ उसे उन्होंने अपनी शैलीमें ज्यो-का-त्यो निबद्ध कर देना ही उचित समझा। जिन विषयो पर उन्हें दो प्रकारके मत मिले, उनपर उन्होंने दोनो परस्पर विरोधी मतोंको ज्यो-का-त्यो दे दिया और किसी एक पक्षमें अपना मत अथवा झुकाव व्यक्त नहीं किया। इस तरहके उदाहरण दोनो टीकाओमें बहुतायतसे मिलते हैं। यहाँ एक उदाहरण दे देना पर्याप्त होगा— उससे ग्रन्थकारकी निर्मलताके साथ-ही-साथ जैनपरम्पराको प्रामाणिक बनाये रखनेकी प्रकृति पर भी प्रकाश पड़ता है।

अनिवृत्तिकरण गुणस्थानवर्ती जीव सतकम्मपाहुडके अनुसार पहले सोलह कर्मप्रकृतियोंका क्षय करके तब आठ कपायोका क्षय करता है और कसाय-पाहुडके अनुसार पहले आठ कपायोको क्षय करके पश्चात् सोलहका क्षय करता है। इसके सम्बन्धमें वीरसेन स्वामीने जो लिखा है, सम्बद्ध सैद्धान्तिक चर्चाको छोड़कर उसका संक्षिप्त आशय यहाँ दिया जाता है—

“शङ्का—दोनो वचनोंमेंसे कोई एक वचन ही सूत्ररूप हो सकता है क्योंकि जिन अन्यथावादी नहीं होते। अतः उनके वचनोंमें विरोध नहीं होना चाहिये ?

समाधान—आपका कहना ठीक है किन्तु ये दोनो जिनेन्द्रके वचन न होकर उनके पश्चात् हुए आचार्योंके वचन हैं। इसलिये उनमें विरोध होना संभव है।

शका—तो फिर आचार्योंके द्वारा कहे गये सतकम्मपाहुड और कसायपाहुड सूत्र कैसे हुए ?

समाधान—तीर्थङ्करोके द्वारा अर्थरूपसे प्रतिपादित और गणधरोके द्वारा ग्रन्थरूपमें रचित बारह अंग आचार्यपरम्परासे निरन्तर चले आते थे। परन्तु कालके प्रभावसे बुद्धिके उत्तरोत्तर क्षीण होने पर और उन अंगोंको धारण करने वाले योग्य पात्रके अभावमें वे उत्तरोत्तर क्षीण होते गये। इसलिये आगे श्रेष्ठ बुद्धि वाले पुरुषोंका अभाव देखकर, अत्यन्त पापभीरु और गुरु-परम्परासे श्रुतार्थको ग्रहण करने वाले आचार्योंने तीर्थविच्छेदके भयसे अवशिष्ट वचे श्रुतको पोथियोंमें लिपिबद्ध किया, अतएव उनमें असूत्रपना होनेका विरोध है।

शका—यदि ऐसा है तो उक्त दोनो ही कथनोको द्वादशागका अवयव होनेसे सूत्रपना प्राप्त होता है ?

समाधान—उन दोनोमेंसे कोई एकको सूत्रपना भले ही प्राप्त हो, किन्तु दोनोको सूत्रपना नहीं प्राप्त हो सकता, क्योंकि उन दोनोमें परस्पर विरोध पाया जाता है ।

शका—तब सूत्रविरुद्ध लिखनेवाले आचार्यको पापभीरु कैसे कहा जा सकता है ?

समाधान—यह आपत्ति ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त दोनो कथनोमेंसे किसी एक ही कथनका सग्रह करनेपर पापभीरुता नहीं रहती । किन्तु उक्त दोनो कथनोका सग्रह करने वाले आचार्यके पापभीरुता नष्ट नहीं होती ।

शका—उक्त दोनो वचनोमेंसे कौन वचन सत्य है ?

समाधान—इस बातको तो केवली अथवा श्रुतकेवली ही जान सकते हैं, दूसरा कोई नहीं जान सकता । अतः उसका निर्णय न होनेसे वर्तमान कालके पाप भीरु आचार्यको दोनो ही वचनोका सग्रह करना चाहिये, अन्यथा पापभीरुताका विनाश हो जायगा ।

इस प्रकारके पापभीरु आचार्यके कथनमें अप्रामाणिकताकी अशका नहीं की जा सकती ।

व्याख्यान शैली

षट्खण्डागमके सूत्र अल्पाक्षर होने पर भी असन्दिग्ध हैं—पढ़ते ही शब्दार्थका बोध हो जाता है । किन्तु उनमें जो सार भरा हुआ है उसका तो आभास भी साधारण पाठकको नहीं हो पाता । अतः वीरसेनाचार्यने अपनी ध्वला टीकाके द्वारा सूत्रोके शब्दार्थको न कहकर उनमें भरे हुए सारको ही प्रकट किया है । किन्तु वह सार-उद्धाटन भी ऐसा है कि उससे सूत्रगत प्रत्येक शब्दकी स्थिति स्वतः स्पष्ट हो जाती है और यदि क्वचित् कदाचित् किसी सूत्रमें कोई शब्द भूलसे छूट गया हो तो विचारशील पाठकको यह प्रतिभास हुए बिना नहीं रहता कि अमुक शब्द यहाँ छूट गया है । इसका एक उदाहरण दे देना उचित होगा ।

ध्वलासहित षट्खण्डागमकी जो प्रतिलिपि मूडविद्रीसे बाहर गई उसमें जीवट्टाणके सत्प्ररूपणा अनुयोगद्वारके ९३ वें सूत्रमें 'सजद' शब्द लिखनेसे छूट गया । किन्तु वीरसेन स्वामीकी टीकाके अनुशीलनसे वह बराबर प्रकट होता है कि सूत्रमें 'सजद' शब्द छूटा हुआ है । बादको जब मूडविद्री

की ताडपत्रीय प्रतिसे मिलान करनेकी सुविधा प्राप्त हुई तो उसमें 'सजद' शब्द पाया गया ।

धवलाकी व्याख्यानशैलीपर प्रकाश डालनेकी दृष्टिसे यहाँ उस^१ तिरानवे सूत्रकी टीकाका अर्थ दिया जाता है । वह टीका सस्कृतमें है । यहाँ यह बतला देना उचित होगा कि यद्यपि धवलाटीका सरकृतमिश्रित प्राकृत-भाषामें निबद्ध है तथापि सत्प्ररूपणाके सूत्रोका व्याख्यानसस्कृतभाषा प्रधान है । अस्तु,

'सम्यक्मिथ्यादृष्टि, असयतसम्यग्दृष्टि, सयतासयत और सयत गुण-स्थानोमें मानुषी नियमसे पर्याप्तक होती है ॥९३॥ यह सूत्रार्थ है । इसकी टीकाका अर्थ इस प्रकार है—

शका—हुण्डावसर्पिणी कालमें सम्यग्दृष्टी जीव स्त्रियोमें क्या नहीं उत्पन्न होते ?

समाधान—नहीं उत्पन्न होते ।

शका—यह किस ऽमाणसे जाना ?

समाधान—इसी आपसे जाना ।

शका—इसी आपसे तो द्रव्यस्त्रियोका मोक्ष जाना भी सिद्ध हो जायेगा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि वस्त्रसहित होनेसे उनके सयतासयत गुणस्थान होता है अतएव उनके समय उत्पन्न नहीं होता ।

शका—वस्त्रसहित होते हुए भी उन द्रव्यस्त्रियोके भावसंयमके होनेमें कोई विरोध नहीं होना चाहिये ?

समाधान—उनके भावसंयम नहीं है, यदि उनके भावसंयम होता तो भावअसंयमके अविनाभावी वस्त्रादिका ग्रहण करना संभव नहीं था ।

शका—स्त्रियोमें चौदह गुणस्थान कैसे हो सकते हैं ?

१—'सामामिच्छाइट्टी—असजदसम्माइट्टिठ—सजदासजदद्वाणे णियमा पज्जत्तियाओ ॥९३॥

हुण्डावसर्पिण्या स्त्रीषु सम्यग्दृष्ट्य किन्नोत्पद्यन्ते इति चेत्, नोत्पद्यन्ते । कुतोऽवसीयते ? अस्मादेवार्पात् । अस्मादेवार्पात् द्रव्यस्त्रीणा निवृत्ति सिद्धयेदिति चेन्न, सवासत्त्वादप्रत्याख्यानगुणास्थिताना सयमानुपपत्तेः । भावसंयमस्तासा सवाससामप्य-विरुद्ध इति चेत्, न तासा भावसंयमोऽस्ति भावासंयमाविनाभावविरुद्धाद्युपादानान्यथानुपपत्तेः । कथं पुनस्तासु चतुर्दशगुणस्थानानीति चेन्न, भावस्त्रीविशिष्टमनुष्यगतौ तत्सत्त्वाविरोधात् । भाववेदो वादरक्षायान्नोपर्यस्तीति न तत्र चतुर्दशगुणस्थानाना सम्भव इति चेन्न, अत्र वेदस्य प्राधान्याभावात् । गतिस्तु प्रधाना न साराद् विनश्यति । वेदविशेषणाया गतौ न तानि संभवतीति चेन्न, विनष्टेऽपि विशेषणे उपचारेण तद्व्यपदेशमाधानमनुष्यगतौ तत्सत्त्वाविरोधात् । मनुष्यापर्याप्तेष्वपर्याप्तिप्रतिपक्षाभावत सुगमत्वान्न तत्र वक्तव्यमस्ति ॥

समाधान—भावस्त्री अर्थात् स्त्रीवेदके उदयसे युक्त मनुष्यगतिमें चौदह गुणस्थानोका सत्त्व माननेमें कोई विरोध नहीं है ।

शका—नौवें गुणस्थानके ऊपर भावभेद नहीं पाया जाता, अतः स्त्रीवेदके उदयसे युक्त मनुष्यगतिमें चौदह गुणस्थान संभव नहीं है ?

समाधान—यहाँ वेदकी प्रधानता नहीं है । गतिकी प्रधानता है और वह पहले नष्ट नहीं होती ।

शका—फिर भी वेदविशिष्ट गतिमें तो चौदह गुणस्थान संभव नहीं हुए ?

समाधान—वेदविशेषणके नष्ट हो जाने पर भी उपचारसे स्त्री पुरुष आदि सज्ञाको धारण करने वाली मनुष्यगतिमें चौदह गुणस्थानोके होनेमें कोई विरोध नहीं आता ।

उक्त चर्चा जैन सिद्धान्तकी मान्यताओंसे सम्बद्ध होनेके साथ-ही-साथ दिगम्बरत्व और श्वेताम्बरत्वके मूलकारण वस्त्र और स्त्रीमुक्ति सम्बन्धी विवादसे सम्बद्ध है । श्वेताम्बर सम्प्रदाय स्त्रीको मोक्ष मानता है, दिगम्बर सम्प्रदाय नहीं मानता है । किन्तु उक्त सूत्रमें मानुषीके चौदह गुणस्थान वतलाये हैं । इसीपरसे उसकी टीकामें उक्त विवादको स्थान दिया गया है । चौदह गुणस्थान होनेका मतलब ही मोक्षलाभ है क्योंकि चौदहवें गुणस्थानको प्राप्त करनेके पश्चात् ही मुक्तिलाभ होता है ।

इसीसे टीकामें शंका की गई है कि इसी आर्षसे द्रव्यस्त्रियोको भी मोक्ष सिद्ध हो जायेगा, क्योंकि मानुषीके चौदह गुणस्थान ९३ वें सूत्रमें वतलाये हैं । किन्तु गुणस्थानोकी तरह मार्गणाएं भी भावप्रधान हैं उनमें भी भावकी मुख्यता है । अतः मानुषीसे आशय उस मनुष्यसे है जिसके शरीरसे पुरुष होते हुए भी अन्तरगमें स्त्रीवेदका उदय है । उसे ही भावस्त्री कहते हैं और स्त्री-शरीरधारीको द्रव्यस्त्री कहते हैं । भावस्त्रीके ही चौदह गुणस्थान होते हैं, द्रव्यस्त्रीके नहीं ।

श्वेताम्बरीय शास्त्रोके अनुसार भी सम्यग्दृष्टि जीव मरकर स्त्रीपर्यायमें जन्म नहीं लेता । जैन कर्मसिद्धान्तका यह एक सर्वसम्मत नियम है । किन्तु बाइसवें तीर्थङ्कर मल्लिनाथको श्वेताम्बर परम्परामें स्त्री माना है । तीर्थङ्कर प्रकृतिका वन्ध सम्यग्दृष्टिके ही होता है तथा तीर्थङ्कर होने वाला जीव सम्यक्त्वके साथ ही जन्म लेता है । अतः इस सिद्धान्तके अनुसार कोई तीर्थङ्कर स्त्री नहीं हो सकता । किन्तु श्वेताम्बर परम्परामें ऐसा मान लिया गया और उसे हुण्डावसर्पिणी कालका दोष^१ माना है । उसीको लक्षमें रखकर वीरसेन स्वामीने

प्रारम्भमें ही यह शका उठाई है कि हुण्डावसर्पिणीमें स्त्रिय उत्पन्न नहीं होता ।

श्वेताम्बरीय^१ टीकाकारोने भी कर्मसिद्धान्तके उक्त अपनी उक्त मान्यताके साथ वैठानेके लिए उसमें अपवाद सम्यग्दृष्टि स्त्रीनपुंसकोमें उत्पन्न नहीं होता, यह बहुत कदाचित् हो भी जाता है । किन्तु पञ्चसग्रहकारने इस तथोक्त नहीं की । यह उल्लेखनीय है । अस्तु,

इस तरह श्री वीरसेन स्वामीने अपनी धवलाटीकामें प्रत्ये करते हुए उससे सम्बद्ध सैद्धान्तिक चर्चाओका उपपादन कर किया है और गूढ-से-गूढ विषयको सरलरूपसे स्पष्ट किया है

विषय-परिचय

यों तो पट्खण्डागमके विषय-परिचयसे धवलाका विषय जाता है क्योंकि वह उसकी टीका है तथापि सात हजार सूत्रों श्लोक प्रमाण टीकामें ऐसी भी बहुत-सी प्रासंगिक चर्चा ग्रन्थके विषय-परिचयमें आभास नहीं हो सकती । साथ ही जि का प्रारम्भ किया गया है उसका परिचय कराना भी उचित है

जिन, श्रुतदेवता, गणधरदेव, घरसेन, पुण्ड्रन्त और भूत करनेके पश्चात् प्रथम सूत्रकी उत्थानिकाके रूपमें वीरसेनने एक

मगल-णिमित्त-हेऊ परिमाण नाम तह य कत्त

वागरिय छप्पि पच्छा वक्खाणउ सत्यमाइ

इसमें कहा है कि मगल, निमित्त, हेतु, परिमाण, नाम वातोका व्याख्यान करनेके पश्चात् आचार्यको शास्त्रका चाहिये । इसे वीरसेनस्वामीने आचार्य परम्परासे आगत इसलिए सबसे प्रथम उक्त छै वातोका कथन अपनी धवला किया है । वीरसेन स्वामीसे पहले तिलोपपण्णत्ति^२में ही उक्त

१ 'मणुस्सेसु सम्मदिद्धी इत्थीनपु सगेसु न उववज्जइ त्ति प्राचुर्यवच भवति'-सि चू, पृ ४३ ।

^२ 'तियग् मनुष्येषु स्त्रीवेद-नप सकवेदिप मध्येऽविरतसम

सूत्रोंमें ही उस प्रकारका कथन है। उन्होंने जो गाथा उद्धृत की है वह दि० प्राकृत पञ्चसग्रहके जीवसमासनामक प्रथम प्रकरणकी दूसरी गाथा है। और जीवसमासप्रकरणमें बीसो प्ररूपणाओका कथन है। सम्भवतया उसीके अवलम्बनसे वीरसेन स्वामीने बीस प्ररूपणाओका विस्तारसे निरूपण किया है। यह विस्तार अवश्य ही उनकी प्रतिभाका चमत्कार हो सकता है।

जीवट्ठाणके द्रव्यप्रमाणनामक अनुयोगद्वारके व्याख्यानको आरम्भ करते हुए वीरसेन स्वामीने जो मंगलाचरण किया है उसमें 'द्वग्णिओग गणियसार' लिखकर द्रव्यानुयोगको गणितसार कहा है। चूँकि इस अनुयोगद्वारमें जीवोकी सख्याका वर्णन है अतः इसमें गणितकी प्रधानता है। स्व० डा० अवधेश नारायण-सिंहका एक अंग्रेजी निबन्ध षट्खण्डागमकी चतुर्थ पुस्तकके आदिमें प्रकाशित हुआ है और पाँचवी पुस्तककी आदिमें उसका हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हुआ है। उसमें गणितके उक्त अधिकारी विद्वान्ने लिखा है—

'वीरसेन तत्त्वज्ञानी और धार्मिक दिव्य पुरुष थे। वे वस्तुतः गणितज्ञ नहीं थे। अतः जो गणितशास्त्रीय सामग्री धवलाके अन्तर्गत है वह उनसे पूर्ववर्ती लेखकोंकी कृति कही जा सकती है और मुख्यतया पूर्वगत टीकाकारोंकी। जिनमेंसे पाँचका इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें उल्लेख किया है। ये टीकाकार कुन्द-कुन्द, शामकुन्द, तुंदलूर, समन्तभद्र और वप्पदेव थे, जिनमेंसे प्रथम लगभग सन् २०० के और अन्तिम सन् ६०० के लगभग हुये। अतः धवलाकी अधिकांश गणितशास्त्रीय सम्बन्धी सामग्री सन् २०० से ६०० तकके बीचके समयकी मानी जा सकती है। इस प्रकार भारतवर्षीय गणितशास्त्रके इतिहासकारोंके लिए धवला प्रथमश्रेणीका महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हो जाता है क्योंकि उसमें हमें भारतीय गणितशास्त्रके इतिहासके सबसे अधिक अन्धकारपूर्ण समय, अर्थात् पाचवी शताब्दीसे पूर्वकी बातें मिलती हैं। विशेष अध्ययनसे यह बात और भी पुष्ट होती है कि धवलाकी गणितशास्त्रीय सामग्री सन् ५०० से पूर्वकी है। उदाहरणार्थ, धवलामें वर्णित अनेक प्रक्रियाएँ किसी भी अन्य ज्ञात ग्रन्थमें नहीं पायी जाती तथा इसमें कुछ ऐसी स्थूलताका आभास भी है जिसकी झलक पश्चात्के भारतीय गणितशास्त्रसे परिचित विद्वानोंको सरलतासे मिल सकती है। धवलाके गणितभागमें वह परिपूर्णता और परिष्कार नहीं है जो आर्यभटीय और उसके पश्चात्के ग्रन्थोंमें है।'

विद्वान् लेखकने धवलान्तर्गत गणितशास्त्रके सम्बन्धमें अपने लेखमें विस्तारसे प्रकाश डाला है। अतः यहाँ उसकी विशेष चर्चा नहीं की है।

क्षेत्रप्रमाणका कथन करते हुए कहा है कि जगतश्रेणीके घनको लोक

कहते हैं और सात राजु प्रमाण आकाशके प्रदेशोकी लम्बाईको जगतश्रेणी कहते हैं। तथा तिर्यग्लोकके मध्यम विस्तारको राजू कहते हैं। इस पर यह शका की गई है कि तिर्यग्लोकका अन्त स्वयम्भुरमण समुद्रकी वेदिकासे उस ओर कितना स्थान जाकर होता है ? तो उत्तर दिया गया है कि असख्यात द्वीपो और समुद्रोके व्याससे जितने योजन रुके हुए हैं उनसे सख्यातगुणा जाकर तिर्यग्लोकका अन्त आता है और उसका समर्थन तिलोयपण्णत्तिसे किया गया है। यह भी स्पष्ट कर दिया है कि इस प्रकार अर्थ करनेसे परिक्रमसे भी विरोध नहीं आता है। तब पुन शका की गई है कि अन्य व्याख्यानोंसे तो विरोध आता है ? तो कह दिया कि वे सब व्याख्यानाभास है। उन्हें व्याख्यानाभास सिद्ध करके तथा अन्य एक-दो आपत्तियोंका निरसन करके अपने अर्थका समर्थन करनेके पश्चात् वीरसेनने लिखा है—‘यद्यपि यह अर्थ पूर्वाचार्योके सम्प्रदायके विरुद्ध है तथापि आगमके आधार पर और युक्तिके बलसे हमने उसका प्ररूपण किया है। इसलिये इस विषयमें यह इसी प्रकार है ऐसा आग्रह न करते हुए अन्य अभिप्रायका असग्रह नहीं करना चाहिये क्योंकि अतीन्द्रिय पदार्थोके विषयमें छद्मस्थ जीवोके द्वारा कल्पित युक्तियोंको निर्णायक नहीं माना जा सकता।

इसी तरह क्षेत्रानुगमद्वारमें लोकके आकारको लेकर वीरसेन स्वामीने अपने एक नये अभिप्रायका सयुक्ति स्थापन किया है। लोकका आकर अधो-भागमें वेत्रासन, मध्यमें झल्लरी और ऊर्ध्व भागमें मृदगके समान माना गया है। किन्तु धवलाकारने उसे स्वीकार नहीं किया, क्योंकि लोकको सात राजुका धन प्रमाण कहा है और ऐसा आकार माननेसे वह प्रमाण नहीं आता। इस बातको प्रमाणित करनेके लिये उन्होने अपने गणितज्ञानकी विविध और अश्रुतपूर्व प्रक्रियाओके द्वारा उक्त आकारवाले लोकका क्षेत्रफल निकाला है जो जगत-श्रेणीके धन ३४३ राजूसे बहुत कम बैठता है। अतः उन्होने लोकका आकार पूर्व पश्चिम दिशामें तो उक्त प्रकारसे घटता-बढ़ता हुआ माना है किन्तु उत्तर दक्षिण दिशामें सर्वत्र सात राजू ही माना है। इस तरह माननेसे-उसका क्षेत्रफल ३४३ राजू बैठ जाता है तथा दो दिशाओसे उसका आकार वेत्रासन, झल्लरी और मृदगके आकार भी दिखाई देता है।

उक्त लम्बी चर्चाका उपसंहार करते हुए उन्होने कहा है कि लोकका बाहुल्य सात राजू मानना करणानुयोगसूत्रके विरुद्ध नहीं है, क्योंकि उसकी न तो

१ ‘एसो अत्थो जइवि पुब्बाइरियसपदायविरुद्धो तो वि तत-जुत्तिवलेण अम्हेहिं परूविदो। तदो इदमित्थ वेत्ति गेहासगहो कायब्बो, अइदियत्थविसए छदुवत्थविंयप्पिदजुत्तीण णिण्णयहेउत्ताणुववत्तीदो।’

विधि है और न निषेध ही है। अतः लोकका ऐसा ही आकार मानना चाहिये।^१ स्पर्शानुगमद्वारमें सासादनसम्यग्दृष्टि जीवोका स्पर्शक्षेत्र बतलाते हुए प्रसंग-वश असंख्यात-द्वीप समुद्रोंके ऊपर फैले हुए ज्योतिष्क देवोका (चन्द्र और उसके परिवाररूप गृह, नक्षत्र आदिका) प्रमाण भी गणितशास्त्रके अनेक करणसूत्रोंके द्वारा निकाला गया है। कहावत प्रसिद्ध है कि तारोको कौन गिन सकता है ? उन्हीं तारोकी गणना गणितके अनुसार की गई है। (पृ १५०-१६०)

इसी प्रकरणमें द्वीपो और समुद्रोका क्षेत्रफल अनेक गणितसूत्रोंके द्वारा पृथक्-पृथक् और सम्मिलित रूपसे निकालनेकी प्रक्रियाएँ दी गई हैं और यह भी सिद्ध किया है कि इस मध्यलोकमें कितना भाग समुद्रोसे अवरुद्ध है। (भा० ४, पृ० १९४-२०३) इस तरह द्रव्यप्रमाणानुगम, क्षेत्रानुगम और स्पर्शानुगम अधिकार गणितशास्त्रकी दृष्टिसे भी महत्त्वके हैं।

इसी तरह कालानुगममें कालविषयक अनेको शकाओका अपूर्व समाधान किया गया है। जीवस्थानके शेष अनुयोगद्वारोंमें भी जैन सिद्धान्त विषयक अनेको चर्चाएँ चर्चित हैं। उन सबका संकेत करना भी यहाँ शक्य नहीं है। चूलिकाके सम्यक्त्वोपपत्ति चूलिका नामक अधिकारके सूत्र ११ में कहा है कि अढाई द्वीप समुद्रोंमें स्थित पन्द्रह कर्मभूमियोंमें जहाँ जिस कालमें जिन केवली और तीर्थङ्कर होते हैं वहाँ जीव दर्शनमोहनीय कर्मका क्षपण करता है। इस सूत्रकी व्याख्यामें वीरसेन स्वामीने कहा है यहाँ पर 'जिन' शब्दको दुबारा ग्रहण करके, जिन दर्शनमोहनीयकर्मका क्षपण करते हैं ऐसा कहना चाहिये, अन्यथा तीसरी पृथिवीसे निकले हुए कृष्ण आदिके तीर्थकरत्व नहीं बन सकता है, ऐसा किन्हीं आचार्योंका व्याख्यान है। इस व्याख्यानके अनुसार दुषमा, अति दुषमा सुषमा और सुषमा कालोमे उत्पन्न हुए जीवोंके दर्शन मोहनीयकी क्षपणा नहीं होती, शेष दोनों कालोंमें उत्पन्न हुए जीवोंके दर्शनमोहकी क्षपणा होती है। इसका कारण यह है कि एकेन्द्रिय पर्यायसे आकर तीसरे कालमें उत्पन्न हुए वर्द्धनकुमार आदिके दर्शनमोहकी क्षपणा देखी जाती है। यहाँ यह व्याख्यान प्रधानरूपसे ग्रहण करना चाहिये।

इसका यह मतलब हुआ कि जो उसी भवमें जिन या तीर्थङ्कर होनेवाले होते हैं वे तीर्थङ्करादिकी अनुपस्थितिमें तथा तीसरे कालमें भी दर्शनमोहका क्षपण करते हैं। यह अपवाद कथन धवलाके सिवाय अन्यत्र नहीं देखा जाता।

चूलिका का यह अधिकार व्याख्यानकी दृष्टिसे बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

१ पट्ख० पु० ४, पृ० १०-२२।

२ पट्ख० पु० ६, पृ० २४६-२४७।

इसके १६ वें सूत्रके व्याख्यानमें धवलाकारने कसायपाहुडचूर्णिसूत्रोके अनुसार सकलचारित्रकी प्राप्तिका कथन करते हुए औपशमिक चारित्रकी प्राप्तिके विधानमें-अनन्तानुबन्धी विसयोजना और दर्शनमोहनीयके उपशमका कथन, कषायोपशमनाका कथन, उपशान्तकषायके पतनका क्रम, फिर क्षायिक चारित्रकी प्राप्तिका विधान आदि कथन बहुत ही विशद रीतिसे किया है, जो अन्यत्र नहीं पाया जाता ।

कृति-अनुयोगद्वारके आदिमें भगलके निमित्तसे निमित्त, हेतु, परिमाण, कर्ता आदिका पुन विवेचन धवलाकारने किया है, जिसमें कर्ताके निमित्तसे भगवान् महावीर, उनके समवसरण आदिका वर्णन उल्लेखनीय है । उनमें भगवान् महावीरकी सर्वज्ञताको भी सिद्ध किया है ।

भगवान् महावीरकी आयु मोटे रूपसे बहत्तर वर्ष मानी जाती है तथा मोटे रूपसे ही नौ मास गर्भस्थकाल, तीस वर्ष कुमारकाल, १२ वर्ष छद्मस्थकाल (तपस्या काल), और ३० वर्ष केवलिकाल कहा जाता है । किन्तु धवलाकारने 'अण्णे के वि आइरिया' करके अन्य आचार्योंके मतसे उक्त कालका प्रतिपादन किया है । वह अन्य आचार्योंका मत गर्भमें आनेके दिनसे लेकर निर्वाण प्राप्त करनेके दिन तककी गणनाके आधार पर स्थापित है । उसे हम ठीक-ठीक कालगणना कह सकते हैं । उसके अनुसार भगवान्^१ महावीरकी आयु ७१ वर्ष ३ मास २५ दिन थी । उसका हिसाब इस प्रकार है—आसाढ शुक्ल षष्ठीके दिन भगवान् महावीर त्रिशलाके गर्भमें आये । और वहाँ नौ माह आठ दिन रहकर चैत्र शुक्ला त्रयोदशीके दिन उन्होंने जन्म लिया । चैत्र मासके दो दिन, वैसाखको आदि लेकर २८ वर्ष, पुन वैसाखसे लेकर कार्तिक पर्यन्त सात मास कुमाररूपसे बिताकर मगसिर कृष्णा दसमीके दिन उन्होंने प्रव्रज्या धारण की । अत २८ वर्ष ७ मास, १२ दिन पर्यन्त वह घरमें रहे । अब छद्मस्थकाल लीजिये—मगसिर कृष्णपक्षकी एकादशीसे लेकर मगसिरकी पूर्णिमा तक २० दिन, फिर पौष माससे लेकर बारह वर्ष, फिर उसी माससे लेकर चार मास, चू कि उन्हें वैसाख शुक्ला दशमीके दिन केवलज्ञानकी प्राप्ति हुई, अत वैसाखके पच्चीस दिन, इस तरह बारह वर्ष पाच मास, पन्द्रह दिन तक भगवान् महावीर छद्मस्थ रहे । अब केवली काल लीजिए—वैसाख शुक्ल पक्षकी एकादशीसे लेकर पूर्णिमा तक पाच दिन, फिर ज्येष्ठसे लेकर २९ वर्ष, फिर ज्येष्ठसे ही लेकर आसोज पर्यन्त पाच मास, फिर कार्तिक मासके कृष्ण पक्षके चौदह दिन बिताकर मुक्त हो गये । अमावस्याके दिन सब देवेन्दोने मिलकर निर्वाणपूजा की, इसलिये उस दिनको भी सम्मिलित

२२८ : जैनसाहित्यका इतिहास

कर लेनेपर १५ दिन होते हैं। अतः २९ वर्ष ५ मास, २० दिन तक भगवान् महावीर केवली रहे।

९ मास ८ दिन + २८ व० ७ मा० १२ दि० + १२ व०, ५ मा०, १५ दि० + २९ व० ५ मा०, २० दि० इस सब कालका जोड़ ७१ वर्ष, ३ मास, २५ दिन होता है। इतनी ही महावीर भगवान्की आयु बैठती है। किन्तु जब चौथे कालमें ७५ वर्ष ८ माह १५ दिन शेष थे तब भगवान् महावीर गर्भमें आये थे और उनके निर्वाणके पश्चात् तीन वर्ष, ८ माह, १५ दिन वीतनेपर श्रावण कृष्णा पड़वाके दिन पाचवें दुपमा कालका प्रवेश हुआ। इस हिसाबसे भगवान् महावीरकी आयु बहत्तर वर्ष ठहरती है। इस तरहसे दोनोंमें ८ माह ५ दिन का अन्तर पड़ता है।

इन दोनों उपदेशोंमेंसे कौन ठीक है? इस प्रश्नके उत्तरमें वीरसेन स्वामीने लिखा है—‘इस विषयमें एलाचार्यका वत्स्य (वीरसेन) अपनी जवान निकालना नहीं चाहता, क्योंकि न तो इस विषयमें कोई उपदेश प्राप्त है और न उक्त दोनों कथनोंमें ही कोई बाधा है किन्तु दोनोंमेंसे सत्य एक ही होना चाहिए।’ (पृ० ९, पृ० १२६)।

तिलोपपण्णत्ति (अ० ४) में भगवान् महावीरकी आयु ७२ वर्ष बतलाई है और गर्भ, जन्म, तप, केवलज्ञान और निर्वाणकी तिथिया उक्त प्रकारसे ही दी हैं। इसी तरह श्वेताम्बरी^१ आगमिक साहित्यमें भी आयु ७२ वर्ष और तिथिया उक्त ही हैं। केवल मोक्ष-दिवसमें एक दिनका अन्तर है। कार्तिक कृष्णा अमावस्याकी रात्रिमें मुक्ति बतलाई है। तथा महावीरके गर्भमें आनेका काल भी वही दिया है जो ऊपर धवलामें दिया है अर्थात् चतुर्थ कालमें ७५ वर्ष ८॥ माह शेष रहने पर महावीर भगवान् गर्भमें आये। अतः मोटी कालगणनामें और दिन मासकी काल गणनामें ८ मास ५ दिनका अन्तर रह जाता है।

वीरसेन स्वामीने अपनी जयध्वला^२ टीकाके आरम्भमें भी उक्त मतभेदकी चर्चा बिल्कुल इसी रूपमें की है।

अर्थकर्तके पश्चात् ग्रन्थकर्ताका कथन करते हुए धवलाकारने लिखा है— भगवान् महावीरकी वाणी तो बीजपदरूप होती है। जिसकी शब्दरचना संक्षिप्त हो, और जो अनन्त अर्थोंका ज्ञान करानेमें हेतुभूत अनेक चिन्होंसे सम्युक्त हो उसे बीजपद कहते हैं। इन बीजपदोंमें जो अर्थ निहित रहता है उसका प्ररूपण

१. ‘पचहत्तरिण वासेहि अद्धनवमेहि य मासेहि सेसेहि...’ति, पञ्चसप्ततिवर्षेषु सार्द्धाष्टमा-
साधिकेषु शेषेषु श्रीवीरवतार । द्वासप्ततिवर्षाणि च श्रीवीरस्यायु । श्रीवीर-
निर्वाणान्च त्रिभिर्वर्षैः सार्द्धाष्टमासैश्चतुर्थारकसमाप्ति ।—कल्पसूत्र सुबो० ।

२. क० पा०, भा० १, पृ० ७६-८२ ।

गणघर करते हैं। अतः वीजपदोके व्याख्याता होनेके कारण गणघर ग्रन्थकर्ता कहे जाते हैं।

गणघरका कथन करते हुए लिखा^१ है—‘वे अक्षर-अनक्षररूप सब भाषाओंमें कुशल होते हैं। समवसरणमें स्थित सब जनोको ‘यह हमारी भाषामें हमको समझाते हैं, इस प्रकार सबको विश्वासकारक होते हैं। और अपने मुखसे निकली हुई अनेक भाषाओंमेंसे जो श्रोता जिस भाषाका भाषी होता है उसके कान उसी भाषाका प्रवेश कराते तथा अन्य भाषाओंका निवारण करते हैं।’

किन्तु घवलाके^२ प्रारम्भमें वीरसेन स्वामीने भगवान् महावीरके अतिशयोका वर्णन करते हुए उनकी भाषाकी यह विशेषता बतलाई है कि एक योजन क्षेत्रमें बैठे हुए और अठारह महाभाषाओं तथा सात सौ लघुभाषाओंके भाषी प्राणियोंकी भाषाके रूपमें परिणत होनेवाली उनकी भाषा होती है। तिलोयपण्णत्ति^३ आदिमें भी ऐसा ही कहा है। किन्तु उक्त कथनमें इससे अन्तर प्रतीत होता है। उसमें कहा है कि भगवान्के द्वारा कहे गये वीजपदोको, जो अवश्य ही अनेक भाषा गर्भित होते हैं, गणघरदेव उपस्थित प्राणियोंको समझाते हैं और वे प्राणी उन्हें अपनी-अपनी भाषामें समझते हैं। अर्थात् गणघरकी भाषा भी भगवान्की भाषाकी तरह सर्वभाषात्मक होती है तथा गणघर जो जिस भाषाका भाषी है उसके कानमें वही भाषा जाने देते हैं। शेषको रोक देते हैं। गणघरकी इस विशेषताका समर्थन अन्यत्रसे नहीं होता। श्वे० साहित्यके समवायागमें^३ तीर्थङ्करके चौतीस अतिशयोमें एक अतिशय यह है कि भगवान् अर्द्धमागधी भाषाके द्वारा

१. सखितसद्वरयणमणतत्त्वावगमहेदुभूदानेगलिंगसगयं वीजपद णाम । तेसिमणेयाण वीजपदान् दुवालसगप्पयाणमट्ठारसत्तसयकुभाससरूवाण परूवओ अत्थकत्तारो णाम । वीजपदणिलीणत्थपरूवयाण दुवालसगाण कारओ गणहरभट्टारओ गथकत्तारो, अब्भुवगमादो । पट्ख. पु० ९, पृ० १२७ । ‘परोवदेसेण विणा अक्खराणक्खर-सरूवासेसभासाकुसलो समवसरणजणमेत्तरूवधारित्ताणेण अम्हम्हाण भासाहि अम्हम्हाण चेव कहदित्ति सव्वेसि पच्चउप्पाअओ, समवसरणजणसोदिदएसु सगमुहविणिगयाण्येय=भासाण सकरेण पवेसस्स विणिवारओ गणहरदेवो गथकत्तारो ।’—पृ० १२८ । २ पट्ख., पु० १, पृ० ६१ ।

२. अट्ठारसमहाभासा खुल्लयभासासयाइ सत्त तहा । अक्खर=अणक्खरप्पयसणीजीवाण सयलभासाओ ॥९०१॥ एदासु भासासु ताळवदतो ट्ठक्कठवावारे । परिहरिथ एवककाल भव्वजणे दिव्वभासित्त ॥९०२॥ । ति. प ४, । ‘एकतयोऽपि च सर्वनृभाषा सोन्तरनेष्ट-बहूश्च कुभाषा । अप्रतिपक्षिमपास्य च तत्त्व बोधयति स्म ‘जिनस्य महिम्ना ॥७०॥’ —म० पु १३ पर्व ।

३ ‘भगव च ण अद्धमागहीए भासाए धम्ममाइक्खइ । सा वि ण अद्धमागही भासा भासि-ज्जमाणी तेसि सव्वेसि आइरियमणाइरियाण दुपय-चउप्पय मिय-पसु-पक्खि-सरिसिवाणा अप्पप्पणो हियसिवसुहदाए भासत्ताए परिणमइ ।’ समव०, ३५ ।

धर्मका उपदेश देते हैं और वह अर्धमागधी भाषा समस्त आर्य-अनार्योंके दुपाये-चौपाये, मृग, पशु, पक्षी और सरीसृपोंके अपनी-अपनी भाषारूपसे परिणमन करती हैं। अर्थात् ये तीर्थङ्करका ही अतिणय हैं।

किन्तु^१ तीर्थङ्कर गणधरकी अपेक्षा थोड़ा ही कथन करते हैं उसका द्वादशागरूपमें विस्तार तो गणधर ही करते हैं। इसीसे गणधरके अभावमें भगवान् महावीरकी वाणी केवल ज्ञान होनेके पश्चात् ६६ दिन बाद खिरी। इसका कथन जयधवलके^२ प्रारम्भमें वीरसेन स्वामीने किया है।

ग्रन्थकर्ता गणधर तथा उत्तरोत्तरतत्रकर्ता आचार्योंका कथन करते हुए वीरसेनस्वामीने प्रकृत षट्खण्डागमकी उत्पत्तिका पुनः सक्षिप्त कथन किया है। फिर आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वक्तव्यता और अर्थाधिकारके भेदसे पाँच उपक्रमोंका कथन करके निक्षेप, नय आदिका कथन किया है, जैसा कि ग्रन्थके आदिमें कथन करनेकी आर्गमिक परम्परा रही है। इस सबके पश्चात् कृति-अनुयोगद्वाराका व्याख्यान आरम्भ होता है।

वेदना खण्डके^३ वेदनाकालविधानमें आयुकर्मकी उत्कृष्ट वेदना सूत्रकारने देवायु और नरकायुका उत्कृष्ट वध करनेवाले स्त्रीवेदी, पुरुषवेदी अथवा नपुंसकवेदी कर्मभूमिया पचेन्द्रिय सजी जीवके बतलाई हैं। उसका व्याख्यान करते हुए वीरसेन स्वामीने लिखा है कि यहाँ भाववेद लेना चाहिये। ऐसा न लेनेसे द्रव्यस्त्रीवेदके साथ भी नरकायुके उत्कृष्ट बन्धका प्रसंग आयेगा, किन्तु स्त्रियाँ छठे नरक तकका ही आयुबन्ध कर सकती हैं।^४

स्वेताम्बर परम्पराके अनुसार भी स्त्री यद्यपि मोक्ष जा सकती है किन्तु मरकर सातवें नरकमें उत्पन्न नहीं हो सकती।

वर्णाखण्डके कर्म-अनुयोगद्वारमें ईयापिथकर्म^५ और तपः कर्मका व्याख्यान करते हुए वीरसेन स्वामीने दोनोंके सम्बन्धमें बहुत अच्छा प्रकाश डाला है। तथा प्रयोगकर्म, समवदानकर्म, अध कर्म, ईयापिथकर्म, तप कर्म और क्रियाकर्म, इन छह कर्मोंका सत्, सख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व इन आठ अनुयोगोंके द्वारा ओष और आदेशोंसे कथन^६ किया है। उसमें बतलाया है कि देवों और नारकियोंमें प्रयोगकर्म, समवदानकर्म तथा क्रियाकर्म होते हैं।

१. 'जिणभण्डि चिचय सुत्त गणहरकरणम्मि को विसेसोत्थ ?'। सो तदविक्ष्व भासइ न उ वित्थरओ सुयं किंतु ॥१११८॥ 'स तीर्थङ्करस्तदपेक्ष गणधरप्रज्ञापेक्षमेव किञ्चिदल्प भाषते, न तु सर्वजनसाधारण विस्तरत समस्तमपि द्वादशाङ्गश्रुतम्, विशेषं भा'

२. क पा०, भा १, पृ० ७५।

३. षट्खं., पु. ११, पृ. ११४।

४. वही, पु. १३, पृ. ४८-८८।

५. वही, पु. १३, पृ. ९१-१९६।

तिर्यञ्चोमें ईर्यापथकर्म और तप कर्म नहीं होता, शेष चार कर्म होते हैं। मनुष्योंमें छहो कर्म होते हैं। इसका कारण यह है कि प्रयोगकर्म तेरहवें गुणस्थान तक सब जीवोके होता है क्योंकि यथासम्भव मन, वचन और कायकी प्रवृत्ति तेरहवें गुण-स्थान पर्यन्त सब जीवोके पाई जाती है। समवदानकर्म दसवें गुणस्थान तकके सब जीवोके होता है क्योंकि यहाँ तकके सब जीवोके किसीके आठ, किसीके सात और किसीके छ कर्मोंका निरन्तर बन्ध होता रहता है। अध कर्म केवल औदारिक शरीरके आलम्बनसे होता है इसलिये उसका सद्भाव मनुष्य और तिर्यञ्चोके होता है। ईर्यापथकर्म उपशान्तकपाय, क्षीणकपाय और सयोगकेवलीके होता है अतः वह भी मनुष्योंके ही सभव है। क्रियाकर्म चौथे अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानसे होता है इसलिए वह चारो गतियोंमें सम्भव है। तप कर्म छठे प्रमत्तसयत गुणस्थानसे होता है अतः यह भी मनुष्योंके ही सभव है। इस प्रकार काफ़ी प्रकाश डाला है।

इसी खण्डके प्रकृति^१ अनुयोगद्वारमें प्रसगवश शब्दकी गतिका वर्णन करते हुए दो-एक ऐसी बातें कही हैं जो अन्यत्र हमारे देखनेमें नहीं आईं। धवलाकारने लिखा है—‘शब्दपुद्गल अपने उत्पत्तिप्रदेशसे उछलकर दसो दिशाओंमें जाते हुए उत्कृष्टरूपसे लोकके अन्त भाग तक जाते हैं। यह बात सूत्रके अविरोध व्याख्याता आचार्यवचनोसे जानी जाती है। तथा सभी शब्द लोकपर्यंत नहीं जा पाते, थोड़े जा पाते हैं। धीरे-धीरे वे घटते जाते हैं। तथा सभी शब्द एक समयमें ही लोक पर्यन्त नहीं जाते हैं। कुछ शब्दपुद्गल दो समयसे लेकर अन्तर्मूर्त कालमें लोक पर्यन्त जाते हैं। शब्दोके इस प्रकार “गमनके तथा उनके “सुनाई देनेके समर्थनमें धवलाकारने दो प्राचीन गाथाएँ भी उद्धृत की हैं। दोनों ही गाथाएँ शब्दके सम्बन्धमें वर्तमान आविष्कारोकी दृष्टिसे अपना विशेष महत्त्व रखती हैं।

षट्खण्डागममें श्रुतज्ञानावरणीय कर्मकी उत्तनी ही प्रकृतियाँ बतलाई हैं जितने मूल अक्षर और उनके सयोगसे निष्पन्न अक्षरोका प्रमाण होता है। सयोगी अक्षरोका प्रमाण साधनेके लिये सूत्रकारने जो गणित-गाथा दी है उसका^२ व्याख्यान करते हुए धवलाकारने सत्ताईस स्वर, तेतीस व्यञ्जन और चार योगवाह

१ षट्ख. पृ. १३, पृ. २२२-२२४।

२. ‘पभवच्चुदस्म भागा वटठाण णियमसा अणता दु। पढमागासपदेसे विदियम्मि अणतगुणहीणा॥२॥’—वही, पृ. २२३।

३. ‘भासागदसमसेडिं सद जदि सुणादि मिस्सय सुणदि। उस्सेडिं पुण सद्द सुणेदि णियमा परावादे॥३॥’—पृ. २२४।

४. षट्. प. १३, पृ. २४९-२६९।

इन चौंराठ मूलवर्णोंके संगोगी अक्षरोंको निष्पन्न करके बतलाया है । तथा उनकी संख्या निकालनेके सम्बन्धमें कई गणित-गानाएँ उद्धृत की हैं ।

श्रुतज्ञानावरणके भेदोंके सम्बन्धमें श्रुतज्ञानके बीस भेदोंका निष्पन्न भी महत्त्वपूर्ण है । इसी तरह अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञानका कथन भी अपना महत्त्व रखा है ।

वर्णणाप्ररूपणा अनुयोगद्वारमें २३ वर्णणाओंका कथन भी महत्त्वपूर्ण है । वर्णणाओंके सम्बन्धमें इतना ठोस कथन अन्यत्र नहीं पाया जाता । उनमें भी प्रत्येकशरीरद्रव्यवर्णणा, वादरनिगोदद्रव्यवर्णणा, और सूक्ष्मनिगोदद्रव्यवर्णणा विशेष उल्लेखनीय है ।

वर्णणाद्रव्यगमुदाहारके चौदह अनुयोगद्वारोंमें सूत्रकारने केवल दो ही अनुयोगद्वारोंका कथन किया है । दोष वारहका कथन धवलाकारने किया है ।

इन तीसमें वर्णणाओंमें एक आहारवर्णणा भी है । औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीरके योग्य पुद्गलस्त्वोकी आहार द्रव्यवर्णणा सज्ञा है । इनी सण्डके ^३चूल्का नामक अधिहारमें सूत्रकारने आहारद्रव्यवर्णणाका उक्त लक्षण कहा है । उसका व्याख्यान करते हुए धवलाकारने लिखा है—आहारशरीरवर्णणाके भीतर कुछ वर्णणाएँ औदारिक शरीरके योग्य हैं, कुछ वर्णणाएँ वैक्रियिक-शरीरके योग्य हैं और कुछ वर्णणाएँ आहारक शरीरके योग्य हैं । इस प्रकार आहारशरीरवर्णणा तीन प्रकार की है । इस पर यह शका की गई कि यदि इन तीनों शरीरोंकी वर्णणाएँ अवगाहनाभेदसे और सत्त्वाभेदसे अलग-अलग हैं तो आहारद्रव्यवर्णणा एक ही क्यों कही ? इसका उत्तर धवलाकारने यह दिया है कि उन तीनोंके बीचमें अग्राह्यवर्णणाके द्वारा अन्तर नहीं है । अर्थात् जैसे आहार-वर्णणा और तेजोद्रव्यवर्णणा, तेजोद्रव्यवर्णणा और भापावर्णणा आदिके बीचमें अग्राह्यवर्णणाके द्वारा अन्तर है वैसे अन्तर औदारिकशरीरवर्णणा, वैक्रियिक शरीरवर्णणा और आहारकशरीरवर्णणाके बीचमें नहीं है इसलिए आहार द्रव्यवर्णणा एक ही है । कर्मप्रकृति, और कर्मचूर्णमें भी उक्त तीनों शरीरोंके प्रायोग्य वर्णणाओंके बीचमें अग्राह्यवर्णणा नहीं बतलाई है । किन्तु विशेषावश्यकमें बतलाई है । उसके पश्चात्से श्वेताम्बर परम्पराके पचसग्रह आदिमें तथा टीका-ग्रन्थों और चूर्णियोंमें विशेषावश्यकभाष्यकी परम्परा^४ प्रवर्तित देखी जाती है ।

१. पट्. पु. १३ पृ. २६१-२७९

२. पट्ख, पु. १४, पृ. ५४ १३४ ।

३. पट्ख, पु. १४, पृ. ५४७ ।

४. 'इह चूर्णिकृदादय औदारिकवैक्रियाहारकशरीरप्रायोग्याणां वर्णणानामपन्तरालेऽग्रहण-वर्णणा नेच्छन्ति परं जिनभद्रगणिक्षमश्रमणादिभिरिष्यन्त इति तन्मतेनोक्ता ।

प्रत्येकशरीरवर्गणा और वादरनिगोदवर्गणाके सम्बन्धमें कुछ मोटी बातें इस प्रकार हैं—

एक जीवके एक शरीरमें जो कर्म-नोकर्म स्कन्ध संचित होता है उसकी प्रत्येकशरीरवर्गणा सज्ञा है। यह प्रत्येकशरीर, पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, देव, नारकी आहारकशरीरवाले प्रमतसयत और केवलीजिनके होता है। इनको छोड़कर बाकी जितने ससारी जीव हैं उनका शरीर या तो निगोदजीवोसे प्रतिष्ठित होनेके कारण सप्रतिष्ठित प्रत्येकरूप होता है या स्वयं निगोद रूप होता है। हाँ, जो प्रत्येकवनस्पति निगोद रहित होती है वह इसका अपवाद है। यहाँ प्रश्न होता है कि जब मनुष्योका शरीर निगोदिया जीवोसे प्रतिष्ठित माना है तो आहारकशरीरी, सयोगकेवली और अयोगकेवली अवस्थामें मनुष्यका शरीर निगोदिया जीवोसे रहित कैसे हो जाता है ?

इसका समाधान करते हुए लिखा है कि जिस प्रमतसयत मुनिके आहारक शरीर उत्पन्न होता है उसका जो औदारिक शरीर है वह तो निगोदिया जीवोसे युक्त ही होता है किन्तु उसके जो आहारक शरीर उत्पन्न होता है उसमें निगोदिया जीव नहीं रहते। इसी प्रकार जब वह मनुष्य वारहवें गुणस्थानमें पहुँचता है तो उसके शरीरमें जो निगोदिया जीव रहते हैं उनका क्रमसे अभाव होता जाता है क्योंकि ध्यानसे निगोदिया जीवोकी उत्पत्ति और स्थितिके कारण हट जाते हैं। इसपर यहाँ शका की गई है कि जो व्यक्ति ध्यानके द्वारा अपने शरीरमें बसनेवाले निगोदिया जीवोका सहार कर डालता है वह मोक्ष कैसे प्राप्त करता है ? इस प्रसंगसे संक्षेपमें जैनो अहिंसाका स्वरूप धवलाकारने^१ बतलाया है। और प्रमाण रूपसे कुछ उद्धरण भी दिये हैं।

वादरनिगोदवर्गणाका व्याख्यान करते हुए धवलाकारने एक सेचीयवक्खाणाइरिय^२ प्ररूपित कथनका उल्लेख किया है। सेचीयव्याख्याचार्य कौन थे, यह जाना नहीं जा सका। शायद 'सेचीय' शब्द अशुद्ध हो।

इस तरह वर्गणाखण्डके अन्त भागमें वर्गणाओका व्याख्यान अनेक दृष्टियोंसे मौलिक है। और जो यहाँ है वह अन्यत्र नहीं।

सत्कर्मन्तर्गत शेष अट्ठारह अनुयोगोका परिचय—

यह हम पहले लिख आये हैं कि भूतबलि प्रणीत षट्खण्डागमका छठा खण्ड महावन्ध है। धवलाकारने उसपर कोई टीका नहीं लिखी। केवल आदिके पाच खण्डो पर ही धवला-टीका लिखी है। मगर षट्खण्डागम नामको सार्थक रखनेके

१. षट् पु. १४, पृ. ८९-९०।

२. ट्ठाणपरूवण सेचीयवक्खाणाइरियपरूविद वत्तइस्सामो—पृ. १०१।

लिये उन्होंने महाबन्धके स्थानमें एक सत्कर्म नामक छठा खण्ड रचकर शेष पाँच खण्डोंमें शामिल कर दिया । पट्खण्डागमके परिचयमें यह बतलाया है कि महा-कर्मप्रकृतिप्राभृतके चौबीस अनुयोगद्वारोंमेंसे आदिये छै अनुयोगद्वारोंको लेकर पट्खण्डागमकी रचना की गई है । अतः शेष अठारह अनुयोगद्वारोंका साधारण परिचय वीरसेनस्वामीने अपने इस सत्कर्म नामक खण्डमें किया है और उसका आधार वप्पदेवकृत व्याख्याप्रज्ञप्ति नामक छठा खण्ड था । इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें^१ ऐसा ही लिखा है ।

सत्कर्मका आरम्भ करते हुए वीरसेन स्वामीने लिखा है कि 'भूतबलि भट्टारकने यह सूत्र देशामर्गक रूपसे लिखा है, अतः इस सूत्रसे सूचित शेष अठारह अनियोग-द्वारोंका कुछ सक्षेपसे प्ररूपण करता हूँ । शेष अठारह अनुयोगद्वारोंके नाम इस प्रकार हैं—निबन्धन, प्रक्रम, उपक्रम, उदय, मोक्ष, सक्रम, लेश्या, लेश्याकर्म, लेश्यापरिणाम, सातासात, दीर्घह्रस्व, भवधारणीय, पुद्गलात्म, निधत्त-अनिधत्त, निकाचित, अनिकाचित, कर्मस्थिति, पश्चिम स्कन्ध और अल्पबहुत्व ।

७ निबन्धन—इस अनुयोगद्वारकी आवश्यकता बतलाते हुए लिखा है कि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके द्वारा कर्मोंका कथन किया जा चुका है और उनके कारणभूत मिथ्यात्व, असद्यम, कपाय और योगका भी कथन किया जा चुका है । अब उन कर्मोंका व्यापार बतलानेके लिये निबन्धन अनुयोगद्वार आया है ।

इसमें बतलाया है कि ज्ञानावरणकर्म सब द्रव्योंमें निबद्ध है क्योंकि उसका एक भेद केवलज्ञानावरण केवलज्ञानका विरोधी है और केवलज्ञान त्रिकालवर्ती अनन्त पर्यायोसे पूर्ण छै द्रव्योंको जानता है । किन्तु ज्ञानावरण सब पर्यायोंमें निबद्ध नहीं है क्योंकि ज्ञानावरणके भेद मतिज्ञानावरणादि सब द्रव्योंको नहीं जानते और न सब पर्यायोंको जानते हैं ।

दर्शनावरणकर्म आत्मामें ही निबद्ध है । यदि ऐसा नहीं माना जायगा तो दर्शन और ज्ञान एक हो जायेंगे । वेदनीयकर्म सुख व दुःखमें निबद्ध है । मोहनीय-कर्म आत्मामें निबद्ध है क्योंकि जीवके सम्यक्त्व और चारित्र्य गुणको घातना उसका स्वभाव है । आयुर्कर्म भवसे निबद्ध है क्योंकि भवधारण करना उसका लक्षण है । नामकर्मका विष्णुक पुद्गलनिबद्ध भी है, जीवनिबद्ध भी है और क्षेत्रनिबद्ध भी है । इसलिये वह तनसे निबद्ध है । गोत्रकर्म आत्मासे निबद्ध है और अन्तराय

१. श्रुत्वा तयोश्च पार्श्वे तमशेष वप्पदेवगुरु ॥१७३॥ अपनीय महाबन्ध पट्खण्डाच्छेष-पन्चखण्डे तु । व्याख्याप्रज्ञप्ति च पष्ठ खण्डं च ततः साक्षिष्य ॥१७४॥ पण्णां खण्डानामिति निष्पन्नाना । व्याख्याप्रज्ञप्तिमवाप्य पूर्वपट्खण्डतस्ततस्त-स्मिन् । उपरितमबन्धनाधिकारैरष्टादशविकल्पैः ॥१८०॥ सत्कर्मनामधेय पष्ठ खण्ड विधाय साक्षिष्य । इति पण्णां खण्डानां ग्रन्थसहस्रैर्द्विसप्तत्या ॥१८३॥—श्रुताव० ।

कर्म दानादिसे निबद्ध है। इसी प्रकार उत्तरप्रकृतियोंमें भी निबद्धताका विचार किया है।

अन्तमें वीरसेन स्वामीने लिखा है—‘इस अनियोगद्वारमें इतनी ही प्ररूपणा की गई है क्योंकि शेष अनन्त पदार्थ विषयक निबन्धनके उपदेशका अभाव है।’

८ प्रक्रम—यहाँ यह बतला देना उचित होगा कि प्रत्येक अनुयोगद्वारके आरम्भमें प्रथम निक्षेप-योजना की गई है। जैसे प्रक्रमके छ भेद किये हैं—नाम प्रक्रम, स्थापना प्रक्रम, द्रव्य प्रक्रम, क्षेत्र प्रक्रम, काल प्रक्रम और भाव प्रक्रम। फिर प्रत्येकका स्वरूप बतलाकर यह स्थिर किया है कि यहाँ कर्म प्रक्रमका प्रकरण है अतः वही लेना चाहिये। अतः यहाँ कार्मणपुद्गलप्रचयको प्रक्रम कहा है।

शकाकारने शका की है कि कर्मसे ही कर्मकी उत्पत्ति होती है अकर्मसे कर्म की उत्पत्ति नहीं हो सकती? धवलाकारने इसका विरोध करते हुए साख्यके सत्कारणवादका खण्डन किया है। और अन्तमें सप्तभगकी योजना की है। पश्चात् वस्तुको विनाशस्वभाव मानने वाले बौद्धका खण्डन करके वस्तुको उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक सिद्ध किया है। फिर मूर्त कर्मोंका अमूर्त जीवके साथ सम्बन्ध कैसे होता है, इसका समाधान करते हुए प्रक्रमके तीन भेद किये हैं—प्रकृति प्रक्रम स्थिति प्रक्रम और अनुभाग प्रक्रम। फिर उनका वर्णन किया है। अन्तमें अल्प-बहुत्वका कथन करके लिखा है, यह निक्षेपाचार्यका^१ उपदेश है।

९. उपक्रम—प्रक्रम और^२ उपक्रममें अन्तर बतलाते हुए लिखा है कि प्रक्रम अनुयोगद्वार प्रकृति, स्थिति और अनुभाग रूपसे बन्धको प्राप्त होनेवाले प्रदेशाग्नोका कथन करता है। परन्तु उपक्रम अनुयोगद्वार बन्ध होनेके द्वितीय समयसे लेकर सत्त्व रूपसे स्थित कर्मपुद्गलोके व्यापारका कथन करता है।

उपक्रमके चार भेद किये हैं—प्रकृतिबन्धनउपक्रम, स्थितिवन्धन-उपक्रम, अनुभागबन्धनउपक्रम और प्रदेशबन्धनउपक्रम। और लिखा^३ है कि ‘सतकम्मपयडिपाहुड’ में जैसा कथन किया है वैसा कर लेना चाहिए। इसपर

१. ‘एवमेत्थ अणियोगद्वारे णत्तिय चेव परूविद, सेसअणतत्थविसयउवदेसाभावादो।’

—पट्ख. पु. १५, पृ. १४।

२. ‘एसो णिक्खेवाइरियउवण्णसो—पु. १५, पृ. ४०।

३. ‘पक्कम उवक्कमाण को भेदो? पयडि टिठदि-अणुभागेसु ढुक्कमाणपदेसग्गपरूवण पक्कमो कुणइ, उवक्कमो पुण वध विदिय-समयहुडिसतसरूवण टिठदकम्मपोगगलाण वावार परूवेदि।’—पु. १५, पृ. ४२।

४. ‘एत्थ एदेसि च्चदुण्णमुवक्कमाण जहा सतकम्मपयडिपाहुडे परूविद तहा पारूवेयव्वं। जहा महावधि परूविद तहा परूवणा एत्थ किण्ण कीरदे? ण, तस्स पढमसमयवधम्मि चेव वावारादो’—पु. १५, पृ. ४३।

यह शका की गई कि महाबन्धमें जैसा कथन किया गया है वैसा कथन यहाँ क्यों नहीं करना चाहिए ? उसके समाधानमें कहा गया है कि महाबन्ध तो प्रथम समयमें होनेवाले बन्धमात्रका कथन करता है । उसका कथन करना यहाँ योग्य नहीं है । चूँकि उपक्रम बन्धनके प्रथम समयके पश्चात् सत्त्वरूपसे स्थित कर्मपुद्गलोमें होनेवाले व्यापारका कथन करता है । अतः यहाँ उदीरणा और उपशमका कथन किया है । उदयावलीको छोड़कर आगेकी स्थितियोंमें अवस्थित कर्मप्रदेशोको उदयावलीमें निक्षिप्त करनेको उदीरणा कहते हैं । इसका बहुत विस्तारसे कथन किया है ।

इसमें एक^१ बात उल्लेखनीय यह है कि क्षीणकषाय गुणस्थानमें निद्रा-प्रचला-का उदय न माननेवालोंके मतका निर्देश किया है । कर्मप्रकृतिकार^२ इसी मतको माननेवाले हैं ।

उदीरणाके पश्चात् उपशामनाका कथन है, जो यतिवृषभके चूर्णिसूत्रोकी अनुकृति है । लिखा^३ है—कर्म-उपशामनाके दो भेद हैं—करणोपशामना और अकरणोपशामना । अकरणोपशामनाके दो नाम हैं—अकरणोपशामना और अनुदीर्णोपशामना । कर्मप्रवादमें उसका विस्तारसे कथन किया है । करणो-पशामनाके भी दो भेद हैं—देशकरणोपशामना और सर्वकरणोपशामना । सर्व-करणोपशामनाके दो नाम और भी हैं—गुणोपशामना और प्रशस्तोपशामना । इस सर्वकरणोपशामनाकी प्ररूपणा 'कसायपाहुड' में करेंगे । देशकरणोपशामनाके अन्य भी दो नाम हैं—अगुणोपशामना और अप्रशस्तोपशामना । उसीका यहा प्रकरण है । अप्रशस्तोपशामनाके द्वारा जो प्रदेशाग्र उपशान्त होता है उसमें उत्कर्षण भी हो सकता है, अपकर्षण भी हो सकता है तथा अन्य प्रकृतिरूप सक्रमण भी हो सकता है किन्तु उसका उदय नहीं हो सकता । इस अप्रशस्त उपशामनाका कथन स्वामित्व, काल आदि अनुयोगोके द्वारा किया गया है ।

१० उदय—इस अनुयोगद्वारमें कर्मोंके उदयका कथन है । उदयके चार भेद किये हैं—प्रकृति उदय, स्थिति उदय, अनुभाग उदय और प्रदेश उदय । फिर प्रत्येकके मूल प्रकृति और उत्तर प्रकृतिकी अपेक्षा दो-दो भेद करके उनका कथन अनुयोगोके द्वारा किया है ।

११ मोक्ष—कर्मद्रव्यमोक्षके चार भेद किये हैं—प्रकृति मोक्ष, स्थिति

१. 'क्षीणकसायग्मि णिद्वापयलाणमुदीरणा णत्थि त्ति भणताणमभिप्पाण्ण' पु. १५, पृ. ११० ।

२. 'इ दिद्यपज्जत्तीए दुसमयपज्जत्तगाए [उ] पाउग्गा । णिद्वापयलाण खीणरागखवणे परिच्चज्ज ॥१८॥—क. प्र, अ ४ ।

३. पु. १५, पृ. २७५—२७६ ।

मोक्ष, अनुभाग मोक्ष और प्रदेश मोक्ष । प्रकृति मोक्षके दो भेद हैं—मूलप्रकृति मोक्ष और उत्तरप्रकृति मोक्ष । उनमें भी प्रत्येकके दो भेद हैं—देशमोक्ष और सर्वमोक्ष । किसी कर्मप्रकृतिका निर्जराको प्राप्त होना अथवा अन्य प्रकृतिरूपसे सक्रान्त होना प्रकृति मोक्ष है । इसका अन्तर्भाव प्रकृति उदय और प्रकृति सक्रममें होता है । अपकर्षणको प्राप्त हुई, उत्कर्षणको प्राप्त हुई, अन्य प्रकृतिमें सक्रान्त हुई और अध स्थितिके गलनेसे निर्जराको प्राप्त हुई स्थितिका नाम स्थितिमोक्ष है । इसी तरह अपकर्षणको प्राप्त हुए, उत्कर्षणको प्राप्त हुए, अन्य प्रकृतिमें सक्रान्त हुए अध स्थिति गलनसे निर्जराको प्राप्त हुए अनुभागको अनुभाग मोक्ष कहते हैं । अध स्थिति गलनके द्वारा प्रदेशोकी निर्जरा होनेको और प्रदेशोका अन्य प्रकृतियोंमें सक्रमण होनेको प्रदेश मोक्ष कहते हैं । जीव और कर्मका पृथक् हो जाना मोक्ष है । सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य ये मोक्षके कारण हैं । समस्त कर्मोंसे रहित, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य, चारित्र्य, सुख, सम्यक्त्व आदि गुणोंसे पूर्ण, निरामय, नित्य, निरजन और कृत कृत्य जीवको मुक्त कहते हैं । इनका कथन निक्षेप, नय, निरुक्ति और अनुयोगद्वारासे करना चाहिये ।

१२ सक्रम—इस अनुयोगद्वारमें कर्म सक्रमका कथन है । उसके चार भेद हैं—प्रकृति सक्रम, स्थिति सक्रम, अनुभाग सक्रम और प्रदेश सक्रम । एक प्रकृतिका अन्य प्रकृतिरूपमें सक्रमण होनेको प्रकृतिसक्रमण कहते हैं । यह सक्रम मूल-प्रकृतियोंमें नहीं होता । तथा बन्धके होने पर सक्रम होता है । बन्धके अभावमें सक्रम नहीं होता । इत्यादि रूपसे सक्रमका कथन विस्तारसे किया है क्योंकि कसायपाहुड और उसके चूर्णसूत्रोंमें सक्रमका विस्तृत वर्णन मिलता है ।

१३. लेश्या—इस अनियोगद्वारमें लेश्याका कथन है । लेश्याके मुख्य दो भेद हैं—द्रव्यलेश्या और भावलेश्या । चक्षुके द्वारा ग्रहण करने योग्य पुद्गल-स्कन्धोंके रूपको द्रव्यलेश्या कहते हैं । उसके छै भेद हैं—कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, शुक्ल । भ्रमर आदिके कृष्ण लेश्या है, नीम, केला, आदिके पत्तोंके नीललेश्या है । कबूतर आदिके कापोत लेश्या है । जपाकुसुम आदिकी पीतलेश्या है । कमल आदिके पद्म लेश्या है और हंस वगैरहके शुक्ल लेश्या है क्योंकि इनका रंग इसी प्रकारका होता है ।

मिथ्यात्व, असयम, और कषायसे अनुरक्त मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिको भावलेश्या कहते हैं । इसी लेश्याके कारण जीव कर्मपुद्गलोसे बद्ध होता है । उसके भी द्रव्यलेश्याकी तरह ही छै भेद हैं । इन्हींका सक्षिप्त कथन है ।

१४ लेश्या कर्म—इस अनियोगद्वारमें प्रत्येक लेश्यावाले जीवका कर्म-क्रिया

वतलाई है। यथा—कृष्णलेश्या वाला प्राणी निन्द्य, झगडालु, चोर, व्यभिचारी आदि होता है। नीललेश्या वाला विवेकरहित, बुद्धिहीन घमडी, मायाचारी आदि होता है। कापोतलेश्यावाला दूसरोका निन्दक, अपना प्रशंसक तथा कर्त्तव्य अकर्त्तव्यके ज्ञानसे रहित होता है। तेजोलेश्यावाला अहिंसक, सत्यभाषी, और स्वदारसन्तोषी होता है। पद्मलेश्यावाला तेजोलेश्यावालेसे और शुक्ललेश्यावाला पद्मलेश्यावालेसे भी अधिक सच्चा, अहिंसक और संयमी जीवन वाला होता है। यह भावलेश्याकी अपेक्षा जानना चाहिए।

१५ लेश्यापरिणाम—जीन लेश्या, कितनी वृद्धि अथवा हानिके द्वारा किस लेश्यारूप परिणमन करती है इसका कथन इस अनुयोगद्वारमें है। जैसे कृष्णलेश्यावाला जीव यदि और भी मक्लेशरूप परिणामोको करता है तो वह अन्यलेश्यारूप परिणमन न करके कृष्णलेश्यामें ही रहता है। इसी तरह शुक्ललेश्या वाला जीव यदि और भी अधिक विशुद्ध परिणामोको करता है तो वह शुक्ल लेश्यामें ही रहता है, अन्यरूप परिणमन नहीं करता। किन्तु मध्यकी चारलेश्या वाले जीव हानि या वृद्धिके होनेपर अन्य लेश्यारूप भी परिणमन कर सकते हैं। इन्हीं बातोंका कथन इस अनुयोगद्वारमें है। यह सब कथन भावलेश्याकी अपेक्षासे है।

१६. सातासात—सात और असातका कथन समुत्कीर्तना, अर्थपद, पदमीमासा, स्वामित्व और अल्पबहुत्व अनुयोगद्वारोंसे किया गया है। सात और असातके दो भेद किये हैं—एकान्तसात, अनेकान्त सात, एकान्त असात अनेकान्त असात। सातारूपसे बाधा गया जो कर्म सक्षेप और प्रतिक्षेपसे रहित होकर साता रूपसे वेदा जाता है उसे एकान्त सात कहते हैं। इससे विपरीत अनेकान्त सात है। इसी तरह जो कर्म असाता स्वरूपसे बाधा जाकर सक्षेप व प्रतिक्षेपसे रहित होकर असातरूपसे वेदा जाता है उसे एकान्त असात कहते हैं। इससे विपरीत अनेकान्त असात है। आगे इन्हींके स्वामित्व आदिका कथन किया है।

१७ दीर्घह्रस्व—इस अनुयोगद्वारमें दीर्घ और ह्रस्वका कथन करते हुए प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशकी अपेक्षा प्रत्येकके चार भेद किये हैं। यथा—प्रकृति दीर्घ, स्थिति दीर्घ, अनुभाग दीर्घ, प्रदेश दीर्घ। आठो प्रकृतियोंका बन्ध होनेपर प्रकृतिदीर्घ और उससे कमका बन्ध होनेपर नोप्रकृतिदीर्घ होता है। सत्त्वकी अपेक्षा, आठ प्रकृतियोंका सत्त्व होनेपर प्रकृतिदीर्घ और उससे कमका सत्त्व होनेपर नोप्रकृतिदीर्घ होता है। उदयकी अपेक्षा आठ प्रकृतियोंकी उदीर्णा होनेपर प्रकृतिदीर्घ और उससे कमकी उदीर्णा होनेपर नोप्रकृतिदीर्घ होता है। इसी तरह जिस-जिस कर्मकी जितनी उत्कृष्ट स्थिति है उसका बन्ध होनेपर स्थितिदीर्घ और उससे कम स्थितिका बन्ध होनेपर नोस्थितिदीर्घ है। इसी

तरह अनुभाग और प्रदेशमें भी जानना चाहिये । ह्रस्वमें उससे विपरीत समझना चाहिये । अर्थात् एक-एक प्रकृतिका बन्ध करनेवालेके प्रकृतिह्रस्व है और उससे अधिकका बन्ध करनेवालेके नोप्रकृतिह्रस्व है । इस प्रकार दीर्घ और ह्रस्वका कथन किया है ।

१८. भवधारणीय—भवके तीन भेद बतलाये हैं—ओष भव, आदेस भव और भवग्रहण भव । उनमेंसे इस अनुयोगद्वारमें भवग्रहण भवका कथन कुछ पक्तियोंमें किया है । भुज्यमान आयुको निर्जीण करके जिसके नवीन आयु कर्मका उदय हुआ है उस जीवके प्रथम समयमें होनेवाले परिणामको अथवा पुराने शरीर-को त्यागकर नया शरीर धारण करनेको भवग्रहण भव कहते हैं । भवका धारण केवल आयुकर्मके द्वारा होता है । अन्य कर्मोंका यह काम नहीं है ।

१९. पोगल अत्त—(पुद्गलात्त)—‘आत्त’ का अर्थ है ‘गृहीत’ । अत्त गृहीत पुद्गलको ‘पुद्गलात्त’ कहा है । वे पुद्गल छै प्रकारसे गृहीत किये जाते हैं—ग्रहणसे, परिणामसे, उपभोगसे आहारसे, ममत्वसे और परिग्रहसे । हाथ अथवा पैरसे जो पुद्गल ग्रहण किये जाते हैं वे ग्रहणसे आत्त पुद्गल है । मिथ्यात्व आदि परिणामोसे गृहीत पुद्गल परिणामसे आत्त पुद्गल है । उपभोग रूपसे अपनाये गये सुगन्ध, ताम्बूल आदि पुद्गल उपभोगसे आत्त पुद्गल है । खान-पान-के द्वारा अपनाये गये पुद्गल आहारसे आत्त पुद्गल है । अनुरागसे गृहीत पुद्गल ममत्वसे आत्त पुद्गल है । और आत्माधीन जो पुद्गल है वे परिग्रहसे आत्त पुद्गल है । यही इसमें कथन है ।

२० निधत्त-अनिधत्त—जो प्रदेशाग्र उदय, सक्रमके अयोग्य है किन्तु उत्कर्षण और अपकर्षणके योग्य होता है उसको निधत्त कहते हैं । शेषको अनिधत्त कहते हैं । कहाँ किस कर्मसे प्रदेशाग्र निधत्त और अनिधत्त है, इसका कथन कुछ पक्तियोंके द्वारा किया है ।

२१ निकाचित-अनिकाचित—जो प्रदेशाग्र उत्कर्षण, अपकर्षण, सक्रम और उदयके अयोग्य होता है उसे अनिकाचित और शेषको निकाचित कहते हैं । इसीका कथन इस अनुयोगद्वारमें कुछ पक्तियोंके द्वारा किया है ।

२२ कर्मस्थिति—इस अनुयोग द्वारमें कर्मस्थितिके लक्षणमें नागहस्ती और आर्यमक्षुका^१ मतभेद बतलाया है । नागहस्ती क्षमाश्रमणके मतसे जघन्य

१ कम्मट्ठिदि त्ति अणियोगद्धारम्हि भण्णमाणे वे उवदेसा होति—जहण्णुक्कस्सट्ठिठ्ठीण पमाणपरूवणा कम्मट्ठिठ्ठिपरूवणे त्ति णागहत्थिखमासमणा भणति । अज्जमखु-खमासमणा पुण कम्मट्ठिठ्ठिसंचिदसतकम्मपरूवणा कम्मट्ठिठ्ठिपरूवणे त्ति भणति । एव दोहि उवपेसेहि कम्मट्ठिठ्ठिपरूवणा कायव्वा । एव कम्मट्ठिठ्ठि त्ति समत—मणिभोगद्धार ।^२—पट्ख०, पु० १६, पृ० ५१८ ।

और उत्कृष्ट स्थितियोंके प्रमाणकी प्ररूपणाको कर्मस्थितिप्ररूपणा कहते हैं। और आर्यमक्षु क्षमाश्रमणका कहना है कि कर्मस्थित सचित सत्कर्मकी प्ररूपणाको कर्मस्थितिप्ररूपणा कहते हैं। वीरसेनस्वामीने दोनों ही मतोंसे कर्मस्थितिप्ररूपणा करनेकी सम्मति देकर ही अनुयोगद्वार समाप्त कर दिया है।

२३ पश्चिम भवस्कन्ध—इसके सम्बन्धमें वीरसेनस्वामीने इतना ही लिखा है कि जीवका जो अन्तिम भव है, उस अन्तिम भवमें उस जीवके सब कर्मोंकी वन्ध मार्गणा, उदय मार्गणा, उदीरणा मार्गणा, सक्रम मार्गणा और सत्कर्म मार्गणा ये पाच मार्गणाएँ पश्चिम स्कन्ध अनयोगद्वारमें की जाती हैं। इन पाच मार्गणाओंकी प्ररूपणा करनेके पश्चात् उस जीवके अन्य प्ररूपणा करनी चाहिये। अतः उन्होंने केवलिसमुद्धातका वर्णन करके पश्चात् मुक्तिप्राप्ति पर्यन्त क्रियाओंका साधारण-सा कथन किया है।

मोक्ष-अनुयोगके पश्चात् एक सक्रमका ही वर्णन विस्तारसे किया गया है। शेष अनुयोगद्वारोका तो बहुत ही साधारण-सा कथन किया है। सम्भवतया उनके सम्बन्धमें उस समय अधिक जानकारी प्राप्त नहीं थी।

२४ अल्पबहुत्व—इस अन्तिम अनुयोगद्वारका कथन कुछ विस्तारसे किया है, क्योंकि उसके सम्बन्धमें नागहस्ती और आर्यमक्षु दोनोंके उपदेश प्राप्त थे। अनुयोगद्वारका आरम्भ करने हुए वीरसेन स्वामीने लिखा है—‘नागहस्ती भट्टारक अल्पबहुत्व अनियोगद्वारमें सत्कर्मकी मार्गणा करते हैं। यह उपदेश ‘पवाइज्ज’ परम्परासे प्राप्त है।

उक्त सब अनुयोगद्वारोंमें अल्पबहुत्वका कथन करते हुए वीरसेनस्वामीने निकाचित-अनिकाचितमें महावाचक^१ क्षमाश्रमणके उपदेशका निर्देश किया है। यह महावाचक क्षमाश्रमण शायद आर्यमक्षु हो। कर्मस्थिति अनियोगद्वारमें महावाचक^२ आर्यनन्दिके द्वारा सत्कर्मका कथन करनेका निर्देश है, इनके सम्बन्धमें नागहस्तीपर प्रकाश डालते हुए विचार कर आये हैं।

पश्चिम स्कन्ध सम्बन्धी अल्पबहुत्वका कथन करते हुए लोकपूरण समुद्धातके पश्चात् केवली समुद्धातसे होनेवाले कार्यके सम्बन्धमें दो मत^३ दिये हैं। महावाचक

१. ‘महावाचयाण खमासमणण उवदेसेण।’—पु. १६, पृ. ५७७।

२. ‘कम्मट्ठित्ति अणियोगद्वारे एत्थ महावाचया अज्जणदिणो सत्कम्मं करेति। महावाचया ट्ठित्तसत्कम्म पयासति।’—पु. १६, पृ. ५७७।

३. ‘महावाचयाणमज्जमखुसमणणमुवदेसेण लोणे पुण्णे आउअसमं करेदि। महावाचयाणमज्जणदीण उवदेसेण अतोमुहुत्त ठवेदि सखेज्जगुणमाउआदो।’

आर्यमक्षु क्षमाश्रमणके उपदेशके अनुसार लोकपूरण समुद्धात होनेपर शेष कर्मोंकी स्थितिको आयुकर्मके समान करता है और महावाचक आर्यनन्दीके उपदेशसे अन्तर्मुहूर्त प्रमाण करता है जो आयुकर्मकी स्थितिसे संख्यातगुणी होती है । सर्वत्र आर्यमक्षुके मतके विरोधके रूपमें नागहस्तीका मत पाया जाता है । किन्तु यहाँ वीरसेन स्वामीने आर्यनन्दीका मत दिया है जो उल्लेखनीय है ।

अल्पबहुत्व अनुयोगद्वारके साथ ही छठा सत्कर्म खण्ड तथा धवला टीका समाप्त हो जाती है ।

वीरसेन स्वामी परिचय

धवलाकी अन्तिम प्रशस्तिमें वीरसेन स्वामीने अपना परिचय देते हुए लिखा है—

‘अज्जज्जणदिसिस्सेणुज्जुवकम्मस्स चदसेणस्स ।

तह णत्तुवेण पचत्थुहण्णयभाणुणा मुणिणा ॥४॥

सिद्ध त-छद-जोइस-वायरण-पमाणसत्थणिदुणेण ।

भट्टारण टीका लिहिएसा वीरसेणेण ॥५॥

अर्थात् आर्य आर्यनन्दीके शिष्य और चन्द्रसेनके प्रशिष्य, पञ्चस्तूपान्वयभानु, सिद्धान्त, छन्द, ज्योतिष, व्याकरण और प्रमाणशास्त्रमें निपुण मुनि वीरसेन भट्टारकने यह टीका लिखी ।

इससे स्पष्ट है कि उनके गुरुका नाम आर्यनन्दी था और दादा गुरुका नाम चन्द्रसेन था । सम्भवतया ये उनके दीक्षागुरु थे और वे पचस्तूप नामके अन्वय-में हुए थे ।

वीरसेन अपने समयके महान् आचार्य थे । उन्होंने जो अपनेको सिद्धान्त, छन्द, ज्योतिष, व्याकरण और प्रमाणशास्त्रमें निपुण लिखा है, उसका समर्थन धवला-जयधवला टीकाओंके अवलोकनसे भी होता है । जयधवलाकी अन्तिम प्रशस्तिमें उनके शिष्य जिनसेनने अपने गुरुका स्मरण करते हुए कहा है—
‘भट्टारक’ श्री वीरसेन विद्याओंके पारगामी थे और वे साक्षात् केवलीके तुल्य

१ ‘श्रीवीरसेन इत्यात्तभट्टारकपृथुप्रथ ।

पारदृशवाधिविद्याना साक्षादिव स केवली ॥१९॥

प्रीणितप्राणिसपत्तिराम्नान्ताशेषगोचरा ।

भारती भारतीवाज्ञा पट्खण्डे यस्य नास्खलत् ॥२०॥

यस्य नैसर्गिकी प्रज्ञा दृष्ट्वा सर्वार्थगामिनीम् ।

जाता सर्वज्ञमद्भावे निरारेका मनीषिण ॥२१॥

य प्राहु प्रस्फुरद्बोधदीधितिप्रसरोदयम् ।

श्रुतकेवलिन प्राज्ञा - प्रज्ञाश्रमणसत्तमम् ॥२२॥

थे। जैसे भारती—भरत चक्रवर्तीकी-आज्ञा भरत क्षेत्रके पट्खण्डोंमें कभी स्वलित नहीं हुई वैसे ही वीरसेनकी भारती पट्खण्डरूप आगममें कभी स्वलित नहीं हुई। उनकी सर्वार्थगामिनी नैसर्गिक प्रज्ञाको देखकर मनोपीजन सर्वज्ञके अस्तित्वमें सन्देह रहित हो गये। उन्हें पण्डितजन श्रुतकेवली और प्रज्ञाश्रमणोंमें श्रेष्ठ कहते थे। प्रसिद्ध सिद्धान्तरूपी समुद्रके जलसे प्रक्षालित होनेके कारण उनकी बुद्धि निर्मल हो गई थी और इसलिये वह बुद्धि-ब्रह्मिसे सम्पन्न प्रत्येकबुद्धिमे स्पर्धा करते थे। वह प्राचीन पुस्तकोंके तो मानो गुरु थे। उन्होंने प्राचीन पुस्तकोंका अध्ययन करके अपनेसे पहलेके सभी पुस्तकशिष्यकोको अतिक्रमण किया था।^१

केवली, श्रुतकेवली, प्रज्ञाश्रमण, प्रत्येकबुद्ध ये पद जैन परम्परामें ज्ञानकी दृष्टिसे अति उच्च माने गये हैं। वीरसेनको उनके समकक्ष बतलाना उनके महनीय व्यक्तित्व और सर्वोच्च ज्ञानगरिमाको प्रकट करता है।

इन्हीं जिनसेनने अपने महापुराणके प्रारम्भमें उन्हें वादिमुख्य, लोकवित्, कवि और वाग्मी बतलाया है। जिनसेनके शिष्य गुणभद्रने उन्हें समस्त वादियोंको व्रस्त करनेवाला कहा है तथा पुननाटसघीय जिनसेनने कवियोंका चक्रवर्ती कहा है। इन सब विशेषणोंसे तथा स्वयं वीरसेनकी टीकाओंके अवगाहनसे वीरसेनकी विद्वत्ता और सर्वतोमुखी प्रतिभाका यथोचित आभास मिल जाता है।

वीरसेनके गुरु • एलाचार्य

धवलाकी प्रशास्तिकी पहली गाथामें वीरसेनस्वामीने एलाचार्यका स्मरण करते हुए लिखा^१ है—‘जिसके आदेशसे मैंने यह सिद्धान्त लिखा वे एलाचार्य मुझ वीरसेन पर प्रसन्न हो। इसके सिवाय धवला और जयधवलामें वीरसेनने अपनेको एलाचार्यका^२ वत्स (वच्चा) भी लिखा है। जयधवलामें^३ एक स्थान

प्रसिद्धसिद्धसिद्धान्तवार्धिवाधार्थैतशुद्धधी ।

सार्धं प्रत्येकबुद्धैर्धैर्यं स्पर्धते धीर्बुद्धिभिः ॥२३॥

पुस्तकानां चिरन्तानां गुरुत्वमिह कुर्वता ।

येनातिशायिताः पूर्वं सर्वे पुस्तकशिष्यकाः ॥२४॥

यस्तपोदीप्तकिरणैर्भग्न्याम्भोजानि बोधयन् ।

व्यद्योतिष्ठ मुनिनेनः पञ्चस्तूपान्वयाम्बरे ॥२५॥

प्रशिष्यश्चन्द्रसेनस्य यः शिष्योऽप्यार्यनन्दिनाम् ।

कुल गण च सन्तानं स्वगुणैरुदजिज्वलत् ॥२६॥

—ज. ४. प्र.

१. ‘जस्साण्सेण मए सिद्धन्तमिदं हि अहिल्लुद । महु सो एलाहरियो पसियउ वरवीर-
सेणस्स ॥१॥’

२. ‘दोसु वि उवएसेसु को एत्थं समजसो, एत्थं वाहइ जिब्भमेलाहरियवच्छओ ।’

—पट्ख., पु. ९, पृ. १२६ । कसा. पा., भा. १, पृ. ८१ ।

३. ‘एदेण वयणेण सुत्तस्स देसामासियत्त जेण जाणाविद तेण चउण्ह गइण उच्चारणा-
वलेन एलाहरिय पसाण्ण य सेसकम्माण परूवणा कीरदे ।’—क. पा., भा. ४, पृ. १६९।

पर चूर्णिसूत्रका व्याख्यान करते हुए यह भी लिखा है कि चू कि यह सूत्र देशामर्षक है अतः उच्चारणके बलसे और एलाचार्यके प्रसादसे चारो गतियोंमें शेष कर्मोंकी प्ररूपणा करते हैं। इससे स्पष्ट है कि वीरसेनने सिद्धान्तग्रन्थोका अध्ययन एलाचार्यसे किया था और उन्हीके आदेशसे टीका-ग्रन्थोकी रचना की थी।

अतः एलाचार्य सिद्धान्तग्रन्थोके अपने समयके अधिकारी विद्वान् थे, यह बात उनके शिष्य वीरसेनके द्वारा रचित दोनो टीकाओके देखनेसे ही स्पष्ट हो जाती है।

कसायपाहुडका परिचय कराते हुए हम यह लिख आये हैं कि कसायपाहुड के अधिकारोको लेकर मतभेद था। गाथासख्या ५ की जयधवला-टीकामें 'के वि आइरिया' कहकर एक मतभेदकी चर्चा है। उन किन्ही आचार्योंके मतका निराकरण करके स्वकृत व्याख्यानका समर्थन करते हुए वीरसेनस्वामीने लिखा है—'अतः भट्टारक एलाचार्यके द्वारा उपदिष्ट पूर्वोक्त व्याख्यान ही यहा प्रधानरूपसे ग्रहण करना चाहिये। उपदिष्ट व्याख्यानसे आशय उस व्याख्यानसे है, जिसका उपदेश एलाचार्यने वीरसेनको दिया था। अतः यह स्पष्ट है कि एलाचार्य सिद्धान्तग्रन्थोके अधिकारी व्याख्याता थे। चू कि वीरसेनस्वामीने धवलाकी समाप्ति शक स० ७३८ (८१६ ई०) में की थी, अतः यह निश्चित है कि एलाचार्य ईसाकी ८ वीं शतीके उत्तरार्धमें विद्यमान थे। परन्तु उनकी गुरु-परम्पराके सम्बन्धमें कुछ ज्ञात नहीं होता।

वीरसेन स्वामीकी बहुज्ञता

जयधवलाकी प्रशस्तिमें जो वीरसेन स्वामीको प्राचीन पुस्तकोके अध्ययनका अनुपम प्रेमी होनेके कारण चिरन्तन पुस्तकशिष्यकोका गुरु और उनकी प्रज्ञाको सर्वार्थगमिनी कहा है वह उचित ही है। अपनी धवला और जयधवला टीकामें उन्होने जो अनेको ग्रन्थोके नाम तथा उद्धरण दिये हैं उससे ही उक्त दोनो बातोंकी पुष्टि हो जाती है। उद्धरणोका बहुभाग ऐसा है, खोजने पर भी जिसके मूल स्थानोका पता नहीं लग सका। उनमेंसे कुछ उद्धरण ऐसे भी हैं जो हरिभद्रसूरि^१ के अनेकान्तवादप्रवेशमें, बौद्धग्रन्थ तत्त्वोपप्लवमें^२ सिंहगणि^३ क्षमाश्रमणकृत नयचक्रवृत्तिमें तथा भगवती आराधनाकी विजयोदया टीकामें भी उद्धृत हैं। धवला-जयधवलामें निदिष्ट ग्रन्थो तथा जिन उद्धरणोके स्थलोका पता लग सका है उनके अनुसार वीरसेनस्वामीने नीचे लिखे ग्रन्थोका उपयोग अपनी टीकाओमें किया है ?

१ 'तदो पुव्वुत्तमेलाइरियमडारण उवइट्ठवक्खानमेव पहाणभावेण एत्थ वेतव्व ॥

—क पा, भा १, पृ १६२।

२ क. पा. भा. १, पृ. २५५।

३ क. पा. भा. १ पृ. २५६।

४. क पा. भा १ पृ २२७।

२४४ : जैनसाहित्यका इतिहास

१. सतकम्मपाहुड
२. गोनिप्राभत—धरमेनाचार्य विरचित ।
३. गुणधराचार्य विरचित—कसायपाहुड
४. भूतवली विरचित—जीवट्ठाण, सुद्धावन्ध, वन्धस्त्रामित्वविचय, वेदना, वर्गणा और महावन्ध ।
५. कुन्दकुन्दरचित—परिकर्म, प्रवचनसार, समयसार, पञ्चास्तिकाय, अष्टपाहुड ।
६. यतिवृषभरचित—चूर्णिसूत्र और तिलोपपणत्ति ।
७. उच्चारणाचार्यविरचित—उच्चारणावृत्ति ।
८. वट्टकेराचार्यरचित—मूलाचार ।
९. शिवार्यरचित—भगवती आराधना ।
१०. व्याख्याप्रज्ञप्ति
 १. गृद्धपिच्छाचार्यरचित—तत्त्वार्थसूत्र
 २. पिडिया (?)
 ३. समन्तभद्ररचित—आप्तमीमासा, बृहत्स्वयम्भू०, युक्त्यनुशासन,
 ४. सिद्धसेनरचित—सन्मत्तिसूत्र
 ५. पूज्यपादरचित—सारसग्रह ।
 ६. प्राकृत-पचसग्रह
 ७. अकलकदेवरचित—तत्त्वार्थभाष्य, सिद्धिविनिश्चय, लघुयस्त्रय
 १७. प्रभाचन्द्ररचित—कोई ग्रन्थ ।
 १८. धनजयकविकृत नाममाला कोश ।
 १९. वाप्पभट्टरचित—उच्चारणा ।
 २०. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, अगपणत्ति आदि

उक्त ग्रन्थोंमेंसे पिडिया तथा पूज्यपादकृत सारसंग्रहका कोई पता नहीं चल सका है । कुछ उद्धृत गाथाएँ नीचे लिखे श्वेताम्बरीय आगमिक साहित्यमें पाई गई हैं । अतः संभवतया इन ग्रन्थोंका भी उपयोग वीरसेन स्वामीने अपनी टीकाओंमें किया था । आधवश्यकनिर्युक्ति, आचारागनिर्युक्ति, अनुयोगद्वारसूत्र, दशवैकालिक, स्थानागसूत्र, नन्दिसूत्र, और ओघनिर्युक्ति ।

एक छेदसूत्रका भी उल्लेख है । लिखा है—द्रव्यस्त्री और नपुंसक वस्त्र त्याग नहीं कर सकते, छेदसूत्रसे विरोध आता है ।

१. 'ण च दब्बत्थीण णिग्गथत्तमत्थि, चेलादिपरिञ्चाएण विणा तासिं भावणिग्गत्ताभावादो ।
ण च दब्बत्थिणु'सयवेदाण चेलादिचागो अत्थि, छेदसुत्तेण सह विरोहादो'—पट्ख,
पु. ११, ११४-११५ ।

अन्य दर्शनोके ग्रन्थोंमेंसे वीदकवि अश्वघोषके सीदरानन्दकाव्य, धर्मकीर्तिके प्रमाणवार्तिक, ईश्वरकृष्णकी साख्यकारिका और कुमरिलभट्टके मीमांसाश्लोक-वार्तिकसे भी एक दो उद्धरण दिये गये हैं ।

जयधवलामें^१ पाहुडशब्दकी व्युत्पत्तिके प्रसंगसे कई प्राकृत गाथाएँ उद्धृत की हैं जो प्राकृतव्याकरणके नियमोंसे सम्बद्ध हैं । उसपरसे ऐसा अनुमान होता है कि सम्भवतया प्राकृतभाषाका कोई गाथावद्ध व्याकरण भी था । धवला और जयधवलाके प्रथम भागमें भगवान् महावीरके जीवनसे सम्बद्ध अनेक प्राकृत गाथाएँ उद्धृत की हैं जिनपरसे अनुमान होता है कि प्राकृतगाथाओंमें भगवान् महावीरका कोई सुन्दर चरित-ग्रन्थ अवश्य था ।

समय-विमर्श

वीरसेनस्वामीने अपनी धवला-टीकाके अन्तमें उसकी समाप्तिका काल दिया है । किन्तु गाथाओंके अशुद्ध होनेसे उनमें दिये हुए कालके सम्बन्धमें विवाद है । अतः उसे छोड़कर जयधवलाकी अन्तिम प्रशस्तिमें दिये गये कालको लेना उचित होगा । उसमें बतलाया है^२ कि कसायपाहुडकी टीका जयधवला श्रीमान् गुर्जरार्यके द्वारा पालित वाटकग्रामपुरमें राजा अमोघवर्षके राज्यकालमें फाल्गुन शुक्ल दशमीके पूर्वार्द्धमें, जबकि नन्दीश्वर महोत्सव मनाया जा रहा था, शक-राजाके सात सौ उनसठ वर्ष (७५९) बीतने पर समाप्त हुई । इससे स्पष्ट है कि शकसंवत् ७५९, विक्रम संवत् ८९४ और ईस्वी सन् ८३७ के फाल्गुन मासकी सुदी दशमीको जयधवला समाप्त हुई थी ।

वीरसेन स्वामीने जयधवलाका केवल पूर्वार्ध ही रचा था, यह बात जयधवलाकी प्रशस्तिसे^३ प्रकट होती है । उसमें जिनसेनने लिखा है कि गुरुके द्वारा निर्मित पूर्वभागको देखकर मैंने उत्तर भागको रचा । यदि वीरसेन जीवित होते तो ऐसा प्रसंग उपस्थित न होता । इसके सिवाय प्रशस्तिमें वीरसेनके लिए

१ क. पा., भा. १, पृ. ३२६-३०७

२ इति श्रीवीरसेनीया टीका सत्रार्थदर्शनी ।

वाटकग्रामपुरे श्रीमद्गुर्जरार्यानुपलिते ॥ ६ ॥

फाल्गुने मासि पूर्वार्द्धे दशम्या शुक्लपक्षके ।

प्रवर्धमानपूजोरुनन्दीश्वरमहोत्सवे ॥ ७ ॥

अमोघवर्षराजेन्द्रराज्यप्राज्यगुणोदय ।

निष्ठिता प्रचर्य यायादाकल्पान्तमनल्पिका ॥ ८ ॥

एकोन्नपण्डिसमधिकसप्तशताब्देपु शकनरेन्द्रस्य ।

समतीतेषु समाप्ता जयधवला प्राभूतव्याख्या ॥ ११ ॥

३. गुरुणार्थेऽग्रिमे भूरिवक्तव्ये सप्रकाशिते ।

तन्निरीक्ष्याल्पवक्तव्य. पश्चार्धस्तेन पूरित. ॥ ३६ ॥

‘आनीत’ एतत्तु नो विद्यायाः प्रयोगविद्यायाम् । एतन्मन्त्रस्तु विवेक-
तः । मन्त्रस्य चोक्तिरिति श्रुतिः ।

[illegible]

אין די פארגאנגענע צייטן איז ער געווען א גרויסער
האנדלסמאן און א גרויסער געלט-האנדלסמאן.

'दृ-सिमर्दि' मागिय विवाहमार्गम् एषु मन्त्रयो ।
 पति मुनेनाए भावविष्णवे पतिमार्गे ॥ ६ ॥
 दत्तमुनेनाए विवाह मुनेनाए राहणा गोणे ।
 मूने मुनेनाए मन्त्र मुनेनाए कुम्भविष्णवे हस्ते ॥ ७ ॥
 पतिमर्दि वर्गणपुत्रे विवा मुनेनाए मन्त्रिनामि ।
 कतिपयमागे एषा टीका ह मन्त्रिनामि भवता ॥ ८ ॥
 गोदण्डरायणादे णन्दिन्नामिनामि भुजते ।
 गिद्धतर्गमन्त्रिय मुनेनामण विगता सा ॥ ९ ॥

उक्त प्रगतिशील पहली पवित्र, जिसमें भवन्ताकी ममाप्तिका समय दिया हुआ है, वित्तुल गटवट है। आगेकी परिणामोंमें जो ममाप्तिकालका सूचक ग्रहयोग दिया गया है वह भी अगुद है। फिर भी प्रो० हीरालालजीने^१ काल-गणनाके आधारपर उमकी शुद्धि करके नीचे लिखे अनुसार शुद्ध पाठ स्थापित किया था—

अठ्ठीसम्हि मत्तमए त्रिकमरायकिए सुसगणामे ।
 वासे सुतेरसीए भाणुविलग्गे धवलपगरो ॥ ६ ॥
 जगतु गदेवरज्जे रियम्हि कुंभम्हि राहुणा कोणे ।
 सूरे तुलाए सते गुरुम्हि कुलविल्लए होते ॥ ७ ॥
 चावम्हि तरणिपुत्ते सिंघे सुवकम्मि मीणे चदम्मि ।
 कत्तियमासे एसा टीका हु समाणिआ धवला ॥ ८ ॥

और तदनुसार धवलाकी समाप्तिका काल शक सम्वत् ७३८ निर्धारित किया था। इस पर डा० ज्योतिप्रसाद जैनने आपत्ति की। वास्तवमें 'पासे'का 'वासे', 'भाव'का भाणु, 'वरणिपुत्ते'का तरणिपुत्ते और 'मैद्धिचदम्मि'का 'मीणे चंदम्मि' सुधार तो सम्भव प्रतीत होता है किन्तु 'सासिय'का 'सतसए' और 'विक्रमरायम्हि एसु सगरमो'का 'विक्रमरायकिए सुसगणामे' सुधार कष्टसाध्य ही प्रतीत होता है। गाथा छँके मूल पाठसे इतना तो स्पष्ट है कि सवत् विक्रम-राजाके नामसे सम्वद्ध है और उसके अकोमें एक अक ३८ है। विक्रमराजाके नामसे सम्वद्ध सम्वत् तो विक्रम सम्वत् है ही। किन्तु जैनपरम्परामें शक सम्वत्का उल्लेख भी विक्रमाक शकके नामसे मिलता है। जैसे त्रिलोकसारकी टीकामें टीका-कार माधवचंद त्रैविद्यने लिखा है—'श्रीवीरनाथनिवृत्ते. सकाशात् पचोत्तर-षट्शतवर्षाणि (६०५) पचमासयुतानि गत्वा पश्चात् विक्रमाकशकराजो जायते'। अर्थात् वीरनिर्वाणसे ६०५ वर्ष ५ मास पश्चात् विक्रमाक शक राजा हुआ।

यहाँ पर विक्रमाकशकसे तात्पर्य स्पष्ट रूपसे शक सम्वत्के सस्थापकसे है, क्योंकि त्रिलोकसारकी जिस 'गाथा ८५० की यह टीका है उसमें शकका ही निर्देश है। तथा वीरसेन^२ स्वामीने भी अपनी धवला टीकामें वीर निर्वाण और शक राजाके मध्यमें ६०५ वर्ष पाच मासका अन्तर बतलाया है। यद्यपि उन्होंने इस विषयमें अन्य आचार्योंके मत भी दिये हैं किन्तु उनका अपना मत यही था।

अकलकचरित्र^३में अकलकके बौद्धोंके साथ शास्त्रार्थका समय विक्रमार्क शक सम्वत् ७०० दिया है। यहा ग्रन्थकारने विक्रमार्क शक नामसे विक्रम सम्वत्का उल्लेख किया है, या शक सम्वत्का, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। तथापि इतना निश्चित प्रतीत होता है कि यह शक सम्वत् ७०० नहीं हो सकता, क्योंकि शक सम्वत् ७०५ में रचे गये हरिवंशपुराणमें वीरसेन और जिनसेनको स्मरण किया गया है और वीरसेनने अपनी धवलाके आरम्भमें ही अकलकदेवके तत्त्वार्थवातिकसे बहुतसे उद्धरण दिये हैं। तथा अकलकका उल्लेख करनेवाले धनजय कविके कोश^४से भी धवला^५में उद्धरण दिया गया है। अस्तु,

१. 'पणलस्सयवस्स पणमासजुद गमिय वीरणिब्बुद्धो सगराजो'

२. 'एसो वीरजिणिदणिव्वाणगददिवसादो जाव सगकालस्स आदी होदि तावदियकालो। कुदो ? (६०५) एदम्हि काले सगणरिदकालम्मि पक्खित्ते वड्ढमाणजिणणिब्बुदकाला-गमणादो।'—पट्खंत० पृ ९, पृ. १३०।

३. 'विक्रमार्कशकाब्दीयशतसप्तप्रमाजुषि। कालेऽकलकयतिनो बौद्धैर्वादो महानभूत ॥' अक० च०।

४. 'प्रमाणमकलङ्कस्य पूज्यपादस्य लक्षण।' ध० ना० मा० श्लो० २६३।

५. पट्ख०, पृ ९, पृ २३७।

ऐसी स्थितिमें यह विचारणीय हो जाता है कि वीरसेन स्वामीने धवलाकी उक्त प्रशस्तिमें यदि विक्रमाक शकका ही उल्लेख किया है तो विक्रम सम्बत्के अर्थमें किया है या शक सम्बत्के अर्थमें ? और ३८ के अकमे पहले कौन-सा अक होना सम्भव है ?

प्रथम विचारणीय विषयके सम्बन्धमें प्रो० हीरालालजीका कहना है कि 'वीरसेनस्वामीने जहाँ-जहाँ वीरनिर्वाणकी कालगणना दी है वहाँ शककालका ही उल्लेख किया है। उनके शिष्य जिनसेनने जयधवलाकी समाप्तिका काल शकगणनानुसार ही सूचित किया है। दक्षिणके प्रायः समस्त जैन लेखकोने शक-कालका ही उल्लेख किया है। ऐसी अवस्थामें आश्चर्य नहीं जो यहाँ भी लेखकका अभिप्राय शककालसे हो'।

प्रोफेसर साहवका कथन उचित है। किन्तु वीरसेनने जहाँ कही शकका निर्देश किया है, उसके साथ विक्रमाक विशेषणका कहीं भी प्रयोग नहीं किया। यदि वह या उनके शिष्य जिनसेन शकके साथ एकाध जगह भी विक्रमाक विशेषणका प्रयोग करते तो प्रोफेसर साहवकी उक्त युक्तियाँ बलवती होती। ऐसी स्थितिमें प्रशस्तिके छठे श्लोकमें आगत विक्रमराय शब्द विचारणीय हो जाता है।

दूसरे विचारणीय विषयके सम्बन्धमें प्रोफेसर साहवका कथन है कि—'गाथा^१ में 'शत' सूचक शब्द गड़बड़ीमें है। किन्तु जान पड़ता है लेखकका तात्पर्य कुछ सौ ३८ वर्ष विक्रम सम्बत्के कहनेका है। किन्तु विक्रम संवत्के अनुसार जगतुग का राज्य ८५१ से ८७० के लगभग आता है। अतः उसके अनुसार ३८ के अक की कुछ सार्थकता नहीं बैठती। X X X यदि हम उक्त सख्या ३८ के साथ सात सौ और मिला दें और ७३८ शक सम्बत्को लें तो यह काल जगतुगके ज्ञातकाल अर्थात् शक सम्बत् ७३५ के बहुत समीप आ जाता है'।

इस तरह जहाँ डा० हीरालालजी धवलामें प्रयुक्त सम्बत्को शक सम्बत् मानकर ३८ से पहले सात अक रखना उचित समझते हैं, वहाँ डा० ज्योति-प्रसादजी उसे विक्रम सम्बत् मानकर ३८ से पहले ८ का अक रखना उचित समझते हैं। अर्थात् उनके मतसे धवलाकी समाप्ति वि० स० ८३८ में (शक स. ७०३) में हुई।

ऐसी स्थितिमें इन दोनों कालों पर अब दूसरे प्रकारसे विचार करना उचित होगा। धवलाकी प्रशस्तिकी गाथासख्या ७ में 'जगतुंगदेवरज्जे' पद है। अर्थात् जगतुगदेवके राज्यमें जयधवला समाप्त हुई। और गाथासख्या ९ में कहा है, कि उस समय नरेन्द्रचूडामणि वोद्दणरायनरेन्द्र राज्यका उपभोग करते थे।

१. पट्खा., भा. १ प्रस्ता०, पृ. ४५।

२. पट्खा., भा. १, प्रस्ता०, पृ. ४०।

प्रथम तो एक ही प्रशस्तिमें दो राजाओंका निर्देश कुछ विचित्र-सा ही प्रतीत होता है। दूसरे, राष्ट्रकूट नरेशोंमें जगतुगदेव नामक एक ही राजा नहीं हुआ तथा वोद्दणराय नामक राजा कौन था, इसमें भी विवाद है।

इस उल्लेखनके विषयमें प्रो० हीरालालजीने लिखा^१ है—‘शक स० ७३८में लिखे गये नवसारीके ताम्रपटमें जगतु गके उत्तराधिकारी अमोघवर्षके राज्यका उल्लेख है। यही नहीं, किन्तु शक सम्वत् ७८८के सिरूरसे मिले हुए ताम्रपटमें अमोघवर्षके राज्यके ५२वें वर्षका उल्लेख है। जिससे ज्ञात होता है कि अमोघ-वर्षका राज्य ७-७से प्रारम्भ हो गया था। तब फिर शक ७३८में जगतु गका उल्लेख किस प्रकार किया जा सकता है? इस प्रश्न पर विचार करते हुए हमारी दृष्टि गा० न ७में ‘जगतु गदेवरज्जे’ के अनन्तर आये हुए ‘रियम्हि’ शब्द पर जाती है, जिसका अर्थ होता है ‘ऋते’ या ‘रित्ते’। सभवतः उसीसे कुछ पूर्व जगतुगदेवका राज्य गत हुआ था और अमोघवर्ष सिंहासनारूढ हुए थे। इस कल्पनासे आगे गाथा न० ९में जो वोद्दणराय नरेन्द्रका उल्लेख है, उसकी उल्लेखन भी सुलझ जाती है। वोद्दणराय सम्भवतः अमोघवर्षका ही उपनाम होगा। या यह ‘वड्डिग’का ही रूप हो और वड्डिग अमोघवर्षका उपनाम हो। अमोघवर्ष तृतीयका उपनाम वड्डिग या वड्डिग मिलता ही है। यदि यह कल्पना ठीक हो तो वीरसेन स्वामीके इन उल्लेखोंका यह तात्पर्य निकलता है कि उन्होंने धवला टीका शक सम्वत् ७३८में समाप्त की जब जगतु गदेवका राज्य पूरा हो चुका था और वोद्दणराय राजगद्दी पर बैठ चुके थे।’

जिस तरह ३८में ७के अककी कल्पना करके प्रोफेसर साहब ने ७३८ शक सम्वत् निर्धारित किया उसी तरह उक्त कल्पनाके आधार पर ही उन्होंने जगतु ग और वोद्दणरायकी समस्या को सुलझानेकी चेष्टा की है।

अमोघवर्ष प्रथम छै वर्षकी अवस्थामें शक स ७३६में राज्यगद्दी पर बैठा था। अतः ८ वर्षके बालकको ‘नरेन्द्रचूडामणि’ जैसे विशेषणसे अभिहित किया जाना खटकता है। हमारा विचार है, कि धवला प्रशस्तिकी अन्तिम गाथा सभवतः पीछेसे किसीने उसमें जोड़ दी है। उसमें आगत शब्द ‘विगत्ता’ भी अशुद्ध प्रतीत होता है। ‘वि’ उपसर्ग पूर्वक ‘कृत’ धातुसे प्राकृत रूप ‘विगत्ता’ बनता है, जिसका अर्थ होता है छेदी गई या काटी गई। इस अर्थका वहाँ कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः ‘विअत्ता’ पाठ उचित प्रतीत होता है, जिसका अर्थ है स्पष्ट की गई। अर्थात् ‘जब नरेन्द्रचूडामणि वोद्दणराय नरेन्द्र पृथ्वीका उपभोग करते थे उस समय सिद्धान्तग्रन्थका मथन करने वाले गुरुके प्रसादसे उस धवलाको व्यक्त किया गया

उसकी कोई टीका टिप्पणी लिखी गई। समाप्तिसूचक 'समाणिथा' पाठ तो उससे पूर्वकी गाथा ८में ही आ चुका है। अतः यह समस्या उलझी हुई है।

रचनाएँ

वीरसेन स्वामीने सपूर्ण धवला और जयधवलाका पूर्वभाग रचा था। ये दोनों ग्रन्थ उपलब्ध हैं। पट्खण्डागम सूत्रोंके साथ हिन्दी अनुवाद सहित धवला^१-टीका १६ भागोंमें छपकर प्रकाशित हो गई है तथा कपायपाहुड और चूर्णिसूत्रों के साथ हिन्दी अनुवाद सहित जयधवलाका^२ प्रकाशन कार्य चालू है। जयधवलामें एक जगह श्रीवीरसेन स्वामीने स्वलिखित^३ उच्चारणावृत्तिका भी निर्देश किया है। यदि वहाँ लिखितसे उनका आशय रचितसे है तो कहना होगा कि उन्होंने यतिवृषभके चूर्णिसूत्रोपर उच्चारणावृत्ति भी रची थी।

उत्तरपुराणकी प्रशस्तिमें गुणभद्राचार्यने उनकी एक अन्य रचनाका निर्देश किया है उसका नाम^४ प्रेमोजोने सिद्धिभूपद्धति टीका दिया है और लिखा है कि नामपरसे ऐसा अनुमान होता है कि यह क्षेत्रगणित सम्बन्धी ग्रन्थ होगा। किन्तु गुणभद्रके उत्तरपुराणका जो संस्करण ज्ञानपीठसे प्रकाशित हुआ है उसमें 'सिद्धिभूपद्धति' पाठ है और श्लोकके भावको देखते हुए यही पाठ ठीक प्रतीत होता है। श्लोक इसप्रकार है—

सिद्धिभूपद्धति यस्य टीका सविक्ष्य भिक्षुभिः ।

टीकयते हेलयाज्येषा विपमादि पदे पदे ॥६॥—उ पु प्र

अर्थ—दूसरोकेलिए पद-पदपर विषम भी सिद्धिभूपद्धति, जिसकी टीकाको देखकर भिक्षुओंके द्वारा सरलतासे प्रवेश योग्य हो गई।

उक्त कथन श्लेषात्मक है। जो सिद्धिभू-मोक्षभूमिकी पद्धति-मार्ग दूसरोके लिए पद-पदपर विषम है वह भिक्षुओंके लिए सुगम है। इसपरसे ज्ञात होता है कि सिद्धिभूपद्धति नामक ग्रन्थ बड़ा कठिन था, जो वीरसेनकी टीकासे सरल हो गया तथा उसमें मोक्षमार्गका विवेचन था।

इस ग्रन्थके सम्बन्धमें उक्त उल्लेखके सिवाय अन्य कोई उल्लेख नहीं मिलता। फिर भी यह स्पष्ट है कि उक्त ग्रन्थ तथा उसकी टीका दोनों ही बहुत महत्त्वपूर्ण थे।

इस तरह वीरसेनस्वामीने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण टीका-ग्रन्थोंकी रचना प्राकृत-

१. प्रकाशक श्रीमन्त सेठ शितावराय लक्ष्मीचन्द, भेलसा (म. प्र.)।

२. भारतीय दिगम्बर जैन सघ, चौरासी, मथुरासे प्रकाशित।

३. 'अन्धेहि लिहिदुच्चारणा पुण ।'—क पा, भा.३, पृ. ३९८।

४. जै. सा. ३, २ रा. स., पृ. १३१।

सस्कृत मिश्रित प्राकृत भाषामें की थी । और वे सिद्धान्तग्रन्थोंके अनुपम व्याख्याता थे । उन्होने अपनी टीकाओंमें प्रकृत विषयोका स्पष्टीकरण और सम्बद्ध प्रासंगिक विषयोका विवेचन इस रीतिसे किया है कि बादके टीकाकारोंके लिखनेके लिए कुछ शेष नहीं रहा और सम्भवतया इस कारण भी धवला और जयधवलाके पश्चात् सिद्धान्तग्रन्थोंपर कोई टीका नहीं लिखी गई । इतना ही नहीं, किन्तु इन टीकाओंके सुविस्तृत परिमाणमें और उनमें चर्चित विषयोकी प्राञ्जलतामें उनकी मूलाधार कृति ऐसी समा गई कि षट्खण्डागमसूत्र धवल-सिद्धान्तके नामसे और कषायपाट्टुड जयधवलसिद्धान्त नामसे ही प्रख्यात हो गये ।

ईसाकी १०वीं शताब्दीके ग्रन्थकार अपभ्रंशकवि पुष्पदन्तने अपने महापुराणमें^१ उनका उल्लेख इसी नामसे किया है । वास्तवमें दोनों टीकाग्रन्थ जैन सिद्धान्त-विषयक चर्चाओंके भण्डार हैं ।

वीरसेनस्वामीकी किसी स्वतन्त्र ग्रन्थरचनाका कोई संकेत नहीं मिलता ।



१' 'णउ बुज्जिउ आयमसद्धामु, सिद्ध तु धवल्लु जयधवल्लु णाम ।—म, पु' ।

तृतीय अध्याय

द्वितीय परिच्छेद

जयधवला-टीका

नामकरण

धवला-टीकाके पश्चात् दूसरी महत्त्वपूर्ण टीका 'जयधवला' है। यह टीका 'कपायपाहुड' पर लिखी गयी है। टीकाकारने इस टीकाकी प्रथम मङ्गल-गाथाके आदिमें ही 'जयइ धवलगतेए' पद देकर इसके नामकी सूचना दी है। अन्तमें तो इसके नामका स्पष्ट उल्लेख किया है—

एत्थ समप्पइ धवलियतिहुवणभवणा पसिद्धमाहुप्पा ।

पाहुडसुत्ताणमिमा जयधवलासणिया टीका ॥१॥

'तीनों लोकोको धवलित करनेवाली और प्रसिद्ध माहात्म्यवाली कपाय-पाहुडसूत्रोकी यह 'जयधवला' नामकी टीका यहाँ समाप्त होती है।'

उपयुक्त पद्यसे यह तो स्पष्ट है कि इस टीकाका नाम 'जयधवला' है। पर इस नामकरणका क्या कारण है, यह ज्ञात नहीं होता। टीकाकारने टीकाके आरम्भमें चन्द्रप्रभस्वामीकी जयकामना करते हुए उनके धवल वर्ण शरीरका उल्लेख किया है। अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि चन्द्रप्रभ स्वामीके धवलवर्णके आधारपर इस टीकाका नामकरण जयकामनाको मिश्रित कर 'जय-धवला' किया गया हो।

इसके पूर्व छक्खडागमपर धवला-टीका रची जा चुकी थी। इसीके आधारपर कपायपाहुडकी इस टीकाका नाम 'जयधवला' रखा गया होगा। और दोनोंमें भेद करनेके लिए 'जय' विशेषण नियोजित किया होगा।

'जयधवला' टीका भी 'धवला' टीकाके समान ही विशद, स्पष्ट और गम्भीर है। सम्भव है कि इस कारणसे भी इसे 'जयधवला' नाम दिया गया हो। एक अन्य हेतु यह भी सम्भव है कि इन टीकाओंकी उज्ज्वल ख्यातिने तीनों लोकोको धवलित कर दिया है। अतएव इनका सार्थक नाम धवला और जयधवला है।

जयधवला टीका शैली और महत्त्व

इस टीकाकी शैली व्याख्यानात्मक होने पर भी नये तथ्योंसे सम्बद्ध है। टीकाकार जिस किसी आचार्यका मत देते हैं, उसे दृढ़ताके साथ अधिकारपूर्वक

लिखते हैं। उनके किसी भी व्याख्यानसे विषय सम्बन्धी कमजोरी प्रकट नहीं होती। वर्णनकी प्राञ्जलता और युक्तिवादित्ताको देखकर पाठक आश्चर्य चकित हुए बिना नहीं रहता। टीकाकार प्रत्येक तथ्यकी पुष्टिके लिए प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। उनके प्रत्येक कथनमें 'कुदो' लगा रहता है। वे इस 'कुदो' द्वारा प्रश्न करते हैं और तत्काल ही हेतुपरक उत्तर उपस्थित कर देते हैं। इस टीकामें टीकाकारने आगमिक परम्पराकी पूरी रक्षा की है और एक ही विषयमें प्राप्त विभिन्न आचार्योंके विभिन्न उपदेशोका उल्लेख किया है।

इस टीकाग्रन्थकी रचनाशैलीके सम्बन्धमें निम्नलिखित प्रशस्तिपद्यसे प्रकाश प्राप्त होता है—

प्राय प्राकृतभारत्या क्वचित् सस्कृतमिश्रया ।

मणिप्रवालन्यायेन प्रोक्तोऽयं ग्रन्थविस्तरः ॥ —ज० प्र० प० ३७

इससे स्पष्ट है कि इस विस्तृत टीकाग्रन्थकी रचना प्रायः प्राकृत-भाषामें की गयी है। बीचमें इसमें कहीं-कहीं सस्कृतका भी मिश्रण है। इसी कारण यह टीका भी 'धवला' के समान 'मणिप्रवाल' कहलाती है।

निस्सन्देह 'धवला' की अपेक्षा जयधवला प्राकृतबहुल है। इसमें दार्शनिक चर्चाएँ और व्युत्पत्तियाँ तो सस्कृत-भाषामें निबद्ध हैं, पर सैद्धान्तिक चर्चाओंके लिए प्राकृतका प्रयोग उपलब्ध होता है। कहीं-कहीं तो कुछ वाक्य ऐसे भी मिलते हैं, जिनमें एक साथ दोनों भाषाओंका उपयोग किया गया है। टीकाकी भाषा प्रसादगुणयुक्त और प्रवाहपूर्ण है। अध्ययन करते समय पाठककी जिज्ञासा निरन्तर बनी रहती है।

टीकाकारका भाषाके साथ विषय पर भी असाधारण प्रभुत्व है। जिस विषयका प्रतिपादन करते हैं। उसका शका-समाधान पूर्वक अत्यन्त स्पष्टीकरण कर देते हैं। चर्चित विषयको अधिक-से-अधिक स्पष्ट करनेकी कला इस टीकाग्रन्थमें विद्यमान है। जयधवलाके अन्तके निम्न पद्यसे शैलीगत वैशिष्ट्य पर प्रकाश पड़ता है—

होइ सुगमं पि दुग्गममणिवुणवक्खाणकारदोसेण ।

जयधवलाकुसलाण सुगमं वि य दुग्गमा वि अत्थगई ॥ —ज०अ०प० ७

अनिपुण व्याख्याताके दोषसे सुगम बात भी दुर्गम हो जाती है, किन्तु जयधवलामें जो कुशल है, उनको दुर्गम अर्थका भी ज्ञान सुगम हो जाता है।

इससे स्पष्ट है कि जयधवलाकी व्याख्यान शैली अत्यन्त सुगम है और इस टीकामें दुर्गम विषयको भी सुगम बनाया है।

जयधवला टीकाका महत्त्व विषयको गम्भीरता और प्रतिपादनशैली-को सुगमताकी दृष्टिसे जितना है, उगमे कहीं अधिक प्रमेयोंके अधिक सम-विष्ट करनेकी दृष्टिसे भी है। यह टीका अपनी विद्यालता और प्रमेयाधिक्य-के कारण ही स्वतन्त्र ग्रन्थ 'जयधवल सिद्धान्त' कही जाती है। इसमें केवल चूणिशूत्रोंमें आये हुए अनुयोगद्वारोंके अनुसार ही विषयका व्याख्यान नहीं किया है, अपितु 'उच्चारणावृत्ति'में आये हुए अनुयोगद्वारोंके आचार पर विषय-का निरूपण किया है। इस प्रकार मूलग्रन्थ 'कसायपाहट्ट' और चूणिशूत्रोंमें निहित विषयका विवेचन 'उच्चारणावृत्ति' के अनुयोगद्वारोंके अनुसार विस्तार-पूर्वक किया है। अतएव इस ग्रन्थमें विषयका कथन दृढ़ता, बहुजता और आत्मविश्वास पूर्वक किया गया है।

चूणिशूत्रोंके व्याख्यान प्रसंगमें किसी भी अंशको दृष्टिसे ओझल नहीं होने दिया है। पदोंकी तो बात ही क्या, आचार्योंने अंशोंकी भी व्याख्या प्रस्तुत की है। उदाहरणार्थ अर्थाधिकार प्रकरणमें प्रत्येक अर्थाधिकारशूत्रके आगे पड़े अंशोंकी मार्यकताको लिया जा सकता है।

इस टीकाका एक अन्य महत्त्व विभिन्न विषयक अनेक दार्शनिक और सैद्धान्तिक मतोंकी जानकारी भी है। टीकाकारने उपदेशोंका कथन आचार्योंके नामोंके उल्लेख पूर्वक करके अपनी प्रामाणिकता सिद्ध की है।

जयधवलाका एक दूसरा महत्त्व ज्ञान, जीव, कर्म और कर्म सम्बन्धको विस्तृत रूपसे प्रस्तुत करना भी है।

रचना स्थान और काल

पहले धवलाका रचना काल निश्चय किया जा चुका है। अतः इस सम्बन्ध-में विशेष प्रकाश डालनेकी आवश्यकता नहीं। संक्षेपमें जयधवला टीका शक-संवत् ७५९ (वि० सं० ८९४) में पूर्ण हुई।

यह जयधवला टीका वाटकग्रामपुरमें रची गयी है। इसके शासक गुर्जरार्य बताये गये हैं। आचार्य जिनसेनने प्रशस्ति-पद्य १२-१५ में गुर्जरार्य नरेन्द्रकी बड़ी प्रशंसा की है और चन्द्र-तारा पर्यन्त उसकी कीर्तिके स्थिर रहनेकी भावना व्यक्त की है।

यह वाटकग्रामपुर कहाँ अवस्थित था और इसका आधुनिक नाम क्या सम्भव है, यह विचारणीय है। बडौदाका पुराना नाम वटपद्र, वटपद्रक या वट-पल्ली है। कोषोंमें पद्रका अर्थ ग्राम मिलता है। अतः वाटकग्राम बडौदा ही होना चाहिए। वहाँके कुछ राष्ट्रकूट राजाओंके कुछ ताम्रपत्र भी मिले हैं।

राष्ट्रकूट नरेश कर्कके शक सवत् ७३४ के ताम्रपत्रके अनुसार भानुभट्ट नामक ब्राह्मणको अकोटक चौरासी ग्राम विषयक वटपद्रक गाव दानमें दिया गया था । कर्क सुवर्णवर्षके दानपत्रमें भी कर्क और गोविन्द दोनो भाईयोके द्वारा वटपद्रक गाव दानमें देनेका उल्लेख है । इसमें भी वटपद्रकको अकोटक चौरासी गावके अन्तर्गत लिखा है ।

अकोटक आज भी बडौदासे ५-६ मीलपर दक्षिणकी ओर वर्तमान है । कुछ समय पहले वहासे खुदाईमें कासेकी प्राचीन जैन मूर्तियाँ मिली है ।

उक्त वटपद्र या वाटग्रामको गुर्जरार्य अथवा गुर्जरनरेन्द्र द्वारा अनुपालित बतलाया है । यह गुर्जरनरेन्द्र राष्ट्रकूट अमोघवर्ष ही है । अमोघवर्ष जिनसेनका परम भक्त शिष्य था । गुणभद्राचार्यने उत्तरपुराणकी प्रशस्तिमें लिखा है कि राजा अमोघवर्ष स्वामी जिनसेनके चरणोंमें नमस्कार करके अपनेको पवित्र हुआ मानता था ।

राष्ट्रकूटोकी राजधानी मान्यखेट थी । अमोघवर्षके पिता गोविन्दराज तृतीयके समयके श० स० ७३५ के एक ताम्रपत्रसे ज्ञात होता है कि उसने लाटदेश-गुजरातके मध्य और दक्षिणी भागको जीतकर अपने छोटे भाई इन्द्रराजको वहाका राज्य दे दिया था । इसी इन्द्रराजने गुजरातमें राष्ट्रकूटोकी दूसरी शाखा स्थापित की थी । शक स० ७५७ का एक ताम्रपत्र बडौदासे मिला है । यह गुजरातके राजा महा सामन्ताधिपति राष्ट्रकूट ध्रुवराजका है । इससे ज्ञात होता है कि अमोघवर्षके चाचाका नाम इन्द्रराज था और उसके पुत्र कर्कराजने बगावत करने वाले राष्ट्रकूटोसे युद्ध करके अमोघवर्षको राज्य दिलवाया था । कुछ विद्वानोका मत है कि लाटके राजा ध्रुवराज प्रथमने अमोघवर्षके विरुद्ध बगावत की थी । अतः अमोघवर्षको उसपर चढ़ाई करनी पड़ी और गुजरात उसके राज्यमें आ गया । यह घटना जयधवलाकी समाप्तिसे कुछ ही समय पहलेकी होनी चाहिये, क्योंकि ध्रुवराज प्रथमका ताम्रपत्र श० स० ७५७ का है और जयधवलाकी समाप्ति श० स० ७५९ में हुई थी । अतः वाटग्रामके गुजरातमें होने तथा गुजरातका प्रदेश उसी समयके लगभग अमोघवर्षके राज्यमें प्रोतके कारण अमोघवर्षका गुणगान किया है । अतः जयधवलाकी रचना वाटग्रामपुरमें राजा अमोघवर्षके राज्यमें शक स० ७५९ में पूर्ण हुई थी ।

जयधवलागत विषय वस्तु

जयधवला कसायपाहुड और उसपर रचित चूर्णिसूत्रोकी विवरणात्मक विस्तृत व्याख्या है । अतः उसका प्रतिपाद्य मूल विषय वही है जो उसके मूलभूत ग्रन्थोका है । किन्तु उसमें व्याख्याका रूप कैसा है और क्या विशेष कथन किया गया है, यही बतलाना यहाँ अभीष्ट है ।

यह हम पहले लिख आये हैं कि कसायपाहुडके अधिकारोकी संख्या यद्यपि पन्द्रह है तथापि नामोंमें मतभेद है और उमका निर्देश करके वीरसेन स्वामीने जयधवलाके अधिकारोका निर्देश स्वयं अपनी दृष्टिसे किया है ।

सबसे प्रथम जयधवलाकारने मंगलकी चर्चा करते हुए यह प्रश्न उठाया है कि आचार्य गुणधरने कसायपाहुडके और यतिवृषभने चूर्णिसूत्रोके आदिमें मंगल क्यों नहीं किया ? समाधानमें कहा है कि प्रारम्भ किये गये कार्यमें विघ्न विनाशके लिये मंगल किया जाता है । किन्तु परमागममें उपयोग लगानेसे ही वे विघ्न नष्ट हो जाते हैं, इसीसे उक्त दोनो ग्रन्थकारोंने मंगल नहीं किया ।

चूर्णिसूत्रकारने प्रथम गाथाकी वृत्तिमें पाँच उपक्रमोका निर्देश किया है । किन्तु जयधवलाकारने दोनोकी सगति बतलाते हुए कहा है कि गाथामें केवल एक नामोपक्रमका ही निर्देश है शेषकी सूचना 'हु' शब्द से की है । इसीसे यतिवृषभ ने पाँच उपक्रमोका निर्देश किया है ।

यत इसका निकाम ज्ञानप्रवाद नामक पूर्वसे हुआ है अतः टीकाकारने मंगलके पश्चात् मति आदि पाँच ज्ञानोका कथन करते हुए पाँच उपक्रमोका विस्तारसे कथन किया है । तथा केवलज्ञानका अस्तित्व तर्क और युक्तिके आधारसे सिद्ध किया है । इसी प्रसंगसे कर्मबन्धनकी भी चर्चा है । तत्पश्चात् केवलज्ञानी भगवान महावीरके जीवनकालकी चर्चा करते हुए विपुलाचलपर उनकी प्रथम धर्मदेशनाका समय बतलाया है तथा किस प्रकार आचार्यपरम्परासे आता हुआ उपदेश गुणधराचार्य तथा आर्यमधु और नागहस्तीको प्राप्त हुआ, यह बतलाया है । द्वादशांशरूप श्रुत और अगवाह्यश्रुतके विषयका परिचय करानेके बाद पन्द्रह अधिकारोकी चर्चा विस्तारसे की है और उस विषयक मतभेदको भी स्पष्ट किया है ।

चूर्णिसूत्रकारने कसायपाहुड नाम नयनिष्पन्न कहा है । इस प्रसंगसे नयोके स्वरूपकी चर्चा बहुत विस्तारसे करते हुए नयोमें निक्षेपोंकी योजना की है । जो नयोके अध्ययनके लिये उपयोगी है ।

चूर्णिसूत्रोके विषय-परिचयमें कहा है कि आचार्य यतिवृषभने विवेचनके लिये अनुयोगद्वारोका निर्देश किया है तथा उनमेंसे कुछ अनुयोगद्वारोका सामान्य कथन भी किया है । जयधवलामें सभी अनुयोगद्वारोका विवेचन चौदह मार्गणाओमें किया है । तथा यह विवेचन चूर्णिसूत्रो पर निर्मित उच्चारणावृत्तिका आलम्बन लेकर किया गया है । जयधवलाकारने इस बातका निर्देश, कि हम यह कथन उच्चारणाका आश्रय लेकर कर रहे हैं, स्थान-स्थानपर किया है ।

यहाँ प्रथम अधिकारमें आगत सतरह अनुयोगद्वारोका सक्षिप्त परिचय दिया जाता है क्योंकि सब अधिकारोंमें प्रायः इनका कथन आता है ।

१ समुत्कीर्तना—इसका अर्थ है कथन करना इसमें गुणस्थान और मार्ग-णाओमें मोहनीयकर्मका आस्तित्व और नास्तित्व बतलाया गया है। ग्यारहवें गुण-स्थान तक सभी जीवोंके मोहनीय कर्मकी सत्ता पायी जाती है आगेके सभी जीव उससे रहित हैं। इसी तरह जिन मार्गणाओमें बारहवाँ आदि गुणस्थान संभव नहीं है उन मार्गणाओमें मोहनीय कर्मका आस्तित्व ही बतलाया है और जिन मार्गणाओमें सभी गुणस्थान संभव हैं उनमें अस्तित्व और नास्तित्व दोनों बतलाये हैं।

सादि, अनादि, ध्रुव, अध्रुव—इसमें बतलाया है कि मोहनीय विभक्ति किसके सादि है, किसके अनादि है, किसके ध्रुव (अनन्त) है और किसके अध्रुव (सान्त) है।

स्वामित्व—इसमें बतलाया है कि जिसके मोहनीयकर्मकी सत्ता है वह उसका स्वामी है जो उसे नष्ट कर चुका है वह उसका स्वामी नहीं है।

काल—इसमें बतलाया है कि किस जीवके मोहनीयकर्मकी सत्ता कितने काल तक रहती है और असत्ता कितने काल तक रहती है। किसी जीवके मोहनीयकी सत्ता अनादि-अनन्त है और किसके अनादि-सान्त है।

अन्तर—इसमें बतलाया है कि एक बार मोहनीयकी सत्ता नष्ट होने पर पुनः कितने बाद प्राप्त होती है। किन्तु मोहनीयकर्म एक बार नष्ट हो जाने पर पुनः नहीं बधता और बन्ध हुए बिना सत्ता नहीं हो सकती अतः मोहनीयका अन्तरकाल नहीं है।

भगविचयानुगम—इसमें नाना जीवोंकी अपेक्षा मोहनीयकर्मके आस्तित्व और नास्तित्वको लेकर भगोका विचार किया है।

भागा-भागानुगम—इसमें बतलाया है कि सब जीवोंके कितने भाग जीव मोहनीय कर्मकी सत्तावाले हैं और कितने भाग जीव मोहनीयकर्मकी असत्ता वाले हैं।

परिमाण—इसमें मोहनीय कर्मकी सत्ता और असत्ता वाले जीवोंका परिमाण कहा है।

क्षेत्र—इसमें बतलाया है कि मोहनीयकर्मकी सत्ता और असत्तावाले जीव लोकके कितने भागमें रहते हैं।

स्पर्शन—इसमें उक्त जीवोंका त्रिकाल विषयक क्षेत्र कहा है।

काल—पहला कालका वर्णन किसी एक जीवकी अपेक्षासे है और यह नाना जीवोंकी अपेक्षासे है। इसमें नाना जीवोंकी अपेक्षा मोहनीयकर्मकी सत्ता और

असत्तावाले जीवोंका काल बतलाया है। दोनों ही प्रकारके जीव सदा रहते हैं इसलिए उनका काल सर्वदा कहा है।

अन्तर—यह अन्तर भी नाना जीवोंकी अपेक्षा है अतः मोहनीयकर्मकी सत्ता और असत्तावाले जीव सदा पाये जाते हैं अतः उनमें सामान्यसे अन्तर नहीं है।

भाव—इसमें बतलाया है मोहनीयकर्मकी सत्ता और असत्ता वाले जीवोंके पाँच भावोंमें से कौन भाव होते हैं। सत्तावालेके पारिणामिकके सिवा शेष चार भाव होते हैं और असत्तावालेके केवल क्षायिकभाव होता है।

अल्पबहुत्व—इसमें बतलाया है कि मोहनीयकर्मकी सत्ता वाले और असत्तावाले जीवोंमें कौन अधिक है और कौन अल्प है।

इन अनुयोग द्वारोंके साथ मूल प्रकृति विभक्तिका कथन समाप्त होता है।

आगे हम जयधवला टीकामें आगत कुछ विशेष विवेचनोंकी ही चर्चा करेंगे—

१ प्रकृति-विभक्ति—इसमें कहा है कि उच्चारणाचार्यने मूल प्रकृति विभक्तिके सत्तरह अनुयोगद्वार कहे हैं और आचार्य यतिवृषभने आठ अनुयोगद्वार कहे हैं। किन्तु इसमें कोई विरोध की बात नहीं है क्योंकि एकने पर्यायार्थिक नयका अवलम्बन लिया है तो दूसरेने द्रव्यार्थिक नयका अवलम्बन लिया है। वीरसेन स्वामीने उच्चारणाचार्यके द्वारा कथित विवरणका आश्रय लेकर सत्तरह अनुयोगद्वारोंका विवेचन किया है।

इसी तरह एकैक उच्चारण-प्रकृति विभक्तिके ग्यारह अनुयोगद्वार यतिवृषभने कहे हैं और उच्चारणाचार्यने चौबीस कहे हैं। जयधवलाकारने उच्चारणाचार्यके अनुसार चौबीस अनुयोगद्वारोंका ही कथन किया है। इस तरह जयधवला केवल चूर्णिमूत्रोंका व्याख्या-ग्रन्थ नहीं है किन्तु उसमें विषयगत प्रतिपादन भी विशेष है।

आचार्य यतिवृषभने चूर्णिमूत्रमें कहा है कि मोहनीय कर्मकी बाइस प्रकृतियोंकी गत्ताका म्यामी मनुष्य ही होता है। इसकी टीकामें वीरसेनने कहा है कि आचार्य यतिवृषभके इस विषयमें दो उपदेश हैं। उनमेंसे कृतकृत्यवेदक जीव मरण नहीं करता, इन उपदेशोंको लेकर उक्त कथन किया है। उच्चारणाचार्यके अनुसार कृतकृत्य वेदक मम्यद्दृष्टी जीव नहीं मरता ऐसा नियम नहीं है क्योंकि उच्चारणाचार्यने चारों ही गतियोंमें बाईस प्रकृतिक विभक्ति स्थानका सत्त्व स्वीकार किया है।

अनन्तानुमर्त्या ती विगंघोजना मम्यद्दृष्टी जीव ही करता है। अनन्तानुमर्त्याने मम्यद्दृष्टी अन्य प्रकृति स्थान परिणमानेको विगंघोजना कहते हैं।

विसयोजनासे क्षपणामें यह भेद है कि जिन कर्मोंकी क्षपणा होती है उनकी पुन उत्पत्ति नहीं होती । किन्तु अनन्तानुबन्धीकी विसयोजना करने के बाद सम्यग्दृष्टी यदि मिथ्यात्वको प्राप्त होता है तो प्रथम समयमें ही चारित्र्य मोहनीयके कर्म-स्कन्ध अनन्तानुबन्धी रूपसे परिणत हो जाते हैं । इसीसे मिथ्यात्वमें मोहनीयकी २४ प्रकृतियोंकी सत्ता न पायो जाकर अट्ठाईसकी सत्ता पायी जाती है । उपशम सम्यग्दृष्टीके अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी विसयोजनाके होनेमें भी मतभेद है । उच्चारणाके अनुसार तो निषेध है ।

इसपरसे यह शङ्का की गयी कि जिन आचार्योंके कथनके अनुसार उपशम सम्यग्दृष्टीके अनन्तानुबन्धीकी विसयोजना होती है उनसे उक्त कथनका विरोध क्यों नहीं आता । इसके उत्तरमें वीरसेन स्वामीने कहा है कि यदि उपशम सम्यग्दृष्टीके अनन्तानुबन्धीकी विसयोजनाका कथन करनेवाला वचन सूत्र वचन होता तो यह कथन सत्य होता क्योंकि सूत्रके द्वारा व्याख्यान बाधित होता है परन्तु एक व्याख्यानके द्वारा दूसरा व्याख्यान बाधित नहीं होता इसलिए उपशम सम्यग्दृष्टीके अनन्तानुबन्धीकी विसयोजना नहीं होती, यह वचन अप्रमाण नहीं है । फिर भी यहाँ दोनों उपदेशोका कथन करना चाहिये । क्योंकि दोनोंमें अमुक कथन सूत्रानुसारी है इसके ज्ञान कराने का कोई साधन नहीं है ।

उपशमसम्यक्त्वके कालकी अपेक्षा अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी विसयोजनाका काल अधिक है अथवा वहाँ अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी विसयोजनाके कारणभूत परिणाम नहीं होते । इससे प्रतीत होता है कि उपशम सम्यग्दृष्टीके अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी विसयोजना नहीं होती । फिर भी यहाँ उपशम सम्यग्दृष्टीके अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी विसयोजना होती है यह पक्ष ही प्रधान रूपसे स्वीकार करना चाहिये क्योंकि परम्परासे यह उपदेश चला आता है ।

(क० पा० याग २, पृ० ४१७-१८)

इससे वीरसेन स्वामीकी या जयधवलाकी प्रामाणिकतापर प्रकाश पड़ता है ।

२ स्थितिविभक्ति—

चूर्णसूत्रमें मिथ्यात्वकी उत्कृष्ट स्थिति पूर्ण सत्तर कोडाकोडी सागर कही है । इसकी व्याख्यामें जयधवलामें कहा है कि यह कथन एक समय-प्रबद्धकी अपेक्षा है, नाना समयप्रबद्धकी अपेक्षा नहीं है यह स्थिति एक समय प्रबद्धकी है इसका प्रमाण यह है कि जो कार्मण वर्णास्कन्ध अकर्म-रूपसे स्थित है वे मिथ्यात्व आदि कारणोंसे मिथ्यात्व कर्मरूपसे एक साथ परिणत होकर जब सम्पूर्ण जीव प्रदेशोंसे सम्बद्ध हो जाते हैं तब उनकी एक समय अधिक

सात हजार वर्षसे लेकर क्रमसे सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण स्थिति देखी जाती है इससे जाना जाता है कि यह स्थिति एक समय प्रवद्धकी है ।

क्योंकि महाबन्धमें कहा है कि मिथ्यात्वकी उत्कृष्ट आवाधा सात हजार वर्ष है और आवाधासे हीन कर्मस्थिति प्रमाण कर्म निपेक है ।

(क पा , भाग ३, पृ १९४-१९५)

इस तरह जयधवलामें चूर्णिसूत्रगत कथनका आशय सप्रमाण उद्घाटित किया है ।

जयधवलाका पूर्वार्ध ही वीरसेन स्वामीके द्वारा रचित है । उत्तरभाग जिसमें करीब दस अधिकार आते हैं वीरसेन स्वामीके शिष्य जिनसेन स्वामीने रचा है । अतः पूर्वभागमें जितना प्रमेय चर्चित है उत्तरभाग विषय बहुल होते हुए भी सैद्धान्तिक गुत्थियोंके रहस्य के उद्घाटन से प्रायः वैसा परिपूर्ण नहीं है । स्वामी जिनसेनने सम्बद्ध विषयका जो कपायपाहुड और चूर्णिसूत्रोंमें चर्चित है, बराबर खुलासा किया है, किन्तु गुरु जैसी बात नहीं है । अतः आगेके विषय-परिचयकी जानकारी कपायपाहुड और चूर्णिसूत्रोंके विषय परिचयसे कर लेना चाहिये उसीका व्याख्यान और उपादान उसमें है ।

रचयिता : वीरसेन और जिनसेन

धवलाके पश्चात् जयधवलाकी रचना हुई है, यह बात जयधवलाकी प्रशस्तिसे तो प्रमाणित होती है, साथ ही जयधवलासे भी प्रमाणित है । जयधवलाके प्रारम्भमें ही मतिज्ञान और अवधिज्ञानका कथन करते हुए वीरसेन स्वामीने लिखा है—‘इनके लक्षण जिस प्रकार वर्गणा^१ खण्डमें या उनके अन्तर्गत प्रकृति अनुयोगद्वारमें कहे हैं, वैसा ही कथन कर लेना चाहिये । वर्गणाखण्ड पाँचवाँ खण्ड है । पाँच ही खण्डोंपर वीरसेनने जयधवलाकी रचना की थी । अतः उक्त उल्लेखसे प्रमाणित होता है कि धवलाकी रचना कर चुकनेके पश्चात् ही वीरसेनने जयधवलाकी रचनामें हाथ लगाया था, किन्तु उसे वह अधूरी ही छोड़ कर स्वर्ग-वासी हो गये । उसकी पूर्ति उनके अन्यतम सुयोग्य शिष्य जिनसेनने की । जयधवलाकी प्रशस्तिमें अपने गुरु वीरसेनके सम्बन्धमें श्रद्धावनत हृदयसे लिखते हुए जिनसेनने भूतकालकी क्रिया ‘आसीत’का प्रयोग किया है, जो इस बातका

१. ‘खिप्पोग्गहादीणमत्थो जहा वग्गणाखडे परूविदो तहा पत्थ वि परूवेदव्वो’

—क. पा., भा. १, पृ. १४

‘एद्वेसि तिण्हं णाणाण लक्खणाणि जहा पयडि अणुओगदारे परूविदाणि नहा परूवेदव्वाणि ।’—पृ. १७ ।

सूचक है कि उनके गुरुका स्वर्गवास हो चुका था । अपने को उनका शिष्य घोषित हुए जिनसेनने अपने सम्बन्धमें भी थोड़ा प्रकाश डाला^१ है जिससे ज्ञात होता है कि जिनसेन अविद्वक्कर्ण थे अर्थात् कानछेदन का सस्कार होनेसे पहले ही उन्होंने गृहवास छोड़ दिया था और गुरुके पास रहकर विद्याध्ययनमें लग गये थे अतः उनके कान ज्ञान शलाकासे बंधे गये थे । वह बाल-ब्रह्मचारी थे । उन्होंने बाल्या-वस्था से ही अखण्ड ब्रह्मचर्यका पालन किया था । वे न तो अति सुन्दर थे और न अति चतुर ही फिर भा सरस्वतीने अनन्य शरण होकर उनका आश्रय ग्रहण किया । बुद्धि, शम और विनय ये तीन उनके नैसर्गिक गुण थे । वे शरीरसे अवश्य कृश थे, किन्तु तपसे कृश (कमजोर) नहीं थे । शारिरिक कृशता कृशता नहीं है । जो गुणों से कृश है वही वास्तवमें कृश है ।'

जिनसेनके शिष्य गुणभद्रने अपने उत्तरपुराणकी^२ प्रशस्तिमें लिखा है कि जैसे हिमालयसे गंगाका, सर्वज्ञसे दिव्यध्वनिका और उदयाचलसे भास्करका उदय होता है, वैसे ही वीरसेनसे जिनसेन का उदय हुआ ।

इन्हीं जिनसेनने वीरसेनके द्वारा प्रारब्ध जयधवलाको पूर्ण किया ।

जयधवला टीकाके अन्त परीक्षण से भी यह निर्णय नहीं किया जा सका, कि गुरु और शिष्यमेंसे किसने कितना भाग रचा था । इसीसे जिनसेनाचार्यके वैदुष्य और रचना चातुर्यका अनुमान किया जा सकता है । उन्होंने ज० घ०की प्रशस्तिमें लिखा^३ है कि 'गुरुके द्वारा बहुवक्तव्य पूर्वार्धके लिखे जानेपर, उसको

- १ 'तस्याशिष्योऽभवच्छ्रीमान् जिनसेन समिद्धधी ।
अविद्धावपि यत्कर्णौ विद्धौ ज्ञानशलाकया ॥२७॥
यस्मिन्नासन्नभव्यत्वान्मुक्तिलक्ष्मी समुत्सुका ।
स्वयवरीतिकामेव श्रौति मालामय्युजत् ॥२८॥
येनानुचरिता बाल्याद्ब्रह्मव्रतमपण्डितम् ।
स्वयवर विधानेन चित्रमूढा सरस्वती ॥२९॥
यो नाति सुन्दराकारो न चातिचतुरो मुनि ।
तथाप्यनन्यशरणा यं सरस्वत्युपाचरत् ॥३०॥
धी शमोविनयश्चेति यस्य नैसर्गिका गुणा ।
सुरीनाराधयन्ति स्म गुणैराराध्यते न क ॥३१॥
य कृशोऽपि शरीरेण न कृशोऽभूत्तपोगुणै ।
न कृशत्वं हि शरीर गुणैरेव कृश कृश ॥३२॥'

- ० 'अभवदिव हिमाद्रौ देवसिन्धुप्रवाहो, ध्वनिरिव सकलज्ञात् सर्वशस्त्रैकमूर्ति ।
उदयगिरितटाद्वा भास्करो भासमानो, मुनि खु जिनसेनो वीरसेनाद्रमुष्मात् ॥'

—उ० पु० प्र० ।

- १ 'गुरुणाऽर्थेऽग्रिमे भूरिवक्तव्ये सप्रकाशिते ।
तन्निरीक्ष्यात्पवक्तव्य पञ्चार्धस्तेन पूरित ॥३६॥'

देखकर इस अल्पवक्तव्य उत्तरार्धको उगने [जिनसेनने] पूरा किया ।'

इसमें केवल इतना ही व्यक्त होता है कि पूर्वार्धकी रचना गुप्ते की और उत्तरार्धकी रचना शिष्यने । किन्तु ग्रन्थका पूर्वभाग यहाँ तक माना जाये, यह निर्णीत नहीं होता । जिनसेनने अपनी प्रस्ताविका जयधवला टीकाको ६० हजार श्लोक प्रमाण बतलाया है तथा उसे तीन स्कन्धोंमें विभाजित किया है—प्रदेश-विभक्तिपर्यन्त प्रथम स्कन्ध है, सक्रम, उदय और उपयोग दूसरे स्कन्धमें सम्मिलित हैं । और शेष भाग तीसरा स्कन्ध है ।

मोटे तौरपर ६८ हजार श्लोक प्रमाणको तीन भागोंमें विभाजित किया जाये, तो एक-एक स्कन्ध बीस-बीस हजार प्रमाण होना है । इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतार^१ में लिखा है कि प्रारम्भकी चार विभक्तियोंकी बीस हजार श्लोक प्रमाण रचना करनेके पश्चात् बीरसेन स्वामीका स्वर्गवास हो गया । अतः शेष भागकी ४० हजार श्लोक प्रमाण टीकाकी रचना जयसेन (जिनसेन)ने की । अतः इन्द्रनन्दिके कथनानुसार संक्रमसे पहलेका विभक्ति पर्यन्त भाग बीरसेन स्वामीने रचा था । यद्यपि गणना करनेपर विभक्तिपर्यन्त ग्रन्थका परिमाण साठे छब्बीस हजार श्लोक प्रमाण बैठता है तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि इन्द्रनन्दिने जयधवलाकी प्रस्ताविका के उक्त कथनके आधारपर ही मोटे तौरपर स्कन्धोंके प्रमाणकी परिगणना की है ।

सक्रमसे पहलेका विभक्तिपर्यन्त भाग बहुवाक्य भी है अतः जिनसेन स्वामीके कथनानुसार उसे पूर्वार्ध भाग माना जा सकता है । उक्त दोनों आचार्योंके उल्लेखोंका समन्वय करनेसे यह निष्कर्ष निकलता है ।

अन्य व्याख्यानाचार्योंका उल्लेख एवं उपसंहार

जयधवलामें कुछ अन्य व्याख्यानाचार्योंके भी व्याख्यान उल्लिखित हैं । एक स्थानपर लिखा है—'यह उच्चारणाचार्य' अभिप्राय है, परन्तु अन्य व्याख्याना-

१ 'पण्डितैवसहस्राणि ग्रन्थानां परिमाणत ।

श्लोकेनानुशुभेनात्र निर्दिष्टान्यनुपूर्वश ॥३९॥

विभक्ति प्रथमस्कन्धो द्वितीय मक्रमोदयो ।

उपयोगश्च शेषस्तु तृतीय स्कन्ध इष्यते ॥१०॥'

—ज० ध० प्र० ।

२ 'जयधवला च कपायप्राभृतके चतस्रणां विभक्तिनाम् ॥१८०॥

विंशतिसहस्रसद्ग्रन्थरचनाया सयुताविरच्य दिवम् ।

यातस्तत पुनस्तच्छिष्यो जयसेनगुरुनामा ॥१८३॥

तच्छेष चत्वारिंशता सहस्रै समापितवान् ।

जयधवलैव पण्डितसहस्रग्रन्थोऽभवद्वटीका ॥१८४॥—श्र ताव० ।

चार्य इस प्रकार कहते हैं^१ ।

इन व्याख्यानाचार्योंका मत किन्हीं विषयोंमें यतिवृषभ और उच्चारणाचार्य-से भिन्न था । लिखा है—‘यह सच है कि पूर्वोक्त व्याख्यान इस सूत्रके साथ विरोधको प्राप्त होता है, किन्तु उत्कृष्ट स्थिति और उत्कृष्ट अद्वाच्छेदमें तथा जेधन्यस्थिति और जधन्य अद्वाच्छेदमें भेद कथन करनेके लिए व्याख्यानाचार्योंने यह व्याख्यान किया है ।^२

आगे लिखा है कि यह उच्चारणाचार्यके द्वारा कहे गये अल्पबहुत्वकी सदृष्टि है । अब चिरन्तन व्याख्यानाचार्यके अल्पबहुत्वको कहते हैं^३ ।

उपर्युक्त उल्लेखोंसे स्पष्ट होता है कि जयधवलाकारके समक्ष अनेक उच्चा-चार्योंके व्याख्यान उपस्थित थे । इनमें कई उच्चारणाचार्योंकी व्याख्याएँ अति-प्राचीन भी थी । सम्भवतया उनका नाम ज्ञात न होनेसे उनमेंसे कुछको चिरन्तन व्याख्यानाचार्यकी सज्ञा दी गयी है ।

इस प्रकार जयधवला-टीकामें अनेक प्राचीन व्याख्याओंके समाविष्ट होनेसे मूल्य विषयसे भी अधिक विषय अंकित करनेका प्रयास किया गया है ।

तृतीय परिच्छेद छक्खंडागमकी अन्य टीकाएँ

वीरसेन स्वामीकी प्रसिद्ध धवलाटीकाके अतिरिक्त ‘छक्खंडागम’ पर अन्य टीकाएँ भी लिखी गयी हैं । आचार्य इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें इन समस्त टीकाओंका उल्लेख किया है । कुन्दकुन्दने परिकर्मटीका, शामकुण्डने पद्धतिटीका, तुम्बलूराचार्यने चूडामणिटीका, वप्पदेवने व्याख्याप्रज्ञप्ति और सुप्रसिद्ध तार्किक^४समन्तभद्रने सस्कृतटीका लिखी हैं । इन्द्रनन्दिने बताया है—

इस प्रकार व्याख्यान क्रमको प्राप्त होता हुआ छक्खंडागम रूप सिद्धान्त

१ ‘एसो उच्चारणाहरियाणमहिप्पाओ । अण्णे पुणवक्खाणाहरिया एव भणति ।’—क० पा०, भा० ३, पृ० २१३ ।

२ भा० ३, पृ० २९१ ।

३ ‘एसा उच्चारणप्पावहुअस्स सद्विटी । सपहि चिरन्तनवक्खाणाहरियाणमप्पावहुअं वत्तइस्सामो ।’—भा० ३, पृ० ५३२ ।

४ कालान्तरे तत पुनरासन्ध्या पलरि (२) तार्किकाकोऽभूत् ॥१६७॥

श्रीमान् समन्तभद्रस्वामात्य सोऽप्यफीत्य त द्विविधम् ॥

सिद्धान्तमत पदखण्डागमगतखण्डवृञ्चकस्य पुन ॥१६८॥

अष्टौ चत्वारिंशत् सङ्गमद्यन्तरचनया युक्तम् ।

विरचितवानिति सुन्दरमृदुसस्कृतभाषया टीकाम ॥१६९॥—श्रुतावतार

गुरुपरम्परासे आता हुआ अति तीक्ष्णबुद्धिवाली शुभनन्दि और रविनन्दि मुनिको प्राप्त हुआ। भीमरथि और कृष्णमेसा नामकी नदियोंके मध्यदेशमें सुन्दर उत्कलिका ग्रामके समीप मगणवल्ली नामक विख्यात ग्राममें वप्पदेव गुरुने उन दोनों मुनियोंके समीप उस समस्त सिद्धान्तका विशेष रूपसे श्रवण किया। अनन्तर वप्पदेव गुरुने छ सण्डोमें-से महावन्धको छोड़कर शेष पाँच सण्डोपर व्याख्या-नामक टीका लिखी।

‘छसण्डागम’ की व्याख्या पूर्ण होनेके पश्चात् ‘कमायपाहुड’ पर साठ हजार श्लोक प्रमाण टीका प्राकृतभाषामें लिखी।

इस प्रकार उक्त दोनों मूलग्रन्थों पर विभिन्न टीकाओंका उल्लेख केवल श्रुतावतारों में प्राप्त होता है। विबुध श्रीधरने अपने श्रुतावतारमें तुम्बुलूराचार्य और उनकी टीकाका निर्देश नहीं किया है। तथा इन्द्रनन्दिने महावन्ध पर रचित जिस सात हजार श्लोक प्रमाण पत्रिकाको तुम्बुलूराचार्यकी कृति कहा है, उसे उन्होंने शामकुण्डाचार्यकी ही कृति बतलाया है।

अब इन टीकाओंके अस्तित्वके सम्बन्धमें विचार प्रस्तुत किया जाता है—

कुन्दकुन्दकृत ‘परिकर्म’ नामक ग्रन्थ

इन्द्रनन्दिके कथनानुसार दोनों सिद्धान्त ग्रन्थोंकी जान कर कुण्डकुन्दपुरमें श्रीपद्मनन्दि मुनिने छ सण्डोमें-से आदिके तीन सण्डोपर बारह हजार प्रमाण परिकर्म नामक ग्रन्थ रचा। कुण्डकुन्दपुरके यह ^१श्रीपद्मनन्दि मुनि प्रसिद्ध जैनाचार्य कुन्दकुन्द ही ज्ञात होते हैं कुन्दकुन्दपुर ग्रामके निवासी होनेसे वह इसी नामसे विख्यात हुए। इनके द्वारा रचित समयपाहुड, पवयणसार, पंचात्थिकाय, णियमसार, अट्टपाहुड आदि अनेक ग्रन्थ सुप्रसिद्ध हैं, किन्तु छक्खण्डागम पर उनके किसी व्याख्या ग्रन्थका अन्यत्र संकेत प्राप्त नहीं है।

वीरसेन स्वामीकी धवला टीकामें अनेक स्थानों पर परिकर्म नामक ग्रन्थका उल्लेख बहुतायतसे मिलता है और उससे अनेक उद्धरण भी दिये गये हैं। किन्तु यह परिकर्म नामक ग्रन्थ किसके द्वारा रचा गया था, इसका कोई निर्देश धवलामें नहीं है और न उसे आगम ग्रन्थकी टीकारूप ही बतलाया गया है। धवलाटीकामें उसके उल्लेखोंकी बहुलता देखकर यह सन्देह होना स्वाभाविक है कि शायद वह परिकर्म इन्द्रनन्दिके द्वारा निर्दिष्ट टीका-ग्रन्थ ही तो नहीं है अतः हम धवला

१ श्रीपद्मनन्दीत्यनवधनामा ह्याचार्यशब्दोत्तरकोण्डकुन्द ।

द्वितीयमासीदभिधानमुधञ्चरित्र संजातसुचारण्डि ॥’

टीकासे उन सब उद्धरणों को दे देना उचित समझते हैं जिनसे परिकर्म प्रतिपादित विषयका आभास मिलता है ।

परिकर्मका सबसे अधिक उल्लेख जीवट्टाणके द्रव्यप्रमाणानुयोग अनुयोगद्वारा की घवलाटीकामें मिलता है । इस अनुयोगमें जीवोकी सख्याका कथन है ।

‘जम्हि जम्हि अणताणंतयं मगिज्जदि तम्हि तम्हि
अजहण्णमणुक्कस्स अणताणतस्सेवगहण’
इदि परियम्म वयणादो जाणिज्जदि अजहण्णमणुक्कस्स

अणताणतस्सेव गहण होदित्ति [पट्ख०, पु० ३ पु० १९]

‘जहाँ जहाँ अनन्तानन्त देखा जाता है वहाँ वहाँ अजघन्यानुत्कृष्ट अर्थात् मध्यम अनन्तानन्तका ही ग्रहण होता है’, परिकर्मके इस वचनसे जाना जाता है कि प्रकृतमें अजघन्यानुत्कृष्ट अनन्तानन्तका ही ग्रहण है ।’

‘जहण्ण अणताणतणमिज्जमाणे जहण्ण अणताणतस्स हेट्ठिमवग्गणट्ठाणेहितो उवरि अणतगुणवग्गट्ठाणाणि गतूण सव्वजीवरासिवग्गसलागा उप्पज्जदि’
त्ति परियम्मे वुत्त ।’ [पु० ३, पु० २४]

‘जघन्य अनन्तानन्तका उत्तरोत्तर वर्ग करनेपर जघन्यअनन्तानन्तके नीचेके वर्गस्थानोसे ऊपर अनन्तगुणे वर्गस्थान जाकर समस्त जीवराशिकी वर्गशालाका उत्पन्न होती है’, ऐसा परिकर्ममें कहा है ।

अणताणतविसये अजहण्णमणुक्कस्स अणताणतेणेव गुणगारेणभागहारेणविहो-
दव्व’ इति परियम्म वयणादो । (पु० ३ पु० २५)

अनन्तान्तके विषयमें गुणकार और भागहार अजघन्यानुत्कृष्ट अर्थात् मध्यम अनन्तानन्तरूप ही होना चाहिये, इस प्रकार परिकर्मका वचन है ।

ण च एद वक्खाण ‘जत्ति याणि दीवसायरख्खाणि जम्बूदीव छेदणाणि च
ख्वाहियाणि’ त्ति परियम्म सुत्तेण सह विरुज्झदित्ति ।—पु० ३, पु० ३६ ।

और यह व्याख्यान ‘जितने द्वीपों और सागरोंकी सख्या है और जम्बूद्वीपके रूपाधिक जितने ‘छेद है उतने रज्जुके अर्धच्छेद है, परिकर्म सूत्रके साथ भी विरोधको प्राप्त नहीं होता ।’

‘ज त गणणास खेज्जय त परियम्मे वुत्त ।’—पु० ३, पु० १२४ ।

वह जो गणनासख्यात है उसका कथन परिकर्ममें है ।

‘जम्हि जम्हि असख्वेज्जासखेज्जय मागीज्जदि तम्हि तम्हि अजहण्ण मणु-
क्कस्स-असख्वेज्जासज्जस्सेव गहण भवदि’ इदि परियम्मवयणादो ।—पु० १२७

‘जहाँ जहाँ असख्यात देखा जाता है वहाँ वहाँ अजघन्यानुत्कृष्ट असख्याता

सख्यात अर्थात् मध्यम अमर्यातागण्यता ही ग्रहण होता है ऐसा परिकर्मका वचन है ।

‘अट्टस्य वागिज्जमाणे वागिज्जमाणे अमरोज्जाणि उग्गट्टाणाणि गतूण सोहम्मोसाण विनराभ सुई उप्पज्जदि । सा सुट्ठ वागिदा णरेइय विचममसुई हवदि । सा सइ वागिदा भवणवागिय विचममसुई हवदि । मा मइ वागिदा घण-गुलो हवदि’ त्ति परियम्मवयणादो णव्वदे घणपदरं गुलाण वग्गमूदस्म गहण ण हवदि किंतु सूचि अगुलवागमूलस्सेव गहण होदि त्ति अण्णहा घणगुलविदिय वग्गमूल स्स अणुणत्तीदो’ ।—पृ० १३४ ‘आठका उत्तरोत्तर वर्ग करते हुए असख्यात वर्गस्यान जाकर गौधर्म और ऐशान सम्बन्धी विष्कम्भ सूची उत्पन्न होती है । उसका एक बार वर्ग करनेपर नागकसम्बन्धी विष्कम्भ सूची होती है । उसका एक बार वर्ग करनेपर भवनरागी देवों सम्बन्धी विष्कम्भ सूची प्राप्त होती है । उसका एक बार वर्ग करनेपर घनागुल होता है’ परिकर्मके इस कथनसे जाना जाता है कि प्रकृतमें घनागुल और प्रतरागुलके वर्गमूलका ग्रहण नहीं किया है किन्तु सूच्यगुलके वर्गमूलका ही ग्रहण किया है ।’

‘रज्जू गत्त गुणिदा जगसेटी, मा वग्गिदा जगपदरं, भेटीए गुणिदजगपदरं घणलागो होदि’ त्ति परियम्म मुत्तेण सव्वाडरियसम्मदेण विरोहप्पसगादो च ।—पृ० ४, पृ० १८४ । ‘राजूको सातसे गुणा करने पर जगश्रेणी होती है, जगश्रेणीको जगश्रेणीसे गुणा करनेपर जगप्रतर होता है और जगप्रतरको जगश्रेणीसे गुणा करनेपर घनलोक होता है’ इस सर्व आचार्योंमें सम्मत परिकर्म सूत्रसे विरोधका भी प्रसंग प्राप्त होता है ।

‘सव्वोहि उक्कस्सखेत्तुप्पायणट्ठं परमोहि उक्कस्सखेत्त तिस्से चैव चरिमअण-वट्ठिद गुणगारेण आवलियाए असखेज्जदि भाग पटुप्पणेण गुणिज्जदित्ति के वि भणत्ति । तण्ण घडदे, परियम्मे वुत्त ओहिणिवद्ध खेत्ताणुप्पत्तीदो ।’—पृ० ९, पृ० ४८ ।

सर्वाविधि ज्ञानके उत्कृष्ट क्षेत्रको उत्पन्न करानेके लिए परमावधिके उत्कृष्ट क्षेत्रको आवलीके असख्यातवें भागसे उत्पन्न करानेके लिए परमावधिके उत्कृष्ट क्षेत्रको आवलीके असख्यातवें भागसे उत्पन्न उसके ही अन्तिम अनवस्थित गुणकारसे गुण किया जाता है, ऐसा कोई आचार्य कहते हैं । किन्तु यह घटित नहीं होता, क्योंकि ऐसा मानने पर परिकर्म में कहे हुए अवधिसे निबद्ध क्षेत्र नहीं बनते ।’

‘जदि सुदणाणिस्स विसओ अणतसखा होदि तो जमुवकस्स सखेज्जं विसओ चोइसपुव्विस्से त्ति परियम्मे वुत्तं त कध घडदे ?—यु० ९, पृ० ५६ ।

यदि श्रुतज्ञानका विषय अनन्त सख्या है तो चौदह पूर्वीका विषय उकृष्ट संख्यात है । ऐसा जो परिकर्ममें कहा है, वह कैसे घटित होगा ।

‘एदे जोगाविभागपडिच्छेदा च परियम्मे वग्गसमुद्धिदात्ति पळुविदा’—पु० १०, पु० ४८३ ।

परिकर्ममें इन योगोके अविभागी प्रतिच्छेदोंको वर्गसमुत्थित बतलाया है ।

‘अपदेस णेव इदिए गेज्झ इदि परमाणूण णिखयवत्त परियम्मे वुत्तमिदि णासकणिज्ज पदेसो णाम् परमाणु सो जम्हि परमाणुम्हि सम्भेद भावेणणत्थि सो परमाणुअयदे समोत्ति परियम्मे वुत्तो । तेण ण णिखयवत्त तत्तो गम्मदे ।’—पु० १३ पु० १८ ।

‘परमाणु अप्रदेशी होता है और उसका इन्द्रियो द्वारा ग्रहण नहीं होता’ इसप्रकार परमाणुओका निरवयनपना परिकर्ममें कहा है ।’ ऐसी आशका नहीं करना चाहिये, क्योंकि प्रदेशका अर्थ परमाणु है । वह जिस परमाणुमें समवेत भावसे नहीं है वह परमाणु अप्रदेशी है ऐसा परिकर्ममें कहा है । अतः परमाणु निरवयव है यह बात परिकर्मसे नहीं जानी जाती ।’

सव्वजीवरासिदो लद्धिमक्खरमणतगुणमिदि कुदो णव्वदे ? परियम्मादो । त जहा—सव्वजीवरासी वागोज्जमाणा अणत्त लोगमेत्तवग्गणट्ठाणाणि उवरि गतूण सव्वपोगलदव्व पावदि । पुणो सव्वपोग्गालदव्व वग्गिज्जमाण वाग्गिज्जमाण अणत्त लोगमेत्तवग्गणट्ठाणाणि उवरि गतूण सव्वकाल पावदि । पुणो सव्वकाला वग्गिज्जमाणा वाग्गिज्जमाणा अणत्तलोगमेत्तवग्गणट्ठाणाणि उवरि गतूण सव्वागाससेहि पावदि । पुणो सव्वागाससेढी वाग्गिज्जमाणा वग्गिज्जमाणा अणत्तलोगमेत्त वग्गणट्ठाणाणि उवरि गतूण घम्मात्थिय अघम्मात्थियदव्वाणमगुरुअलहुअगुण पावदि । पुणो घम्मात्थिय-अघम्मात्थियअगुरुअलहुअगुणो वग्गिज्जमाणो वग्गिज्जमाणो अणत्तलोकमेत्तवग्गणट्ठाणाणि उवरि गतूण एगजीवस्स अगुरुअलहुअगुण पावदि । पुणो एगजीवस्स अगुरुअलहुअगुणो वग्गिज्जमाणो, वग्गिज्जमाणोअणत्त लोगमेत्तवग्गणट्ठाणाणि उवरि गतूण सुहुमणिगोद अपज्जत्तयस्स लद्धिमक्खर पावदित्ति परियम्मे मणिदा’ —पु० १३, पु० २६२-६३ ।

‘सब जीव राशिसे लब्धक्षर ज्ञान अनन्तगुणा है यह किस प्रमाणसे जाना जाता है ? परिकर्मसे जाना जाता है । परिकर्ममें कहा है—‘सब जीव राशिका उत्तरोत्तर वर्ग करने पर अनन्त लोक प्रमाण वर्गस्थान आगे जाकर सर्व पुद्गल-द्रव्योंका प्रमाण प्राप्त होता । पुन सर्व पुद्गल द्रव्यके प्रमाणका उत्तरोत्तर वर्ग करनेपर अनन्त लोकमात्र वर्गस्थान आगे जाकर सर्व काल का प्रमाण आता है । पुन सर्वकालके प्रमाणका वर्ग करते-करते अनन्तलोक प्रमाण वर्ग स्थान आगे जाकर समस्त आकाश श्रेणी प्राप्त होती है । पुन सर्व आकाश श्रेणीका वर्ग करते-करते अनन्तलोक प्रमाण वर्ग स्थान जानेपर आगे धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय

द्रव्यके अगुलघुगुण प्राप्त होते हैं। पुनः धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायके अगुरु-लघुगुणोंका उत्तरोत्तर वर्ग करने पर अनन्त लाभ प्रमाण वर्गस्थान आगे जाकर एक जीवका अगुलघुगुण प्राप्त होता है। पुनः एक जीवके अगुलघुगुणका उत्तरोत्तर वर्ग करनेपर अनन्तलोभमात्र वर्गस्थान आगे जाकर सूक्ष्मनिर्गोदिया लब्धपर्याप्तकका लब्धक्षर श्रुतज्ञान होता है।'

'सखेज्जावलिगाहि एगो उस्सासो, सत्तुस्तासेहि, एगो थोवो होदित्ति परियम्मवमणादो।' —पृ० १३, पृ० २९९।

'सख्यात आवलियोका एक उच्छ्वास होता और सात उच्छ्वासका एक स्तोक होता है, ऐसा परिकर्मका वचन है।

'असखेज्जमेत्त कुदो णव्वदे ? परियम्मादो।' त जहा परियम्मे भण्णिदं।

यहां गुणकारका प्रमाण असख्यात लोक है, यह (पृ० १४, पृ० ३७४-७५।)

किस प्रमाणसे ज.ना जाता है ? परिकर्मसे जाना जाता है।

धवलाटीकामें पाये जानेवाले परिकर्मके उक्त उद्धरणोंसे यह स्पष्ट हो जाता है कि परिकर्मका प्रधान प्रतिपाद्य विषय जैन गणित है, इसीसे उसके प्राय सभी उद्धरण गणनासे सम्बद्ध पाये जाते हैं। सम्भवतया गणनाके प्रसंगसे ही उसमें ज्ञानोकी भी चर्चा आयी है, क्योंकि श्रुतज्ञान और उसके एक भेद लब्धक्षर श्रुत ज्ञानके प्रमाणका भी उसमें वर्णन है। तथा वह प्राकृत गद्य रूपमें रचा गया था किन्तु 'अपदेसं णेव इदि ए गेज्ज' उद्धरणसे यह भी व्यक्त होता है कि उसमें गाथा भी होनी चाहिये। और द्रव्योंका वर्णन भी होना चाहिए।

जैसा कि हम लिख आये हैं कि परिकर्मके अधिकतर उद्धरण जीवद्वाराणके द्रव्य प्रमाणानुगम अनुयोगद्वाराकी धवला टीकामें हैं। द्रव्य प्रमाणमें गुण स्थानों और मार्गणास्थानोंमें जीवोंकी सख्या बतलायी गयी है। उद्धरणोंसे प्रकट होता है कि उसमें भी गति आदिकी अपेक्षा जीवोंकी संख्याका प्रतिपादन होना चाहिये।

किन्तु 'परिकर्म' षट्खण्डागमकी व्याख्या है, इसका कोई निर्देश धवलाकारने नहीं किया है। बल्कि एक दो स्थानों पर 'परिकर्मसूत्र' करके उसका निर्देश किया है, जिससे ऐसा आभास आता है कि वह कोई स्वतंत्र ग्रन्थ था। किन्तु कुछ निर्देश ऐसे भी मिलते हैं जिनसे विपरीत भावना व्यक्त होती है।

वेदना खण्डके वेदना भाव विधान नामक अधिकार के सूत्र नम्बर २०८ की व्याख्या दृष्टव्य है। सूत्रमें कहा गया है कि 'एक कम जघन्य असंख्यातकी वृद्धिसे सख्यात भाग वृद्धि होती है।' इसकी धवलामें लिखा है कि एक कम जघन्य असंख्यात कहनेसे उत्कृष्ट सख्यातका ग्रहण करना चाहिये। इसपर शंका की गयी कि सीधेसे उत्कृष्ट सख्यात न कहकर और सूत्रको बड़ा करके 'एक कम जघन्य

असख्यात' ऐसा क्यों कहा ? तो उत्तर दिया गया—'उत्कृष्ट सख्यातके प्रमाणके साथ सख्यात भाग वृद्धिका प्रमाण बतलानेके लिए वैसा कहा गया है' । इससे आगे धवलाकरने लिखा है—

'परिक्रमादो उक्कस्ससखेज्जयस्स पमाण भवगदमिदि ण पञ्चवट्ठाण कादु जुत्त तस्स सुत्तत्ता भावादो । एदस्स णिस्सेस्स आइरियाणुग्गहणेण पद वि णिग्गयस्स एदम्हादो पुघत्तविरोहादो वा ण तदो उक्कस्ससखेज्जयस्स पमाण सिद्धी ।'
—पृ० १२, पृ० ५४ ।

'यदि कहा जाये कि उत्कृष्ट सख्यातका प्रमाण परिकर्मसे ज्ञात है तो ऐसा प्रत्यवस्थान करना उचित नहीं है क्योंकि उसमें सूत्र रूपताका अभाव है । अथवा आचार्यके अनुग्रहसे पदरूपसे निकले हुए इस समस्त परिकर्मके चूँकि इससे पृथक् होनेका विरोध है इसलिए भी इससे उत्कृष्ट सख्यातका प्रमाण सिद्ध नहीं होता ।' इस कथनमें प्रथम तो परिकर्मको सूत्र नहीं बतलाया है, दूसरे उसे इससे (षट्खण्डागम) भिन्न होनेका विरोध किया है । किन्तु परिकर्म इससे भिन्न क्यों नहीं है उक्त कथनसे स्पष्ट नहीं हो पाता । 'आचार्यके अनुग्रहसे पदरूप निकले हुए' इस शब्दार्थका भाव स्पष्ट नहीं होता । वे कौन आचार्य थे जिनके अनुग्रहसे परिकर्म की निष्पत्ति हुई, फिर 'पद विनिर्गत' शब्दसे क्या अभिप्राय धवलाकारको इष्ट है, सो सब अस्पष्ट ही रह जाता है । किन्तु फिर भी इतना तो स्पष्ट होता है कि परिकर्मका षट्खण्डागम सूत्रके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है । अन्यथा सूत्र २०८की व्याख्या में यह क्यों कहा जाता कि उत्कृष्ट सख्यातका प्रमाण तो परिकर्मसे अवगत है तब यहाँ उत्कृष्ट सख्यात न कहकर 'एक कम जघन्य असख्यात' क्यों कहा । और क्यों उसके इससे भिन्न होनेका विरोध किया । इसी तरहकी चर्चा जीवट्टाणके द्रव्य प्रमाणानुगम अनुयोग द्वारके सूत्र ५२ की धवलामें भी है । सूत्रमें क्षेत्रकी अपेक्षा लब्ध्यपर्याप्त मनुष्योका प्रमाण जगत श्रेणीके असख्यातवें भाग बतलाकर यह भी बतला दिया है कि 'जगश्रेणीके असख्यातवें भागरूप श्रेणी असख्यात करोड योजन प्रमाण होती है ।'

धवलामें इस पर यह शकाकी गयी है इसके कहनेकी क्या आवश्यकता थी ? इसका उत्तर दिया गया कि इस सूत्रसे इस बातका ज्ञान नहीं हो सकता था कि जगश्रेणीके असख्यातवें भागरूप श्रेणीका प्रमाण असख्यात करोड योजन है । तो फिर शका की गयी कि परिकर्मसे इस बातका ज्ञान हो जाता है तब फिर सूत्रमें ऐसा कहनेकी क्या आवश्यकता है तो उत्तर दिया गया कि इस सूत्रके बलसे परिकर्मकी प्रवृत्ति हुई है ।'

परिकर्म षट्खण्डागम सूत्रोका व्याख्यान ग्रन्थ है, उक्त दोनो उद्धरणोंसे बराबर ऐसा लगता है कि परिकर्म अवश्य ही षट्खण्डागम सूत्रो का व्याख्यान ग्रन्थ था ।

खुदाबन्धके कालानुगम अनुयोग द्वारमें वादर पृथिवी-कायिक आदि जीवोंकी उत्कृष्ट ? स्थिति बतलानेके लिए एक सूत्र आता है—‘उक्कस्सेण कम्मट्ठिदी ॥७७॥’ अर्थात् अधिक से अधिक से अधिक कर्मस्थिति प्रमाण काल तक जीव वादर पृथिवी-कायिक, आदिमें रहता है ।

इस सूत्रकी ध्वलामें लिखा है—‘सूत्रमे जो ‘कम्मट्ठिदी’ शब्द आया है उससे सत्तर कोडा-कोडी सागरोपम मात्र कालका ग्रहण करना चाहिये । फिर लिखा है—‘के वि आइरिया सत्तरि सागरो इम कोडाकोडिमावलियाए असखेज्जदि भागेण गुणिदे वादर पुढवि कायादीण कायट्ठिदी होदित्ति भणत्ति । तोसि कम्मट्ठिदि ववएसो कज्जे कारणोवयरादो । एद वक्खानमत्थित्ति कधं णव्वेदं ? कम्मट्ठिदिमावलियाए असखेज्जदि भागेण गुणिदे वादरट्ठिदि होदि त्ति परियम्म वयणण्णहाणुववत्तीदो । तत्थ सामण्णे वादरट्ठिदी होदि त्ति ज वि उत्त तो वि पुढविकायदीणं वादराण पत्तेयकायट्ठिदी घेत्तव्वा, असखेज्जाखेज्जाओ ओसप्पिणी-उत्सप्पिणीओत्ति सुत्तम्मि वादरट्ठिदि परूवणादो ।’—पु० ७, पृ० १४५ ।

‘किन्हीं आचार्योंका ऐसा कहना है कि सत्तर सागरोपम कोडा-कोडीको आवलीके असंख्यातवें भागसे गुणा करने पर वादर पृथिवीकायिक आदि जीवोंकी कायस्थितिका प्रमाण होता है । किन्तु उनकी कर्मस्थिति यह सज्ञा कार्यमें कारणके उपचारसे ही सिद्ध होती है ।

शङ्का—ऐसा व्याख्यान है यह कैसे जाना ?

समाधान—‘कर्मस्थितिको आवलीके असंख्यातवें भागसे गुणित करनेपर वादर स्थिति होती है, परिकर्मके ऐसे वचनकी अन्यथा उपपत्ति बन नहीं सकती है । वहाँ पर (परिकर्म में) यद्यपि सामान्यसे ‘वादर स्थिति होती है, ऐसा कहा है तो भी प्रत्येक वादर पृथिकायादिकी काय स्थिति ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि सूत्रमें (षट्ख०) वादर स्थितिका कथन असंख्यात अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी प्रमाण किया है ।’

इस उद्धरणमें जो खुदाबन्धके ७७वें सूत्रके विषयमें यह शका की गयी है कि ऐसा व्याख्यान है यह कैसे जाना और उसके समाधानमें जो यह कहा है कि यदि ऐसा व्याख्यान न होता तो परिकर्मका इस प्रकारका कथन नहीं बन सकता था उससे प्रकृत विषय पर थोडा विशेष प्रकाश पडता है । और ऐसा प्रतीत होता है कि परिकर्म सूत्रोंके व्याख्यानसे सम्बन्ध अवश्य था ।

उक्त चर्चा जीवट्टाणके कालानुगमकी ध्वला टीकामें प्रकारान्तरसे आई है उसमें लिखा है—

‘के वि आइरिया कम्मट्ठिदीदो वादरट्ठिदी परियम्मे उप्पण्णा त्ति कज्जे कारणोवयार-मवलंबिय वादरट्ठिदीए जेय कम्मट्ठिदि सण्णमिच्छति, तन्न घटते,

‘गौणमुख्ययो मुख्ये सप्रत्यय इति न्यामात् । ण च वादगणं गामण्येण वृत्तकालो वादरेगदेगण वादर पुढविकाइयाण पि सोचेव होदि त्ति, विरोहा ।’—पृ० ४, पृ० ४०३ ।

कोई आचार्य ‘कर्मस्थितिसे वादर स्थिति परिकर्ममें उत्पन्न हुई है’ इसलिए कार्यमें कारणता उपचार करके वादर स्थिति की ही कर्मस्थिति मजा मानते हैं । किन्तु यह घटित नहीं होता, क्योंकि ‘गौण और मुख्यमें मे मुख्यका ही ज्ञान होता है’ ऐसा न्याय है । तथा वादरोका सामान्य रूपसे कहा हुआ काल वादरोके एक देश वादर पृथिवीकायिको का भी, वही ही नहीं हो सकता, क्योंकि इसमें विरोध आता है ।’

खुदाबन्धमें भी उक्त चर्चा ‘उक्कस्सेण कम्मट्ठिदी ॥७७॥’ सूत्रकी व्याख्यामें आयी है । और जीवट्टाणके कालानुगममें भी ‘उक्कस्सेण कम्मट्ठिदी ॥१४४॥ सूत्रकी व्याख्यामें उक्त चर्चा निबद्ध है । उक्त चर्चासे प्रकट होता है कि परिकर्ममें वर्णित वादरस्थिति ‘कर्मस्थिति’ से उत्पन्न हुई है । अर्थात् पट्खण्डागमके सूत्रमें आगत ‘कर्मस्थिति’ शब्दसे ही परिकर्मगत वादरस्थिति उत्पन्न हुई है । अतः यह तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि पट्खण्डागम सूत्रोके आधार पर ही परिकर्म रचा गया किन्तु एक उद्धरणसे पट्खण्डागमसे परिकर्ममें कही कुछ मतभेद भी प्रतीत होता है ।

यही चर्चा जीव ट्टाणके कालानुगममें एक जीवकी अपेक्षा वादर एकेन्द्रियकी उत्कृष्ट स्थिति बतलानेवाले सूत्र ११२ की धवलामें भी आयी है । लिखा है—

कम्मट्ठिदी मावलिआए असखेज्जदि भागेण गुणिदे वादरट्ठिदी जादा त्ति परियम्म वयणेण सह एद सुत्त विरुज्जदि त्ति णेदस्स ओवखत्तं, सुत्ताणुसारि परियम्म-वयण ण होदि त्ति तस्सेव ओवखत्तप्पसगा ।’—पृ० ४, पृ० ३९० ।

‘कर्मस्थितिको आवली के असख्यातवे भागसे गुणा करनेपर वादर स्थिति उत्पन्न हुई है परिकर्मके इस वचनके साथ यह सूत्र विरुद्ध पड़ता है इसलिए इस सूत्रको अवक्षिप्तताका प्रसंग नहीं आता । किन्तु परिकर्मका वचन सूत्रानुसारी नहीं है इसलिए परिकर्मकी ही अवक्षिप्तताका प्रसंग आता है ।’

यहाँ हम यह स्पष्ट कर देना उचित समझते हैं कि उक्त चर्चामें जो परिकर्मके वचनको सूत्रानुसारी नहीं होनेके कारण अवक्षिप्तताका प्रसंग दिया है । इसीका परिहार खुदाबन्धकी धवलाके उक्त उद्धरणके अन्तमें वीरसेनस्वामीने ही स्वयं कर दिया है । उन्होने लिखा है—

‘वहाँ (परिकर्ममें) यद्यपि सामान्यसे ‘वादरस्थिति होती है ऐसा कहा है तथापि पृथिवीकायादि वादरोमेंसे प्रत्येककी कायस्थिति लेनी चाहिये क्योंकि सूत्र

(षट्खण्ड०) में असंख्यात उत्सार्पणी-अवसर्पिणी प्रमाणं वादर स्थिति कही है । अर्थात् परिकर्ममें जो वादरस्थिति कही है, वह पृथिवीकायिक, आदि प्रत्येक वादर-कायिक जीवकी है और जीवट्टाण के कालानुगम अनुयोगद्वारके सूत्र ११२ में जो वादर स्थिति, कही है वह वादर एकेन्द्रिय सामान्यकी उत्कृष्ट स्थिति है अस्तु । किन्तु धवलामें ही परिकर्मको लेकर एक चर्चा और भी है जो इस प्रकार है—

‘जत्तियाणि दीवसागर रूवाणि जबूदीवच्छेदणाणि च रुवाहियाणि तत्तियाणि रज्जुच्छेदणाणि’ त्ति परियम्पण एद वक्खाण किण्ण विरुज्झदे ? एदेण सह विरुज्झदि, किंतु सुत्तेण सट्ठण विरुज्झदि । तेणेदस्स वक्खाणस्स गहण कायव्व ण परियम्मस्स, तस्स सुत्तविरुद्धत्तादो । ण सुत्त विरुद्ध वक्खणं होदि, अइप्पसग्गादो ।’—पु० ४, पृ० १५६ ।

शका—‘जितनी द्वीप और सागरोकी सख्या है तथा जितने जम्बूद्वीपके अर्धच्छेद होते हैं, एक अधिक उतने ही राजुके अर्धच्छेद होते हैं’ इस परिकर्मके साथ यह उपर्युक्त व्याख्यान क्यों नहीं विरोधको प्राप्त होता ?

समाधान—भले ही परिकर्मके साथ उक्त व्याख्यान विरोधको प्राप्त होता हो, किन्तु प्रस्तुत सूत्रके साथ विरोधको प्राप्त नहीं होता । इस कारणसे इस व्याख्यानको स्वीकार करना चाहिए, परिकर्मको नहीं, क्योंकि परिकर्मका व्याख्यान सूत्रविरुद्ध है । और जो व्याख्यान सूत्र विरुद्ध हो उसे व्याख्यान नहीं माना जा सकता, अन्यथा अतिप्रसंग दोष आता है ।’

उक्त उद्धरणमें परिकर्मको जो सूत्र विरुद्ध व्याख्यान कहा है । इससे भी उसके षट्खण्डागम सूत्रोंके व्याख्यान रूप होनेका ही समर्थन होता है । प्रश्न केवल सूत्र विरुद्धताका रह जाता है । किन्तु जीवट्टाणके ही द्रव्य प्रमाणानुगमकी धवलामें उक्त सूत्र विरुद्धताका परिहार भी किया है । लिखा है—

‘ण च एद वक्खाण जत्तियाणि दीवसागररूवाणि जबूदीवच्छेदणाणि च रुवाहियाणि त्ति परियम्म सुत्तेण सह विरुज्झइ, रुवेण अहियाणि रुवाहियाणि त्ति गहणादो ।’—पु० ३, पृ० ३६ ।

‘और यह व्याख्यान ‘जितने द्वीपों और सागरोंकी सख्या है और जम्बूद्वीपके रूपाधिक जितने अर्धच्छेद हैं’ इस परिकर्म सूत्रके साथ भी विरोधको प्राप्त नहीं होता क्योंकि वहाँ ‘रूपाधिकका’ अर्थ रूपसे अधिक रूपाधिक नहीं लिया किन्तु रूपसे अधिक रूपाधिक लिया है ।’

उक्त उद्धरणोंसे जो तथ्य प्रकाशमें आते हैं उनसे यही प्रमाणित होता है कि परिकर्मकी उत्पत्ति षट्खण्डागमके सूत्रोंसे ही हुई थी और वह बहुत करके उनका व्याख्यात्मक ग्रन्थ होते हुए भी केवल व्याख्यारूप नहीं था । तथा ‘सर्वाचार्य-

सम्मत' था अनेक व्याख्याकारोंने अपनी व्याख्याओंका उसे आधार बनाया था अथवा उसकी साहायता लेकर अपनी व्याख्याएँ लिखी थी। घवलाकार श्रीवीरसेन स्वामीके सम्मुख वह मौजूद था और उन्होंने भी उसका सहाय्य ग्रहण किया था। अतः इन्द्रनन्दिने पटङ्गण्डागमके आद्य तीन खण्डोंपर परिकर्म नामक ग्रन्थकी रचना करनेका निर्देश किया है वह यथार्थ प्रतीत होता है यहाँ एक बात विशेष रूपसे उल्लेखनीय है। इन्द्रनन्दिने परिकर्म ग्रन्थकी पद्धति, व्याख्या, टीका आदि शब्दोंसे नहीं कहा है जबकि अन्य व्याख्यात्मक ग्रन्थोंको इन शब्दोंसे अभिहित किया है। इससे प्रकट होता है कि यद्यपि परिकर्म ग्रन्थको आधार पटङ्गण्डागम सूत्र थे किन्तु वह केवल एक व्याख्यारूप ग्रन्थ नहीं था। घवलाके उद्धरणोंसे भी इसी बातका समर्थन होता है।

इन्द्रनन्दिने परिकर्मका रचयिता पद्मनन्दि अपर नाम कुन्दकुन्दको बतलाया है। आचार्य कुन्दकुन्द दि० जैन परम्पराके एक ख्यात नाम प्राचीन आचार्य थे। उनके द्वारा रचित ग्रन्थोंकी भाषा प्राकृत है और परिकर्म भी प्राकृत भाषामें ही रचा गया था यह बात उसके उद्धरणोंसे प्रमाणित होती है। किन्तु कुन्दकुन्दके सभी उपलब्ध ग्रन्थ गायान्वद्ध हैं, जबकि परिकर्म गद्य प्राकृतमें रचा गया प्रमाणित होता है। इसका कारण परिकर्मका व्याख्यात्मक होना सम्भव है। जैसे आचार्य यतिवृषभने कसायपाहुडपर चूर्णिसूत्रोंकी रचनाकी थी शायद उसी तरह कुन्दकुन्दने पटङ्गण्डागमके आधारपर परिकर्मसूत्र नामक ग्रन्थकी रचना की थी। उससे घवलाकारने एक उद्धरण इसप्रकार दिया है

‘अपदेस णेवइदिए इदिए गेज्झ’ इदि परमाणूण णिरवयवत्त परियम्मे वुत्ता’ पु १३, पृ १८ अपदेसणेव इदिए गेज्झ’ यह उद्धरण गाथाका अंश प्रतीत होता है। कुन्दकुन्दके नियमसारकी एक गाथाका जो परमाणुका स्वरूप बतलाती है द्वितीय चरण ‘णेव इदिए गेज्झ’ है किन्तु उसके पहले जो ‘अपदेस’ शब्द है वह उसमें नहीं है। अतः सम्भव है कि जिस गाथाका उक्त अंश है वह गाथा नियमसार वाली गाथासे भिन्न हो। किन्तु उससे दो बातें प्रमाणित होती हैं, प्रथम परिकर्ममें गाथाओंका अस्तित्व और दूसरे परिकर्मका कुन्दकुन्द रचित होना।

पचास्ति कायके अग्रेजी अनुवादकी अपनी प्रस्तावनामें डा० चक्रवर्तीने तथा प्रवचनसारकी अपनी प्रस्तावनामें डा० ए० एन० उपाध्यायेने कुन्दकुन्दका समय ईसाकी प्रथम शती सुनिश्चित किया और नन्दिसघकी पटङ्गलीके आधार पर

१ ‘अत्तादि अत्तमज्झ अत्त त णेव इदिए गेज्झ।

अविभागी ज दब्ब त परमाणू विजाणीहि ॥२६॥’

पुष्पदन्तका समय ईसाकी दूसरी शतीका पूर्वार्द्ध प्रमाणित होता है ऐसी स्थितिमें कुन्द-कुन्दका समय ईसाकी दूसरी शतीके मध्यमे पहिले नहीं होना चाहिए ।

शामकुण्डकृत 'पद्धति'—

इन्द्रनन्दिके अनुसार यह टीका पट्खण्डागमके पाच खण्डोपर तथा कसाय-पाहुडपर रची गयी थी । यह टीका पद्धति रूप थी । जयधवलाके अनुसार सूत्र-वृत्ति इन तीनोंके विवरणको 'पद्धति' कहते हैं । तदनुसार वह पद्धति नामक टीका कसायपाहुडके गाथा सूत्रो और वृत्तिका विवरण रूप होनी चाहिये इसी पट्खण्डागमके भी किन्ही सूत्रो और वृत्तिको लेकर यह रची गया होगी । शायद वह वृत्ति परिकर्म सूत्र ही हो । इन्द्रनन्दिके अनुसार यह टीका परिकर्मसे कितने ही काल पश्चात् लिखी गयी थी । और उसकी भाषा प्राकृत, मस्कृत और कन्नडी तीनों मिश्रित थी ।

जयधवलामें वृत्तिसूत्र, टीका, पजिका, और पद्धतिका लक्षण है तथा जयधवलाकी अन्तिम प्रशस्तिमें एक श्लोक द्वारा कपाय-प्राभृत विषयक साहित्यका विभाग इस प्रकार किया है—'सूत्र^२ तो गाथा सूत्र है, चूर्णिसूत्र वार्तिक अथवा वृत्तिरूप है टीका श्री वीरसेन रचित जयधवला है और शेष या तो पद्धति रूप है या पजिकारूप है ।' यहाँ बहुवचनान्त 'शेषा' शब्दसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है, कि कपाय-प्राभृत पर अन्य भी अनेक विवरणात्मक ग्रन्थ थे जिन्हें जयधवलाकारने पद्धति या पजिका कहा है । उन्हींमें शामकुण्डाचार्य रचित 'पद्धति' भी हो सकती है । किन्तु धवला या जयधवलामें इस टीकाका कोई उल्लेख नहीं मिलता ।

साथही शामकुण्ड नामक किन्ही आचार्यका पता भी अभी तरु नहीं लग सका है । शामकुण्ड नाम कुन्दकुन्दका ही प्रतिपक्षी ज्ञात होता है । दोनोंके अन्तमें कुण्ड या कुन्द शब्द आता है । और साम (श्याम) कुन्दका विपरीत है—कुन्द सफेद होता है और श्याम कालेको कहते हैं । अतः कुन्दकुन्द नामको सामने रख कर ही 'सामकुण्ड' नामकी उपज होना सम्भव है ।

तुम्बुलूराचार्य कृत 'चूडामणि'—

इन्द्रनन्दिने शामकुण्डाचार्य रचित पद्धतिके पश्चात् तुम्बुलूराचार्य रचित 'चूडामणि' नामकी व्याख्याका उल्लेख किया है और बतलाया है कि यह व्याख्या पट्खण्डागमके प्रथम पाचखण्डोपर तथा कसाय-पाहुड पर रची गयी थी और उसका प्रमाण चौरासी हजार था । उसकी भाषा कन्नडी थी । इसके अतिरिक्त

१. सुत्तचित्ति विवरणाण पद्धई ववएसादो ।'—क० पा०, भा० २, पृ० १४ ।

२. 'गाथासूत्राणि सूत्राणि चूर्णिसूत्र तु वार्तिकम् ।

टीका श्रीवीरसेनीया शेषा. पद्धति पजिका. ॥२९॥'

उन्होंने छठवें महावन्ध पर सात हजार श्लोक प्रमाण पत्रिका भी लिखी थी। इस प्रकार उनकी कुल रचनाओंका प्रमाण ९१ हजार था। धवला और जय धवलामें इनका कोई उल्लेख हमारे दृष्टिगोचर नहीं हुआ।

भट्टाकलक नामक एक विद्वान्ने अपने कर्नाटक 'शब्दानुशासनमें कनडी भाषामें रचित चूडामणि नामक महाशास्त्रका उल्लेख किया है। किन्तु उसे तत्त्वार्थ महाशास्त्रका व्याख्यान बतलाया है तथा उसका परिणाम भी ९६ हजार बतलाया है। इससे इतना तो प्रमाणित होता है कि कनडी भाषामें एक चूडामणि नामक बृहत्काय व्याख्या थी। किन्तु वह व्याख्या इन्द्रनन्दिके कथनानुसार दोनो सिद्धान्त ग्रन्थोंकी या भट्टाकलकके निर्देशानुसार तत्त्वार्थ महाशास्त्रकी थी, यह विचार-प्रस्त है।

तत्त्वार्थ महाशास्त्र^२ तत्त्वार्थ सूत्रको कहा गया है। विद्यानन्दि^३ने 'तत्त्वार्थ-शास्त्र' नामसे उसका उल्लेख किया है। किन्तु आदरणीय श्री जुगलकिशोर जी मुख्तारने लिखा^४ है—तत्त्वार्थ सूत्रका अर्थ तत्त्वार्थ विषयक शास्त्र होता है और इसीसे उमास्वातिका तत्त्वार्थ-सूत्र, तत्त्वार्थ-शास्त्र और तत्त्वार्थविधिगम मोक्षशास्त्र कहलाता है किन्तु आपने यह भी लिखा है कि पुष्पदन्त भूतवल्यादि आचार्यों द्वारा विरचित सिद्धान्त शास्त्रको भी तत्त्वार्थ शास्त्र या तत्त्वार्थ महाशास्त्र कहा जाता है। इन सिद्धान्त शास्त्रों पर तुम्बुलूराचार्यने कनडी भाषामें चूडामणि नामकी टीका लिखी है जिसका परिमाण इन्द्रनन्दिकृत 'श्रुतावनारमें ८४ हजार और कर्नाटक शब्दानुशासनमें ९६ हजार श्लोकोका बतलाया है।'

कर्नाटक शब्दानुशासनके उल्लेखको उद्धृत करके मुख्तारसाहबने लिखा है—'इस उल्लेखसे स्पष्ट है कि चूडामणि जिन दोनो (कर्मप्राभृत और कषाय प्राभृत) सिद्धान्त शास्त्रोंकी टीका कहलाती है, उन्हें यहाँ तत्त्वार्थ महाशास्त्रके नामसे उल्लेखित किया गया है। इससे सिद्धान्तशास्त्र और तत्त्वार्थ दोनोकी एकार्थताका समर्थन होता है। और साथ ही यह पाया जाता है कि कर्मप्राभृत कषाय प्राभृत ग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र कहलाते थे। तत्त्वार्थ विषयक होनेसे उन्हें तत्त्वार्थशास्त्र या तत्त्वार्थसूत्र कहना कोई अनुचित भी प्रतीत नहीं होता।'

१ 'न चैषामापा शास्त्रानुपयोगिनी, तत्त्वार्थमहाशास्त्रव्याख्यानस्य पण्णवतिसहस्रप्रमित ग्रन्थसन्दर्भरूपस्य चूडामण्यभिधानस्य महाशास्त्रस्य ।'

—'इन्सक्रिगशूनस पेट श्रवणबेलगोला' से उद्धृत।

२ 'प्रमाणनयैरधिगम' इति महाशास्त्रतत्त्वार्थसूत्रम् ।'—न्या० दी० ।

३ ननु च तत्त्वार्थशास्त्रस्यादिस्त्र'—त० श्लो० वा०, पृ० ४ ।

'इति तत्त्वार्थशास्त्रादौ'—आ० प० अन्तिम श्लोक ।

४ जै० सा० ६० वि० प्र० ।

षट्खण्डागम पुस्तक^१ की अपनी प्रस्तावनामें प्रोफेसर हीरालालजीने भी लिखा—‘इन ग्रन्थोंकी भी तत्त्वार्थ महाशास्त्र नामसे प्रसिद्धि रही है, क्योंकि, जैसा हम ऊपर कह आये हैं, तुम्बुलूराचार्यकृत इन्ही ग्रन्थोंकी चूडामणि टीकाको अकलकदेवने तत्त्वार्थ-महाशास्त्र-व्याख्यान कहा है’ (पृ ५१) ।

जैसा कि हम ऊपर लिख आये हैं, ‘तत्त्वार्थसूत्र’ नाम लाक्षणिक होते हुए भी उस तत्त्वार्थसूत्रके लिए ही रूढ़ हुआ है जिसको उमास्वामीकी कृति माना जाता है । उसे ही तत्त्वार्थशास्त्र या तत्त्वार्थ-महाशास्त्र कहा गया है । एक भी उल्लेख ऐसा नहीं मिलता जिसमें उक्त दोनों सिद्धान्त ग्रन्थोंको तत्त्वार्थसूत्र या तत्त्वार्थ-महाशास्त्र कहा गया हो । अतएव; चूँकि इन्द्रनन्दिने उक्त सिद्धान्तग्रन्थों पर तुम्बुलूराचार्यकी चूडामणिनामक टीकाका निर्देश किया है जो कनडीमें थी । और शब्दानुशासनमें तत्त्वार्थ महाशास्त्रकी चूडामणि नामक कनडी टीकाका निर्देश किया गया है, अतः सिद्धान्त-ग्रन्थोंको तत्त्वार्थ-महाशास्त्र कहते थे, यह निष्कर्ष निकालना हमें उचित प्रतीत नहीं होता ।

कर्नाटक शब्दानुशासनकी रचना १६०४ ई० में हुई है । और उक्त दोनों सिद्धान्त ग्रन्थोंके ऊपर घवला-जयघवलाकी रचना होनेके पश्चात् श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीके द्वारा उनके आधार पर श्री गोम्मटसारकी रचना होनेपर हम सिद्धान्त-ग्रन्थोंकी चर्चका अवरोध पाते हैं जबकि तत्त्वार्थ सूत्रकी ख्याति उत्तरोत्तर बढ़ती गयी है । कर्नाटक शब्दानुशासनकी तरह न्यायदीपिका में भी तत्त्वार्थसूत्रको महाशास्त्र कहा है । न्यायदीपिका ईसाकी १५ वी शतीके लगभग रची गयी थी अतः उस कालमें तत्त्वार्थ-महाशास्त्रके रूपमें तत्त्वार्थसूत्रकी ही ख्याति थी, सिद्धान्त ग्रन्थोंका तो नाम भी उसकाल में सुनायी नहीं देता । अतः कर्नाटक शब्दानुशासनके रचयिताने चूडामणिको तत्त्वार्थ महाशास्त्रका व्याख्यान समझा हो, ऐसा भ्रम होना सम्भव है । अस्तु कर्नाटक शब्दानुशासनके उक्त उल्लेखसे यह प्रमाणित होता है, कि कनडी भाषामें एक व्याख्या-ग्रन्थ था और उस व्याख्या-ग्रन्थका इन्द्रनन्दिके द्वारा निर्दिष्ट व्याख्या-ग्रन्थ होना सम्भव है ।

किन्तु श्रीयुत् गोविन्द^१ ‘पै’ का मन है कि भट्टाकलकके द्वारा कर्नाटक शब्दानुशासनमें स्मृत चूडामणि तुम्बुलूराचार्य कृत चूडामणि नहीं हो सकता, क्योंकि पहलेका परिणाम ९६ हजार बतलाया गया है और दूसरेका ८४ हजार । अतः पै महाशयका कहना है कि इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारकी ‘कर्णाट भाषया कृत महती चूडामणि व्याख्याम्’ पक्ति अशुद्ध प्रतीत होती है । इसमें आये हुए ‘चूडामणि

१ ‘श्रीमद्देव पण्ड तुम्बुलूराचार्य’—जैन पण्टि०, जि० ४ न० ४ ।

पदको अलग न पढ़कर आगेके व्याख्या' पदके साथ मिलाकर 'चूडामणि व्याख्या' पढ़ना चाहिए। तब उस पक्तिका अर्थ होगा—तुम्बलूराचार्यने कनडीमें चूडामणिकी एक बड़ी टीका बनायी।'

तब प्रश्न होता है कि चूडामणि ग्रन्थ किसका था जिसकी व्याख्या तुम्बलूरा-चार्यने बनायी? श्रवणवेलगोलाके पार्श्वनाथ-व्रसदिके स्तम्भपर अंकित शिलालेखमें चूडामणि नामक काव्यके रचयिता श्री वद्धदेवका स्मरण किया है और उनकी प्रशंसामें दण्डीकविके द्वारा कहा गया एक श्लोक भी उद्धृत किया है। यथा—

“चूडामणि कवीना चूडामणि नाम सेव्य काव्य कवि ।
श्रीवद्धदेव एव हि कृतपुण्य कीर्ति माहर्तुम् ॥

य एव मुपश्लोकितो दण्डिना—

जह्नी कन्या जटाग्रेण वभार परमेश्वर ।
श्रीवद्धदेव संघत्से जिह्वाग्रेण सरस्वती ॥

शिलालेखके इस कथनके साथ कर्नाटक शब्दानुशासनके उल्लेखको मिला कर श्री पैने यह निष्कर्ष निकाला है कि श्रीवद्धदेवने तत्त्वार्थ-महाशास्त्रपर ९६००० श्लोक प्रमाण चूडामणि नामक टीका कन्नड भाषामें रची। और तुम्बलूरा-चार्यने चूडामणिके ऊपर ८४ हजार प्रमाण कन्नड टीका और ७००० प्रमाण पजिका लिखी।

इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारके तुम्बलूराचार्य विषयक श्लोक कर्णाटक-कविचरिते में उद्धृत है और श्री पै ने अपने लेखमें उन्हें वहीसे उद्धृत किया है।

अतः प्रतीत होता है कि श्रीयुत पै ने इन्द्रनन्दिका श्रुतावतार नहीं देखा। अन्यथा वे 'चूडामणि-व्याख्या'को समस्त पद न बनाकर उसका 'चूडामणिकी व्याख्या' ऐसा अर्थ न करते। क्योंकि श्रुतावतारमें सिद्धान्त ग्रन्थोंके व्याख्यानोका कथन किया गया है, जिसमें से एक चूडामणि नामक व्याख्या भी है फिर शिलालेखमें श्री वद्धदेवको चूडामणि नामक काव्यका कर्ता कहा है। चूडामणि नामक कन्नड टीकाका कर्ता नहीं कहा। तभी तो वद्धदेवका शिलालेखमें 'कवीना' चूडामणि लिखा है और प्रसिद्ध कवि दण्डीके द्वारा उनकी प्रशंसा किये जानेसे यह और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है कि वद्धदेवका चूडामणि काव्य सस्कृतका गौरव रूप था। अतः श्री पै महाशयका उक्त कथन भ्रामक है।

तुम्बलूर ग्रामके वासी होनेके कारण चूडामणि व्याख्याकार तुम्बलूराचार्य कहलाते थे उनका असली नाम क्या था यह अज्ञात है। गगराजके मन्त्री तथा सेनापति चामुण्डरायने अपने चामुण्डपुराणमें, जो ९७८ ई में कन्नड गद्यमें रचा

गया था, अन्य महान जैनाचार्योंमें तुम्बुलूराचार्यका भी स्मरण किया है अतः यह निश्चित है कि वह ईसाकी दसवीं शताब्दीसे पूर्वमें हुए हैं। इन्द्रनन्दिने उन्हें शामकुण्डाचार्य और समन्तभद्रके मध्यमें रखा है।

समन्तभद्रकृत संस्कृत टीका—

इन्द्रनन्दिके कथनानुसार तार्किकार्क आचार्य समन्तभद्रने भी पट्टसङ्गमके प्रथम पाँच खण्डोपर ४८ हजार श्लोक प्रमाण टीका रची थी यह टीका अति सुन्दर मृदु संस्कृत भाषामें थी। तार्किकार्क विशेषणसे यह स्पष्ट है कि इन्द्रनन्दिका अभिप्राय आप्तमीमासा के स्वयम्भूस्तोत्र आदिके रचयिता प्रखर तार्किक आचार्य समन्तभद्र से ही है लघु-समन्तभद्रने अष्ट सहस्रश्लोकके टिप्पणमें समन्तभद्रको तार्किकार्क विशेषणसे ही अभिहित किया है। यथा—

‘तदेव महा महभागैस्तार्किकार्करूपज्ञाता श्रीमता वादीभसिंहेनो पलालिता मातमीमासा।’ वीरसेन स्वामीने अपनी ध्वला टीकामें समन्तभद्रके नामोल्लेख पूर्वक उनके आप्तमीमासा^१ तथा बृहत्स्वयम्भूस्तोत्रसे^२ उद्धरण दिये हैं। किन्तु ऐसा एक भी उल्लेख नहीं मिलता, जिससे उक्त टीकाका सकेत मिलता हो।

समन्तभद्र कृत गन्धहस्ति-महाभाष्यके भी उल्लेख मिलते हैं जिनमें उसे तत्त्वार्थसूत्र अथवा तत्त्वार्थका व्याख्यान कहा है। उसका परिमाण कही ८४ हजार तो कही छियानवे हजार बतलाया है। गन्धहस्ति-महाभाष्य विषयक उल्लेख प्रायः विक्रमकी ग्यारहवीं शताब्दीके और उसके बादके हैं। अतः जैसे तुम्बुलूराचार्यकी टीकाको भ्रमसे तत्त्वार्थसूत्रकी टीका समझ लिया गया, कही इसी तरह समन्तभद्रकी पट्टसङ्गम सूत्रोपर रचित टीकाको भी तत्त्वार्थसूत्रकी टीका तो नहीं समझ लिया गया। ८४ और ९६ हजार सख्या किसी न किसी रूपमें ४८ हजारसे सम्बद्ध है एक उसके अकोका व्यतिक्रम रूप है तो दूसरी उसका द्विगुणित रूप है। किन्तु यह सब तो अनुमान मात्र है। यथार्थमें तो उक्त उल्लेखोंके सिवाय ऐसे पुष्ट प्रमाणोंका अभाव है जिनके आधार पर उक्त टीका तथा गन्धहस्ति-महाभाष्यका अस्तित्व प्रमाणित किया जा सकता हो।

१. ‘तथा समन्तभद्रस्वा मिनाप्युक्तम्—‘स्याद्वाद प्रविभक्तार्थ विशेष व्यञ्जकी नय.।’

२. ‘तद्वा समन्तभद्र समाणि वि उक्त—विधिर्विपक्त प्रतिबोधरूप। पट्ट, पु० ७, पृ ९९।

३. तत्त्वार्थ सूत्रव्याख्यान गन्धहस्ति प्रवर्तक। स्वामी समन्तभद्रोऽभूद्देवागम निदेशक।—वि० कौरव ‘तत्त्वार्थ व्याख्यान पण्यवति सहस्र गन्धहस्तिमहाभाष्य विधायक देवागम कवीश्वर स्याद्वादविद्यापति समन्तभद्र’ जै. सा. ड वि प्र ७ पृ २७७।

वप्पदेवकृत व्याख्या-प्रज्ञप्ति—

इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारके जिन श्लोकोमें वप्पदेवकृत व्याख्या-प्रज्ञप्तिका उल्लेख है उनका अर्थ समझनेमें कुछ भ्रम हुआ है। श्लोक इस प्रकार है—

श्रुत्वा तयोश्च पार्श्वे तमशेष वप्पदेवगुरू ॥१७३॥

अपनीय महाबन्ध षट्खण्डान्छेष पञ्चखण्डे तु।

व्याख्या प्रज्ञप्ति च षष्ठ खण्ड च तत साक्षिप्य ॥१४७॥

षण्णा खण्डानामिति निष्पन्नाना तथा कषायाख्य—

प्राभूतकस्य च षष्ठि सहस्रग्रन्थ प्रमाण युताम् ॥१७५॥

व्यलिखत् प्राकृत भाषा रूपा सम्यक् पुरातनव्याख्याम्।

अष्टसहस्रग्रन्था व्याख्या पञ्चाधिका महाबन्धे ॥१७६॥

पहली पक्तिका अर्थ स्पष्ट है—‘शुभनन्दि और रविनन्दिके समीप में समस्त सिद्धान्तको सुन कर वप्पदेवगुरूने’।

दूसरी पक्तिका अर्थ—छैखण्डमेंसे महाबन्धको पृथक् करके, शेष पाँच-खण्डोंमें।

तीसरी पक्तिका अर्थ—व्याख्या प्रज्ञप्ति नामक छठे खण्डको मिलाकर

चौथी तथा पाँचवी पक्ति—इस प्रकार निष्पन्न हुए छहो खण्डोंकी तथा कषाय-प्राभूतकी साठ हजार ग्रन्थ प्रमाणवाली।

छठी-सातवी पक्ति—प्राकृत भाषारूप प्राचीन व्याख्याको लिखा और महाबन्ध पर आठ हजार पाँच ग्रन्थ प्रमाण व्याख्या लिखी।

अतः वप्पदेव टीकाका नाम व्याख्या प्रज्ञप्ति नहीं था। किन्तु भूतवली-पुष्पदन्त प्रणीत पाँच खण्डोंमें वप्पदेवने जो छठा खण्ड मिलाया उसका नाम व्याख्या-प्रज्ञप्ति था। इसी व्याख्या-प्रज्ञप्तिको प्राप्त करके वीरसेन स्वामीने सत्कर्म नामक छठा खण्ड रचा था। श्रुतावतारमें लिखा है—

“व्याख्या प्रज्ञप्तिमवाप्य पूर्वषट् खण्डतस्तत स्तस्मिन्।

उपरितमबन्धनाद्यधिकारै रष्टादश विकल्पै ॥१८०॥

सत्कर्म नाम ध्येय षष्ठ खण्ड विधाय सक्षिप्य।

इति षण्णा खण्डाना ग्रन्थ सहस्रं द्विसप्तत्या ॥१८१॥

प्राकृत सस्कृत भाषामिश्रा टीका विलिख्य धवलाख्याम्”

व्याख्या-प्रज्ञप्ति को प्राप्त करके वीरसेन स्वामीने आगेके निबन्धन आदि अट्ठारह अधिकारोंके भेदसे सत्कर्म नामक छठे खण्डकी रचना की और उसे पहले के षट्खण्डमें मिलाया इस तरह छै खण्डोंकी बहात्तर हजार ग्रन्थ प्रमाण प्राकृत सस्कृत मिश्रित धवला नामक टीका लिखी।’

उक्त दोनो उद्धरणोंकी दो पक्तियाँ विशेष रूपसे ध्यान देने योग्य हैं—

“व्याख्या प्रज्ञप्ति च पण्ड खण्ड च तत. साक्षिप्य”

और

‘सत्कर्मनामधेय पण्ड खण्ड विधाय साक्षिप्य’

जैसे वप्पदेव गुरुने पाँच खण्डोंमें व्याख्या प्रज्ञप्ति नामक छठे खण्डको मिलाकर छै खण्ड निष्पन्न किये और फिर उन पर टीका रची। वैसे ही वीरसेन स्वामीने व्याख्या प्रज्ञप्तिके आधारपर सत्कर्म नामक छठे खण्डका निर्माण करके उसे पाँच खण्डोंमें मिलाकर छै खण्ड निष्पन्न किये तब उनपर धवला नामक टीका लिखी।

यह ऊपर लिखा जा चुका है कि महाकर्मप्रकृति-प्राभृतके ज्ञाता धरसेनाचार्य थे और उन्होंने भूतवलि पुष्पदन्तको पढाया था। महाकर्म-प्रकृतिप्राभृतमें चौबीस अनुयोगद्वार थे, उनमेंसे आदिके छै अनुयोगद्वारोंके आधारपर भूतवलीने पट्खण-गमकी रचनाकी थी। किन्तु वीरसेन स्वामीने पट्खण्डागमके पाँच खण्डोंमें एक सत्कर्म नामक स्वरचित छठा भाग मिलाकर छै खण्ड निष्पन्न किये हैं और इस सत्कर्म नामक छठे खण्डमें महाकर्मप्रकृति-प्राभृतके अठारह अनुयोगद्वारोंका संक्षिप्त कथन है जिन्हें महाकर्मप्रकृति-प्राभृत-ज्ञाता भूतवलीने भी छोड़ दिया था ऐसी स्थितिमें यह जाननेका कौतूहल होना स्वाभाविक है कि वीरसेन स्वामीने उन अठारह अनुयोगोंका परिचय किस आधारसे दिया क्या ? उनके समय तक महाकर्मप्रकृति-प्राभृतका ज्ञान अवशिष्ट था। इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारसे उस जिज्ञासाका समाधान हो जाता है। व्याख्या-प्रज्ञप्तिको पा करके उन्होंने अपने ‘सत्कर्म’की रचनाकी थी। अतः व्याख्या-प्रज्ञप्तिमें अवश्य ही शेष अठारह अनुयोगोंका कथन होना चाहिए।

धवला टीकामें दो स्थानोंपर उद्धरण देते हुए व्याख्या-प्रज्ञप्तिका उल्लेख किया है एक^१ स्थानपर यह शंका की गयी है कि तिर्यग्लोकका अन्त कहाँ होता है ? उत्तर दिया गया है कि तीनो वातवल्यो के बाह्य भागमें तिर्यग्लोकका अन्त होता है। इसपर पुनः शंकाकी गयी कि यह कैसे जाना ? तो उत्तर दिया गया कि ‘लोक वातवल्योसे प्रतिष्ठित है, इस व्याख्या-प्रज्ञप्तिके वचन से जाना।

दूसरी जगह एकलम्बा उद्धरण इस प्रकार दिया है—

‘जीवा ण भते। कदि भागावसेसियसि याउगसि परभविय आउग कम्म णिबधता वधति? गोदम।’ ‘जीवा दुविहा पण्णत्ता सखेज्जवस्साउआ चेव असखेज्जवस्साउआ चेव।

१ कम्म तिरिय लोगस्स पज्जवसाण ? तिण्ह वादवल याण वहिर भागे। त कथ जाणिज्जदि ‘लोगो वादपदिट्ठदो’ ति विआह पण्णत्ति वयणादो।—पट्ख०, पु० ३१।

तथ्य जे ते असखेज्जवस्साउआ ते छम्मासावसेसयसि याउगसि परभवियं आउग
णिवधता वधति । तथ्य जे ते सखेज्जवस्साउआ ते दुविहा पणत्ता सोवक्कमाउआ
णिरुवक्कमाउआ चेव । तथ्य जे ते णिरुवक्कमाउआ ते तिभागावसेसियसि याउगसि
परभविय आयुग कम्म णिवधता वधति । तथ्य जे ते सोवक्कमाउआ ते सिया-
तिभागत्ति भागावसेसियसियायुगसि परभविय आउग कम्म णिवधता वधति ।
एदेण वियाह-पणत्ति सुत्तेण सह कथ ण विरोहो ? ण, एदम्हादो तस्स पुघ
भूदस्स आइरिय भेएण भेदभावणस्स एयत्ता भावादो ।—षट्ख० पु०, १० पृ
२३७-२३८ ।

शका—‘हे भगवन् ! आयुमें कितने भाग शेष रहनेपर जीव पर-भविक् आयु
कर्मको बाधते हुए बाधते हैं ? हे गौतम जीव दो प्रकारके कहे गये हैं—सख्यात्
वर्षायुष्क और असंख्यात् वर्षायुष्क । उनमें जो असख्यात् वर्षायुष्क है वे आयुके
छै मास शेष रहने पर-भविक् आयुको बाधते हुए बाधते हैं । और जो सख्यात्
वर्षायुष्क जीव हैं वे दो प्रकारके कहे गये हैं—सोपक्रमायुष्क और निरूपक्रमा-
युष्क । उनमें जो निरूपक्रमायुष्क हैं वे आयुमें त्रिभाग शेष रहनेपर परभविक्
आयुकर्म को बाधते हैं । और जो सोपक्रमायुष्क जीव हैं, वे कथचित् त्रिभाग
कथचित् त्रिभागका त्रिभाग और कथचित् त्रिभाग-त्रिभागका शेष रहनेपर परभव
सम्बन्धी आयुकर्मको बाधते हैं ।’ इस व्याख्या प्रज्ञप्ति सूत्रके साथ विरोध
क्यो नही आता ?

समाधान—नही, क्योकि इस सूत्रसे व्याख्या प्रज्ञप्ति सूत्र भिन्न है, आचार्य
भेदसे भेदको प्राप्त है अत इन दोनोंमें एकत्वका अभाव है । ध्वलाके उक्त दोनो
उद्धरण यद्यपि व्याख्या-प्रज्ञप्ति विषयक हैं तथापि दोनो दो विभिन्न दृष्टिकोणको
उपस्थित करते हैं । पहले उद्धरणमें वीरसेन स्वामी व्याख्याप्रज्ञप्तिके वचनको
अपनी बातके समर्थनमें प्रमाण रूपसे उपस्थित करते हैं । दूसरे विस्तृत उद्धरणके
सम्बन्धमें वे व्याख्या-प्रज्ञप्तिको षट्खण्डागम सूत्रसे भिन्न और आचार्य भेदसे
भेदको प्राप्त कहते हैं । आचार्य भेदसे मतलब वहाँ आचार्य परम्पराका भेद
ज्ञात होता है क्योकि यो तो भिन्न आचार्यों के द्वारा रचित सभी शास्त्रोंमें
आचार्य भेद पाया जाता है । अत उनका यह कथन सम्भवतया श्वेताम्बरीय
पञ्चम अग व्याख्या-प्रज्ञप्तिके विषयमें जान पड़ता है क्योकि उसमें उक्त प्रकारसे
भगवान् महावीर और गौतमके मध्य हुए प्रश्नोत्तरोंके रूपमें विवेचन मिलता है ।
साथ ही उक्त उद्धरणकी शैली और भाषा भी श्वेताम्बरीय आगमोंके अनुरूप
अर्धमागधी है । अर्धमागधीमें सप्तमीका एकवचन ‘स्सि’ होता है यथा—‘छम्मा-
सावसेयसि आउगमि ।’ किन्तु महाराष्ट्रीमें जो दिगम्बर जैनागमोंकी भाषा है
‘म्मि’ होता है ।

किन्तु उक्त उद्धरण उपलब्ध व्याख्या-प्रज्ञप्तिमें नहीं पाया जाता । हाँ इससे मिलता जुलता उद्धरण श्वेताम्बरीय 'प्रज्ञापना सूत्रमें अवश्य मिलता है ।

अकलकदेवने अपने तत्त्वार्थवार्तिकमें भी दो स्थानोपर व्याख्या-प्रज्ञप्ति दण्डकका निर्देश किया है । श्वेताम्बरीय व्याख्या-प्रज्ञप्ति^२में उन दोनों निर्देशों जैसा कथन तो नहीं मिलता किन्तु अन्य रूपमें इस प्रकारके कथनका आभास मिलता है ।

ऐसी स्थितिमें व्याख्या-प्रज्ञप्तिकी स्थिति चिन्तनीय है ।

धवलाका दूसरा उद्धरण तो अवश्य ही ऐसे व्याख्या-प्रज्ञप्तिसे सम्बद्ध है, जो भिन्न परम्पराका होना चाहिये । किन्तु वीरसेन स्वामीके द्वारा प्रमाण रूपसे उद्धृत किया गया वाक्य उस व्याख्या-प्रज्ञप्तिका होना चाहिये जिसे वह मान्य करते थे और वह व्याख्या-प्रज्ञप्ति शायद वही हो जिसे पाकर उन्होंने सत्कर्मकी रचना की । और जिसे पाँच खण्डोंमें मिलाकर वप्पदेवगुरुने छै खण्ड निष्पन्न किये । शायद उस व्याख्या-प्रज्ञप्तिकी रचना वप्पदेवने की हो । किन्तु वह व्याख्या प्रज्ञप्ति षड्खण्डागमकी टीका नहीं थी ।

एक बात और भी चिन्तनीय है । इन्द्रनन्दिने लिखा है—

‘व्यलिखत प्राकृत भाषा रूपा सम्यक् पुरातन व्याख्याम्’

इसका सीधा सा अर्थ होता है—‘प्राकृत भाषा रूप प्राचीन व्याख्याको सम्बद्ध रूपमें लिखा’ लिखानेका अर्थ रचा भी हो सकता है किन्तु व्याख्याके साथ लगा ‘पुरातन’ विशेषण बतलाता है कि वप्पदेवगुरुने किसी प्राकृत भाषा रूप

१. ‘पंचिदियतिरिक्खजोगिया ण भते । कइ भागावसेसाउया पर भवियाउय पकरति ? गोयमा । पंचिदियतिरिक्ख जोगिया दुविहा पन्नत्ता त जहा—सखेज्जवस्साउया असखेज्ज वस्साउया । तत्थ ण जे ते असखेज्जवस्साउया ते नियमाच्छम्मासावसे-साउया पर भवियाउय पकरति । तत्थ ण जे ते सखिज्जवस्साउया ते दुविहा पणत्ता सोवक्कमाउया य निरुवक्कमाउया य । तत्थ ण जे ते निरुवक्कमा ते नियमा ति भागावसेसाउया पर भवियाउय पकरति । तत्थ ण जे ते सोवक्कमाउया ते ण सिय ति भागावसेसा परभवियाउय पकरति सिय तिभागा तिभागे परभवियाउय पकरति । सिय तिभाग तिभागावसेसाउया परभवियाउय पकरति । एव मणुस्सा वि ।’

—प्रज्ञा०, पद ६ ।

२. ‘व्याख्याप्रज्ञप्तिदण्डकेपु शरीरभगे वाप्पोरौदारिक वैक्रियिक तैजस कार्मणानि चत्वारि शरीराण्युक्तानि’—पृ० १५३-१५४ ‘एव हि व्याख्या-प्रज्ञप्ति दण्डकेपूक्तम्—विजयादिषु देवा मनुष्य भवमास्कन्दन्त. कियतीर्गत्यागति. विजयादिषु कुर्वन्ति इति गौतम प्रश्ने भगवतोक्त जघन्येनैको भव आगत्या उत्कर्षेण गत्यागतिभ्या द्वौ भवौ ।’

—त वा, पृ २४५ ।

प्राचीन व्याख्याको सम्यक् रूपसे लिखा था । इस सम्बन्धमें एक बात और भी उल्लेखनीय है ।

इद्रनन्दिने जहाँ अन्य टीकाकारोंके लिये 'रचितानि' रचिता, 'व्याख्यामकृत्' 'विरचितवान्', जैसे रचनापरक शब्दोंका प्रयोग किया है वहाँ अकेले वप्पदेवके लिये 'व्यलिखत्' शब्दका प्रयोग किया है ।

यह भी अभिप्राय निकल सकता है कि वप्पदेवने किसी पुरातन व्याख्याको प्राकृत भाषामें लिखा हो और ऐसी स्थितिमें तुम्बूलूराचार्यके द्वारा कर्नाटक भाषामें रची गयी महती चूडामणि व्याख्या की ओर ही दृष्टि जाती है । क्योंकि वही सबसे विशाल टीका थी और पुरातन भी थी ।

धवला टीकामें तो वप्पदेव और उनकी किसी टीकाका संकेत तक नहीं है । किन्तु जयधवलामें वप्पदेवके द्वारा लिखित उच्चारण-वृत्तिका निर्देश मिलता है । यह उच्चारण-वृत्ति यतिवृषभके चूर्णिसूत्रोपर थी । वीरसेन^१ स्वामीने भी वप्पदेवके साथ 'लिहिद' (लिखित) शब्दका ही प्रयोग किया है, साथ ही उन्होंने अपने द्वारा लिखी हुई उच्चारणाका निर्देश किया है । किन्तु वीरसेन स्वामीने यतिवृषभके चूर्णिसूत्रोपर कोई उच्चारण-वृत्ति रची थी, इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता ऐसी स्थितिमें 'रचित'के स्थानमें 'लिखित' शब्दका प्रयोग अवश्य ही कुछ विशेष अर्थ रखता है ।

धवला टीकासे इस बातका कोई आभास नहीं मिलता कि वीरसेन स्वामीके सामने धवला टीका लिखते समय षट्खण्डागम सूत्रोंकी कोई टीका उपस्थित थी । परिकर्मका उपयोग तो उन्होंने किया है । किन्तु यह नहीं लिखा कि यह सूत्रोंका व्याख्या-ग्रन्थ है । इस परिकर्मके सिवाय अन्य किसी ऐसे ग्रन्थका या ग्रन्थसम्बन्धी संकेतका विवरण नहीं मिलता जिसे व्याख्या ग्रन्थ कहा जा सकता है ।

दो स्थलोपर उन्होंने 'केसु वि सुत्तपोत्थएसु'^२ लिखकर यह सूचित किया है कि उनके सामने षट्खण्डागम सूत्रोंकी अनेक प्रतियाँ थी, जिनमें कुछ पाठ भेद थे । किन्तु व्याख्या पुस्तकोंके सम्बन्धमें इस प्रकारका कोई उल्लेख हमारे देखनेमें नहीं आया ।

हाँ, अपने कथनकी पुष्टि करते हुए उन्होंने 'आचार्य परम्परासे आगत उप-देशसे ऐसा जाना' या 'सूत्रसे अविरुद्ध आचार्यवचनसे ऐसा जाना' इस प्रकार

१ 'चुणि सुत्तमि वप्पदेवाइरियालिहिदुच्चारणा ए च अतोमुहुत्तमिदि भणिदो । अम्हे लिहिदुच्चारणाए पुण—।' क पा, भा. ३, पृ. ३९८ ।

२ षट्ख, पु ८, पृ ६५ । पु. १४, पृ १२७ ।

अनेक स्थलोपर कहा है । एक ३स्थानपर ऐसा भी लिखा है कि 'आचार्य परम्परा से आगत सूत्रसे अविरोध व्याख्यानसे ऐसा जाना ।'

सत्कर्मपंजिका—

धवलागत षट्खण्डागमके अंतिम खंड सत्कर्मपर एक^१ पंजिका है जिसका पूरा नाम सत्कर्म-पंजिका । यह पंजिका मूडविद्रीके उसी सिद्धान्तवसति मन्दिरके शास्त्र भण्डारसे प्राप्त हुई है, जिससे धवला, जयधवला और महावधकी ताडपत्रीय प्रतियाँ उपलब्ध हो सकी । वहाँ महाबन्धकी जो ताडपत्रीय प्रति है उसके प्रारम्भके २७ पत्र इसी सत्कर्म पंजिकाके हैं । यह पंजिका सत्कर्मके अन्तर्गत अट्टारह, अनुयोग-द्वारोमें से केवल आदिके चार ही अनुयोगद्वारो पर है । चौथे उदय अनुयोग द्वारके अन्तमें 'समाप्तोयमुद्ग्रन्थ' ऐसा लिखा है । फिर कन्नडी पद्योंमें एक छोटी सी प्रशस्ति है ।

यह पंजिका किसने कब रची थी इसका कोई सकेत अभी तक प्राप्त नहीं हो सका । यह भी ज्ञात करनेका कोई साधन नहीं मिला कि रचयिताने इतना ही अंश रचा था या पूरे सत्कर्मपर अपनी पंजिका-वृत्ति रची थी ।

पंजिकाके आदिमें जो गाथा है उसका भी केवल उत्तरार्द्ध ही प्राप्त हो सका है—

‘वोच्छामि संतकम्मे पंचि (जि) यरूवेण विवरण सुमहत्थ ॥१॥’

इसमें सत्कर्मपर पंजिका रूपसे ‘सुमहत्थ’ विवरण लिखनेकी प्रतिज्ञाकी गयी है । यहाँ विवरणका ‘सुमहत्थ’ विशेषण उल्लेखनीय है । सप्ततिका-की प्रथम गाथामें भी सप्तपिकाकारने सिद्धयएहि महत्थ’ लिखकर अपनी कृतिको ‘महार्थ’ बतलाया है । और चूर्णिकारने महार्थका अर्थ—‘निपुर्ण, गम्भीरं दुरवगाह पयत्थ वित्थार विसय’ किया है । अर्थात् जिसमें दुःखसे अवगाहित करने योग्य पदार्थोंका विस्तार हो उसे महत्थ या महार्थ कहते हैं ।

चन्द्रर्षिने भी अपने पञ्चसग्रहकी प्रथम गाथाके उत्तरार्धमें उसे ‘महत्थ’ कहा है और उसका अर्थ किया है—‘जिसमें महान् अर्थ हो उसे महार्थ कहते हैं ।’ उक्त गाथाशसे चन्द्रर्षिकी गाथाका उत्तरार्ध मेल खाता है—

‘वोच्छामि पचसग्रहमेय महत्थ जहत्थं च ॥१॥’

अतः पंजिकाकारने जो अपने पंजिकारूप विवरणको ‘महार्थ’ ही नहीं सुमहार्थ

१ 'कुदो णव्वदे ? आइरियपरपरा गय सुत्ताविरोधवक्खाणादो'—पु १३, पृ ३१० ।

२ इसका उपलब्ध भाग षट्खण्डागमके १५ के खण्डके साथ उसके अन्तमें मुद्रित हो गया है ।

कहा है उससे प्रकट होता है कि उनका यह पजिका रूप विवरण दुर्-अवगाहित पदार्थोंके विस्तार को लिये हुए है। और उससे यह भी प्रकट होती है कि पंजिका काम पूरे सत्कर्म पर उसे रचनेके विचारसे ही आरम्भ किया था। वह अपने इस महान कार्यको पूर्ण करनेमें सफल हुए अथवा मध्यमें ही किसी दैवी विघ्नके कारण उनका यह कार्य अधूरा ही रह गया, यह भी निर्णयात्मक रूपसे कह सकना संभव नहीं है। किन्तु इतना निश्चित रूपसे कहा जा सकता है कि यदि यह पजिका पूर्ण उपलब्ध हो सके तो वह भी एक महत्वकी कृति मानी जायेगी।

वीरसेनस्वामीके अनुसार वृत्तिसूत्रोंके विषम पदोंको खोलनेवाले विवरणको पजिका कहते हैं। पजिका रूप विवरणमें पूरे ग्रन्थोंका व्याख्यान नहीं होता किन्तु उसके कठिन और गम्भीर स्थल होते हैं, उनका खुलासा होता है। तदनुसार पजिकाकारने वीरसेन स्वामी कृत सत्कर्मके वाक्योंको ले कर उनका खुलासा किया है। वह खुलासा केवल शब्दार्थरूपमें अथवा पदच्छेद रूपमें नहीं किया है किन्तु वाक्यसे सम्बद्ध विषयके सम्बन्धमें विवेचन भी किया है और उसके अवलोकनसे प्रकट होता है कि पजिकाकार अपने विषयके अधिकारी विद्वान थे और उन्हें एतत्सम्बद्ध प्राप्त विषयका अच्छा अनुगम था।

उनकी यह पजिका ध्वलाकी तरह ही प्राकृत गद्य में है। और उसीकी शैलीको लिये हुए है यथा स्थान मतान्तरोका भी निर्देश है और मतान्तर तो मौलिक प्रतीत होते हैं।

पजिकाको आरम्भ करते हुए लिखा है—

महाकर्मप्रकृति-प्राभूतके कृति, वेदना, आदि चौबीस अनुयोगद्वारोंमें से कृति और वेदना अधिकारका वेदना-खण्डमें, स्पर्श, कर्म, प्रकृति और बन्धन अनुयोग-

१ 'वित्तिष्ठत विसम पय भाजियाए पजिय ववणसादो।'—क० पा० ८० १४।

२ महाकम्म पयडिपाहुडस्स कदि-येदणाओ (इ) चउव्वीस मणियोगद्वारेसु तत्थ कदि वेदणात्ति जाणि आणियोददाराणि वेदणाखडम्मि, पुणो प [पस्स-कम्म-पयडि-वधणात्ति] चत्तारि अणिओगद्वारेसु तत्थवधावधणिज्जणामाणि योगेहिंसह वगणाखडम्मि, पुणो वधविधाण णामाणियोगद्वारो महावधम्मि, पुणो वधगाणियोगो खुद्वदावधम्मि च सम्पव-चेण परू विदाणि । पुणो तेहिंतेसेसट्ठारसाणियोगद्वाराणि सतकम्मे सव्वाणि परू विदाणि । तोवि तस्साइ गभारत्तादो अत्थ विसम पदाणमत्थे थोरत्थयेणपजियसरूवेण भणि स्सामो । त जहा—

तत्थ पडमाणिओगद्वारस्स णिवधण [स्म] परूवणा सुगमा । णवरि तस्स णिक्खेओ छन्विह सरूवेण परूविदो । तत्थ तदियस्सदव्वणिक्खेवस्स सरूव परूवणट्ठ आईरियो ऐवमाह—'—पट्ख०, पु० १५, स० प० ८० १ ।

द्वारोमेमे वन्म तथा नगनीय अनुयोगद्वार नगनीयगण्डमे, वन्म-विधान नामक अनुयोगद्वार महानगमे और वन्मक-अनुयोगका गुदावन्ममे विस्तारमे प्रस्थापन किया । इनके विधान जेव नव अष्टाङ्ग अनुयोगद्वारोका कथन मतकर्ममे किया । फिर भी उसके अन्तर्गत सम्भोज होनेमे विषय पक्षोका अर्थ पंजिका रूपमे रह्ये ।'

इस प्रकार पंजिकाकारनेका पूरे षट्पञ्चाशदशमे छहो गंठोमे महाकर्मप्रकृतिके नौवीस अनुयोगद्वारोमे मे किम गण्डमे किम-विम अनुयोगद्वारका कथन किया गया यह वस्तुतः हुए, अपनी पंजिकाका आरम्भ किया है जो इस प्रकार है—

उनमेमे, प्रथम अनुयोगद्वार निरन्तर कथन मुमम है । किन्तु उमका निशेष छ प्रकारमे कहा है उनमे मे तीसरे द्रव्यनिशेषके शास्त्रका कथन करनेके लिए आचार्यने ऐसा कहा है । उमका अर्थ कहते हैं ।

इस तरह मतकर्मके व्याख्येय वाक्यको उत्पानिकाके साथ उद्धृत करके व्याख्यान किया है ।

इस तरह मतकर्मके व्याख्येय वाक्यको उत्पानिकाके साथ उद्धृत करके व्याख्यान किया है । मतकर्मके उपाक्रम अनुयोगमे शीरमेन स्वामीने लिखा है कि इन चारो ही वन्मनोपक्रमोका अर्थ जैसा संतकम्म-पाहुडोमे कहा है वैसा ही कहना चाहिये । इस वाक्यमे आगत मतकम्म-पाहुडपर प्रकाश डालने हुए पंजिकामे लिखा है—संतकम्म-पाहुड^१ कोन मा है ? महाकर्मप्रकृति-प्राभृतके नौवीस अनुयोगद्वारोमेसे दूसरा अधिकार वेदना है । उमके सोलह अनुयोगद्वारोमे मे चौथे, छठे और गतवें अनुयोगद्वार द्रव्य-विधान, काल-विधान और भाव-विधान है । तथा महाकर्मप्रकृति-प्राभृतका पाचवाँ अधिकार प्रकृति नामक है । उसमे चार अनुयोग द्वार है उसमे आठो कर्मो के प्रकृति-सत्त्व, स्थिति-मत्त्व, अनुभाग सत्त्व और प्रदेश सत्त्वका कथन करके उत्तर प्रकृति सत्त्व, उत्तर स्थिति सत्त्व, उत्तर अनुभाग-सत्त्व और उत्तर प्रदेश-सत्त्वको सूचित किया है । इनको संत कम्मपाहुड कहते हैं । तथा मोहनीयकी सत्ताका कथन करनेवाला कसायपाहुड भी है । इस तरह ध्वलामे निर्दिष्ट संतकम्म-पाहुडका भी सुलासा पंजिकाकारने किया है ।

१ संत कम्मपाहुड नाम कथ (द) मं ? महाकम्मपयडिपाहुडस्स नउवीसमणियोगद्वारेसु विदियाहियारो वेदणा णाम । तस्स सोलम अणियोगद्वारेसु चउत्थ-छट्ठम सत्तमाणि-योगद्वाराणि दव्वकाल भावविहाण णामधेयाणि । पुणो तस्सा मएकम्म पयडी-पाहुडस्स-पचमो पयडी णामहियारो । तत्थ चत्तारि अणियोगद्वाराणि अट्ठ कम्माण पयडि टिठ्ठदि; अणुभागप्पदेस सत्ताणि परूविय सन्निदुत्तर पयडि टिठ्ठदि-अणुभागप्पदेस-सत्तत्तादो । एवाणि सत्ता (संत) कम्मपाहुडं णम । मोहनीय पडुच्च कसाय पाहुड वि होदि ।'—स० पं०, पृ० १८ ।

‘एत्थ चोदगो भणादि’ ‘ण एस दोसो’ जैसे वाक्यों के द्वारा पञ्जिकाकारने आवश्यकतानुसार यत्र-तत्र शका-समाधान भी किया है। और ‘केइ एव भणत्ति’ तत्थ एक्कुवदेसेण’ ‘अण्णेक्कुवदेसेण’ जैसे पदों और वाक्यों के द्वारा विवक्षित चर्चाओं के सम्बन्धमें विभिन्न आचार्यों के मत दिये हैं। तथा उन मतोंमें कौन ठीक है ? इसका उत्तर भी ध्वलाकारकी तरह ही दिया है—‘उपदेश’ प्राप्त करके दोनोंमें से एकका निर्णय कर लेना चाहिए। एक जगह लिखा है—‘इन दोनों उपदेशोंमें कैसे वैशिष्ट्य नहीं है ? नहीं जानता, उसे श्रुतकेवली जानते हैं। किन्तु मुझे बुद्धिसे ऐसा प्रतिभासित होता है’ ।

एक जगह लिखा^३ है—‘ये परस्परमें विरोधी दो प्रकारका स्वामित्व क्यों कहा ? अभिप्रायान्तर बतलानेके लिए कहा है और फिर उस अभिप्रायान्तरको स्पष्ट भी किया है।

एक जगह लिखा^४ है कि—‘भोगभूमिमें कदलीघात होता है एक मतसे ऐसा है। और भोगभूमिमें आयुका घात नहीं होता ऐसा कहनेवाले आचार्योंके मतसे पूर्वप्रकार है।’ यहाँ भोगभूमिमें कदली-घात मरणवाला हमारे देखनेमें अन्यत्र नहीं आया सत्कर्मके उदयानियोगद्वारमें प्रदेशोदयके स्वामित्वका कथन करते हुए ध्वलाकारने लिखा है—‘उत्कृष्ट^५ स्वामित्वमें पाँचों सहननोका उत्कृष्ट प्रदेशोदय किसके होता है ? सयमासयम-गुणश्रेणि, सयम-गुणश्रेणि और अनन्तानुबन्धी विसंयोजन गुणश्रेणि, इन तीनोंको एकत्र करके स्थित सयतके जब पूर्वोक्त तीनों गुणश्रेणि शीर्ष उदयको प्राप्त होते हैं तब पाँचों सहननोका उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है।’

१ ‘तदो उवदेस लद्धूण दोण्हमेक्कदर णिण्णवो कायव्वो,’—स० प, पृ० ४। २ एदेसिं दोण्ह सुवदेसेसु कथ मविसिट्ठमिदि चेण्णेव जाणिज्जदे, त सुदकेवली जाणिज्जदि। किंतु पढमतर परूवणाए विदियतर परूवण अत्थविवरणमिदि मम मइणा पडिभासदि।’—पृ० २४।

३ ‘किमट्ठं दुप्पयार सामित्तमण्णोण विरोध परूविद ? अभिप्पायतरपयासणट्ठ परूविदत्तादो’—पृ० ८०।

४ ‘भोगभूमीए कदली घातमत्थि त्ति अभिप्पायेण। त चेद। पुणो भोग भूमीए आउगस्स घाद णत्थि त्ति भणताहरियाण अभिप्पाएण पुव्व।’—पृ० ७८।

५. ‘पच्चण्ह सहडणाणं उक्कस्स पदेसोदयो कस्स ? सजमासजम सजम अणताणुबधि विसंयोजन गुणसेढीओ तिण्णि वि एगट्ठ कादूण टिठदसजदस्स जाहे पुव्वत गुणसेढि सी-सयाणि तिण्णि वि उदयभागदाणि ताहे पच्चण्ह सहडणाण उक्कस्सो पदेसोदयो।’—पृ० ३०१।

इसकी पंजिकामें लिखा^१ है—‘इससे पाँचो सहननो के उदयवाले जीवोंके दर्शनमोहको क्षपण करनेकी शक्ति नहीं है, ऐसा कथित होता है। तथा वज्रनाराच और नाराच सहननके उदयवाले जीवोको भी उपशमश्रेणि चढना सम्भव नहीं है यह भी इसने ज्ञापित कर दिया। यदि ऐसा है तो पूर्वापर विरोध क्यों नहीं आता ? नहीं आता, यह आचार्योंके अभिप्रायोका सूचक होनेसे ग्रन्थान्तर (मतान्तर) है। वह अभिप्राय कहते हैं—इनका उदय पुद्गल-विपाकी है। वे पुद्गल जीवोके रागद्वेषोके उत्पादनमें निमित्तभूत शक्तिको उत्पन्न करते हैं। जैसे बाह्य पुद्गलोके.....वैसे उपशम श्रेणीमें रागद्वेषको उत्पन्न करानेमें समर्थ नहीं है। अतः उनके फलके अभावकी अपेक्षासे उपशमश्रेणिमें उनका उदय नहीं है, यह सूचित किया। अन्य ग्रन्थोंमें प्रदेश-निर्जरा मात्रकी विवक्षा करके उदय कहा है। अथवा वज्रनाराच और नाराच सहननवालोंके उपशमश्रेणि चढनेकी शक्ति नहीं है, ऐसा अभिप्राय कहना चाहिये।’

आगे एक जगह पुन इसी बातको दूसरे प्रसंगसे इस प्रकार लिखा है—‘अन्तिम पाँच सहनन असंख्यात गुने हैं। दो प्रकारके तयम गुणश्रेणि शीर्ष और उनसे गुणित अनन्तानुबन्धो विसंयोजन गुणश्रेणिशीर्ष, इन तीनोंको एकत्र करके नामकर्म सम्बन्धी अट्ठाईस अथवा तीस प्रकृतिक स्थानसे भाग देनेपर होता है। दर्शनमोहक्षपक-गुणश्रेणिका ग्रहण क्यों नहीं किया ? इन सहननोंके उदयसहित जीवोके दर्शनमोहको क्षपण करनेकी शक्ति नहीं है। इस अभिप्रायसे उसका ग्रहण नहीं किया। दूसरे और तीसरे सहननवालोंकी उपशान्त-कषाय गुण श्रेणिका ग्रहण क्यों नहीं किया ? जिनके दर्शन मोहको क्षपण करनेकी शक्तिका अभाव है उनके उपशम श्रेणिपर चढनेकी शक्तिके होनेका विरोध है इस अभिप्रायसे नहीं किया। यदि ऐसा है तो अनन्तर ही बीती उदीरणास्थान प्रवृत्तियोंमें विरोध क्यों नहीं आता ? विरोध तो आता है किन्तु ग्रन्थान्तरका अभिप्राय

१. ‘एद्रेण पचण्हं संखडणाणमुदइल्लाण पि उवसमसेडिचडणं सम्भव णत्थि त्ति जाणाविद । जदि एवं [तो] पुब्बावरविरोही (हो) किं ण भवे ? ण वा भवे, गंधातर माइरियाणमभिप्पायाण सूचयत्तादो ; तं कथं ? अभिप्पाय उच्चदे—एदेसि मुदयो पोगल विवाण कोदि । ते पोगला जीवाण रागदोत्तागमुप्पवाणमित्त सत्तिमुप्पादयति । जहा वाहिर पोगलाणं सत्ते वियप्पो (?) तहा उवसमसेडं ए राग-दोत्तमुप्पाय्दु ण सक्कि-उज्जदि ति । तदो तप्फलाभ (भा) वावेक्खाए उदओ उवसम सेदिप णत्थि त्ति सूचिद । इदरगणेषु पदेसणिज्जराभेत्त विवक्खिय भणिद । जहवा उवसमसेडि चडणमत्ती एदेसि णत्थि त्ति एदमभिप्पायमिद म (भा) विदव्व ॥’

होनेसे दोनोका ग्रहण करना चाहिये, ऐसा परिहार पहले ही कर दिया है ।”

गोम्मटसार^२ कर्मकाण्डके उदय प्रकरणमें नेमिचन्द्राचार्यने भूतवलि तथा यतिवृषभ दोनो आचार्योंके मतसे जो प्रत्येक गुणस्थानमें उदयसे व्युच्छिन्न होनेवाली कर्म प्रकृतियाँ बतलायी हैं दोनो ही मतोंके अनुसार उनमें वज्रनाराच सहनन और नाराच सहननका उदय ग्यारहवें उपशान्तकषाय गुणस्थान तक बतलाया है । अतः पट्खण्डागम और कसायपाहुड दोनोंके मतोंसे उक्त दोनो सहनन वाले जीव उपशम-श्रेणी चढ सकते हैं और जब उपशम-श्रेणी चढ सकते हैं तो दर्शनमोहनीयका क्षण भी कर सकते हैं । अतः पञ्जिकाकारके द्वारा निर्दिष्ट उक्त मत इन दोनो ग्रन्थोंका तो नही जान पडता । यह ग्रन्थान्तर कोई दूसरा ही होना चाहिये । श्वेताम्बर^३ सम्प्रदायमें यद्यपि उक्त दोनों मत मिलते हैं । किन्तु बहुमान्य मत यही है कि दूसरे तीसरे सहननवाले उपशमश्रेणि नही चढ सकते, दिगम्बर परम्पराको जो मत मान्य है उसका उल्लेख वहाँ मतान्तरके रूपमें किया गया है । किन्तु चन्द्रर्विने पञ्चसग्रहकी^४ स्वोपज्ञ टीकामें केवल इसी मतको मान्य किया है कि दूसरे तीसरे सहननवाला उपशमश्रेणि चढ सकता है । उसीके दूसरे टीकाकार मलयगिरि ने ग्रन्थकार चन्द्रर्विको मान्य मतका निर्देश ‘अन्ये’ कर के किया है और नही चढनेवालो’ के मत को मान्य स्थान दिया है । इसीसे यह प्रकट होता है कि सम्प्रदाय-मान्य मत यही है कि दूसरे तीसरे सहननवाले उप-

१. “पुणोवि अंतिम पचसहडणाणि असखेज्ज गुणाणि । कुढो ? दुविह सजमगुणसेडिसीसस-
एणम्महियमणताणुवि विसयोजयण गुणसेडिसीसयाणित्ति तिण्णिवि एगट्ठ काऊण णाम-
कम्मसवधीण अट्ठावीसेण वा तीसेण वा भजिदमेत होदि त्ति । किमट्ठ दंसणमोहक्खवण
गुणसेडीण वेप्पदे ? ण, त खवण(तक्खवण) सत्ती एदेसि संहडणाण उदयसहिदजीवाण
णत्थि त्ति अभिप्पयादो । विदिय-नदियमिदि दोण्ह सहडणाण उवसतकसायगुणसेडि
किं ण गहिदा ? ण, दसणमोहक्खवणा सत्तिविरहिदाण उवसमसेडि चडणसत्तीण संभव
विरोहो होदि त्ति अभिप्पाएण । जदि एव (तो) अणतएदिककत उदीरणट्ठाणपरूवणाए
ण मियूणेण (?) च विरोहो किं ण भवे ? होदि विरोहो, गथतराभिप्पाएण दोण्ह
पि गहण कायव्व इदि पुव्व चेव परिहार दिण्णत्तादो ।” —स० प०, पृ० ७९ ।

२. ‘सते वज्ज णारायणाराय’ ॥२६९॥’ —गो० क०

३ — ‘अण्णे भणति ति सयणो उवसमसेडि पडिवज्ज इत्ति’ —सि० चू०, पृ० ४९ । ‘अन्ये त्वाचार्यां ब्रुवते—आधसहननत्रयान्यतमसहननयुक्ता अप्युपशमश्रेणी प्रति-
पद्यन्ते ।’ सप्त० टी० पृ० २३३ ।

४ ‘अपूर्वकरण वादर सूक्ष्मोप शान्तेषु प्रत्येक त्रिशदुदयो भवति, दाससति भङ्गा, यत्त-
स्तेषु सहननत्रयैवोदयः । प०स० स्वी० टी० पृ० ३१८ । अन्ये त्वाचार्यां ब्रुवते—आध-
सहननत्रयान्यतम सहनन युक्ता अपि उपशमश्रेणि प्रतिपद्यन्ते, तन्मतेन भङ्गा
द्विमप्सति ।’ —प० स० टी०, भा० २, पृ० ३२५ ।

शम श्रेणि नही चढ सकते । पजिकारको भी यही मत मान्य प्रतीत होता है ।

रचनाकाल—

जैसा कि प्रारम्भमें लिखा है, पजिकाके इस अन्त-निरीक्षणसे ऐसा प्रतीत होता है कि उसके रचयिताको पट्खण्डागम सिद्धागतका तो अच्छा ज्ञान था ही, साथ ही सत्कर्ममें वीरसेनस्वामी के द्वारा सगृहीत किये गये शेष अनुयोगोका तथा कसायपाहुडका भी अच्छा ज्ञान था और उनकी लेखन शैली भी वीरसेन स्वामीसे निम्न स्तरकी नहीं थी । फिर भी उसे हम वीरसेनस्वामीकी समकक्षता तो नहीं ही दे सकते । हाँ, जयधवलाको पूर्ण करनेवाले जिनसेन की समकक्षता अवश्य दे सकते हैं । इससे ऐसा लगता है कि यह पंजिका वीरसेनके ही किसी शिष्य या प्रशिष्यके द्वारा रचित हो सकती है ।

पंजिकामें उद्धरण भी दो तीनसे अधिक नहीं है । उनमें तीन गाथाएँ तो कसायपाहुडकी हैं उनके साथमें 'कसायपाहुडगाथासुत्त' लिखा हुआ है । एक गाथा ऐसी है जो दिगंबर प्राकृत पंचसंग्रह की है । अतः इन उद्धरणोंसे भी हमारे उक्त अनुमानको कोई बाधा नहीं आती है ।

प्रक्रम अनुयोगके अंत में अल्प-बहुत्वका प्रतिपादन कर के वीरसेन स्वामीने 'एसो-णिकखेवाहरिय उवएसो' लिखकर उसे निक्षेपाचार्य उपदेश बतलाया है उसकी पजिकामें पजीकारने लिखा है—'स्थिति-अनुभागोंमें प्रक्रमित कर्मद्रव्यका अल्प-बहुत्व तो ग्रन्थ सिद्ध होनेसे सुगम है इसलिए उसका कथन न कर के स्थितिनिषेक प्रति प्रक्रमित अनुभागका अल्पबहुत्व निक्षेपाचार्यने ऐसा कहा है ।' और लिखकर निक्षेपाचार्यका कथन बतलाया है फिर उसकी उपपत्ति भी पजिकाकारने दी है उनका यह सब प्रतिपादन दो पृष्ठसे भी अधिक है । अन्तमें लिखा है—'इसप्रकार स्थितिके अनुसार अनुभाग अनतगुण हीन रूपसे वधको प्राप्त होते हैं यह निक्षेपाचार्यके वचन सिद्ध हुए' पश्चात् 'सेसाइरियाणमभिप्पायेण' लिखकर शेष आचार्योंका अभिप्राय बतलाया है ।' इससे प्रकट होता है कि वीरसेनस्वामीने जिस निक्षेपाचार्यके उपदेशका उल्लेख किया है, पजिकाकार उसके उपदेशसे भी अच्छी तरह सागोपाग परिचित थे । जगह-जगह पजिकामें अपने कथनके समर्थनमें

१. पु १५, पृ ४० ।

२ 'पुओ ढिदि-अणुभागेषु पक्कमिदकम्मदव्वस्स अप्पाबहुग गंधसिद्ध सुगममिदि तमरू विय पुणो ढिदिणिसेयप्पडि पक्कमिगाणुभागस्सघावहुग णिकखेवाहरियेण एव परूविदं' - स प, पृ १४ ।

३. 'एव ढिदिअणुसरेण अणुभागा अणत गुणहीणसरूवेण वज्झति त्ति णिकखेवाहरियवयण सिद्ध'—सं पं, पृ १७ ।

‘आर्ष’ और ‘आर्षवचन’का निर्देश किया गया। बातोसे भी हमारे उक्त अनुमान-का ही समर्थन होता है। वह व्यक्ति कौन हो सकता है, यद्यपि यह कहना शक्य नहीं है। किन्तु धवलाकी प्रशस्तिके अन्तमें एक गाथा इस प्रकार है—

वोद्दणराय णरिदे णरिद चूडामणिम्हि भुजते।

सिद्धतगथमत्थिय गुरुप्पसाएण विगत्ता सा ॥९॥

यहाँ यह बतला देना उचित होगा कि धवला प्रशस्तिकी इससे पूर्वकी गाथाओंमें ‘कत्तियमासे एसा टीका हु समाणिया धवला’ लिखकर धवलाकी समाप्तिका काल और जगत्तुगदेवके राज्यमें धवलाकी समाप्तिका कथन किया जा चुका है। इसीसे उसके पश्चात् ही दूसरे राजाके राज्यका उल्लेख बड़ा अटपटा लगता है और उसकी सगति बैठानेके लिए यह कल्पना की जाती है। कि जगत्तु ग^१ के राज्यमें धवलाका प्रारम्भ हुआ और नरेन्द्रचूडामणि वोद्दणराय (अमोघवर्ष प्र०) के राज्यमें उसकी समाप्ति हुई। किन्तु यह सब उक्त अन्तिम गाथाके आये हुए अतमें ‘विगत्ता’ शब्दपर ध्यान न देनेका फल है। ‘विगत्ता’ शब्द अशुद्ध प्रतीत होता है। ‘वि’ उपसर्ग पूर्वक कृत् धातुसे कृदन्तमें ‘विगत्ता’ बनता है। उसका अर्थ होता काटा हुआ या छिन्न उससे यहाँ कोई प्रयोजन नहीं है। अतः ‘विगत्ता’के स्थानमें ‘विअत्ता’ पाठ शुद्ध प्रतीत होता है। उसका अर्थ होता है—व्यक्ता अर्थात् स्पष्ट की गयी। अतः नरेन्द्रचूडामणि वोद्दणराय नरेन्द्रके राज्यकालमें धवला या उसके किसी अशको जिसने व्यक्त किया उसीके द्वारा यह पद्य रचा जान पड़ता है। और पीछेसे वह मूल प्रशस्तिके अन्तमें जोड़ दिया गया है। इस तरहकी यह घटना नई नहीं है। ऐसे और भी उदाहरण मिलते हैं।

वीरसेनके शिष्य गुणभद्रके उत्तरपुराणकी अन्तिम प्रशस्तिमें गुणभद्र शिष्य लोकसेनकी प्रशस्ति जुड़ गयी है। जिनसेनके पार्श्वाम्युदयका निर्देश हरिवश-पुराण^३में है जो शक स० ७०५ रचा गयाथा और पार्श्वाम्युदय^४के अन्तमें अमोघवर्षका उल्लेख है जो शक स० ७३५ के पश्चात् गद्दीपर बैठे। अतः स्पष्ट है, कि अमोघवर्षके उल्लेखवाले पद्य उसमें पीछेसे जोड़े गये। इसी तरह धवलाकी

१. जै० सा० ३०, पृ० १४७।

२. जै० सा० ३०, पृ० १४२।

३. ‘या मिताभ्युदये पार्श्वजिनेन्द्र गुणस्तुति। स्वामिनो जिनसेनस्य कीर्तिं सकीर्तयत्यसौ ॥४०॥ द० पु० १० प्र०।

४. ‘इति विरचितं मेतत् काव्यमावेष्ट्य मेघ बहुगुण मपदोषं कालिदास्य काव्यम्।

मलिनित परकाव्य तिष्ठता दशशङ्कं भुवनमवतु देव सर्वदाऽमोघवर्ष ॥’—पार्श्वार्०

२९२ ; जैनसाहित्यका इतिहास

प्रशस्तिकी उक्त गाथा भी पीछेसे उसमें जोड़ी गयी जान पड़ती है । यदि वोद्दणराय यथार्थमें अमोघवर्ष प्रथम है तो कहना होगा कि पजिकाकी रचना वीरसेनके सामने अथवा उनके स्वर्गवासके पश्चात् तत्काल ही हो गयी थी । जयधवलाकी अन्तिम प्रशस्तिमें^३ वीरसेनके शिष्य जिनसेनने श्रीपाल, पद्मसेन, और देवसेन नाम के तीन विद्वानोका उल्लेख किया है । उनमेंसे श्रीपालको तो उन्होने अपनी टीका जयधवलाका सम्पालक कहा है ये तीनों उनके गुरुभाई जान पड़ते हैं सम्भवतया उन्हीमें से किसीने पजिकाका निर्माण किया हो ।

चतुर्थ अध्याय अन्य कर्मसाहित्य

छक्खडागम, कसायपाहुड आदि मूल आगमग्रन्थोके अतिरिक्त कर्मविषयक अन्य प्राचीन साहित्य भी उपलब्ध है। यह साहित्य मूल आनुगमानुसारी है और इसका रचनाकाल विक्रमकी पाँचवीं शताब्दीसे लेकर विक्रमकी नवम शताब्दीतक है। यद्यपि कर्म-विषयक मूल और टीका ग्रन्थों का निर्माण विक्रमकी १५ वीं—१६वीं शताब्दीतक होता रहा है। पर इस अध्यायमें प्राचीन कर्म-साहित्य का ही इतिवृत्त प्रस्तुत है। यहाँ पर कर्म-प्रकृति, वृहत्कर्म-प्रकृति, शतकचूर्णि, सित्तरी, कर्मस्तव और प्राकृत-पचसग्रह आदि ग्रन्थोपर विचार किया जा रहा है।

कर्म-प्रकृति ग्रन्थको सर्वाधिक प्राचीन कहा जाता है। श्वेताम्बर सम्प्रदायमें इस ग्रन्थपर कई चूर्णि और टीकाएँ भी उपलब्ध हैं। इसमें सन्देह नहीं कि कर्म-प्रकृति प्राचीन ग्रन्थ है और इसका उपयोग दोनों ही परम्पराओंमें होता रहा है।
कर्मप्रकृति—

इस ग्रन्थमें ४७५ गाथाएँ हैं। प्राकृत चूर्णिके साथ मलयगिरिकी संस्कृत टीका भी उपलब्ध है। ग्रन्थपर एक अन्य टीका उपाध्याय यशोविजयजी ने भी लिखी है।

नाम—ग्रन्थाकारने ग्रन्थकी अन्तिम गाथामें^१ कहा है कि मैंने कर्म-प्रकृतिसे इसका उद्धार किया है। किन्तु स्वयं उन्होंने अपनी इस कृतिको कोई नाम नहीं दिया^२ उसीपरसे इसग्रन्थका नाम कर्मप्रकृति प्रवर्तित हुआ जान पड़ता है। किंतु चूर्णिकारने प्रथम गाथाकी उत्थानिकामें^३ लिखा है कि विच्छिन्न-कर्मप्रकृति महाग्रन्थके अर्थका ज्ञान करानेके लिए आचार्यने सार्थक नामवाला 'कर्मप्रकृति-सग्रहणी' नामक प्रकरण रचा है। उससे ज्ञात होता है कि इस ग्रन्थ का नाम कर्मप्रकृति-सग्रहणी था। शतकचूर्णिमें^४ तथा सित्तरीचूर्णि^५ इसी नामसे इसका निर्देश मिलता है।

१.—'इय कम्मप्पअडीओ जहा सुय नीय मप्प मइण्णो विं । सोहियणा भोग कयं कहुनु वर दिट्ठी वायन्नु ॥५६॥—कर्म प्र०, मत्ता० ।

२.—'विच्छिन्न कम्मपयडिमहागंतथ्य संवोहणत्थ आरद्ध आयरिण्ण तग्गुणणामग कम्मपयडी सगहणी णाम पगरण । क० प्र० चू० ।

३.—'जहा कम्मपयडिमगणिण भणियं तहा भणामि,'—पृ ४, 'प्याणि जहा कम्मपयटिमगहणीय,'—पृ. २६ । 'एतासि अत्यो जहा कम्मपयडि सगहणीण'—पृ० ४३ ।—श० चू० ।

४.—'उव्वट्ठणोविही जहा कम्मपयटी सगहणीण'—पृ० ६१ । 'विमेषपवचो जहा कम्म-

देवेन्द्रसूरिने अपने नवीन कर्मग्रन्थोकी स्वोपज्ञ टीकामें यद्यपि कर्मप्रकृतिके नामसे ही उसका उल्लेख किया है । तथापि एक स्थल^१ पर कर्मप्रकृति-संग्रहणी नामसे ही उसका निर्देश किया है । अतः ग्रन्थका प्राचीन नाम कर्मप्रकृति-संग्रहणी है । उसीका संक्षिप्त रूप कर्मप्रकृति है ।

वृहत्कर्म-प्रकृति—

नव्य कर्म-ग्रन्थाकार श्रीदेवेन्द्रसूरिने स्वोपज्ञ टीकामें एक स्थल पर वृहत्कर्मका निर्देश किया है । कर्म विपाक नामक प्रथम ग्रन्थकी सातवीं गाथामें उन्होने श्रुत-ज्ञानके यद्यपि पर्याय पर्याय-समास, आदि बीस भेदोको गिनाया है । शतकचूर्णमें भी बिल्कुल ऐसी ही एक गाथा उद्धृत है जिसमें श्रुतज्ञानके ये बीस भेद गिनाये गये । श्वेताम्बर सम्प्रदायमें श्रुतज्ञानके ये बीस भेद केवल कामिकोमें ही मिलते हैं, सैद्धान्तिक पक्ष इनसे भिन्न श्रुतज्ञानके चौदह भेद मानता है और वे ही भेद श्वेताम्बर साहित्यमें बहुतायतसे मिलते हैं । अस्तु, उक्त गाथा ७ की स्वोपज्ञ^२ टीकामें श्रुतज्ञानके बीस भेदोको संक्षेपसे बतला कर लिखा है कि विस्तारसे जाननेके इच्छुक को 'वृहत्कर्मप्रकृति' अन्वेषण करना चाहिये ।

वर्तमान कर्मप्रकृतिमें श्रुतज्ञानके बीस भेदोकी गन्ध भी नहीं है तथा इस कर्मप्रकृतिका तो देवेन्द्रसूरिने कर्मप्रकृति नामसे ही उल्लेख किया है । अतः यह 'वृहत्कर्मप्रकृति' इस कर्मप्रकृतिसे भिन्न होनी चाहिये । उसकी भिन्नता और महत्ताकी सूचना करनेके लिए ही देवेन्द्रसूरिने उसके नामके साथ 'वृहत्' शब्द जोड़ा जान पड़ता है ।

किन्तु विक्रमकी १३-१४वीं शतीके ग्रन्थकारके द्वारा वृहत्कर्म-प्रकृतिका उल्लेख देखकर उसका आधार खोजते हुए हमें 'शतक' ग्रन्थकी मलघारी हेमचद विरचित टीकामें इस तरहका उल्लेख मिला । उन्होने श्रुतज्ञानके बीस भेदोका सामान्य कथन करके विस्तारार्थीको 'वृहत्कर्म' चूर्णिका अन्वेषण^३ करनेकी प्रेरणा की है ।

पयडीसगहणीए—पृ० ६३ । 'अन्तर करणविट्ठी जहा कम्मपयडीसग्रहणीए—पृ० ६४ ।—सित० चू० ।

१.—यदुक्त कर्मप्रकृति संग्रहण्याम्—आहारतित्थगहा भज्जति ।—शतक टीका० पृ० ११

२.—'विस्तारार्थिना वृहत्कर्म प्रकृतिरन्वेषणीया—स० च० क०, पृ० १९ ।

३.—'एवमेते संक्षेपतः श्रुतज्ञानस्य विंशतिर्भेदा दशिता विस्तारार्थिना तु वृहत्कर्म-प्रकृतिं चूर्णिरन्वेषणीया ।—शतक टी० गा० ३८ ।

मिलान करनेसे यह तो हमें स्पष्ट हो गया कि देवेन्द्रसूरिका उक्त कथन मलघारी जीकी टीकाका ऋणी है। किन्तु चूँकि वर्तमान कर्मप्रकृतिकी तरह उसकी चूर्णमें भी श्रुतज्ञानके बीस भेदोंकी चर्चा नहीं है अतः या तो उन्होंने उसमें सशोधन करके 'वृहत्कर्म-प्रकृति' कर दिया या 'चूर्ण' शब्द लेखक वगैरहके प्रमादसे छूट गया। अतः हम नहीं कह सकते कि श्री हेमचन्द्रके उक्त उल्लेखका क्या आधार है और उसमें कहाँ तक तथ्य है।

यदि वृहत्कर्म-प्रकृतिसे मतलब अग्रायणीय पूर्वके अन्तर्गत कर्मप्रकृति प्रामृतसे है तो उसमें उक्त बीस भेदोंका वर्णन अवश्य था, यह बात पट्खण्डागमसे स्पष्ट है क्योंकि उसके वेदनाखण्डमें श्रुतज्ञानावरणीय कर्मकी बीस प्रकृतियोंको बतलाते हुए श्रुतज्ञानके बीस भेदोंका कथन किया है।

कर्मप्रकृति

विषय परिचय—

कर्मप्रकृति^१की पहली पहली गायामें सिद्धोंको नमस्कार करते हुए ग्रन्थकारने आठो कर्मोंके आठ करणों तथा उदय और सत्त्वके कथन करनेकी प्रतिज्ञा की है। अतः इस ग्रन्थमें क्रमसे बन्धनकरण, सक्रमकरण, उद्धर्तन, अपवर्तन, उदीरणाकरण, उपशमनाकरण, निघत्ति, निकचना, उदय और सत्त्व इन दस करणोंका कथन है।

कर्मोंके आत्माके साथ वधनेकी क्रियाका नाम वधन-करण है। बन्धके दो कारण हैं योग और कपाय। अतः प्रथम योगका कथन किया है। वीर्यान्तराय कर्मके क्षय अथवा क्षयोपशमसे वीर्यलब्धि होती है उस वीर्यलब्धिसे वीर्य होता है। उसे ही योग कहते हैं। उसके द्वारा जीव औदारिक आदि शरीरोंके योग्य पुद्गलोंको ग्रहण करके उन्हें औदारिक आदि शरीर रूप परिणमाता है। तथा स्वासोच्छ्वास, भाषा और मनके योग्य पुद्गलोंको ग्रहण करके उन्हें स्वासोच्छ्वास आदि रूप परिणमाता है। योगका कथन दस अधिकारोंके द्वारा किया गया है—अविभागप्रतिच्छेद-प्ररूपणा, वर्गणाप्ररूपणा, स्पर्शकप्ररूपणा, अन्तरप्ररूपणा, स्थानप्ररूपणा, अनन्तरोपनिधा, परम्परोपनिधा, वृद्धिप्ररूपणा, समयप्ररूपणा और अल्पबहुत्व-प्ररूपणा पट्खण्डागमके वेदनाखण्डमें बारह अनुयोगद्वारोंसे अनुभाग बन्धाध्यवसाय स्थानका कथन करते हुए उक्त कथन कर आये हैं उक्त दसों अधिकार उसीमें गभित हैं अतः उनका यहाँ पुनः कथन करने से पिष्टपेषण ही होगा। कसायपाहुडके अनुभागविभक्ति और

१.—पट्ख०, पु० १३, पृ० २६०।

२. कर्मप्रकृति, चूर्ण तथा दोनों टीकाओंके साथ है। सन् १९१७ में जैनधर्म प्रसारक सभा भावनगर से तथा सन् १९३७ में मुक्तावाई ज्ञान मन्दिर डभोइ (गुजरात)से प्रकाशित।

विशेषतया प्रदेशविभक्ति नामक अधिकारोके चूर्णिसूत्रोंमें भी उक्त विषयोंकी चर्चा है।

गाथा १८-२० के द्वारा जीवके द्वारा ग्रहण योग्य और अग्रहणयोग्य वर्गणाओ-का निरूपण किया है षट्खण्डागमके वर्गणाखण्डके अन्तर्गत बन्धन अनुयोगद्वारमें इन वर्गणाओ का कथन आया है।

बन्ध योग्य वर्गणाओका कथन करनेके बाद वद्ध समयप्रवद्धका विभाग आठो मूलकर्मोंकी उत्तर-प्रकृतियोंमें किस प्रकारसे होता है इसका विवेचन किया है। चूर्णिकारने अपनी चूर्णमें प्रत्येक उत्तर-प्रकृतिके विभागका कथन विस्तारसे किया है।

प्रदेशबन्ध के बाद अनुभागबन्धका कथन है। चूर्णिकारने चूर्णमें वे सब अपने अनुयोगद्वार कुछ व्यतिक्रमसे गिनाये हैं जो षट्खण्डागमके वेदनाखण्ड^१ के अन्तर्गत वेदना-भाव-विधानका कथन करते हुए बतलाये हैं। कर्मप्रकृति में चूर्ण निर्दिष्ट क्रमानुसार कथन किया है। तत्पश्चात् षट्खण्डागम के वेदनाभाव-विधानके अन्तर्गत जीव समुदाहारके अनुसार ही आठ अनुयोगोंके द्वारा जीव समुदाहारका कथन है।

गाथा ६७ का व्याख्यान करते हुए चूर्णिकारने प्रत्येक प्रकृतिकी उत्कृष्ट और जघन्य स्थितिमें उत्कृष्ट और जघन्य अनुभागके अल्पबहुत्वका विचार विस्तारसे किया है। अन्तमें लिखा है—‘आदि^३ अनादि प्ररूपणा, स्वामित्व, घातिसज्ञा, स्थानसज्ञा, शुभाशुभ-प्ररूपणा, बन्धप्ररूपणा, विपाकप्ररूपणाका कथन जैसा शतकमें कहा है वैसा कह लेना चाहिए।’ तत्पश्चात् स्थितिबन्धका कथन किया है। जो जीव स्थान चूलिकाके ही अनुरूप है।

१ ‘अनुभाग बन्धज्जवसाणस्स परूवणा कीरति। तस्स इमे अणुतो गद्दारा। त जहा-अविभागपल्लिच्छेद परूवणा, वग्गणपरूवणा, (फड्डगपरूवणा), अतरपरूवणा, ठाणपरूवणा, कडगपरूवणा, छट्ठाणपरूवणा, हेट्ठाट्ठाण-परूवणा, समयपरूवणा, जवम-ज्यपरूवणा उयजुम्भपरूवणा, पज्जवसाणपरूवणा, अप्पावहुगपरूवणत्ति ।’

क० प्र० चू०, पृ० ८५।

२ एत्तो अणुभागबध्व्जवसाणट्ठाणदाए परूवणदाए तत्थ इमाणि बारस अणियोगद्दाराणि ॥१९७॥ अविभागपल्लिच्छेद परूवणा, ट्ठाणपरूवणा, अतरपरूवणा कदयपरूवणा, ओजजुम्भपरूवणा, छट्ठाणपरूवणा, हेट्ठाट्ठाणपरूवणा, समयपरूवणा, वड्डिपरूवणा जवमज्जमपरूवणा पज्जवसाणपरूवणा अप्पावहुए त्ति ॥१९८॥—षट्ख, पु० १२ पृ० ८८ ॥

३. इदार्णि सादि अणादि परूवणा, सामित्त घातिसज्ञा ट्ठाणसज्ञा सुभासुभपरूवणा बधतो विवागो य जहा सयगे तहा भाणियन्वा —क० प्र० चू० पृ० २४६।

बन्धनकरणमें १०२ गाथाएँ हैं ।

एक कर्मप्रकृतिके दलिकोका सजातीय अन्य प्रकृतिरूप सक्रान्त होनेकी क्रिया-को सक्रमण कहते हैं । किन्तु जैसे मूल प्रकृतियोंमें परस्परमें सक्रमण नहीं होता वैसे ही दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयमें परस्परमें सक्रमण नहीं होता और न आयु कर्मकी चार उत्तर प्रकृतियोंमें परस्पर सक्रमण होता है । इस सक्रमण-के भी बन्धके चार भेदोंकी तरह चार भेद हैं—प्रकृतिसक्रम, स्थितिसक्रम, अनुभागसक्रम और प्रदेशसक्रम । प्रकृतिसक्रमके भी दो मूल भेद हैं एकैक प्रकृति-संक्रम और प्रकृति-स्थान सक्रम । जब एक प्रकृति एक प्रकृतिमें सक्रान्त होती है तो उसे एकैक प्रकृति संक्रम कहते हैं । और जब बहुत-सी प्रकृतियों में परस्परमें सक्रमण होता है तो उसे प्रकृतिस्थान सक्रम कहते हैं । कसायपाण्डुमें केवल मोहनीय कर्मका ही कथन है, जब कि कर्मप्रकृतिमें आठो कर्मोंके सम्बन्धमें कथन है । अतः कसायपाण्डुके बन्धक महाधिकारके अन्तर्गत संक्रम नामक अधिकारकी २७ से ३९ नम्बर तककी तरह गाथाएँ अनुक्रमसे कर्मप्रकृतिके सक्रम करण नामक अधिकारमें पायी जाती हैं । यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि ये गाथाएँ मोहनीय कर्मके प्रकृति स्थानसक्रम से सम्बद्ध हैं । यहाँ हम तुलना के लिए दोनो ग्रन्थोंसे उक्त गाथाओंको उद्धृत कर देना उचित समझते हैं इससे दोनोंमें जो पाठ भेद है वह भी स्पष्ट हो जायेगा ।

अट्ठावीस चउवीस सत्तरस सोलसेव पण्णरसा ।

एदे खलु मोत्तूण सेसाण संकमो होइ ॥२७॥ क० पा०

अट्ट चउरहियवीस सत्तरस सोलस च पन्नरस ।

वज्जिय सकमट्ठाणाई होति तेवीसइ मोहे ॥१०॥ क० प्र०

दोनों गाथाओंमें कहा है कि अट्ठाईस, चौबीस, सतरह, सोलह और पन्द्रह प्रकृतिक स्थानोंको छोड़कर मोहनीय कर्मके शेष स्थानोंमें जिनकी संख्या २३ है, सक्रमण होता है । दोनों गाथाओंकी चूर्णियोंमें कोई ऐसी उल्लेखनीय समानता नहीं है जिसपरसे कोई कल्पना की जा सके ।

सोलसग बारसट्ठग वीस वीसं तिगादि गायिगा य ।

एदे खलु मोत्तूण सेसाणि पडिग्गहा होंति ॥२८॥ क० पा०

सोलस बारसगट्ठग वीसग तेवीस गाइगे छच्च ।

वज्जिय मोहस्स पडिग्गहा उ अट्ठारस हवति ॥११॥ क० प्र० ।

दोनों गाथाओंके अर्थमें कोई अन्तर नहीं है । रेखाकित पाठ अशुद्ध प्रतीत होता है कर्मप्रकृतिका पाठ ठीक है । दोनोंमें कहा है कि सोलह, बारह, आठ, बीस और तेईस आदि छै स्थानोंको छोड़ कर शेष मोहनीयके पतद्ग्रह होते हैं । जिन

२९८ : जैनसाहित्यका इतिहास

प्रकृति स्थानोंमें कोई प्रकृति स्थान सक्रान्त होता है उन्हें पतद्ग्रह कहते हैं । कसायपाहुड गाथा न २९-३०-३१ में कर्म-प्रकृति गा० न० १२-१३-१४ में कोई अन्तर नहीं है, वचचित् शब्दोका अन्तर है ।

चोदसग दसग सत्तग अट्टारसगे च णियम वावीसा ।

णियमा मणुस गईए विरदे मिस्से अविरदे य ॥ ३२॥ क० पा०

चोदसग दसग सत्तग अट्टारसगे य होइ वावीसा ।

णियमा मणुय गईए णियमा दिट्ठीकए दुविहे ॥१५॥ क० प्र०

दोनों गाथाओंके चतुर्थ चरणमें अन्तर होनेपर भी दोनोंके अभिप्रायमें अन्तर नहीं है । ऊपर की गाथामें बतलाया है कि चौदह, दस, सात और अट्टारहमें बाईस प्रकृतियों का संक्रमण होता है । वह संक्रमण नियमसे मनुष्य गतिमें, और संयत्तासयत्त और असायत्त-सम्यग्दृष्टि गुणस्थानोंमें होता है । कर्म प्रकृतिकी गाथामें गुणस्थानोंका निर्देश न करके यह निर्देश किया है कि यह बाईस प्रकृतिक स्थान नियमसे दर्शनमोहनीय की सम्यक्त्व और सम्यक्मिथ्यात्व रूप प्रकृतियोंका ही अस्तित्व होने पर होता है । किंतु कषायपाहुड निर्दिष्ट गुणस्थानोंका कथन सभीको मान्य है । उसमें कोई मतभेद नहीं है ।

तेरसय णवय सत्तय सत्तारस पणय एगवीसाए ।

एगाधिगाए वोसाए सकमो छप्पि सम्मते ॥३३॥ क० पा०

तेरसग णवग सत्तग सत्तरसग पणग एक्कवीसासु ।

एक्कावीसा संकमइ सुद्ध सासाण मीसेसु ॥ १६ ॥ क० प्र०

यहाँ भी दोनोंके चतुर्थ चरणमें अन्तर है तथा अभिप्रायमें भी थोड़ा अंतर है । दोनों में कहा है कि तेरह, नौ, सात, सतरह, पाँच और इक्कीस- इन छै स्थानों में इक्कीस का संक्रमण होता है । कसायपाहुडमें कहा है कि यह संक्रमण सम्यक्त्व गुण विशिष्ट गुणस्थानोंमें ही होता है । कर्मप्रकृतिमें कहा है कि अविरत सम्यग्दृष्टि आदिमें तथा ससादन और मिश्र गुणस्थानमें होता है । उक्त गाथाकी व्याख्या करते हुए जयधवलामें सम्यक्त्व गुण विशिष्ट गुणस्थानोंमें सासादनका तो ग्रहण किया है किन्तु मिश्र गुणस्थान का ग्रहण नहीं किया । इन गाथाओंपर दोनों ग्रन्थोंमें चूर्णियाँ नहीं हैं अतः कुछ विशेष कह सकना शक्य नहीं है ।

एत्तो अवसेसा सजमम्हि उक्सावगे च खवगे च ।

वीसाय सकमहुगे छक्के पयाए च वोद्धव्वा ॥३४॥ क० पा०

एत्तो अवसेसा सकमंति उवसामगे व खवगे वा ।

उवसामगेसु वीसा य सत्तगे छक्क पणगे वा ॥१७॥ क० प्र०

यहाँ भी दोनोके उत्तरार्द्धमें अन्तर है और थोड़ा-सा मतभेद भी है। दोनोमें कहा है कि उक्तसे अवशिष्ट प्रकृतिस्थान-सक्रम उपशमश्रेणि और क्षपकश्रेणिमें सक्रान्त होते हैं। किन्तु कसायपाहुडमें आगे कहा है कि वीसका सक्रम केवल छै और पाँच इन दो ही स्थानोमे होता है और कर्मप्रकृतिमें कहा है कि सात, छै और पाँचमें वीसका सक्रमण होता है। यह अन्तर है।

पचसु च ऊणवीसा अट्टारस चद्रुसु होति वोढव्वा ।

चोद्दस छसु पयडीसु य तेरसय छक्क पणगम्हि ॥३५॥ क० पा०

पचसु एगुण वीसा अट्टारस पचगे चउक्के य ।

चोद्दस छसु पगडीसु तेरसग छक्कपणगम्हि ॥१८॥ क० प्र०

यहाँ भी दोनोमें थोड़ा अन्तर है। कसायपाहुडके अनुसार १८ का सक्रमण चार प्रकृतियोंमें होता है और कर्मप्रकृतिके अनुसार चार और पाँचमें होता है।

शेष चार गाथाओमें कोई अन्तर नहीं है। इस तरह संक्रमण प्रकरणमें १३ गाथाएँ ऐसी पायी जाती हैं जो कसायपाहुडकी हैं। इस प्रकरणकी गाथासख्याका प्रमाण एक सौ ग्यारह है।

सक्रम-करणके पश्चात् उद्वर्तना-अपवर्तनाकरणका कथन है। ये दोनो करण स्थिति और अनुभागसे सम्बन्ध रखते हैं। स्थिति और अनुभागके बढानेको उद्वर्तना और घटानेको अपवर्तना कहते हैं। उद्वर्तना तो बन्धकाल पर्यन्त ही होती है किन्तु अपवर्तना बन्धकालमें भी होती है और अवन्धकालमें भी होती है। दस गाथाओके द्वारा इन दोनो करणोंका कथन है।

पश्चात् उदीरणा-करण का कथन है। विशुद्ध अथवा सकलेश परिणामोके द्वारा उदयावलि-बाह्य निषेकोको अपवर्तनाके द्वारा बलात् उदयावलीमें ला कर उनका वेदन करनेको उदीरणा कहते हैं। जैसे आमोको तोड़कर भूसे आदिमें दबा कर जल्दी पका कर खाते हैं। उसी तरह जो कर्मको अपने समयसे पहले भोग किया जाता है उसे उदीरणा कहते हैं। उसके भी चार भेद हैं—प्रकृति-उदीरणा, स्थिति-उदीरणा, अनुभाग-उदीरणा और प्रदेश-उदीरणा। प्रकृति-उदीरणा और प्रकृतिस्थान-उदीरणाका कथन करते हुए उनके स्वामियोका कथन किया है कि अमुक-प्रकृतिकी उदीरणा कौन करता है। इसी प्रकार स्थिति-उदीरणा आदिका भी कथन किया है। इस प्रकरण की गाथा सख्या ८९ है।

उपशमना-करण का कथन करते हुए इन अधिकारोके द्वारा उसका कथन किया है—प्रथमोपशम सम्भ्यक्त्वकी उत्पादना, देश विरति की प्राप्ति, अनन्ता-नुबन्धी काषाय का विसयोजन, दर्शनमोहकी क्षपणा, दर्शनमोहकी उपशमना, चारित्रमोहकी उपशमना।

पहली गाथाके द्वारा उपशमनाके दो भेद बतलाये हैं—करणोपशमना और अकरणोपशमना । अकरणोपशमनाका दूसरा नाम अनुदीर्घोपशमना भी है । (यथा प्रवृत्त, अध प्रवृत्त), अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण रूप परिणामोके द्वारा जो कर्मोका उपशम किया जाता है उसे तो करणोपशमना कहते हैं । और इन करणोके बिना जो उपशमना होती है उसे अकरणोपशमना कहते हैं । वैसे उपशमनाके दो भेद हैं—देशोपशमना और सर्वोपशमना । उक्त दो भेद देशोपशमनाके ही हैं । (सर्वोपशमना तो उक्त करणो के द्वारा ही होती है) । उपशमनाके उक्त दो भेद करके कर्म-प्रकृतिकारने अकरणोपशमनाके अनुयोगधरोंको नमस्कार किया है ।^१ चूर्णिकारने उसका व्याख्यान करते हुए लिखा है कि अकरणोपशमनाका अनुयोग विच्छिन्न हो गया । अतः उसको नहीं जानने वाले कर्म-प्रकृतिकारने उसके जानने वाले आचार्यको नमस्कार किया है ।

दूसरी गाथामें कहा है कि सर्वोपशमनाके दो नाम हैं—गुणोपशमना और प्रशस्तोपशमना । देशोपशमनाके भी दो नाम हैं अगुणोपशमना और अप्रशस्तोपशमना । सर्वोपशमना केवल मोहनीय कर्मकी ही होती है । इस प्रकरणमें भी चार गाथाएं ऐसी हैं जो कसायपाहुडमें भी पायी जाती हैं । कर्मप्रकृतिमें उनका नम्बर- २३, २४, २५, २६ है । और ये गाथाएं कसायपाहुडके दर्शन मोहोपशमना नामक अधिकारके अन्तमें आती हैं । चारमें से अन्तकी दो में तो कोई अंतर नहीं है । प्रारम्भकी दो में अन्तर है उसमेंसे भी भी दूसरीमें केवल शब्दोका व्यक्तिक्रम है । हा, पहलीमें उल्लेखनीय अन्तर है । कर्म-प्रकृति (उपशमना) की गाथा इस प्रकार है—

सम्मत्त पढम लम्भो सब्बोवसमा तहा विगिट्ठो य ।

छालिगसेसा पर आसाण कोइ गच्छेज्जा ॥२३॥

इसमें बतलाया है कि औपशमिक सम्यक्त्व की प्रथम प्राप्ति मोहनीय कर्मके सर्वोपशमसे होती है तथा प्रथम स्थितिकी अपेक्षा उसके अन्तर्मुहुर्त कालका प्रमाण बड़ा होता है । जब उस सम्यक्त्वके कालमें कमसे कम एक समय और अधिकसे अधिक छै आवली काल शेष रहता है तो कोई कोई जीव गिर कर सासादन गुणस्थानके चले जाते हैं और वहासे पुन मिथ्यात्वमें आ जाते हैं ।

यह गाथा कसायपाहुडमें इस प्रकार पायी जाती है—

सम्मत्त पढम लम्भो सब्बोवसमेण तह वियट्ठेण ।

भजियव्वो य अभिक्ख सब्बोवसमेण देसेण ॥१००॥

१. 'सा अकरणोपशमना ताते अनुयोगो वोच्छिन्नो, तो त अजाण तो आयरिजो जाणतस्स नमोक्कार करेति' कर्म प्र उप, गा. १ च.

इस गाथाके भी पूर्वार्द्धमें बतलाया है कि औपशमिक सम्यक्त्वका प्रथम लाभ मोहनीयके सर्वोपशमसे होता है । किन्तु आगे 'वियट्टेण' का अर्थ भिन्न किया है, यद्यपि पिपट्ट और 'विगिट्ट' शब्दोंमें वैयास भेद प्रतीत नहीं होता । जयधवलाकारने उसका अर्थ किया है—'जो मिथ्यात्वमें जा कर बहुत काल बीतने पर पुन सम्यक्त्वको प्राप्त करता है वह भी सर्वोपशमसे ही प्राप्त करता है ।' और जो सम्यक्त्वसे च्युत होकर जल्दी पुन सम्यक्त्वके अभिमुख होता है वह सर्वोपशमसे अथवा देशोपशमसे सम्यक्त्वको प्राप्त करता है ।

कर्म-प्रकृतिके उपशमना-करणकी २६ वी गाथा और कसायपाहुडकी १०५वी गाथामें कोई अन्तर नहीं है किन्तु दोनोंके टीकाकारोंके अर्थमें अन्तर है गाथा इस प्रकार है—

सम्मामिच्छद्दिट्ठी सागारे वा तहा अणागारे ।

अह वज्जणोगहम्मि य सागारे होई नायब्बो ॥२६॥

कषायपाहुडमें सागारे और 'अणागारे'के स्थानमें 'सागारो' और 'अणागारो' पाठ है । कर्म प्रकृतिकी चूर्णिमें पूर्वार्धका अर्थ किया है—'सम्यग्मिथ्यादृष्टि या तो साकार उपयोगमें वर्तमान होता है अथवा अनाकार उपयोगमें वर्तमान होता है ।' जयधवलाके अनुसार अर्थ है—सम्यग्मिथ्यादृष्टि साकारोपयोगी होता है अथवा अनाकारोपयोगी होता है । दोनों अर्थोंमें कोई अन्तर नहीं है । किन्तु उत्तरार्धके अर्थ में अन्तर है—

कर्म प्रकृति चूर्णिमें अर्थ किया है—

'यदि साकार उपयोगमें वर्तमान होता है' तो व्यजनावग्रहमें होता है अर्था-वग्रहमें नहीं । क्योंकि सशयज्ञानी अव्यक्त-ज्ञानी होता है ।' और जयधवलामें अर्थ किया है—'वज्जणोगहम्मि दु' यदि विचार पूर्वक अर्थ ग्रहण करनेकी अवस्थामें होता है तो साकारोपयोगी होता है ।

इन गाथाओं पर कसायपाहुडमें चूर्णि सूत्र नहीं है । कसायपाहुड और कर्मप्रकृति दोनोंको दर्शन-मोहोपशमना नामक प्रकरण उक्त गाथाके साथ समाप्त हो जाता है और उसके पश्चात् कर्मप्रकृतिमें चारित्रमोहकी उपशमनाका कथन है । इसमें ७४ गाथाएँ हैं अन्तमें २-३ गाथाओं द्वारा निषत्ति और निका-चनाका कथन है ।

आठो करणों का कथन समाप्त होने के पश्चात् कर्मों के उदय का प्रकरण प्रारम्भ होता है । उत्कृष्ट प्रदेशोदयके स्वामी का कथन करने से पूर्व दो गाथाओं

१. 'सम्मत्तुप्पत्ति सावयविरएसजोयणा विणासे य ।

दसणमोह क्खगे कसाय उवसामयुवसते ॥८॥

के द्वारा ग्यारह' गुण-श्रेणिया गिनायी है। ये गुण-श्रेणिया जैन सिद्धान्तमें दोनो परम्पराओ में अति प्रसिद्ध है। षट्खण्डागम्के वेदना-खण्डमें भी दो गाथाओके द्वारा ग्यारह गुणश्रेणिया गिनायी है। दोनो ग्रन्थो की गाथाओमें तो शब्दभेद है ही, आशय में भी किञ्चित् अन्तर है। कर्मप्रकृतिमें 'जिणे दुविहे' पाठ है। चूर्णिमें उसका अर्थ सयोग-केवली ओर अयोग-केवली किया है। किन्तु षट्-खण्डागम में केवल 'जिणेय' पाठ है। और गाथाओं का विवरण करने वाले षट्खण्डागम के सूत्रो में जिनसे केवल अद्य प्रवृत्त-केवली और योग निरोध करने वाला सयोग-केवली लिया है। अयोग-केवलीको नहीं लिया।

तत्त्वार्थसूत्र के नौवें अध्यायमें भी ये गुण श्रेणिया गिनायी है। और दिगम्बर तथा श्वेताम्बर दोनो परम्पराओके टीकाकारोने जिनसे सामान्य जिन ही लिया है और इस तरह वहा उनकी सख्या दस ही, है ग्यारह नहीं।

उदय-प्रकरणमें कर्मोंके उदय का वर्णन है। कर्मों के फल देने को उदय कहते हैं। उदय के पश्चात् सत्ता का कथन है। किन स्थानोमें किन-किन कर्म प्रकृतियो का सत्त्व रहता है इसका विस्तारसे कथन है। उदय और सत्त्व दोनोके प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश की अपेक्षा चार,चार भेद कर के उनके जघन्य और उत्कृष्ट भेदो के स्वामियो का कथन किया है। प्रदेश सत्कर्ममें योग-स्थान और स्पर्धको का निर्देश करके भूयस्कार, अल्पतर, अवस्थित और अवक्तव्य भेदो का कथन है।

कर्म प्रकृति के इन प्रकरणोमें क्रमसे १०२ + १११ + १० + ८९ + ७१ + ३- + ३२ + ५७ = ४७५ गाथाए है।

कर्ता—

इसमें तो सन्देह नहीं कि कर्म-प्रकृति एक प्राचीन ग्रन्थ है और उसकी प्राकृति चूर्णि भी प्राचीन प्रतीत होती है। किन्तु इन दोनो के रचयिताओ का नाम ज्ञात नहीं है और इसीलिए उनके रचनाकाल का भी कोई निश्चित समय

खवगे य खीणमोहे जिणे य दुविहे असखगुणसेढी ।

उदओ तव्विवरीओ कालो सखेज्जगुण सेढी ॥९॥ कर्मप्र०, उदय

सम्मत्तु प्पत्ती विय सावय विरदे अणत्त कम्म सै ।

दसणमोह कखवण कसाय उवसामए य उवसते ॥७॥

खवए य रवीणमोहे जिणे य णियमा भवे अमखेज्जा ।

तीव्विवरीदो कालो सखेज्ज गुण य सेढीओ ॥८॥ षट्स० पु० १२, ५०, ७८ ।

‘समग्दृष्टि श्रावक विरता नन्त वियोजक दर्शन मोह क्षपकोपशमकोपशान्त मोहक्षपक क्षीणमोह जिना. क्रमशोऽसख्येयगुण निर्जरा ॥४५॥’ तत्त्वा० सू० ।

निर्धारित नहीं है। परम्पराके आधार पर कर्म-प्रकृति को शिवशर्म सूरि की कृति माना जाता है।

मुक्तावाई ज्ञानमन्दिरसे प्रकाशित कर्म-प्रकृति की संस्कृत प्रस्तावना में लिखा है कि पूर्वधर भगवान् श्री शिवशर्म सूरिने कर्म-प्रकृति नामक मूलग्रन्थ को रचा था। इतिहास का अभाव होनेसे इनका समय अभी तक निश्चित नहीं हो सका। इनके गुरु कौन थे और ये कितने पूर्वोक्त धारी थे यह भी निश्चित नहीं है। तथापि नन्दी-सूत्रके आदि पाठ को देखनेसे यह निश्चय किया जाता है कि ये आगमोद्धारक देवधिगणिके पूर्ववर्ती थे। ऐसी संभावना है कि ये दशपूर्वधर थे।”

जैन साहित्य का इतिहास (पृ० १३९) में लिखा है कि शिव शर्म सूरि नामके एक महान् आचार्य हो गये हैं। उनका समय अनिश्चित है। उन्होंने ४७५ गाथाओं में कर्म-प्रकृति नामक ग्रन्थ दृष्टिवादके अन्तर्गत दूसरे पूर्व में से उद्धार कर रचा है। अतः उनका समय वि.सं. ५०० के आस पास रखा जा सकता है।

कल्पसूत्रस्थस्थविरावली, नन्दीसूत्रस्थस्थविरावली आदि किसी प्राचीन पट्टावली में हमें शिवशर्म सूरि नाम देखने को नहीं मिला। चूर्णिकार को भी यह ज्ञात नहीं था कि इस कर्म-प्रकृति के रचयिता कौन हैं क्योंकि उन्होंने भी ग्रन्थकार का नाम नहीं दिया। चूर्णिकारकी तरह १२-१३ वी शताब्दीके टीकाकार मलयगिरिने भी यह नहीं लिखा कि कर्म-प्रकृति के कर्ता असुक नामके आचार्य हैं। हाँ, १८ वी शताब्दीके दूसरे टीकाकार यशोविजय ने कर्म-प्रकृति की प्रथम गाथा की उत्थानिकामें शिवशर्म सूरि का नाम दिया है। अतः उनके सामने कोई आधार अवश्य होना चाहिये जिसके आधार पर उन्होंने कर्मप्रकृतिको शिवशर्म सूरि की कृति बतलाया। खोजने पर देवेन्द्रसूरि रचित नवीन कर्म-ग्रन्थों को स्वोपज्ञ टीका में कर्म-प्रकृति का उद्धरण देते हुए उसे शिवशर्म सूरि रचित लिखा है। तथा उसी में एक स्थान पर शिवशर्म सूरि रचित शतक का उद्धरण दिया है।

कर्म-प्रकृतिकार ने कर्मप्रकृति की रचना करनेसे पहले शतक नामका भी एक ग्रन्थ रचा था वह कर्म-प्रकृतिसे ही ज्ञात होता है। अतः देवेन्द्रसूरिके उल्लेखके अनुसार इन दोनोंके रचयिता शिवशर्म सूरि थे। देवेन्द्र सूरि का समय १३-१४ वी शताब्दी है और मलयगिरि का समय १२-१३ वी शताब्दी है। दोनोंमें एक शताब्दी का अन्तराल है फिर भी मलयगिरि जैसे बहुश्रुत टीकाकार ने कर्म-प्रकृति की अपनी टीकामें उसके रचयिता शिवशर्म सूरिके

१. 'यदाह शिवशर्म सूरिवर कर्मप्रकृतौ—स. च. क., पृ. १३७। २. 'यदुक्त' शिवशर्म सूरिपादै शतके'—स. च. क., पृ. ७९।

नामका उल्लेख क्यों नहीं किया ? इस विचारवश खोज करने पर देवेन्द्रसूरिके इस उल्लेखका आधार शतकचूर्णमें मिला । शतकचूर्णमें लिखा है कि इस शतक नामके ग्रन्थको शब्द, तर्क, न्याय और कर्मप्रकृति सिद्धान्तके ज्ञाता, अनेक वादोंमें विजय प्राप्त करनेवाले शिवशर्मा नामक आचार्यने रचा । अतः चूर्णसे यह प्रकट होता है कि शतक और कर्मप्रकृतिके रचयिता शिवशर्म सूरि थे । किन्तु शतकचूर्णके इस उल्लेखका आधार क्या है, यह हम नहीं जान सके । कर्मप्रकृति-चूर्णकी तरह ही शतक-चूर्णके कर्ताका तथा उसका रचनाकाल भी अनिर्णीत है । किन्तु दोनों चूर्णोंकी शैली आदिकी तुलनासे यह स्पष्ट है कि दोनोंके कर्ता भिन्न-भिन्न हैं तथा कर्म-प्रकृतिकी चूर्णसे शतक चूर्णवादमें रची गयी है ।

समय—

यह शिवशर्मसूरि कब हुए इसके जाननेका कोई प्रामाणिक आधार उपलब्ध नहीं है । जो कुछ है वह उनके दोनों ग्रन्थ ही है । कर्मप्रकृतिकी उपान्त्य गाथामें उन्होंने कहा कि—‘इस प्रकार मुक्ष अल्पबुद्धिने भी जैसा सुना वैसा कर्मप्रकृतिसे उद्धृत किया । जो कुछ स्वल्पित कथन किया हो, उसे दृष्टिवादके ज्ञाता शुद्ध कर के कहें ।’

चूँकि कर्मप्रकृति-प्राभृत दृष्टिवादके अन्तर्गत द्वितीय पूर्वका अश था और श्वेताम्बर सम्प्रदायके अनुसार भगवान् महावीरके निर्वाणसे एक हजार वर्ष तक दृष्टिवाद रहा । अतः कर्म-प्रकृतिके रचयिता शिवशर्म सूरिका समय वि० स० ५०० के लगभग अनुमान किया जाता है ।

प० हीरालालजी शास्त्रीने कसायपाहुड सूत्रकी अपनी प्रस्तावनामें लिखा है कि वर्तमान कर्मप्रकृति वही कर्मप्रकृति है जिसका निर्देश यतिवृषभने अपने चूर्णिसूत्रोंमें किया है । कसायपाहुडके चारित्रमोहकी उपशमना नामक अधिकारमें ‘उवसामणा कदि विधा’ इस गाथाशका व्याख्यान करते हुए कहा है कि ‘उपशामनाके’

१ ‘केण कथं ?’ ति शब्दतर्क न्याय प्रकरण कर्मप्रकृति सिद्धान्त विजाणण अयोगवायसमाल्लवविजणण सिवसम्मायरियणामधेज्जेण कथं ।—शत० चू० पृ० १ ।

२. ‘इय कम्मपगडीभी जहा सुय नीयमप्पमइणावि । णोहियणा भोगकयं कहतु वरदिट्ठि-वायन्नू ॥५६॥

—कर्म प्र० सता० ।

३ ‘उवसामणा कदि विधा ति उवसामणा दुविहा करणोवसामणा च अकरणोव सामणा च । जा सअकरणोवसामणा तिस्से दुवे नामधेयाणि अकरणोवसामणा ति वि अणु-दिण्णोवसामणा ति वि । एसा कम्मपवादे । जा साकरणोवसामणा सा दुविहा ति वि देसकरणोवसामणा ति वि । सब्बकरणोवसामणाए देसकरणोवसामणाए दुवे णामणि देसकरणोवसामणाए ति वि अप्पसत्थ उवसामणा ति वि । एसा कम्मपयडीसु ।

—क० पा० सू०, द० ।

दो भेद हैं—करणोपशामना और अकरणोपशामना । अकरणोपशामनाके दो नाम हैं—अकरणोपशामना और अनुदीर्णोपशामना । अकरणोपशामनाका कथन कर्म-प्रवाद में है । करणोपशामनाके भी दो भेद हैं—देशकरणोपशामना और सर्वकरणोपशामना । देशकरणोपशामनाके दो नाम हैं—देशकरणोपशामना और अप्रशस्तोपशामना । इसका कथन कर्म-प्रकृतिमें है ।^१

इस सूत्रकी व्याख्या करते हुए जयघवलाकारने लिखा^१ है कि द्वितीय पूर्वके पञ्चम वस्तु अधिकारसे प्रतिबद्ध चतुर्थ प्राभूतका नाम कम्मपयडी है । उसमें इस देशकरणोपशामनाका विस्तारसे कथन है । शायद यह शका की जाये कि कर्मप्रकृति प्राभूत तो एक है उसका यहाँ 'कम्मपयडीसु' इस बहुवचन रूपसे निर्देश क्यों किया ?' तो उसका समाधान है कि 'यद्यपि कर्मप्रकृति-प्राभूत एक है किन्तु उसके अन्तर्गत कृति, वेदना, आदि अनेक अवान्तर अधिकार हैं, उनकी विवक्षासे बहुवचनका निर्देश करनेमें कोई विरोध नहीं है ।'

जयघवलाकारके इस स्पष्ट निर्देशके सामने शास्त्रीजीके उक्त कथनको कैसे मान्य किया जा सकता है । फिर जिस देशकरणोपशामनाके लिए कर्मप्रकृतिका निर्देश यतिवृषभने किया है, प्रस्तुत कर्मप्रकृतिमें उसका केवल ६ (६६-७१) गाथाओंमें उल्लेख मात्र है । उनसे पहली गाथामें तो देशकरणोपशामनाके भेद बतलाये हैं । दो में उसके स्वामियोका निर्देश है तथा एक गाथामें प्रकृति उपशामनाका, एकमें स्थिति-उपशामनाका और एकमें अनुभाग और प्रदेश-उपशामनाका उल्लेख है । अतः अकरणोपशामनाके लिए कर्मप्रवाद नामक अष्टम पूर्वका निर्देश करनेवाले यतिवृषभ जैसे कसायपाहुडके वेत्ता विद्वान् देशकरणोपशामनाके लिए इस कर्मप्रकृतिका निर्देश नहीं कर सकते । प्रस्तुत कर्मप्रकृति अवश्य ही उनके उत्तरकालकी रचना होनी चाहिए । फिर जैसा प्रारम्भमें लिख आये है इस कर्मप्रकृतिके सिवाय एक बृहत्कर्म-प्रकृति भी थी । चूर्णिकारने शायद उसी कम्मपयडी महाग्रन्थके विच्छेदकी सूचना दी है । वह बृहत्कर्म-प्रकृति अथवा कम्मपयडी महाग्रन्थ सम्भवतया अग्रायणी पूर्वके चतुर्थ वस्तु अधिकारके अन्तर्गत कर्मप्रकृति-प्राभूत ही हो सकता है । जैसा कि जयघवलाकारका मत है । अतः उसीका निर्देश यतिवृषभने अपने चूर्णिसूत्रोंमें किया हो सकता है ।

१. 'कम्मपयडीओ णाम विदिय पुव्व पचम वत्थुपवद्धो चउत्थो पाहुड सण्णदो अहियार अत्थि । तत्थेसा देसकरणोपशामणा दट्ठव्वा, सवित्थरमेदिस्से तत्थ पवधेण परूविदत्तादो । कथमेत्थ एगस्स कम्मपयाडिपाहुडस्स 'कम्मपयडिस्सु' त्ति बहुवयणणिआद्देसो त्ति णासकणिज्ज; एककस्सविदि तस्स कदि, वेदणा अवातराहियार भेदावेक्काए बहुवयणणिद्देसाविरोहादो ।'—ज० ध० प्रे० का, पृ० ६५६७-६८ ।

नन्दिसूत्रकी स्थविरावलीमें नागहस्तीको कर्मप्रकृति प्रधान बतलाया है उसको लेकर शास्त्रीजीने लिखा है, जब यतिवृषभके गुरु कम्मपयडीके प्रधान व्याख्याताओंमें थे तो यतिवृषभके सामने तो उसका होना स्वतः सिद्ध है ? बात ठीक है, किन्तु जब यतिवृषभके सामने वर्तमान कर्म-प्रकृति थी तो नागहस्ती भी सम्भवतः उसीके प्रधान व्याख्याता होंगे । और ऐसी दशामें वर्तमान कर्मप्रकृति नागहस्तीसे भी पूर्वर्चित होनी चाहिये ? किन्तु यह सब निराधार कल्पना है । शास्त्रीजीने कसायपाहुडके चूर्णिसूत्रों और कर्मप्रकृतिकी कतिपय गाथाओंको उद्धृत करके यह प्रमाणित करनेकी चेष्टा की है कि वर्तमान कर्मप्रकृतिके आधारपर ही चूर्णिसूत्र रचे गये हैं । किन्तु शास्त्रीजीने जितने तुलनात्मक उद्धरण दोनों ग्रन्थोंसे दिये हैं, वे सब निष्प्राण हैं, बल्कि उनके देखनेमें तो यही अधिक सभ्य प्रतीत होता है कि चूर्णिसूत्रकारने कर्मप्रकृतिका अनुसरण नहीं किया बल्कि कर्मप्रकृतिके रचयिताने कसायपाहुडके चूर्णिसूत्रोंका अनुसरण किया है । यह सत्य शास्त्रीजीकी लेखनीसे भी प्रकट हुए बिना नहीं रहा है । दर्शनमोह उपशामकके परिणाम, योग, उपयोग और लेश्यादिका वर्णन करनेवाले चूर्णिसूत्रोंको उद्धृत करके शास्त्रीजीने लिखा है— 'इन सब सूत्रोंकी तुलना कम्मपयडीकी निम्न गाथासे कीजिये और देखिये कि किस खूबीके साथ सर्व सूत्रोंके अर्थका एक ही गाथामें समावेश किया गया है ? (पृ० ३५)

चूर्णिसूत्र और कर्मप्रकृति-चूर्णि—

कसायपाहुडके चूर्णिसूत्रोंमें और कर्मप्रकृतिकी चूर्णिमें यत्र तत्र कुछ साम्य प्रतीत होता है किन्तु गहराईसे अवलोकन करनेपर चूर्णिसूत्रोंकी शैलीका कर्मप्रकृति की चूर्णिमें आभास नहीं मिलता । चूर्णिसूत्रोंमें कसायपाहुडकी गाथाओंके व्याख्यानके लिए विभाषा और पदच्छेदकी जो शैली अपनायी गयी है यहाँ उसका अभाव है । कर्मप्रकृतिकी चूर्णि तो एक टीका प्रकारकी व्याख्या है जिसमें गाथाके अर्थको स्पष्ट करनेका प्रयत्न किया है । और उस परसे यह भ्रम होता है कि दोनों चूर्णियाँ एक ही की कृति हैं, किन्तु बात वास्तव में ऐसी नहीं है । दोनोंमें शैलीभेद और भाषाभेद तो हैं ही, सैद्धान्तिक-भेद भी परिलक्षित होता है ।

१. नीचे हम तुलनाके लिए शास्त्रीजीके उद्धरणोंमेंसे एक उद्धरण देते हैं—'ज पदेसग्गम-णपयडि णिज्जदे, जत्तो पयडीदो त पदेसग्ग णिज्जदि तिस्से पयटीण सो पदेससकमो । एदेण अट्ठपदेण तत्थ पचविहो सकमो, त जहा, उव्वेलणसकमो, विज्जादसकमो, अद्धा-पवत्तासकमो, गुणसकमो, सब्बसकमो च ।' (क. पा. सू., पृ० ३१७ ।

इन चूर्णिसूत्रोंका मिलान कम्मपयडीकी निम्न गाथासे कीजिए—

ज दलियमण्णपरा णिज्जइ सो सकमो पयसस्स ।

उव्वलणो विज्जाओ, अहापवत्तो गुणो सब्बो ॥६०॥—कर्मप्र.

—क० पा० सु० प्रस्तावना पृ० ३३ ।

उदीरणा^१ प्रकरणमें कर्मप्रकृति-चूर्णमें उत्तरप्रकृतिके १५८ भेद बतलाये हैं। उदीरणा प्रकृतियोंकी संख्या अभेद विवक्षा से १२२ मानी गयी है। और भेद विवक्षासे १४८। औदारिकि, आदि शरीरोके सयोगी भग पन्द्रह होते हैं और उनको शामिल कर लेनेसे १५८ प्रकृतियाँ हो जाती हैं। गोमट्टसार कर्मकाण्ड में उक्त सयोगी भग गिनाये अवश्य हैं और नामकर्मकी सत्त्व-प्रकृतियोंको गिनाते हुए ९३ या १०३ लिखकर उन्हें सम्मिलित भी किया है किन्तु सत्त्व-प्रकृतियोंकी संख्या १४८ ही बतलायी है।

कर्मप्रकृतिके टीकाकार उपाध्याय यशोविजय^२ ने अपनी टीकामें इसपर लिखा है कि यद्यपि उदय प्रकृतियोंकी संख्याके तुल्य ही उदीरणा प्रकृतियोंकी संख्या होती है और इसलिए कर्मस्तव-टीका आदिमें उनकी संख्या १२२ बतलायी है और यहाँ १५८ बतलायी है। तथापि एकसौ बार्दस में बन्धनादिकी पृथक् विवक्षा नहीं की है और १५८ में पृथक् विवक्षा की है इसलिए कोई दोष नहीं है। फिर भी १५८ संख्यामें भी मान्यता-भेद तो रहा ही है। मलयगिरि^३ ने गर्गषि आदिके मतमें १५८ प्रकृति संख्या होनेका निर्देश किया है।

२. कर्मप्रकृति^४ में क्षपक-श्रेणीमें क्षीणकषाय गुणस्थानमें निद्रा और प्रचलाका उदय नहीं माना है। तदनुसार चूर्णमें भी लिखा है। इस बातको लेकर श्वेताम्बर सम्प्रदायमें मतभेद पाया जाता है। किन्तु दिगम्बर धर्मके भूतबलि और यति-वृषभ दोनों ही उक्त गुणस्थानोंमें निद्रा और प्रचलाका उदय मानते हैं। गो०^५ कर्मकाण्डमें उदय व्युच्छित्तिमें जो दोनों आचार्योंके मत दिये हैं, उससे यह स्पष्ट है। किन्तु इतना सुनिश्चित जान पड़ता है कि कर्मप्रकृतिकी चूर्ण बनानेवालेके सामने यतिवृषभके चूर्णसूत्र अवश्य थे और उसने कहीं-कहींपर तो उनका शब्दशः अनुकरण किया है। उदाहरणके लिए हम उपशामनाका भाग उद्धृत करते हैं—

‘उवसामणा दुविहा करणोवसामणा अकरणोवसामणा च । जा सा अकरणोव-
सामणा तिस्से दुवे णामधेयणि अकरणोवसामणा ति वि अणुदिणोवसामणा

१. ‘उत्तरपातिउदीरणा अट्ठावगुत्तरसतभेदा’—क. प्र. चू. ।

२. ‘यद्यप्युदीरणायामुदयसमकक्षतया प्रकृतीना द्वाविंश शत कर्मस्तवटीकादाबुक्तम्, इह तु अष्टपञ्चाशं शतं, तथापि तत्र बन्धनादीना पृथग् न विवक्षा, इह तु पृथग् विवक्षेति न दोष ।—कर्म प्र., उदी०, पृ०

३. गर्गषि प्रभृतिमते च बन्धन पञ्चदशकग्रहणादष्टपञ्चाश शतम् ।’—क. प्र. टी, पृ० ८ ।

४. ‘निददापयलाण खीणरागखवगे परिच्छज्ज ॥१८॥’ ‘खीणकसाय खवगखीणकसाय-
खवगे मीत्तुण तेसु उदओ णत्थि ति ।—कर्म प्र., चू., उदी. ।

५. कर्मका०, गा० ।

त्ति वि । एसा कम्मपवादे । जा सा करणोवसामणा सा दुविहा-देशकरणोवसामणा त्ति वि सव्वकरणोवसामणा त्ति वि । देमकरणोवसामणाए दुवे णामाणि-देश-करणोवसामणा त्ति वि अप्पसत्थोवगामणा त्ति वि । एसा कम्मपयडोसु । जा सा सव्वकरणोवसामणा त्तिसे वि दुवे णामाणि—सव्वकरणोवसामणा त्ति वि पसत्थकरणोवसामणा त्ति वि । एदाए एत्थ पयद ।'—क० पा० सु०, पृ० ७०७-७०८ ।

‘करणकयाऽकरणा वि य दुविहा उवसामणत्थ वि डयाए ।

अकरण अणुइन्ताए अणुओगधरे पडिवयामि ॥१॥

(चू०) ‘करणकय’ त्ति—करणोवसणा, ‘अकरणकय’ त्ति अकरणोवसामणा दुविहा उवसामणत्थ । ‘वि-ति-याए अकरणअणु इन्ताए’त्ति—वितिया अकरणोपसमणा तीसे दुवे नामधिज्जाणि—अकरणोपसमणा अणुदिन्नोपसमणा य, ताते अकरणोपसमणाते ‘अणुओगधरे पणिवयामि’ त्ति किं भणिय होति ? करण क्रिया, ताए विणा जा उवसामणा अकरणोवसामणा, गिरिनदीपापाणवट्टससारत्थस्स जीवस्स वेदनादिभिः कारणैरुपशातता भवति, सो अकरणोवसामणा, ताते अणुओगो वोच्छिन्नो, तो त अजाणतो आयारिओ जाणतस्स नमोष्कार करेति । करणुपसमणाते अहिगारोत्थ ॥१॥’ क० प्र० ।

चूर्णिसूत्रमें उपशामनाके दो भेद किये हैं । करणोपशामना और अकरणोपशामना । अकरणोपशामनाके दो नाम हैं—अकरणोपशामना और अनुदीर्णोपशामना । इसका कथन कर्मप्रवादमें बतलाया है ।

कर्मप्रकृतिकमें भी उक्त भेद करके अकरण-उपशामनाके ज्ञाताओको नमस्कार किया है । उसकी चूर्णिकमें लिखा है कि अकरणोपशामनाका अनुयोग नष्ट हो गया, इसलिए उसको न जाननेवाले कर्मप्रकृतिकार उसके ज्ञाताओको नमस्कार करते हैं ।

आचार्य यतिवृषभ उसके विच्छेदकी घोषणा न करके कर्मप्रवाद नामक आठवें पूर्वमें उसका कथन होनेका निर्देश करते हैं । किन्तु कर्मप्रकृतिकार उसके ज्ञाताओको नमस्कार करते हैं । और उनके चूर्णिकार कहते हैं कि कर्मप्रकृतिकारको उसका ज्ञान नहीं था क्योंकि वह विच्छिन्न हो चुका था । इन दो प्रकारके कथनोसे दोनो चूर्णियोंके कर्ता एक नहीं हो सकते ।

इसके सिवाय दोनो चूर्णियोंमें जो भाषा-भेद पाया जाता है वह भी दोनोकी भिन्नकर्तृकताको ही प्रकट करता है । दिगम्बर धर्मकी मुख्य प्राचीन साहित्यिक भाषा शौरसेनी है । किन्तु इस भाषाका रूप कुछ विशेषताओको लिये हुए होनेसे उसे जैन-शौरसेनी कहते हैं । श्वेताम्बर आगम सूत्रों के भाष्य चूर्णि आदिकी

भाषा महाराष्ट्री प्राकृत है। किन्तु उसमें भी कुछ अपनी विशेषताएँ हैं जिसके कारण उसे जैन-महाराष्ट्री कहा जाता है। दोनोंका अन्तर दोनों चूर्णियोंमें परिलक्षित होता है। प० हीरालालजीका कहना है कि कर्मप्रकृति चूर्णिकी भाषा परिवर्तित की गयी है। इसके लिए उन्होंने मुद्रित कर्मप्रकृति चूर्णिसे तथा कर्म-प्रकृतिके टीकाकार मलयागिरि एव यशोविजय उपाध्यायको टीकाओंमें उद्धृत चूर्णि-वाक्योंको तुलनाके लिए दिया है। यथा—नाम पगडीतो = नाम पगईओ। इस तरहके परिवर्तन अर्धमागधी और जैन-महाराष्ट्रीके ही अनुरूप है, शौरसेनीके नहीं। यतिवृषभके चूर्णि सूत्रोंमें सर्वत्र 'पयडी' शब्द ही मिलता है। अर्ध-मागधीके अनेक लक्षण जैन-महाराष्ट्रीमें भी पाये जाते हैं और जैन-महाराष्ट्रीमें भी परिवर्तन हुए हैं 'क' के स्थानमें ग, तथा शब्द के आदि और मध्यमें भी 'ण' की तरह 'न', ये अर्धमागधीके लक्षण जैन-महाराष्ट्रीमें भी पाये जाते हैं। अनेक स्थलों में महाराष्ट्रीकी अपेक्षा शौरसेनीका सस्कृतके साथ पार्थक्य कम और सादृश्य अधिक है, यह बात कर्मप्रकृति-चूर्णि और कसायपाहुड-चूर्णिसूत्रोंको देखनेसे स्पष्ट हो जाती है। अतः टीकाकारोंकी टीकाओंमें उद्धृत चूर्णिवाक्योंमें मूलचूर्णिसे जो कुछ अन्तर पाया जाता है वह इस बात का सूचक है कि टीकाकारोंके द्वारा उद्धृत वाक्यों पर तत्कालीन प्रभाव है।

अतः कर्मप्रकृति चूर्णि यतिवृषभकी कृति नहीं है। प्रत्युत यदि कर्म प्रकृतिके रचयिताने ही उसकी चूर्णि भी रची हो तो कोई असभाव्य बात नहीं है क्योंकि चूर्णिकारने कई स्थानोंपर बन्धशतकका निर्देश इस रूपमें किया है कि उससे उक्त सन्देहकी पुष्टि होती है। उदाहरण के लिए, उदीरणा प्रकरणकी गाथा' ४७ के 'मणनाण सेससम' का व्याख्यान करते हुए चूर्णिमें कहा है। 'ये सब बन्धशतकमें कहा है फिर भी असमोहके लिए यहाँ उसका कथन किया है।' यह बात चूर्णिकार ने चूर्णिमें किये गये कथनके सम्बन्धमें कही है।

चूर्णिके मूलकार रचित होनेमें यह आपत्ति की जा सकती है कि चूर्णिकारने प्रथम गाथाकी उत्थानिकामें 'आयरियेण' पदके द्वारा 'आचार्यने रची' ऐसा लिखा है। किन्तु हम देखते हैं कि पचसग्रहकारने अपनी स्वोपज्ञ पचसग्रहटीकामें^१ अपना उल्लेख अन्यपुरुषके रूपमें अथवा सूत्रकारके रूपमें किया है। हम इस सम्बन्धमें विशेष जोर डालनेकी स्थितिमें नहीं हैं फिर भी हम अपने सन्देहको विद्वान् अन्वेषकोंके सामने रखना उचित समझते हैं। हमारा विश्वास है कि कसायपाहुड और

१ 'एए बधसतगे भणिया तथा वि असमोहत्थ उल्लोइया—क० प्र० चू०।

२ 'अतोत्थमपि न हि न शिष्ट अत इष्टदेवतानमस्कारपूर्वक प्रवृत्तवान्'—पञ्च०, संगी १ की उत्थानिका 'भावना सूत्रकार एव करिष्यति'—'एतदेव स्वस्वामित्व भावयति', 'एतदेव वृत्तिकारो भावयति',—पंचस०।

त्ति वि । एसा कम्मपवादे । जा सा करणोवसामणा सा दुविहा-देसकरणोवसामणा त्ति वि सब्वकरणोवसामणा त्ति वि । देसकरणोवसामणाए दुवे णामाणि-देसकरणोवसामणा त्ति वि अप्पसत्थोवसामणा त्ति वि । एसा कम्मपयडीसु । जा सा सब्वकरणोवसामणा तिस्से वि दुवे णामाणि—सब्वकरणोवसामणा त्ति वि पसत्थकरणोवसामणा त्ति वि । एदाए एत्थ पयद ।'—क० पा० सु०, पृ० ७०७-७०८ ।

‘करणकयाऽकरणा वि य दुविहा उवसामणत्थ वि इयाए ।

अकरण अणुइन्नाए अणुओगधरे पडिवयामि ॥१॥

(चू०) ‘करणकय’ त्ति—करणोवसामणा, ‘अकरणकय’ त्ति अकरणोवसामणा दुविहा उवसामणत्थ । ‘वि त्ति-याए अकरणअणु इन्नाए’त्ति—वित्तिया अकरणोपसमणा तीसे दुवे नामधिज्जाणि—अकरणोपसमणा अणुदिन्नोपसमणा य, ताते अकरणोपसमणाते ‘अणुओगधरे पणिवयामि’ त्ति किं भणिय होति ? करण क्रिया, ताए विणा जा उवसामणा अकरणोवसामणा, गिरिनदीपापाणवट्टससारत्थस्स जीवस्स वेदनादिभि कारणैरुपशातता भवति, सो अकरणोवसामणा, ताते अणुओगो वोच्छिन्नो, तो त अजाणतो आयारिओ जाणतस्स नमोक्कार करेति । करणुपसमणाते अहिणारोत्थ ॥१॥’ क० प्र० ।

चूर्णिसूत्रमें उपशामनाके दो भेद किये हैं । करणोपशामना और अकरणोपशामना । अकरणोपशामनाके दो नाम हैं—अकरणोपशामना और अनुदीर्णोपशामना । इसका कथन कर्मप्रवादमें बतलाया है ।

कर्मप्रकृतिमें भी उक्त भेद करके अकरण-उपशामनाके ज्ञाताओको नमस्कार किया है । उसकी चूर्णमें लिखा है कि अकरणोपशामनाका अनुयोग नष्ट हो गया, इसलिए उसको न जाननेवाले कर्मप्रकृतिकार उसके ज्ञाताओको नमस्कार करते हैं ।

आचार्य यतिवृषभ उसके विच्छेदकी घोषणा न करके कर्मप्रवाद नामक आठवें पूर्वमें उसका कथन होनेका निर्देश करते हैं । किन्तु कर्मप्रकृतिकार उसके ज्ञाताओको नमस्कार करते हैं । और उनके चूर्णिकार कहते हैं कि कर्मप्रकृतिकारको उसका ज्ञान नहीं था क्योंकि वह विच्छिन्न हो चुका था । इन दो प्रकारके कथनोसे दोनो चूर्णियोंके कर्ता एक नहीं हो सकते ।

इसके सिवाय दोनो चूर्णियोंमें जो भाषा-भेद पाया जाता है वह भी दोनोकी भिन्नकर्तृकताको ही प्रकट करता है । दिगम्बर धर्मकी मुख्य प्राचीन साहित्यिक भाषा शौरसेनी है । किन्तु इस भाषाका रूप कुछ विशेषताओको लिये हुए होनेसे उसे जैन-शौरसेनी कहते हैं । श्वेताम्बर आगम सूत्रों के भाष्य चूर्णि आदिकी

हाराष्ट्री प्राकृत है। किन्तु उसमें भी कुछ अपनी विशेषताएँ हैं जिसके उसे जैन-महाराष्ट्री कहा जाता है। दोनोंका अन्तर दोनों चूर्णियोंमें परि-
होता है। प० हीरालालजीका कहना है कि कर्मप्रकृति चूर्णिकी भाषा
की गयी है। इसके लिए उन्होंने मुद्रित कर्मप्रकृति चूर्णसे तथा कर्म-
टीकाकार मलयागिरि एवं यशोविजय उपाध्यायकी टीकाओंमें उद्धृत
व्योक्तोंको तुलनाके लिए दिया है। यथा—नाम पगडीतो = नाम पगईओ।
हूके परिवर्तन अर्धभागधी और जैन-महाराष्ट्रीके ही अनुरूप है, शौरसेनी-
। यतिवृषभके चूर्ण सूत्रोंमें सर्वत्र 'पयडी' शब्द ही मिलता है। अर्ध-
के अनेक लक्षण जैन-महाराष्ट्रीमें भी पाये जाते हैं और जैन-महाराष्ट्रीमें
वर्तन हुए हैं 'क' के स्थानमें ग, तथा शब्द के आदि और मध्यमें भी 'ण'
हू 'न', ये अर्धभागधीके लक्षण जैन-महाराष्ट्रीमें भी पाये जाते हैं। अनेक स्थलो
राष्ट्रीकी अपेक्षा शौरसेनीका संस्कृतके साथ पार्थक्य कम और सादृश्य अधिक
वात कर्मप्रकृति-चूर्ण और कसायपाहुड-चूर्णसूत्रोंको देखनेसे स्पष्ट हो
है। अतः टीकाकारोंकी टीकाओंमें उद्धृत चूर्णवाक्योंमें मूलचूर्णसे जो कुछ
पाया जाता है वह इस बात का सूचक है कि टीकाकारोंके द्वारा उद्धृत
पर तत्कालीन प्रभाव है।

अतः कर्मप्रकृति चूर्ण यतिवृषभकी कृति नहीं है। प्रत्युत यदि कर्म प्रकृतिके
जाने ही उसकी चूर्ण भी रची हो तो कोई असंभाव्य बात नहीं है क्योंकि
कारने कई स्थानोंपर बन्धशतकका निर्देश इस रूपमें किया है कि उससे उक्त
की पुष्टि होती है। उदाहरण के लिए, उदीरणा प्रकरणकी गाथा '४७ के
ण सेससम' का व्याख्यान करते हुए चूर्णमें कहा है। 'ये सब बन्धशतकमें
फिर भी असमोहके लिए यहाँ उसका कथन किया है।' यह बात चूर्णकार
में किये गये कथनके सम्बन्धमें कही है।

चूर्णिके मूलकार रचित होनेमें यह आपत्ति की जा सकती है कि चूर्णिकारने
गाथाकी उत्थानिकामें 'आयरियेण' पदके द्वारा 'आचार्यने रची' ऐसा लिखा
किन्तु हम देखते हैं कि पचसग्रहकारने अपनी स्वोपज्ञ पचसग्रहटीकामें अपना
अन्यपुरुषके रूपमें अथवा सूत्रकारके रूपमें किया है। हम इस सम्बन्धमें
जोर डालनेकी स्थितिमें नहीं है फिर भी हम अपने सन्देहको विद्वान् अन्वे-
क सामने रखना उचित समझते हैं। हमारा विश्वास है कि कसायपाहुड और

एव बन्धसतगे भणिया तथा वि असमोहत्थ उल्लोइया—क० प्र० चू०।

अतोत्यमपि न हि न शिष्ट अत इष्टदेवतानमस्कारपूर्वकं प्रवृत्तवान्—पञ्च०, संगी १
गी उत्थानिका 'भावना सूत्रकार एव करिष्यति'—'एतदेव स्वस्वामित्व भावयति',
एतदेव वृत्तिकारो भावयति',—पंचस०।

यतिवृषभ के चूर्णसूत्र कर्मप्रकृति तथा उसकी चूर्णिके रचयिताके सामने थे ।

चूर्णिका समय—

चूर्णिके कर्ताकी तरह चूर्णिका समय भी अनिश्चित है । जिस तरह जिनभद्र गणिके द्वारा कर्मप्रकृतिका उल्लेख मिलता है उसी तरह उसकी चूर्णिका उल्लेख नहीं मिलता अतः जिनभद्रके सामने कर्मप्रकृतिकी चूर्णि उपस्थित थी या नहीं, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता । किन्तु जिनभद्रगणिके विशेषावश्यक-भाष्यका उद्धरण अपनी पचसग्रह टीकामें देनेवाले चन्द्राषि महत्तरके सम्मुख पच-संग्रहका कर्मप्रकृति विभाग रचते समय कर्मप्रकृति की ही तरह उसकी चूर्णि भी उपस्थित थी, यह निश्चित है । चूर्णिमें एक गाथा^१ उद्धृत है जिसमें योग के नामान्तर दिये हैं । यह गाथा पचसग्रह^२के मूलमें सम्मिलित कर ली गयी है । यह गाथा आवश्यक^३ चूर्णिमें भी है किन्तु उसके मूलस्थानका पता नहीं लग सका । गाथा अवश्य ही प्राचीन होनी चाहिये । एक और गाथा क० चूर्णिमें उद्धृत है जो कुन्दकुन्दके समयसार की ८०वीं गाथा है, यह समयसार से ही उद्धृत की गयी होनी चाहिये; क्योंकि समयसारमें कोई गाथा ऐसी नहीं है जिसे सग्रह गाथा कहा जा सके । अतः कर्मप्रकृति चूर्णिकी रचना समयसारके पश्चात् हुई है । कुन्दकुन्दका समय ईसाकी प्रथम शताब्दी है । कर्मप्रकृति ही जब उसके शताब्दियों पश्चात् रची गयी है तब चूर्णिका तो कहना ही क्या है ।

चूर्णिमें एक गद्यांश और भी उद्धृत है—‘सुट्ठु वि मेहसमुदए होइ’ यहाँ ‘चदसूराण’ (क० प्र० उदी० गा० ४८) यह अश नन्दीसूत्र ४३ में पाया जाता है । यद्यपि वाक्य नन्दीसूत्रमें भी कहीसे लिया गया प्रतीत होता है । तथापि अनेक बातों का ध्यान रखते हुए यही सम्भव प्रतीत होता है कि चूर्णिकारने उसे नन्दी-सूत्रसे लिया है । नन्दीसूत्र^४वलभी-वाचनाके समय (वि० स० ५१३)की रचना माना जाता है । अतः चूर्णिको उसके पश्चात् की रचना मानना चाहिए । इसे भी चूर्णिकी पूर्वाविधि ही समझना चाहिए ।

शतक-लघुचूर्णिके अवलोकनसे प्रकट होता है कि उसके कर्ताके सामने कर्म-चूर्णि थी । उसका कर्ता भी पचसग्रहकार चन्द्राषि महत्तरको माना जाता है और

१ ‘जोगो विरिय थामो उच्छ्राह परक्कभो तहा चिट्ठा । सत्ती सामत्थ त्ति य जोगस्स भवति पज्जाया ॥१॥’—क० प्र०, चू० (वध०) गा० ३ ।

२. पञ्चस०, कर्म प्र०, गा० ४ ।

३ ‘जीवपरिणामहेतो(त्) कम्मत्ता पोग्गला परिणमन्ति । पोग्गलकम्मणिमित्त जीवो वि तहेव परिणमति ॥’—कर्म प्र०, चू०, स्रक्क० गा० १ ।

४ जै० सा० ६० (गु०), पृ १४३ ।

पचसग्रहके दूसरे भाग कर्मप्रकृतिमें चूर्णिका पर्याप्त उपयोग किया गया है अतः कर्म चूर्ण उसमे पूर्व रची जा चुकी थी । चन्द्राणि महत्तर का समय भी निश्चित नहीं है । किन्तु उन्होंने पचसग्रहकी अपनी टीका^१में विशेष भाष्य से उद्धरण दिया है । अतः वे विक्रमकी सातवीं शती से पहले नहीं हुए यह निश्चित है । उनकी उत्तराधि अभी अनिश्चित है । फिर भी इतना निश्चित है कि वे बारहवीं शतीसे पहले हुए हैं क्योंकि मलयगिरि की वृत्तिके अनुसार तो चूर्णिकी रचनाका समय वि० स० ५५०-७५० के मध्यमें जानना चाहिए ।

शतक कर्मग्रन्थ (श्वे०)—

कर्मप्रकृतिमें तथा उसकी चूर्णमें शतक नामक ग्रन्थका उल्लेख पाया जाता है । जिससे प्रकट होता है कि कर्मप्रकृतिकारने कर्म-प्रकृतिकी रचना करनेसे पूर्व एक शतक नामक ग्रन्थ भी रचा था । कर्म प्रकृतिके बन्धन-करण^२की अन्तिम गाथामें कहा है कि—“इस प्रकार ‘बन्धशतक’के साथ बन्धन-करणका कथन करने पर बन्ध-विधानका ज्ञान सुखपूर्वक शीघ्र होता है ।” चूर्णिकारने चूर्णमें कहा है कि शतकको बन्ध-शतक कहा है । मलयगिरिने अपनी टीकामें लिखा है कि इससे शतक और कर्म-प्रकृतिकी एककर्तृकताका आवेदन किया है ।

चूर्णिकारने तो अपनी चूर्णमें अनेक स्थलो पर शतकका निर्देश किया है । उदाहरणके लिए कर्मप्रकृतिके उदीरणाकरण^३में अनुभागोदीरणाका कथन करते हुए कर्मप्रकृतिकारने कहा है कि ‘अनुभाग-उदीरणामें सज्ञा, शुभ, अशुभ तथा विपाकका कथन अनुभागबन्धमें जैसा कहा है वैसा जानना, जो विशेष है वह कहते हैं ।’ उसकी चूर्णमें गाथाका व्याख्यान करते हुए चूर्णिकारने कहा है कि ‘बन्ध-शतकके अनुभागबन्धमें जैसा कहा है वैसा ही कहना चाहिए ।’ अतः यह बात निर्विवाद है कि कर्मप्रकृतिका बड़ा भाई शतक नामक ग्रन्थ है ।

विषय परिचय—

दूसरी और तीसरी गाथामें वर्णनीय विषयोंका निर्देश करते हुए ग्रन्थकारने

१ ‘सव्वस्स केवलस्स वि जुगव दो नत्थि उवओगा । (वि भा. गा ३०९६) ।

—प० स० टी० गा० ८ ।

२ ‘एव बधणकरणे परूविण्हं सह हि बधसयणेण । बधविहाणाहिगमो सुहमभिगतु लहु होइ ॥१०१॥ चू०—‘एतमि बधकरणेसयणेणा सह परूवित्ते ‘बन्धसतग’ति सतगमेव भण्णाति । टी०—‘एतेन किल शतक कर्मप्रकृत्योरेककर्तृकता आवेदिता द्रष्टव्या ।’—क० प्र० बन्ध०, पृ० २०३ ।

३ ‘अणुभागोदीरणा सज्ञा य सुभा-सुभा विवागो य । अणुभागबन्ध भणिया नाणत्त पच्चया चेमे ॥४३॥ चू०—‘अणुभागबन्ध भणिया’ ति—बधसयगस्स अणुभागबन्धे भणिया तहेव, भाणियव्वा ।’—क० प्र० उदी० पृ० ६३ ।

कहा है—‘जिन जीवस्थानो और गुणस्थानोमें जितने उपयोग और योग होते हैं उन्हें कहे बन्धके चार प्रत्यय हैं—मिथ्यात्व, असयम, कपाय और योग । इनमेंसे किस गुणस्थानमें कितने प्रत्यय होते हैं यह कहेंगे । ज्ञानावरणादि आठो कर्मोंके बन्धके विशेष कारणोका कथन करेंगे । जिनगुणस्थानोमें जितने बधस्थान उदयस्थान और उदीरणा स्थान होते हैं उनका तथा उनके सयोगका कथन करेंगे । अन्तमें सक्षेपसे बन्धविधानका कथन करेंगे ।’

उक्त विषयसूचीके अनुसार कथन करते हुए ग्रन्थकारने सबसे प्रथम गाथा ४-५ में चौदह जीवस्थानोको कहा है । गाथा ६ में चौदह जीव समासोमें उपयोग (ज्ञानोपयोग-दर्शनोपयोग) का कथन किया है । गाथा ७ में योगका कथन है । गाथा ९ में चौदह गुणस्थानोके नाम गिनाये हैं । चूर्णिकारने अपनी चूर्णिमें अनेक गाथाएँ उद्धृत करके गुणस्थानोका स्वरूप समझाया है ।

गाथा १०में केवल गतिमार्गणामें गुणस्थानोका निर्देश किया है । किन्तु चूर्णिमें चौदहो मार्गणाओमें गुणस्थानोका कथन सक्षेपसे किया है । गाथा ११ में गुणस्थानोमें उपयोगका कथन किया है । गाथा १२-१३ में गुणस्थानोमें योगका कथन है । यद्यपि गाथा १२ में ही योगका कथन हो जाता है । किन्तु १३ वी गाथा मतान्तरकी सूचक है । उसके सबन्धमें चूर्णिकारने लिखा है कि किन्ही आचार्योंके मतसे देशविरत और प्रमत्त-सयत गुणस्थानमें वैक्रियिक काययोग होता है उनके मतसे ऐसा पाठ है । शतककी ये दोनो गाथाएँ चन्द्रपिङ्कृत पंचसग्रहकी गाथा (अ०-१-१८) की स्वोपज्ञ वृत्तिमें इसी क्रमसे उद्धृत है । गाथा १४-१५में गुणस्थानोमें बन्धके प्रत्ययोका कथन है । गाथा १६-२६तक आठो कर्मोंके बन्धके विशेष कारण बतलाये हैं, जो तत्त्वार्थसूत्रके छठे अध्यायके अन्तमें भी बतलाये गये हैं । किन्तु दर्शन-मोहनीय कर्मके बन्ध-कारणोंमें मौलिक अन्तर है । तत्त्वार्थसूत्रमें ‘केवली श्रुत, सध, धर्म और देवोके अवर्णवादको दर्शन मोहनीयके बन्धका कारण बतलाया है । और शतक^२में अरिहन्त, सिद्ध, चैत्य, तप, श्रुत, गुरु, साधु और सधकी प्रत्यनीकताको बधका कारण बतलाया है । गाथा २७ से ३७ तक आठो कर्मोंके बन्धस्थानो, उदयस्थानो और उदीरणास्थानो तथा उनके सयोगका कथन है । तत्पश्चात् प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभाग बन्ध और प्रदेशबन्धका कथन है ।

शतक नामक एक ग्रन्थ, जिसे प्राचीन कर्मग्रन्थ कहा जाता है, चूर्णि, भाष्य और

१ केवलश्रुतसधधर्मदेववर्णवादो दर्शनमोहस्य ॥ त सू अ ६ ।

२. अरहतसिद्ध चेइय तधसुय गुरु साधु सध पङ्णीओ । बधइ दसणमोह अणत सारिओजेत ॥१८॥-५॥ तक

टीकाके साथ छपकर प्रकाशित हो चुका है। उसके दो सस्करण^१ हमारे सामने हैं। एकमें शतकके साथ चूर्णि भी मुद्रित है। इसपर श्रीशतक प्रकरण नाम मुद्रित है। दूसरे सस्करणमें शतकके साथ मलघारी हेमचन्द्र रचित टीका तथा चक्रेश्वराचार्य विरचित भाष्य मुद्रित है। चूर्णि^२ टीका^३में उसे कर्म-प्रकृतिकार शिव-शर्मा सूरिकी रचना बतलाया है। अतः यह मानना होगा कि कर्मप्रकृति और उसकी चूर्णिमें जिस शतक अथवा बन्ध-शतकका निर्देश है वह यही है। उनमें जिन विषयोंके लिए शतकका निर्देश किया है वे विषय भी प्रस्तुत शतकमें मिलते हैं।

चूर्णिकारने 'गाथापरिमाणेण सयमेत्त' तथा टीकाकारने 'गाथाशतपरिमाण-निष्पन्न यथार्थनामक शतकाख्य प्रकरणम्' लिखकर यह सूचन किया कि प्रस्तुत प्रकरणकी गाथा सख्या सौ है इसीसे इसका शतक नाम सार्थक है। किन्तु वास्तवमें दोनों ही सस्करणोंमें गाथा परिमाण १०६ है। उन १०६ गाथाओंपर चूर्णि और टीका दोनों हैं। फिर भी शतक नाम रखनेका और तदनुसार सौ गाथा सख्या बतलानेका कारण यह जान पड़ता है कि आदिकी तीन तथा अन्तकी तीन गाथाएं आरम्भ-परक और उपसहार-परक हैं। प्रतिपाद्य विषय मध्यकी सौ गाथाओंमें ही पाया जाता है। अतः 'शतक' नाम उचित ही है। इसका दूसरा नाम बन्धशतक भी है। कर्मप्रकृतिमें इसका उल्लेख बन्धशतक के नामसे है। चूर्णिकारने इसका खुलासा कर दिया कि शतकको ही बन्धशतक कहा है। अतः चूर्णिकारके समयमें शतक नामसे ही इसकी ख्याति थी ऐसा प्रतीत होता है। शतकके उत्तरार्धमें बन्धका वर्णन होनेसे उसे बन्ध-शतक नाम दिया गया है। किन्तु शतककी एक सौ सात गाथाओंमें उसका कोई नाम नहीं दिया। प्रथम गाथा^४ में कहा है—'इस प्रकरणमें जीवस्थान और गुणस्थानोंके विषयमें दृष्टिवादसे सार-युक्त गाथाएं कहूंगा, उन्हें सुनो,' आगे गाथा २-३में वर्णित विषयकी सूची दी है। उसमें कहा है—'जिन जीवस्थानों और गुणस्थानोंके जितने उपयोग और योग होते

१ दोनों सस्करण राजनगरस्थ वीर समाजकी ओरसे प्रकाशित हुए हैं।

२. 'केन कथं ?' ति शब्दतर्क न्याय प्रकरण कर्मप्रकृति सिद्धान्त विज्ञापण अणुगवाय समालोचनविषय सिवसम्भायरियणामधेज्जेण कथं ।—चु० ।

३. 'अनेकवादसमरविजयिभि श्रीशिवशर्मसूरिभि सक्षिप्ततर सुखबोध च गाथाशत-परिमाणनिष्पन्न यथार्थनामक प्रकरणमभ्यधातीति ।' श० टी० ।

४. 'सुणह इह जीवगुणसनिपसु ठाणेसु सारजुत्ताओ । वोच्छ कइवइयाओ गाहाओ विट्ठिवा-याओ ॥१॥—शतक ।

५. 'उपयोग जोग विही जेसु य ठाणेसु जत्तिया अत्थि । जप्पच्चइओ वधो होइ जहा जेसु ठाणेसु ॥२॥ वध उदयसुदीरणविहि च तिण्ह पि तेसि सजोग । वधविहाणं य तहा किंवि समासं पवक्खामि ॥३॥—शतक ।

हैं उन्हें कहेंगा । जिन गुणस्थानोमें जिन-जिन कारणोंमें कर्मबन्ध होता है, उन्हें कहेंगा । बन्ध उदय और उदीरणाक्षी विधिकों तथा उनके रागोंमेंमें कहेंगा । तथा सक्षेपमें बन्धन भेदोंका कथन करेगा । अन्तमें गाथा' १०४में कहा है कि—
 “विन्दुक्षेप रूप मे एस बन्ध-गममागका कथन किया । यह कर्मप्रवाद रूपी श्रुत-समुद्रका निस्पन्द भाग है ॥’ गाथा’ १०५में कहा है—‘मुक्त अल्पज्ञानी मन्द-मतिने बन्धविधान समागको रत्ना, बन्ध-मोक्षके ज्ञाता कुशल पुण्य उमे पूरा करके कहें ॥’ इस अन्तिम गाथाके अनुसार तो यदि ग्रन्थको कोई नाम दिया जा सकता है तो वह बन्धविधान समाग अथवा बन्धगममाग है । उभी परमे ग्रन्थकारने उसे अपनी दूसरी कृति कर्मप्रकृतिमें बन्धगतक नाम दिया जान पड़ता है । उसके सम्बन्धमें और कुछ लिखनेसे पूर्व ग्रन्थका विषय-परिचय सक्षेपमें दिया जाता है ।

इस विषय परिचयसे प्रकट होता है प्रस्तुत शतक ग्रन्थ एक सग्रह-ग्रन्थ जैसा है । उसकी प्रथम गाथाके अनुसार भी उसके रचयिताने दृष्टिवादसे कुछ गाथाओंका सम्भवतया सकलन किया है । इसीसे इसमें विविध विषयों का कथन पाया जाता है । इसका क्रमबद्ध प्रकरण बन्धसमास है, वही इसका मुख्य प्रतिपाद्य है । किन्तु उसमें भी परिपूर्णता नहीं है । गाथा ५२-५३ में कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थिति बतला कर जघन्य स्थितिकी करनेकी प्रतिज्ञा की है किन्तु जघन्य स्थिति नहीं बतलाई । शतकचूर्णमें एक गाथा दी है जिसमें जघन्य स्थितिका कथन है और चूर्णिकार ने उसकी व्याख्या भी की है किन्तु उस गाथाको मूलमें सम्मिलित नहीं किया । हेमचंद्र की टीकामें चूर्णिकी उस टीककी चर्चा तक नहीं है । प्रतिज्ञा करके भी कथन न करना कर्मप्रकृतिकार जैसे आचार्यके लिए उपयुक्त नहीं है । अतः बन्धशतककी गाथाएँ सगृहीत जान पड़ती हैं । इसका समर्थन ग्रन्थके प्रारम्भकी एक गाथासे होता है जो दोनों संस्करणोंमें यथास्थान मुद्रित है किन्तु उसपर चूर्ण नहीं है और इसी लिए टीकाकारने भी उसे मूलमें सम्मिलित नहीं किया किन्तु अपनी टीकामें उसे उद्धृत करते हुए लिखा है—‘यह^३ गाथा ग्रन्थके आदिमें पायी जाती है किन्तु

१ ‘एसो बधसमासो विदु खेवेण वन्निओ कोइ । कम्मपवायसुयसागरस्स निस्सदमेत्ताओ ॥१०४॥—’ श. ।

२,—‘बधविहाणसमासो रइओ अप्प सुयमाद मइणा उ । त बधमोक्ख णिउणा पूरेऊण परिकहेतु ॥१०५ ॥’—श० ।

३ ‘अरहते भगवते, अणुत्तर परक्कमे पणमिऊण । बधसमये निबद्ध सग्रहणियमो पवक्खामि ॥१॥—(इतीयं) गाथा आदौ दृश्यते, सा च पूर्वचूर्णिकारैरव्याख्यातत्वात् प्रक्षेप-गाथेति लक्ष्यते, सुगमा च । नवरं कर्मप्रकृतिप्राभृतादुद्धृत्यसग्रहमेनमन्तस्तत्त्वगृहीत प्रवक्ष्यामि । कथभूतम् ? इत्याह—‘निबद्धम्’ आरोपितम्, नव ? इत्याह ‘बन्धशतके’ प्रस्तुतप्रकरणे । इदं हि शतगाथानिष्पन्नत्वाच्चछतकोऽभिधीयते । बन्ध एव चात्र

पूर्व चूर्णिकारोने भी उसका व्याख्यान नहीं किया है इसीलिए वह प्रक्षेप-गाथा प्रतीत होती है और सुगम भी है ।' फिर भी टीकाकारने गाथाके उत्तरार्द्धका शब्दार्थ कर दिया है । गाथामें कहा है—'अनुत्तर पराक्रमी अरहन्त भगवान्को नमस्कार करके बन्धशतकमें निबद्ध इस सग्रहको कहूँगा ।'

टीकाकारने गाथाके उत्तरार्द्धका अर्थ इस प्रकार किया है—'कर्मप्रकृति प्राभूतसे उद्धृत करके इस बन्धशतक नामके प्रकरणमें आरोपित इस सग्रहको कहूँगा ।' सी गाथाए होनेके कारण इसे शतक कहा जाता है और चूँकि इसमें बन्धका ही विस्तारसे कथन किया जायेगा इसीलिए इसे बन्धप्रधान शतक बन्ध-शतक कहा है ।'

इस गाथामें मगलाचरणके साथ बन्धशतक नाम भी आ जाता है । इसे मूल ग्रन्थसे अलग कर देनेपर ग्रन्थ बिना मगलका और बिना नामका रह जाता है । बन्धशतकके रचयिताकी दूसरी अमरकृति कर्मप्रकृति^१के आरम्भमें भी इसी प्रकार गाथाके पूर्वार्द्धसे मगल करके उत्तरार्धसे उसके प्रतिपाद्य विषयका सूचन किया गया है । अत उक्त गाथाकी स्थिति विचारणीय है । उससे शतककी स्थितिपर प्रकाश पड़ता है । बन्धशतक सग्रहात्मक होनेसे तथा प्रथम कृति होनेसे कर्मप्रकृति जैसी प्रौढ कृतिकी समकक्षता नहीं कर सकता और इसीसे उसके सम्बन्धमें ऐसा सन्देह होना संभव है कि कर्मप्रकृतिमें निर्दिष्ट बन्धशतक प्रस्तुत बन्धशतक नहीं है । किन्तु उसकी पुष्टिमें प्रबल प्रमाणोंका अभाव है ।

शतक चूर्ण—

प्रस्तुत शतक पर एक चूर्ण उपलब्ध है जो मुद्रित हो चुकी है । यह लघु चूर्ण है इसके सिवाय एक बृहत्-चूर्ण भी थी । उसका उल्लेख हेमचन्द्रने तो अपनी शतक^२ टीकामें किया ही है, किन्तु मलयगिरि^३, देवेन्द्रसूरि^४ आदिने भी अपनी टीकाओंमें किया है । इसीसे टीकाकार हेमचन्द्रने प्रस्तुत मुद्रित चूर्णको लघुचूर्ण कहा है । बृहच्चूर्ण अभी तक अनुपलब्ध है । लघुचूर्णमें बृहच्चूर्णिका कोई उल्लेख देखनेमें नहीं आया । इससे निश्चयपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि दोनोंमेंसे

विस्तेरणाभिधास्यते अतो बन्धप्रधान शतको बन्धशतकस्तस्मिन्नित्यर्थ ॥१॥ — शतक टी० - ।

१ 'सिद्ध सिद्धत्यस्य वदिय गिद्धोय सव्वकम्ममल । कम्मट्ठगस्म करणट्ठयु दय सताणि वोच्छामि ॥ १ । — क० प्र० ।

२ 'उक्त च बृहच्चूर्णावस्मिन्नेव विचारे' (पृ ११) । 'एतच्च बृहच्चूर्णिमनुसृत्य लिखितमिति व स्वमनीषिका भावनीयेति'—(पृ २८) श० रि०

३ 'उक्तं च शतकबृहच्चूर्णौ' (पृ० १९, ३८, ७८,—पञ्चस० टी०, पृ० १४७, १७३ ।

४ 'शतकबृहच्चूर्णावप्युक्तम्— शतक टी० पृ० १२० ।

रासक गाथा ११ में यह है और दूसरे गुणस्थानम गाँव उपायोग वाक्याने है—
मति राजान, भुताभा, विभङ्ग, यन्तु इमं ओर 'नयन्तु दर्शन' । 'पूर्तिमे कहा है
कि धन्य है उपयोग मानो है अर्थात् विभङ्ग अनाम पहले अपविन्दन भी
मात्रो है । दिग्भर परम्पराने प्रतिपादित गाँव उपपादनी ही माना है, उममें
गोई माभेद नही है । ऐसे सास्वर परम्परामें वार्तिको ओर मीढागिर्वाण अनेक मा-
भेद पाये जाते हैं । वार्तिक अर्थात् कर्मसास्त्रके जैसा मीढागिर्वाण अर्थात् आध्या-
नुयायी । पञ्जातना मृतमें अज्ञानियोंने भी अपविन्दन माना है । विष्णु नाक,
पञ्चमसूत्र, आदिमें नही माना है ।

मिसरी—

मिसरी (यथा मसतिहा नामक एक कर्मविवेकक प्राचीन ग्रन्थ एतेताम्यर
परम्परामें बहुमान्य) । इसमें भी वार्तिक पता नहीं चल गया है । श्री जैन
आत्मानन्द गभा भावनगरमें प्रकाशित ग्रन्थ मस्या ८६ में यह ग्रन्थ मस्यगिर्वाणो
टीकाके साथ प्रकाशित हुआ है । उममें इसे चन्द्रपि महत्तरकृत बताया है ।
किन्तु प्रस्तावनामें मुनिश्री पुण्यविश्वजीने इसे आत्मक सत्याने हुए इस प्रकार-
का भ्रम होने का कारण भी बताया है ।

मसतिहा प्रकरण मूलही प्राचीन साहचर्यीय प्रतियोग अन्तमें चन्द्रपि महत्तर-
के नामको लिये हुए एक गाथा इस प्रकार मिलती है—

माहग मयरीए नंदमहत्तरमयाणुमागीण ।

टीकाइ नियमियाण एगूणा होइ नई उ ॥

टीकाकारने इनका अर्थ इस प्रकार किया है—'चन्द्रमहत्तर आचार्यके मतका
अनुसरण करनेवाली ७० गाथाओंमें यह ग्रंथ रचा गया है । उममें टीकाकारोंके द्वारा
रचित नई गाथाओंके मिलनेमें गाथा सख्या नवामी हो गई है । इसके विवेचनमें
लिखा है कि इस मसतिहाके कर्ता चन्द्रमहत्तर आचार्यने तो पहले सत्तर ही गाथाएँ
रची थी, आदि ।

उक्त गाथाके इस भ्रमपूर्ण अर्थके कारण ही मसतिहाको चन्द्रपि-महत्तरकृत
मान लिया गया जान पड़ता है । किन्तु गाथाका अर्थ है—'चन्द्रपि महत्तरके
मतका अनुसरण करनेवाली टीकाके आधारसे सत्तरकी गाथा ८९ हो गई ।' इसमें

१. 'अन्ने भणति—ओहिदसणसट्ठिया छ उवओगा—रा० नू ५० ११ । यत्तु अवधिदर्शन
तत्कुनश्चिदभिप्रायादिशिष्टश्रुतविदो नेच्छन्ति तां सम्यगवगच्छाम । अथ न सत्ते
मि/यादृष्टवादीनामवधिदर्शन प्रतिपाद्यते । यत्त उक्त प्रशङ्गी—।-पञ्चसं. मलयटीका
भा० १, ५० १९ ।

सित्तरी प्रकरणकी गाथाओंमें वृद्धि होनेका कारण बतलाया है। उसके कतकि विषयमें कुछ भी नहीं कहा। आचार्य मलयगिरिने भी अपनी टीकामें इस विषयमें कुछ भी नहीं लिखा। सित्तरीकी चूर्णमें^१ भी उसके कर्ताका कोई निर्देश नहीं है। अतः सित्तरीके कर्ताका प्रश्न अभी अनिर्णीत ही है। जैसे गाथा सख्याके आधारपर शतक नाम पड़ा वैसे ही गाथा सख्याके आधारपर इस ग्रन्थका नाम प्राकृतमें सित्तरी है। संस्कृतमें उसे सप्ततिका कहते हैं। मलयगिरि टीकाके अनुसार ग्रन्थकी गाथा सख्या ७२ है। किन्तु चूर्ण सहित प्रकाशित सित्तरीमें गाथा सख्या ७१ है। इस अन्तरका कारण यह है कि मलयगिरि टीकाके अनुसार जिस गाथाकी सख्या २५ है उस गाथाको उक्त चूर्ण सहित सित्तरीमें मूलमें सम्मिलित नहीं किया है। यद्यपि उस पर भी चूर्ण है। किन्तु गाथाके आगे 'पाठतर' छपा हुआ है और पादटिप्पणमें छपा है—'अन्यकर्तृका चैय गाथा' अर्थात् यह गाथा किसी अन्यके द्वारा रचित है। यदि उसे मूलमें सम्मिलित कर लिया जाये तो सित्तरीकी गाथा सख्या ७२ समझनी चाहिये। श्री आत्मानन्द जैन पुस्तक-प्रचारक-मण्डल आगराकी ओरसे प्रकाशित हिन्दी अनुवाद सहित सप्ततिका प्रकरणमें भी गाथा ७२ ही है।

इन ७२ गाथाओंके सिवाय दस अन्य भाष्य गाथाएँ हैं जिन पर चूर्ण भी है और टीका भी है। तथा पाँच गाथाएँ और हैं उनपर भी चूर्ण और टीका है। ये गाथाएँ विवरणात्मक हैं। इनके सिवाय एक गाथा और भी है जो आवश्यक^२ नियुक्ति की है। इससे प्रतीत होता है कि मूल सप्ततिकाके व्याख्यानके लिए चूर्णकारके द्वारा ग्रन्थान्तरोंसे कुछ अन्य गाथाएँ भी सम्मिलित की गयी थी और मूल सप्ततिकामें अन्तर्भाव्य गाथाओं तथा उन अन्य गाथाओंके मिल जानेसे उनकी सख्या ८९ हो गयी। तथा पश्चात् उन सम्मिलित की गयी गाथाओंको भी मूलकर्ताकी ही समझ लिया गया। यह बात मलयगिरिकी टीकासे प्रकट होती है। उसमें सम्मिलित की गई किन्हीं किन्हीं गाथाओं का निर्देश 'तथा चाह सूत्रकृत्' कहकर किया गया है, जो बतलाता है कि मलयगिरि उन्हें मूलकर्ताकी मानते हैं। किन्तु चूर्णिके अनुसार गाथा न० ६२ और ६३ तथा टीकाके अनुसार गाथा न ६३-६४ की व्याख्याके अन्तर्गत आयी तीन गाथाएँ दिगम्बरीय सप्ततिकाकी हैं। इस तरहसे सप्ततिकाकी गाथा सख्यामें अन्तर पड़ गया है।

१ मूल तथा अन्तर्भाव्यके साथ यह चूर्ण मुक्ताबाई ज्ञानमन्दिर डभोईसे प्रकाशित हो चुकी है।

२ 'सभिन्न पासंतो लोगमलोगं च सब्वओसव्व । त नत्थि ज न पासइ भूय भव्व भविस्सं च ॥१२७॥ आ० नि० ।

रचयिता तथा रचनाकाल—

इस सप्ततिकाकी रचना किनने की यह भी अज्ञात है। पूर्णि चमैग्रहमें भी उसका कोई उल्लेख नहीं है। किन्तु गिरागे और शतक दोनोंके आरम्भ और अन्तमें एकस्यता की शङ्का पायी जाती है। शतक की तरह सप्ततिकाके आदिमें भी मंगल नहीं किया गया है। शतककी गान्धा १०४ में उसे कर्मप्रसाद श्रुत-नागरका निष्यन्द कहा है। सप्ततिकाकी प्रथम गान्धामें उसे दृष्टिपादका निष्यन्द कहा है।

सप्ततिकाकी पहली और अन्तिम गान्धा इस प्रकार हैं—

मिदपण हि महत्तय वमोऽगमन्तमगच्छाणाण ।

वोच्छ सुण मंगेरं नीसव दिट्ठवायस्म ॥१॥

जो जस्य अपविपुन्नो अत्यो अप्पागमण वसोत्ति ।

त ममिऊण णट्ठुणा पूरे ऊण परिकटु ॥७२॥

शतककी आदि तथा अन्तिम गान्धाएँ इस प्रकार हैं—

मुणह इह जीवमुण मन्निण्णु मणेषु सारजुताओ ।

वोच्छ कण्डयाओ गाहाओ विट्ठोणाओ ॥१॥

ऐसो वधममाओ विन्दुवलेवेण वान्निओ कोइ ।

कम्मपवायसुयमागरस्म णिस्सवमेत्ताओ ॥१०४॥

ववविहाणसमामो रइओ अप्पसुयमद मइणा उ ।

तं वधमोक्खणिउणा पूरेऊण परिकहेत्ति ॥१०५॥

यद्यपि भावगत तथा शब्दगत उक्त सादृश्य उल्लेखनीय है किन्तु उसके आधारपर कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। फिर भी इतना तो स्पष्ट रूपसे प्रतीत होता है कि शतककी तरह ही सप्ततिकाकी रचनाकाल प्राचीन है। क्योंकि जैसे जिनभद्रगणि धर्मा-श्रमणकी विशेषणवतीमें कर्मप्रकृतिका निर्देश मिलता है वैसे ही सित्तरी^१ का भी निर्देश मिलता है। अतः यह निश्चित है कि कर्मप्रकृति और उसमें निर्दिष्ट शतककी तरह ही सप्ततिकाकी भी रचना विक्रमकी सातवीं शताब्दीके पश्चात्की नहीं है।

विषयपरिचय—

सप्ततिकाकी प्रथम गान्धामें बन्धप्रकृति-स्थान, उदयप्रकृति-स्थान और सत्त्व-प्रकृति स्थानका संक्षेपसे कथन करनेकी प्रतिज्ञा की है। कर्मप्रकृतिका विषय-

१ 'सयरीए मोहवधट्ठाणा-॥९०॥ 'सयरीए दो विगप्पा' ॥९१, सयरीय पचविहवधगस्स . ॥९२॥ विशेषणवती ।

परिचय कराते हुए दस करणोका अथवा कर्मोंमें होनेवाली दस अवस्थाओंका स्वरूप बतला आये हैं । उनमें तीन अवस्थाएँ मुख्य हैं—बन्ध, उदय और सत्ता । उन्ही-का विशेषरूपसे कथन इस ग्रन्थमें है । जिसका निर्देश दूसरी गाथामें किया गया है । उसमें कहा गया है—कितनी प्रकृतियोंका बन्ध करनेवाले जीवके कितनी प्रकृतियोका वेदन (उदय) होता है तथा कितनी प्रकृतियोका बन्ध और वेदन करनेवाले जीवके कितनी प्रकृतियोका सत्त्व होता है । इस प्रकार मूल और उत्तर प्रकृतियोंके विषयमें अनेक भंग जानने चाहिये ।' इन्ही भंगोका विवेचन इस ग्रन्थमें किया गया है । यथा, गाथा तीनमें कहा है—आठो कर्मोंका अथवा सात कर्मोंका अथवा छह कर्मोंका बन्ध करनेवाले जीवोंके आठो कर्मोंका उदय और सत्त्व होता है । (पाँच, चार, तीन या दो कर्मोंका बन्ध किसीके नहीं होता) । और एक कर्मका बन्ध करनेवाले जीवके तीन विकल्प होते हैं—एकका बन्ध, सातका उदय और आठकी सत्ता १, एकका बन्ध, सातका उदय और सातकी सत्ता २, एकका बन्ध, चारका उदय और चार की सत्ता ३ । पहला विकल्प ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती जीवके होता है क्योंकि उसके मोहनीय कर्मका उदय नहीं होता । दूसरा विकल्प बारहवें गुणस्थानवर्ती जीवके होता है क्योंकि उसका मोहनीय कर्म नष्ट हो जाता है । और तीसरा विकल्प तेरहवें गुणस्थानवर्ती जीवके होता है क्योंकि उसके चार घाति कर्म नष्ट हो जाते हैं । और इन तीनों गुणस्थानोंमें केवल एक सातवेदनीय कर्मका ही बन्ध होता है । गाथा चारमें उक्त भगोंका कथन जीव-समासोंमें और गाथा पाचमें गुणस्थानोंमें किया है । आगे इसी प्रकारका कथन आठो कर्मोंकी उत्तर प्रकृतियोंको आधार बनाकर किया गया है ।

कर्म प्रकृति और सप्ततिकामे मतभेद—

कर्मप्रकृति और सप्ततिकामें कुछ मतभेद पाया जाता है । सप्ततिका गाथा २८ में नामकर्मके सत्त्व स्थान ९३, ९२, ८९, ८८, ८६, ८०, ७९, ७८, ७६, ७५, ९, ८ ये बारह बतलाये हैं । और कर्मप्रकृतिमें (सत्ता० गा० ९) १०३, १०२, ९६, ९५, ९३, ९०, ८९, ८४, ८३, ८२, ९-८ ये बारह सत्त्व स्थान नाम कर्मके कहे हैं । इस अन्तरका कारण यह है कि कर्मप्रकृतिकार पाँच बन्धन और पाँच सघात नाम कर्मोंको अलग गिनते हैं । किन्तु सप्ततिकामें उनकी पृथक् गणना नहीं की । उनका अन्तर्भाव शरीरमें ही कर लिया है । सप्ततिका 'चूर्णिमें 'अण्णे' करके कर्मप्रकृतिके मतको आगम और युक्तिसे विरुद्ध कहा है ।

सप्ततिका गाथा ६१ में अनन्तानुबन्धी चतुष्कको उपशम प्रकृति बतलाया

१ 'एत्थ अण्णे अण्णारिसाणि संतट्ठणाणि विगप्पयति, ताणि आगमे जुत्तीहिय न घडति ।'—सि० चू०, पृ० २७ ।

है किन्तु कर्मप्रकृति (उपप० भा० ३१) में उगका निर्देश किया है । सप्ततिका 'नूणमे 'अण्णेमि' करके उगका निर्देश किया है ।

इसमें यह निश्चित है कि सप्ततिका कर्मप्रकृतिकार की कृति नहीं है । अतः षतक और सप्ततिका की आश तथा अन्तिम गाथाओंमें पाये जानेवाले गान्द्वयके आन्तरपर उन दोनोंका कर्ता तब तक एक व्यक्ति नहीं माना जा सकता जबतक षतक को कर्मप्रकृतिकार की कृति न माना जाये ।

कर्मस्तव

इस मूल ग्रन्थकी सारणा ५५ है । प्रारम्भिक^१ गायामे जिनेन्द्रदेवको नमस्कार करके बन्ध, उदय और सत्त्वमे युक्त 'स्तव' को कहनेकी प्रतिज्ञा की गयी है । इसी परसे इसका कर्मस्तव नाम प्रसूत हुआ प्रतीत होता है । क्योंकि कर्मविषयक बन्ध उदय सत्त्वका ही इसमें विवेचन है । दिगम्बरीय प्राकृत पञ्चसंग्रहके अन्तर्गत तीसरा अधिहार कर्मस्तव नामक है । इस अधिकारमें प्रकृत कर्मस्तवकी प्रायः सभी गायामें पाई जाती हैं अतः इसके कर्मस्तव नाम के आधार पर ही उक्त पञ्चसंग्रह के तीसरे अधिकारको कर्मस्तव नाम दिया गया है । चन्द्रपिकृत पञ्चसंग्रहकी स्योपज्ञ वृत्तिमें कर्मस्तवका उल्लेख मिलता है । अतः प्रकृत ग्रन्थका कर्मस्तव नाम सुनिश्चित एवं प्रसिद्ध है ।

स्तवका प्रचलित अर्थ तो स्तुतिपरक ही है किन्तु स्तव और स्तुतिमें अन्तर है । अंगवाह्यके चौदह भेदोंमेंसे एक भेद चतुर्विंशति स्तव है और एक भेद वन्दना है । चौबीस तीर्थङ्करोंके स्तवनको चतुर्विंशति स्तव^२ कहते हैं और एक तीर्थङ्कर विषयक स्तुतिको वन्दना कहते हैं । अतः स्तुतिसे स्तव व्यापक होता है ।

पट्खण्डागमके वेदना खण्डके कृति अनुयोग द्वारमें आगममें उपयोगके प्रकार वाचना, पृच्छना, प्रतीच्छना, परिवर्तना अनुप्रेक्षा तथा स्तव स्तुति आदि

१. 'अण्णेसिं आयरियाण अणताणुवधीण उवसामणा नाम नत्थि, विसयोजणाणाम अणताणुवधीण भवति ।' सि० जु० पृ० ६१ ।

२. 'नमिऊण जिणवारिंदे तिष्ठयणवरणाणदसणपईवे । वधुदयसत्तजुत्त वोच्छामि धयं निसामेह ।' गोविन्दगणि की संस्कृत टीकाके साथ कर्मस्तव श्रीजैन आत्मानन्दसभा भावनगरसे (वि० स० १०७२) 'सटीकाश्चत्वार प्राचीना' कर्मग्रन्था' के अन्दर प्रकाशित हो चुका है ।

३. 'चउवीसत्थओ चउवीसण्ह तित्थयराण वइणविहाण । वदणा एकाजिणजिणालयविपय ।'
—पट्ख पु १, पृ ९६-९७ ।

'एगदुणेत्तिसलोका थुतीसु, अन्तेसि होइ जा सत्त । देविदत्थयमादी तेण तु पर थया होइ ॥'—व्यव० सू० ७ उ० ।

बतलाये है। इनका लक्षण बतलाते हुए^१ धवलाकारने 'सब अंगोंके विषयोकी प्रधानतासे बारह अंगोंके उपसंहारको स्तव और बारह अंगोंमेंसे एक अंगके उपसंहारको स्तुति कहा है। इससे भी यही व्यक्त होता है कि स्तव सकलांगी होता है और स्तुति एकांगी होती है। अतः उक्त कर्मस्तवमें अपने विषयका पूर्ण वर्णन है ऐसा ध्वनित होता है।

यह पहले बतलाया है कर्म की दस अवस्थाएँ होती हैं उनमें तीन मुख्य हैं—बन्ध, उदय और सत्ता। कर्मोंके बंधनेको बन्ध, समयपर फल देनेको उदय और बन्ध के पश्चात् तथा उदय से पूर्व स्थिति रहनेको सत्ता कहते हैं।

कर्म आठ हैं—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय। इनके अवान्तर भेद क्रम से पाँच, नौ, दो, अट्ठाईस, चार, बयालीस, दो और पाँच कहे हैं। नाम कर्म के बयालीस भेदों के भी अवान्तर भेद मिलाने से नामकर्मके ९३ भेद होते हैं इस तरह आठो कर्मोंके कुल भेद १४८ होते हैं। उनमें भी अभेद विवक्षासे बन्धप्रकृतियोंकी संख्या १२० और उदय प्रकृतियोंकी संख्या १२२ ली गयी है किन्तु सत्त्व प्रकृतियों की संख्या १४८ ही ली गयी है।

मोक्षके लिये प्रयत्नशील जीवकी आन्तरिक अभ्युन्नति के सूचक चौदह दर्जे हैं जिन्हें गुणस्थान कहते हैं। ज्यो-ज्यो जीव ऊपरके गुणस्थानोंमें चढता जाता है उसके कर्मोंके बन्ध, उदय और सत्तामें ह्रास होता जाता है। पहले दूसरे तीसरे आदि गुणस्थानोंमें कर्मोंके उक्त १२०, १२२ और १४८ भेदोंमेंसे किन किन कर्मोंका बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ताका विच्छेद होता है यही कथन इस कर्मस्तवमें किया गया है।

गा० २-३ में बतलाया है कि पहले मिथ्यात्व गुणस्थानमें सोलहका, दूसरे सासादनमें पच्चीसका और चौथे अविरत गुणस्थानमें दस प्रकृतियोंके बन्धका विच्छेद होता है। इसी तरह आगे पाँचवें गुणस्थानमें चारका, छठमें छैका, सातवें में एकका, आठवेंमें छत्तीसका, नौवेंमें पाचका, दसवेंमें सोलहका और तेरहवें सयोग गुणस्थानमें एक सातावेदनीयका बन्धविच्छेद होता है।

गाथा चारमें बतलाया है कि चौदह गुणस्थानोंमें क्रमसे ५, ९, १, १७, ८, ५, ४, ६, ६, १, २, १६, ३०, १२ कर्मप्रकृतियोंका उदय रुकता चला जाता है। पाँचवीं गाथामें कहा है कि पहलेसे तेरहवें गुणस्थान पर्यन्त क्रमसे ५, ९, १, १७, ८, ८, ४, ६, ६, १, २, १६, और ३९ कर्मोंकी उदीरणाका विच्छेद होता है। इसी तरह आगे गा० ५, ६, ७ में सत्तासे विच्छिन्न होनेवाले कर्मोंकी संख्याका निर्देश है। आगे उन्हीका विस्तारसे कथन करते हुए बतलाया है कि किस-किस

१ 'वारसगसंधारो सयलगविसयप्पणादो धवो णाम। वारसगेसु एक्कगोवसंधारो थुदी णाम।'—पट्ठ०, पु ९, पृ २६३।

गुणस्थानमें कौन-कौन कर्मप्रकृतियोंको बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ताका विच्छेद होता है ।

कर्मस्तवके सबधमें एक उल्लेखनीय बात यह है कि इसमें क्षीणकषाय गुण-स्थानके उपान्त्य समयमें निद्रा और प्रचला की उदयव्युच्छिति बतलाई है । दिगम्बर परम्परामें यही मत सर्वमान्य है । किन्तु श्वेताम्बर परम्परामें सत्कर्मका मत विशेष मान्य है जिसके अनुसार क्षपकश्रेणीमें और क्षीणकषायमें निद्रा प्रचला-का उदय नहीं होता । सप्ततिका-उसकी चूर्णि, कर्मप्रकृति और उसकी चूर्णिका यही मत है । नव्यकर्मग्रन्थके कर्तानि भी इसी मत को मान्य किया है । अकेले चन्द्रर्षि महत्तरने कर्मस्तवका मत मान्य किया है ।

रचनाकाल

इस ग्रन्थके कर्ताका पता न लग सकनेसे इसका रचनाकाल भी अनिश्चित है । फिर भी इसके अन्य ग्रन्थोंमें पाये जानेवाले उल्लेख आदिसे इसकी प्राचीनता व्यक्त होती है । इसकी वृत्ति गोविन्दाचार्यने रची है । यह गोविन्दाचार्य नाग-देवके शिष्य थे । किन्तु उनके समयादिका भी पता नहीं चलता । इस वृत्तिकी ताडपत्रीय प्राचीन प्रति सं० १२८८ की लिखी हुई मिलती है । अतः यह सुनिश्चित है कि गोविन्दाचार्य स० १२८८ से पहले हो गये हैं । और इसलिए कर्मस्तव उससे भी पहले रचा जा चुका था ।

बन्धस्वामित्व नामक तीसरे प्राचीन कर्मग्रन्थके भी कर्ताका पता नहीं है उसमें कर्मस्तवका^१ का निर्देश किया गया गया है । अतः इससे कर्मस्तव पहले रचा गया था । बन्धस्वामित्वकी टीका वृद्धगच्छीय देव सूरिके शिष्य हरिभद्रसूरिने रची थी । यह वृत्ति अणहिल्ल^२ पाटकपुरमें जयसिंहदेवके राज्यमें स० ११७२ में रची गयी थी । इसमें^३ कर्मस्तवटीका का निर्देश है । यह टीका गोविन्दाचार्यकृत ही जान पड़ती है । अतः कर्मस्तवकी उक्त टीका सं० ११७२ से भी पहले की है, इसलिये कर्मस्तव उससे भी पूर्वका है । दि० प्राकृत पंचसग्रहके तीसरे अधिकार का नाम भी कर्मस्तव अथवा बन्धोदय सत्त्वाधिकार है । और उसमें उक्त कर्मस्तवकी गाथाएँ वर्तमान हैं । तथा चन्द्रर्षिकृत पंचसग्रहकी स्वोपज्ञ^४ टीकामें कर्मस्तवका

१ 'इय पुव्वसूरिकयपगरणेसु जडबुद्धिणा मय रइय । बन्धस्सामित्तमिण नेय कम्मत्थय सोऽ ॥५४॥'— ब० सा० ।

२ 'अणहिल्लपाटक पुरे श्रीमज्जयसिंह देवनृपराज्ये,' व सा टी प्रशस्ति ।

३. 'आसा दशानामपि गाथाना पुनन्याख्यानं कर्मस्तवटीकातो बोद्धव्य'— बंसा टी. ।

४. 'एवमेकादश भङ्गा सप्ततिकाकार मतेन । कर्मस्तवकारमतेन पञ्चानामप्युदयो भवति'—

निर्देश है। अतः उक्त कर्मस्तव इन दोनों पंचसंग्रहोंसे प्राचीन है। वीरसेनकी धवला टीकामें उद्धृत अनेक गथाएँ दि० पंचसंग्रह में ज्यो की त्यो पाई जाती हैं। अतः दि० पंचसंग्रह विक्रमकी नौवीं शताब्दीसे पहले रचा गया था और इसलिए कर्मस्तव उससे भी पूर्वका है। चन्द्राणि के प्राकृत पंचसंग्रह की स्वोपज्ञ टीकामें विशेषावश्यक भाष्य का उद्धरण है और वि० भा० वि० स० ६८६ में रचा गया था। अतः चन्द्राणि विक्रमकी सातवीं शतीसे पूर्व नहीं हुए यह निश्चित है।

विशेषावश्यक भाष्यकार जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणकी विशेषणवतीमें कर्मप्रकृति और सितरीका तो निर्देश है किन्तु कर्मस्तवका नहीं है।

किन्तु उसके आधार पर यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि इसलिए कर्मस्तव उसके बाद होना चाहिए। क्योंकि कर्मस्तवका क्षीण कषायके उपान्त्य-समयमें निद्राद्विककी व्युच्छित्तिवाली बात श्वेताम्बर कामिकोंके विरुद्ध है। और इसलिए कर्मस्तवकी ओर कट्टर पन्थियोंकी अनास्था होना स्वाभाविक है जैसा कि आचार्य मलयगिरिके वचनोसे प्रकट होता है—

‘केचित् पुन क्षपकक्षीणमोहेष्वपि निद्राप्रचलयोरुदयमिच्छन्ति तत्सत्कर्म-कर्मप्रकृत्यादिग्रन्थै सह विरुध्यते इत्युपेक्ष्यते,—(सप्तति० टी०, पृ० १५८)

‘अर्थात् कोई आचार्य क्षपक और क्षीणमोहोमें भी निद्रा-प्रचलाका उदय मानते हैं, वह सत्कर्म और कर्मकृति आदि ग्रन्थों से विरोधको प्राप्त होता है, इसलिए उसकी उपेक्षा करते हैं।

विशेषावश्यक भाष्यकारने भी शायद इसीलिए उसकी उपेक्षा की हो। कर्म-स्तवमें कर्मोंके नाम तथा भेदसख्यावाली गा० ८-९, शतक में ३८, ३९ नं० पर है। इसी तरह गा० ४८ सप्ततिचूर्णमें पृ० ६६ पर है। मलयगिरिने उसका उल्लेख ‘तथाचाह सूत्रकृत’ करके किया है। जिससे प्रकट होता है कि वह उसे सप्ततिकारकी मानते हैं।

इस सादृश्यसे भी कोई निष्कर्ष निकालना तो सम्भव नहीं है। किन्तु सितरी और शतककी प्राचीनता की दृष्टिसे यही सम्भावना की जा सकती है कि सम्भवतया वह उन दोनों के पश्चात् और दि० प० स के पहले रचा गया है।

दि० प्राकृत पञ्च संग्रह

पंच संग्रह नामके चार ग्रन्थ उपलब्ध हैं दो प्राकृत में और दो संस्कृतमें। प्राकृत पंचसंग्रह एक दिगम्बर परम्परा का है और एक श्वेताम्बर परम्पराका। यहाँ प्रथमकी चर्चा पहले की जाती है।

इस पंच संग्रहको प्रकाशमें लानेका श्रेय वीर सेवा मन्दिर देहलीके प०

परमानन्दको है। उन्होंने 'अनेकान्त' वर्ष ३, कि. ३ में 'अति प्राचीन प्राकृत पंच संग्रह' शीर्षक से एक लेख प्रकाशित कराया था। उसीसे उसकी जानकारी प्राप्त हुई थी। अब तो यह प्रकाशित हो चुका है।

इस पंचसंग्रहमें न तो उसके रचयिताका ही कोई निर्देश है और न ग्रन्थका ही नाम है। अन्तमें एक वाक्य लिखा है 'इदि पचसंग्रहो समत्तो।' उसीसे यह प्रकट होता है कि इसका नाम पच संग्रह है। इसमें पाँच प्रकरण हैं—जीव समास, प्रकृति समुत्कीर्तन, कर्मस्तव, क्षतक और सप्ततिका। अतः पंच संग्रह नाम तो उचित ही है। किन्तु यह नाम पीछेसे दिया गया है या पहलेसे रहा है यह चिन्त्य है।

जो दो संस्कृत पंच संग्रह हैं वे प्रायः इसीको लेकर रूपान्तरित किये गये हैं, अतः उनके नामसे यह तो स्पष्ट हो जाता है कि उनकी रचना के समय यह इसी नामसे प्रसिद्ध था। अमित्रगति (वि. स. १०७३) ने अपने पंचसंग्रहमें एक स्थानपर (पृ० १३१) लिखा है—पचसंग्रहके अभिप्रायसे यह कथन है। अतः पचसंग्रह नाम ही प्रचलित था।

विक्रमकी तेरहवीं शतीके ग्रन्थकार पं० आशाधरजीने भगवती आराधनाकी गाथा २१२४ पर रचित मूलाराधना दर्पण नामक टीकामें 'तदुक्त पञ्चसंग्रहे' करके छै गाथाएँ उद्धृत की हैं। ये छहों गाथाएँ प्रकृत प्राकृत पंचसंग्रहके तीसरे अधिकारमें इसी क्रमसे पाई जाती हैं। हमारे जाननेमें आशाधरजी प्रथम व्यक्ति हैं जिन्होंने प्राकृत पंचसंग्रहका इस प्रकार स्पष्टरूपसे निर्देश किया है। इससे यह निर्विवाद रूपसे निर्णीत हो जाता है कि विक्रमकी तेरहवीं शतीमें प्रकृत ग्रन्थ पंचसंग्रहके नामसे ख्यात था तथा उससे पहले भी अर्थात् सस्कृत पंचसंग्रहके रचनाकालमें भी उसे पंचसंग्रह कहते थे।

विक्रमकी नौवीं शतीके प्रसिद्ध जैनाचार्य वीरसेनने अपनी घवलाटीकामें 'उक्त च' करके बहुत सी गाथाएँ उद्धृत की हैं। उनमें बहुत-सी गाथाएँ इस प्राकृत पंचसंग्रहमें वर्तमान हैं। षट्खण्डागमके 'सत्प्ररूपणा' नामक प्रथम पुस्तककी घवलाटीकामें उद्धृत जिन गाथाओंको पादटिप्पणमें गोमट्टसार जीवकाण्डमें पाई

१ प्राकृत पञ्च संग्रह सुमति कीर्ति की टीका तथा प० हीरालाल जी की भाषा टीका के साथ भारतीय ज्ञानपीठ से सन् १९६० में प्रथमवार प्रकाशित हुआ है। इसी में उसकी प्राकृत चूर्ण तथा श्रीपाल सुत डड्ढा विरचित सस्कृत पंचसंग्रह भी प्रथमवार प्रकाशित हुआ है। दूसरा प्राकृत पंचसंग्रह स्वोपज्ञ और मलय गिरि की वृत्ति के साथ मुक्तावर्ष ज्ञान मन्दिर डभोई (गुजरात) से सन् ३७-३८ में प्रकाशित हुआ है। अमित्रगतिप्रकृत पंचसंग्रह मूल माणिक चन्द्र ग्रन्थ माला बम्बई से प्रथमवार प्रकाशित हुआ था।

जानेवाली बतलाया है और जिनकी सख्या सी से भी ऊपर है, वे सब गाथाएँ पचसंग्रहके प्रथम अधिकारमें जिसका नाम जीव समास है, पाई जाती हैं ।

उसपरसे ५० परमानन्दजीने अपने लेख में यह निष्कर्ष निकाला था कि धवलाकारके सामने पचसंग्रह अवश्य था । इसपर आपत्ति करते हुए मुख्तार श्री-जुगलकिशोरजीने लिखा था—‘कम-से-कम जबतक धवलामें एक जगह भी किसी गाथाके उद्धरणके साथ पंचसंग्रहका स्पष्ट नामोल्लेख न बतला दिया जाये तबतक मात्र गाथाओकी समानता परसे यह नहीं कहा जा सकता कि धवला में वे गाथाएँ इसी पचसंग्रह परसे उद्धृत की गई हैं जो खुद भी एक संग्रह ग्रन्थ है ।’ (पु० वाक्य सू० प्रस्ता०, पृ० ९५) ।

मुख्तार साहबकी आपत्ति बहुत ही उचित थी । किन्तु धवला में ही एक स्थान पर ‘जीवसमास ए वि उक्त’ करके नीचेकी गाथा उद्धृत है—

छप्पच णव विहाण अत्थाणं जिणवरोवइट्ठाण ।

आणाए अहिगमेण य सद्दहणं होइ सम्मत्ता ॥

यह गाथा पचसंग्रहके अन्तर्गत जीव समास नामक प्रथम अधिकारमें मौजूद है और सत्प्ररूपणाकी धवलामें उद्धृत लगभग १२५ गाथाएँ भी जीव समास नामक अधिकारकी ही हैं । अतः इस उद्धरण से यह बात तो निर्विवाद हो जाती है कि पचसंग्रहका कम-से-कम जीव समास नामक अधिकार तो वीरसेन स्वामी के सामने वर्तमान था । किन्तु जहाँ उक्त उद्धरणसे यह बात सिद्ध होती है वहाँ एक शका भी होती है कि वीरसेन स्वामीने पचसंग्रहका नामोल्लेख न करके उसके अन्तर्गत अधिकारका नाम निर्देश क्यों किया ?

यदि धवलामें केवल जीव समाससे ही उद्धरण लिये होते तो कहा जा सकता था कि पचसंग्रहके अन्य अधिकार वीरसेन स्वामीके सामने नहीं थे । किन्तु ‘उक्त च’ करके उद्धृत कुछ गाथाएँ पचसंग्रहके अन्य अधिकारों में पाई जाती हैं । इसीसे हमें यह सन्देह उत्पन्न हुआ कि पचसंग्रह नाम क्या पीछे से दिया गया है । इस सन्देहके अन्य भी कारण हैं और उन्हें बतलाने के लिये ग्रन्थकी आन्तरिक स्थिति आदि पर भी प्रकाश डालना आवश्यक है । उससे पहले एक आवश्यक जानकारी करा देना उचित होगा ।

पचसंग्रह नामकी सार्थकता—

चन्द्रपि महत्तरकृत पचसंग्रहके आरम्भमें पचसंग्रह नामकी सार्थकता बतलाते

हुए कहा है कि इस ग्रन्थमें शतक अदि पाँच ग्रन्थोको सक्षिप्त किया गया है अथवा इसमें पाँच द्वार है इसलिए इसका पचसग्रह नाम सार्थक है। शतक आदि पाँच ग्रन्थोका नाम ग्रन्थकार ने नहीं बताया। किन्तु उनकी स्वोपज्ञ^२ टीकामें कर्मस्तव और सप्ततिका ग्रन्थोका नाम आया है। तथा दूसरे भागका नाम कर्म-प्रकृति है जो शिवशर्मरचित कर्मप्रकृतिके आधार पर रचा गया है। अतः तदनुसार शतक, सप्ततिका, कर्मप्रकृति और कर्मस्तव इन चार ग्रन्थोका इस पचसग्रहमें संक्षेप किया गया है ऐसा कहा जा सकता है। किन्तु टीकाकार^३ मलयगिरिने लिखा है कि इस पचसग्रहमें शतक, सप्ततिका, कषाय प्राभृत, सत्कर्म, और कर्मप्रकृति इन पाँच ग्रन्थोका सग्रह है अथवा योगोपयोग विषय मार्गणा, वधक, वधव्य, बन्धहेतु और बन्धविधि इन पाँच अर्थाधिकारोका सग्रह है इसलिए इसका नाम पचसग्रह है। पंचसग्रह नामके इस अर्थके प्रकाशमें एक अर्थ तो दि० प० स० में स्पष्टरूपसे घटित होता है कि उसमें भी जीवसमास, कर्मप्रकृतिस्तव, बन्धोदयो-दीरणास्तव, शतक और सप्ततिका नामक पाँच अधिकार हैं, इसलिए इसका पचसग्रह नामका सार्थक है। किन्तु क्या श्वे० प० स० की तरह दि० प० स० में भी पाँच ग्रन्थोका संग्रह किया गया है, यह प्रश्न विचारणीय है इसके समाधान के लिए हमें प्रत्येक अधिकार का तुलनात्मक परिशीलन करना होगा।

१ जीव समास और सत्प्ररूपणा

इस दि० प० स० के प्रथम अधिकार का नाम जीवसमास है। इसमें २०६ गाथाएँ हैं। प्रथम गाथा में अरहन्तदेवको नमस्कार करके जीवका प्ररूपण करने की प्रतिज्ञा की है। इस गाथापर प्राकृतमें चूर्णि भी है। दूसरी गाथामें गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति प्राण, सज्ञा, चौदह मार्गणा और उपयोग इन २० प्ररूपणाओको कहा है। इन्हीं बीस प्ररूपणाओका कथन इस जीव समास नामक अधिकारमें है। षट्खण्डागम के प्रारम्भिक सत्प्ररूपणा सूत्रों में भी गुणस्थान और मार्गणाओका कथन है। किन्तु इस प्रकारसे बीस प्ररूपणाओ का कथन उसमें नहीं है। सत्प्ररूपणा सूत्रोकी ध्वला टीकामें गुण स्थान और मार्गणाओका कथन वीर-

१ सयगाइ पच गथा जहारिह जेण येत्थ सखिता । दाराणि पच अहवा तेन जहत्थाभि-
हाणमिद ॥२॥ —श्वे० प० स० ।

२ 'एवमेकादश भङ्गा . सप्तति काकारमतेन । कर्मस्तवकारमतेन पञ्चानामप्युदयो भवति
ततश्च त्रयोदशभङ्गा' —प० स० स्वो टी० भा० ३ गा० १४ ।

३ 'पचाना शतक-सप्ततिका-कषायप्राभृत-सत्कर्म-कर्मप्रकृति लक्षणाना ग्रन्थाना अथवा
पचानामर्थाधिकाराना योगोपयोगविषयमार्गणा —बन्धक-बन्धव्य-बन्धहेतु बन्धविधि
लक्षणाना सग्रह पच सग्रह ।' —श्वे० प० स०, टी० पृ० ३ ।

सेन स्वामीने जीव समास नामक अधिकारके आधार पर ही किया है और उससे लगभग सवा सौ गाथाएँ भी प्रमाणरूपसे उद्धृत की हैं।

सत्प्ररूपणामें पहले मार्गणाओका निर्देश है पश्चात् गुणस्थानोका और पच-सग्रह गत जीवसमासमें पहले गुणस्थानोका कथन है पीछे मार्गणाओका। सत्प्ररूपणा सूत्र ४ की ध्वलामें चौदह मार्गणाओका सामान्य कथन करते हुए वीरसेन स्वामीने चौदह मार्गणाओसे सम्बद्ध १६ गाथाएँ प्रमाणरूपसे उद्धृत की हैं जो ५० स० के जीवसमास अधिकारमें ज्यो-की-त्यो वर्तमान हैं। आगे गुण-स्थानोके वर्णनमें तेईस गाथाएँ प्रमाणरूपसे उद्धृत की हैं। ये सब भी इसी प्रमाण में वर्तमान हैं। और जीवसमासाधिकारमें उनकी क्रम संख्या क्रमशः ३, ६, ७, ९, १०, १२, ११, १३, ४, १४, १५, १६, १७, १८, १९, २०, २१, २२, २३, २४, २५, २७, २९, ३०, ३१ हैं। इनमेंमें क्वचित् ही साधारण-सा पाठ भेद पाया जाता है और केवल एक जगह गाथाका व्यतिक्रम है। सत्प्ररूपणा में गुण-स्थानोके पश्चात् मार्गणाओका विशेष कथन है उसकी ध्वलामें भी प्रत्येक मार्गणा-के प्रकरणमें जीव समासकी गाथाएँ उद्धृत हैं।

गति^१मार्गणा में पाच गाथाएँ पाचो गति सम्बन्धी उद्धृत हैं और उनकी क्रम सं० जी० स० में क्रमसे ६० से ६४ तक है। इन्द्रिय मार्गणामें जी० स० की गा० न० ६६, ६७ और ६९ क्रमसे उद्धृत हैं। आगे क्रमसे चार गाथाएँ और उद्धृत हैं जिनमें दो इन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय और पचेन्द्रिय जीवोको उदा-हरण के रूप में गिनाया है। जी० स० में भी गा० ६९ से आगे (७०-७३) चार गाथाओ से दो इन्द्रिय आदि जीवोको गिनाया है किन्तु दोनों ग्रन्थों की केवल इन्ही गाथाओमें मेल नहीं है, भिन्नता है। नीचे उन चारो गाथाओको दिया जाता है।

पञ्चसग्रह गत जीव समासमें ये चारो गाथायें इस प्रकार पाई जाती हैं—

खुल्ला वराड सखा अक्खुणह अरिट्ठगा य गडोला ।

कुक्खि किमि सिप्पिआइ जेया वेइदिया जीवा ॥७०॥

कुथु-पिपीलिय-मक्कुण-विच्छिय-जू विद-गोव गु भीया ।

उत्तिग मट्ठियाई (?) जेया तेइदिया जीवा ॥७१॥

दंस-मसगो य-मक्खिय-गोमच्छिय-भमर-कीड-मक्कडया ।

सलह-पयगाईया जेया चउरिदिया जीवा ॥७२॥

अंडज पोदज-जरजा-रसजा ससेदिया य सम्मुच्छा ।

उन्निदिमोववादिय जेया पचिदिया जीवा ॥७३॥

और धवला में उद्धृत गाथाएँ इस प्रकार हैं—

‘कुक्खि-किमि-सिप्पि सखा गडोलारिट्ठ अक्ख-खुल्ला य ।
तह य वराडय जीवा णेया वीइदिया एदे ॥१३६॥
कुथु-पिपीलिक-मक्कुड-विच्छिय-जू-इदगोव गोम्ही य ।
उत्तिरगणट्टियादी णेया तेइदिया जीवा ॥१३७॥
मक्कडय-भमर-महुवर-मसय-पयगा-य सलह गोमच्छी ।
मच्छी सदंस कीडा णेया चउरिदिया जीवा ॥१३८॥
सस्सेदिम-सम्मुच्छिम-उम्भेदिम-ओववादिया जीवा ।
रस-पोदंड जरायुज णेया पचिदिया जीवा ॥१३९॥’

—पट् ख० पु० १, पृ० २४१-२५६ ।

इनमेंसे तेइन्द्रिय जीव सम्बन्धी गाथा में तो कोई अन्तर नहीं है, किन्तु शेष तीनो गाथाएँ भिन्न हैं और साथ में ही यह भी उल्लेखनीय है कि आगे १४० में जो गाथा उद्धृत है वह भी जी० स० में गाथा ७३ से आगे यथा क्रम पाई जाती है । मध्यकी केवल इन तीन गाथाओंमें ही भेद होनेका कारण समझमें नहीं आता ।

काय मार्गणामें ग्यारह गाथाएं उद्धृत हैं ये गाथाएं भी जीव समासमें हैं केवल उनके क्रममें अन्तर है । धवलामें उद्धृत गाथा १४४ का नम्बर जी० स० में ८७ है । १४५ से १४८ तक एक साथ उद्धृत गाथाओं की क्रमसख्या जी० स० में ८२ से ८५ तक है । और १४९ से १५३ नम्बर तक उद्धृत गाथाओंकी सख्या जी० स० में ७७ से ७८ तक यथाक्रम है । योग मार्गणामें १२ गाथाएं उद्धृत हैं । उनमें अन्तिम गाथाको छोड़कर, जो धवलामें प्रथम उद्धृत हैं, शेष गाथाएँ जी० स० में यथाक्रम पाई जाती हैं । उनमेंसे केवल तीन गाथाओंके प्रथम चरणमें पाठभेद है—ओरालिय मुत्तत्थं, । ‘वेउन्विय मुत्तत्थं’ और ‘आहारय मुत्तत्थं’ इन तीन प्रथम चरणोंके स्थानमें जीवसमास में ‘अतोमुहुत्त मज्झं’ पाठ पाया जाता है । इस मार्गणामें दो गाथा और भी उद्धृत हैं जो जी० स० में पाई जाती हैं ।

वेद मार्गणामें चार गाथायें उद्धृत हैं चारों यथाक्रमसे जी० स० में वर्तमान हैं । किन्तु कसाय मार्गणामें उद्धृत गाथाओंकी स्थिति इन्द्रिय मार्गणामें तुल्य है । दोनो की चार गाथाओंमें अन्तर पाया जाता है ।

धवला में उद्धृत वे चार गाथाएँ इस प्रकार हैं—

सिल पुढवीभेद धूली जलराईसमाणओ हवे कोहो ।
णारय-तिरिय-णरामर-गईसु उप्पायओ कमसो ॥१७४॥

सेलट्ठि कट्ठिवेत्तो णियभेएणणु हरतओ माणो ।
 णारय तिरय णारमरगईसु उप्पायओ कमसो ॥१७५॥
 वेळुवमूलोरब्भयसिगे गोमुत्तेएण खोरप्पे ।
 सरिसी माया णारयतिरियणारमरेसु जणइ जिअ ॥१७६॥
 किमिराय चक्क तणु मल हरिदराएण सरिसओ लोहो ।
 णारय तिरिक्ख-माणुस देवसुप्पायओ कमसो ॥१७७॥

—(पृ० ३५०)

जी० स० (पं० स०) में ये गाथाए इस प्रकार हैं—

सिलभेय पुढविभेया धूलीराई य उदयराइसमा ।
 णिर तिरि णर देवरा उर्विति जीवा हु कोहवसा ॥११२॥
 सेलसमो अट्ठिसमो दारुसमो तह य जाण वेत्तासमो ।
 णिर-तिरि-णर देवत्ता उर्विति जीवा हु माणवसा ॥११३॥
 वसीमूल मेसस्स सिग गोमुत्ताय च (खोरप्प) ।
 णिर-तिरि-णर-देवत्ता उर्विति जीवा हु मायवसा ॥११४॥
 किमिराय चक्क मल कट्ठमो य तह चैय जाण हारिद् ।
 णिर-तिरि-णर-देवत्ता उर्विति जीवा हु लोहवसा ॥११५॥

यहाँ भी आगे की गाथा दोनोंमें समान है ।

ज्ञानमार्गणामें ८ गाथाएँ उद्धृत हैं जो जी० स० में यथाक्रम हैं । संयम मार्गणामें उद्धृत ८ गाथाएँ भी जी० स० में यथाक्रम हैं । मध्यकी केवल एक गाथा समयमासयमवाली ऐसी है जो धवलामें छोड़ दी गई है । दर्शन मार्गणा में उद्धृत तीन गाथाएँ भी जी० स० में यथाक्रम हैं । लेख्या मार्गणामें उद्धृत दस गाथायें भी जी० स० में यथाक्रम हैं । किन्तु सम्यक्त्व मार्गणामें उद्धृत पाच गाथाओंमें से जी० स० में शुरु की तीन गाथायें तो यथाक्रम हैं अन्तकी दो गाथाओंमें से उपशम सम्यक्त्व का स्वरूप बतलाने वाली गाथा भी जी० स० में है किन्तु वेदकसम्यक्त्ववाली गाथा नहीं है उसके स्थान में अन्य गाथा है । इस तरह सत्प्ररूपणा सूत्रो की धवला टीका में उद्धृत बहुत-सी गाथायें पंचसग्रह के प्रथम अधिकारमें वर्तमान हैं केवल उक्त गाथाओं की स्थिति चिन्त्य है । जीव समास अधिकारमें गाथा १८२ तक बीस प्ररूपणाओका कथन समाप्त हो जाता है । यहाँ तकका कथन क्रमबद्ध और व्यवस्थित है । किन्तु आगेका कथन वैसा व्यवस्थित नहीं है । १८२ वी गाथामें बीस प्ररूपणाओंके कथन का उपसहार करनेके पश्चात् पुन लेख्याओका वर्णन प्रारम्भ हो जाता है । यह कथन दस गाथाओंमें है । इसमें जीवोके गतिके अनुसार द्रव्यलेख्या और भावलेख्याका कथन

किया है। यह कथन लेख्या मार्गणामें ही होना चाहिए था सस्कृत पं० स० में ऐसा ही किया गया है।

लेख्याओ का कथन समाप्त होने के बाद सिद्धान्त की फुटकर विशेष बातोंका सग्रह है—जिनमें बतलाया है कि सम्यग्दृष्टि कहा-कहा उत्पन्न नहीं होता। कौन संयम किस किस गुणस्थानमें होता है? फिर सात समुद्धातों का कथन है। केवलिसमुद्धात का कथन करते हुए एक गाथामें कहा है कि छै मास आयु शेष रहने पर जिन्हें केवलज्ञान होता है वे केवली नियमसे समुद्धात करते हैं। शेषके लिये कोई नियम नहीं है। यह गाथा इस प्रकार है—

छम्मासाउगसेसे उप्पन्न जेसि केवल णराण ।

ते णियमा समुग्घायं सेसेसु हवति भयणिज्जा ॥ २०० ॥

यह गाथा धवलामें इस रूपमें उद्धृत है—

छम्मासाउवसेसे उप्पण्ण जस्स केवल णाणं ।

स समुग्घाओ सिज्झइ सेसा भज्जा समुग्घाए ॥

(पट् पु० १, पु० ३०३)

भगवती आराधनामें यह गाथा इस रूपमें पाई जाती है—

उक्कस्सएण छम्मासाउगसेसम्मि केवली जादा ।

वच्चति समुग्घाय सेसा भज्जा समुग्घादे ॥ २१०९ ॥

गाथा के इन रूपों को देखते हुए यह कहना तो शक्य नहीं है कि धवलाकारने उक्त गाथा उसी जीव समास से उद्धृत की है या भ० आराधना से। किन्तु इसी सम्बन्ध में उन्होंने एक गाथा और उद्धृत की है जो भ० आराधनाकी २११० वी गाथा^१ है यद्यपि उसमें भी पाठ भेद है। अतः संभव है उन्होंने उक्त दोनों गाथा भ० आराधना से ही ली हो। किन्तु वीरसेन^२ स्वामी ने इन दोनों गाथाओं को आगम नहीं माना है। जब कि जीव समास से उद्धृत गाथा का आर्ष कहकर उल्लेख किया है और तत्त्वार्थ सूत्र से भी उसे प्रथम स्थान दिया है।

वह उद्धरण इस प्रकार है—

‘के ते एकेन्द्रिया ? पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः । एतेषा स्पर्शनमेकमेवे-

१ ‘जेसिं आउ समाइ णामा गोदाणि वेयणीय च । ते अकय समुग्घाया वज्जतिपरे समुग्घाए ॥’ ‘जेसिं आउसमाइ’ णामगोदाइ वेदणीय च । ते अकद समुग्घादा जिणा उवणमसति सलेमि ॥ २११० ॥

२. एतयोर्गाथयोरगमत्वेन निर्णयभावात् । भावेवाऽस्तु गाथयोरिवोपादानम् ।—पट्.

न्द्रियमस्ति न शेषाणीति कथमवगम्यते ? इति चेन्न, स्पर्शनेन्द्रियवन्त एते इति प्रतिपादककार्योपलम्भात् । वत्र तत्सूत्रमिति चेत् कथ्यते—

‘जाणदि पस्सदि भुंजदि सेवदि पस्सिदिएण एक्केण ।

कुणदि य तस्सामित्थावर एद्दिओ तेण ॥१३५॥

‘वनस्पत्यन्तानामेकम्’ इति तत्त्वार्थसूत्राद्वा— (षट्ख, पु० १, पृ० २३९) ।

शका— वे एकेन्द्रिय जीव कौन से हैं ?

समाधान—पृथिवी, जल, अग्नि वायु और वनस्पति ।

शका—इन पाचों के एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है, शेष इन्द्रिया नहीं होती यह कैसे जाना ?

समाधान—पृथिवी आदि जीव एक स्पर्शन इन्द्रिय वाले ही होते हैं, इस प्रकार का कथन करनेवाला आर्षवचन पाया जाता है ?

शका—वह सूत्र रूप आर्ष वचन कहाँ है ?

समाधान—उसे कहते हैं—‘वयोकि स्थावर जीव एक स्पर्शन इन्द्रियके द्वारा ही जानता है देखता है, खाता है, सेवन करता है और उसका स्वामीपना करता है इसलिये उसे स्थावर एकेन्द्रिय कहते हैं ।

अथवा ‘वनस्पत्यन्तानामेकम्’ तत्त्वार्थ सूत्र के इस वचनसे जाना जाता है कि उनके एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है ।’

उक्त आर्ष रूपसे उद्धृत गाथा जीव समासकी ६९वीं गाथा है । अतः जीव समासका वीरसेन स्वामीके चित्तमें बहुत आदर था, यह स्पष्ट है । चूँकि जीव-समास नामका अन्य कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है और न उसके अस्तित्वका ही कोई सकेत मिलता है, अतः यही मानना पड़ता है, कि वीर सेन स्वामीके द्वारा प्रमाण रूप से उद्धृत जीव समास पंच सग्रह के अन्तर्गत जीव समास नामक अधिकार ही होना चाहिये ।

श्वेताम्बर साहित्य में जीव^१ समास प्रकरण नामका एक गाथाबद्ध प्राचीन ग्रन्थ है जिसका सकलन इसके एक^२ उल्लेख के अनुसार दृष्टिवाद अग से किया गया है । चूँकि पञ्चसग्रह एक सग्रहात्मक ग्रन्थ है अतः हमें सन्देह हुआ कि जीव समास नामक अधिकार कहीं उसका तो ऋणी नहीं है किन्तु दोनों-का मिलान करने पर हमारा सन्देह ठीक नहीं निकला । यद्यपि यत्र तत्र कुछ

१ श्री जीवसमास प्रकरण मलधारी हेमचन्द्र रचित वृत्ति के साथ आगमोदय समितिसे प्रकाशित हो चुका है ।

२. बहुभग दिट्ठीवाप दिट्ठत्थाणं जिणोवइट्ठाण । धारण पत्तट्ठो पुण जीवसमासत्थ उव उत्तो ॥२८५॥—जी० सं० ।

गाथाएँ ऐसी हैं जो दोनों में पायी जाती हैं—चौदह गुण स्थानों की नाम सूचक दो गाथाएँ, जिनकी सख्या द्वा० जी० स० में ८-९ और दि० जी० स० में ४-५ हैं, पर्याप्ति के नामादि बतलानेवाली गाथा, जिमकी प्रमगंख्या द्वा० जी० स० में २५ और दि० जी० स० में ४४ है, 'मुलम पोरवीया' इत्यादि गाथा । दो एक गाथाओंका केवल पूर्वार्ग दोनों में समान है । इनके मिवाय और कोई ऐसी बात नहीं मिलती जिमके आधार पर कहा जा सके कि एक का दूसरे पर प्रभाव है । दोनोंका विषय वर्णन आदि स्वतन्त्र है । हा, नामसाम्य अवश्य है ।

फिर भी यह बात नहीं भुलाई जा सकती कि पंच सग्रह एक सग्रहात्मक ग्रंथ है । और जीव समास अधिकार भी उससे अछूता नहीं है ।

ऊपर जो एक गाथा 'छम्मासाउग मेसे' उद्धृत की गयी है, जो कि भगवती आराधना में भी है और जिमके वीरगेन स्वागीने आगमरूप होनेमें सन्देह किया है, उसकी स्थिति सन्देह कारक है क्योंकि जिमके मन्त्रोंको वह आर्प रूपमें उपस्थित करें उसमें ही एक ऐसी गाथा पाया जाना, जिमके आगमरूप होनेमें सन्देह है, इस जीव समास की स्थिति में सन्देह उत्पन्न करता है । सम्भव है उसका सग्रह भगवती आ० से ही सग्रहकार ने किया हो क्योंकि उससे आगेकी एक गाथाको छोड़कर तीन गाथाएँ कमायपाहुणकी हैं जो इन प्रकार हैं—

‘दसणमोहवखवणापट्टवगो कम्मभूमिजादो य ।

णियमा मणुमर्गए णिट्टवगो चावि सव्वत्थ ॥२०२॥

खवणाए पट्टवगो जम्मि भवे णियमदो तदो अन्ते ।

णादिवकदि तिण्णि भव दसणमोहम्मि खीणम्मि ॥२०३॥

दसणमोहस्सुवसामगो दु चउसुवि गर्हसु वोहव्वो ।

पच्चिदिओ य सण्णी णियमा सो होइ पज्जत्तो ॥२०४॥

इसी तरह और भी कुछ गाथाएँ संगृहीत हो सकती हैं ।

पंच सग्रहके दूसरे अधिकार का नाम प्रकृति समुत्कीर्तन है । इसकी पहली गाथा में भी जीव समासकी तरह ही मंगलपूर्वक प्रकृति समुत्कीर्तनको कहनेकी प्रतिज्ञा की गई है । इसमें १२ गाथाएँ और कुछ प्राकृत गद्य हैं । जैसा इसके नाम से व्यक्त होता है इस अधिकार में आठों कर्मों के नाम और उनकी प्रकृतियोंका कथन है ।

आठों कर्मोंके नामोंको बतलानेवाली गाथा उनकी प्रकृतियोंकी सख्या सूचक गाथा कर्मस्त्वमें वर्तमान है । तीसरे अधिकारमें कर्मस्त्वकी बहुत-सी गाथाएँ हैं, अतः मानना पड़ता है कि ये दोनों गाथाएँ भी उसीकी हो सकती हैं । कर्मोंकी

प्रकृतियोंकी गणना गद्यमें है वह गद्य षट्खण्डागम प्रथम खण्ड जीवद्वाणकी चूलिका-के अन्तर्गत प्रकृति समुत्कीर्तन अधिकारके सूत्रोंसे बिल्कुल मिलती है। मेल और अन्तरको स्पष्ट करनेके लिए थोड़ा-सा नमूना दे देना पर्याप्त होगा।

‘णाणावरणीयस्स कम्मस्स पंच पयडीओ ॥१३॥ आभिणिवोहियणाणावरणीयं सुदणाणावरणीयं ओहिणाणावरणीयं मणपज्जवणाणावरणीयं केवलणाणावरणीयं चेदि ॥१४॥—(षट्खे० पु०, ६ पृ० १४-१५)

‘जं णाणावरणीय कम्मं त पंचविह’। आगे ऊपर की तरह ही है, इसी प्रकार आठों कर्मों में समझना चाहिये। इस अधिकारका नाम भी चूलिकाके ‘प्रकृति समुत्कीर्तन’ नामका ही ऋणी है। अतः यह दूसरा अधिकार चूलिका के प्रकृति समुत्कीर्तन अधिकार के आधार पर ही रचा गया प्रतीत होता है।

गद्यात्मक सूत्रोंमें आठों कर्मोंकी प्रकृतियोंको बतलानेके बाद कुछ गाथाएँ आती हैं, उनमें बघ प्रकृतियोंकी और उदय प्रकृतियोंकी संख्या बतलाते हुए उद्वेलन प्रकृतियोंकी और ध्रुवबन्धी तथा अध्रुवबन्धी प्रकृतियों को गिनाया है।

तीसरे अधिकारका नाम बन्धोदय सत्ताधिकार है। पहली गाथा में जिनेन्द्र-देवको नमस्कार करके ‘बन्धोदय सत्त्व’ को कहनेकी प्रतिज्ञा की गई है। संस्कृत पंच संग्रहमें इस अधिकारका नाम ‘कर्मबन्धस्तव’ है। यथा—‘कर्मबन्धस्तवाख्य तृतीय’ परिच्छेद १। पहले ‘कर्मस्तव’ नामक जिस प्रकरण ग्रन्थका परिचय करा आये हैं उसकी ५५ गाथाओंमें से २३ गाथाएँ इस अधिकारमें प्रायः ज्योकी त्यों उपलब्ध होती हैं। इस अधिकारकी गाथा संख्या ७७ है उनमेंसे ५३ गाथाएँ कर्मस्तवकी हैं। उन्हें मुद्रित प्रतिमें मूल गाथा कहा है। पंचसंग्रहके इस अधिकारकी तथा कर्मस्तवकी पहली गाथा एक ही है। अतः कर्मस्तवका भी मूल नाम ‘बन्धोदय सत्त्वयुवत स्तव’ ही है। किन्तु यह कर्मस्तवके नामसे ही प्रसिद्ध है। मूल कर्मस्तवमें ५५ गाथाएँ हैं। उसमेंसे ५३ गाथाएँ कुछ व्यतिक्रमसे इस पंच संग्रहके तीसरे अधिकारमें हैं। इस तीसरे अधिकारकी गाथा संख्या ६४ है। उसके बाद चूलिका अधिकार है उसमें १३ गाथाएँ हैं। इस तरह सब ७७ गाथाएँ हैं। मूल कर्मस्तवकी ५३ गाथाएँ ६४ में गणित हैं, चूलिकामें नहीं।

पंच संग्रहके इस अधिकार की जो गाथाएँ कर्मस्तव में नहीं हैं या व्यतिक्रमसे हैं उन पर प्रकाश डालना उचित होगा।

इस अधिकारका नाम बन्धोदय सत्त्व युक्त स्तव होनेका कारण यह है कि इसमें कर्मोंके बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्त्वका कथन किया गया है। अतः पंच संग्रहमें पहले तो बन्ध उदय, उदीरणा और सत्ताका लक्षण वा स्वरूप कहा है। फिर गुणस्थानोंमें आठों मूल कर्मोंके बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ताका कथन किया है। यह कथन २ से ८ तक ७ गाथाओं में है। कर्म स्तवमें यह कथन नहीं है अतः

उसमें उक्त गाथाएँ नहीं हैं। कर्मस्तव की २, ३ गाथाका नम्बर इसी से इस अधिकारमें ९-१० है। इन दोनों गाथाओंमें प्रत्येक गुण स्थानमें वन्धमे व्युच्छिन्न होने वाली कर्मप्रकृतियोंकी सख्या बतलाई है।

गाथा ११-१२ कर्मस्तवमे नहीं हैं। इन गाथाओंमें कहा है कि तीर्थक्षुर और आहारवाद्धिक को छोड़कर शेष कर्मप्रकृतियोंका वन्ध मिथ्यादृष्टिके होता है।

कर्मस्तवमें गुणस्थानों में कर्मोंकी वन्धव्युच्छित्ति, उदयव्युच्छित्ति, उदीरणा-व्युच्छित्ति और सत्त्वव्युच्छित्तिको बतलाने वाली गाथाओंको, जिनकी क्रमसख्या २ से ८ तक है, एक साथ कहकर पीछे क्रमवार वन्धादिका कथन किया है और पं स के इस अधिकार में वन्धव्युच्छित्ति दर्शक गाथाओं को वन्ध प्रकरणके आदि में, उदय-उदीरणा व्युच्छित्ति दर्शक गाथाओं को उदय-उदीरणा प्रकरण के आदि में और सत्त्वव्युच्छित्ति दर्शक गाथाओं को सत्त्व प्रकरण के आदिमें दिया है। इसी से इस अधिकारमें कर्मस्तवकी गा० २, ३ की क्रम सख्या ९-१०, ४ की क्रम सं० २७, ५ की ४८ और ६-७, ८ की क्रम सख्या ४९, ५०, ५१ हो गई है जो बतलाती है कि इस अधिकारमें १३ से २६ गाथा तक वन्धका, २७ से ४३ गाथा तक उदयका, ४४ से ४८ तक उदीरणाका और ४९ से ६३ तक सत्ता का कथन है। ६४वीं गाथा जो कि कर्मस्तवकी अन्तिम गाथा है, मगलात्मक है। इस गाथाके पश्चात् इस अधिकार में १३ गाथाएँ और हैं। उनमें यह बतलाया है कि उदय व्युच्छित्तिसे पहले जिनकी वन्ध व्युच्छित्ति होती है, उदय व्युच्छित्तिके पश्चात् जिनकी वन्ध व्युच्छित्ति होती है और उदय व्युच्छित्तिके साथ जिनकी वन्धव्युच्छित्ति होती है, ऐसी प्रकृतियाँ कौनसी हैं। इसी तरह स्वोदयवन्धी, परोदयवन्धी, उभयवन्धी, निरन्तरवन्धी, सान्तर वन्धी और उभयवन्धी प्रकृतियाँ कौनसी हैं, इन नौ प्रश्नों का समाधान किया गया है।

चौथे अधिकारका नाम शतक है जबकि इस अधिकारकी गाथा सख्या ४२२ है। इस नाम का कारण यह प्रतीत होता है कि इस अधिकारमें वन्ध शतक नामक ग्रंथ समाविष्ट है। उसकी प्रथम गाथा इसकी तीसरी गाथा है। उससे पहले दो गाथाएँ और हैं जिनमें से प्रथम गाथामें वीर भगवानको नमस्कार करके श्रुतज्ञान से 'पद' कहने की प्रतिज्ञा की गयी है। वन्ध शतकका विषय परिचय पहले करा आये है अतः उससे इसमें जो विशेष कथन है उसे ही बतलाया जाता है।

वन्ध शतककी गाथा २ से ५ तक इसमें यथाक्रम दी गयी है। ५ वीं गाथा में कहा है कि तिर्यञ्च गतिमें चौदहो जीव समास होते हैं और शेष गतियों में दो दो जीव समास होते हैं। इस प्रकार मार्गणाओं में जीव समास जान लेने चाहिए। पञ्चसग्रहके कतनि १२ गाथाओंके द्वारा चौदह मार्गणाओं में जीव समासोंका

विवेचन किया है। तत्पश्चात् वं० श० की छठी गाथा दी गयी है। उसमें जीव-समासोंमें उपयोगका कथन है। पञ्चसग्रहकारने उसके पश्चात् १९ गाथाओं के द्वारा मार्गणाओंमें उपयोगका कथन किया है और समाप्ति पर लिखा है—
'एवं मगणासु उवओगा समप्ता ।'

पश्चात् व० श० की ७ वी गाथा आती है उसमें जीवसमासमें योगका कथन किया है। इस गाथा में थोड़ा-सा अन्तर है। व० श० में 'पन्नरस' पाठ है और प० स० में 'चउदस'। बन्धशतकके अनुसार पर्याप्त सज्ञी पचोन्द्रियके पन्द्रह योग होते हैं और प०^१ स० के अनुसार चौदह अर्थात् वैक्रियिक मिश्रकाय योग सज्ञी पर्याप्तक के नहीं होता। किन्तु दोनों स० प० स० में सज्ञी पर्याप्तकके पन्द्रह योग बतलाये हैं।

इस विषयमें जो बात ऐतिहासिक दृष्टिसे उल्लेखनीय है उसका कथन पञ्चसग्रहके कालका विवेचन करते समय करेंगे।

पञ्चसग्रहकारने व० श० की ७वी गाथाके अर्थका स्पष्टीकरण दो गाथाओंसे करके आगे ग्यारह गाथाओंसे (गा० ४४-५४) मार्गणाओंमें योगका कथन किया है।

पञ्च सग्रहमें बन्धशतक की ८-९वी गाथाका नम्बर ५५-५६ है। इनके द्वारा मार्गणाओंमें योगोंके वर्णनकी समाप्तिकी सूचना है। किन्तु इससे स्पष्ट है कि बन्धशतककी गाथा ८ के पूर्वार्ध को पञ्चसग्रहकारने अपने अनुसार परिवर्तित किया है। व० श० में पाठ है—'उवओगा जोगविही जीवसमासेसु वन्निया एव'। और प० स० में है—'उवओगो जोगविही मगणजीवेसु वाणिया एव'। इस परिवर्तनका कारण यह है कि व० श० में उपयोग और योगका कथन केवल जीवसमासमें किया है किन्तु पञ्चसग्रहमें जीवसमास और मार्गणाओंमें कथन किया है। अतः तदनुकूल परिवर्तन किया गया है। आगे पं० स० में गाथा ५७ से ७० तक मार्गणाओंमें गुणस्थान का कथन है।

पुन वं० श० की ग्यारहवी गाथा आती है। इसमें गुणस्थानोंमें उपयोगका कथन है। प० स० में दो गाथाओंके द्वारा इसका व्याख्यान किया गया है। इसके पश्चात् व० श० की बारहवी गाथा है इसमें गुणस्थानोंमें योगका कथन है। इसका व्याख्यान भी प० स० में दो गाथाओंके द्वारा किया गया है।

१—'सण्णि अपज्जत्तेसु वेउव्वियमिस्सकायजोगो दु। सण्णीसु पुण्णेसु चउदस जोथा मुणे-
यव्वा ॥४२॥ प० स० पृ० ४।

२—'द्वौ चतुर्षु नवस्वेक' समप्ता सन्ति सज्जिनि। नवस्वथ चतुर्ष्वेकस्मिन्नेको द्वौ तिथि
प्रमा। सं० प० स०, पृ० ८।

बन्धशतक की १३ वीं गाथा में गुणस्थानो में मोक्षावा कथन किया है जो मतान्तर से सम्बन्ध रखता है। यह गाथा पंचमग्रह में नहीं है। और उनमें जो मत प्रदर्शित है वह भी दिग्भ्रम गाहित्य में नहीं मिलता।

तत्पश्चात् व० श० की गा० १४ व १५ आती है उनमें गुणस्थानो में बन्ध के कारणों का निर्देश किया गया है। बन्ध के चार कारण हैं—मिथ्यात्व, अत्रि रति कर्माय गोग और उनके भेद है क्रमसे ५ + १२ + २५ + १५ = ५७। गुणस्थान, और मार्गणाओ में इन गत्तावन उत्तरगारणोंका पञ्चमग्रहमें बहुत विस्तार से तथा कई प्रकारसे कथन किया है। उग कथन पर्यन्त ज्ञतकागिनार की गाथा गरया २०३ हो जाती है। गाथा संख्या २०४ में व०श० की १६ वीं आदि गाथा आती है इनमें ज्ञानाग्न्यादि आठों कर्मोंके आन्वय के विशेष कारण बतलाये हैं। यह कारण प्रायः ये ही हैं जो तत्त्वार्थसूत्रके छठे अध्याय में बतलाये हैं। बन्धशतककी दस गाथाओं में इनका कथन है और वे दसों गाथाएँ पंचमग्रह में यथाक्रम दी गयी हैं। उनके पश्चात् दो गाथा और हैं उनमें बतलाया है यह कथन अनुभाग बन्धकी अपेक्षा में है।

इनके पश्चात् बन्धशतककी २७ वीं गाथा आती है। गहामे बन्धशतकमें गुणस्थानो में आठों मूलकर्मोंके बन्ध, उश्य, उदीरणा और गत्ता का कथन है। यह कथन पचसग्रहके तीसरे अगिनार के प्रारम्भ में भी आता है और यहा भी है इस लिये पुनरुक्त जैमा हो जाता है।

बन्धशतक की २८वीं गाथा इन प्रकार है—

सत्तट्ठविहृष्ट (-विहृष्ट) वन्गावि वेगन्ति अट्ठग णियमा ।

एगविहृ बन्धगा पुण चत्तारि य सत्त वेयन्ति ॥२८॥

पचसग्रह में इसके स्थान पर जो गाथा है वह इस प्रकार है—

अट्ठविहृ सत्त छव्वन्धगा वि वेयन्ति अट्ठय णियमा ।

उवसत्त खीणमोहा मोहूणाणि य जिणा अधाईणि ॥२९॥

दोनों के अभिप्रायमें कोई अन्तर नहीं है।

इसी तरह बन्धशतककी २९ वीं गाथाका अन्तिम चरण है—‘तहेव सत्तेवुदीरिति’। और पचसग्रहमें इसके स्थानमें ‘मिस्सूणा सत्त आऊण पाठ है।

व० श० की ३० से ३६ तककी गाथाएँ पञ्चसग्रहमें यथाक्रम हैं। ३७ वीं गाथा में पाठान्तर है। व० श० गा० ३८ में आठों कर्मों के नाम और भेद

१ ‘अवसेसट्ठ विहृकरा वेयति उदीरयावि-अट्ठण्ट’। सत्तविहृगावि वेद ति अट्ठगमुहरणे

भज्जा ॥३७॥ व० श०

‘वधतिय वेयति य उदीरयति यअट्ठ अट्ठ अवसेसा । सत्तविहृवधगा पुणा अट्ठण्टमुदीरगे मज्जा’ ॥२०६॥—प० स० ।

गिनाये है ये दोनो गाथाएँ पञ्चसंग्रहके प्रकृति समुत्कीर्तन नामक दूसरे अधिकारमें आ गई हैं। इसमें इस अधिकारमें नहीं दी है। इसके पश्चात् वधके आदि, अनादि ध्रुव और अध्रुव भेदों का तथा अल्पतर, भुजकार, अवस्थित और अवक्तव्य भेदों का कथन है। ये कथन बन्ध शतकमें ४० से ४३ तक चार गाथाओंमें है।

४३ वी गाथामें कहा है कि दर्शनावरण कर्मके तीन बन्ध स्थान हैं, मोहनीय कर्मके दस बन्धस्थान हैं, और नामकर्मके आठ बन्धस्थान हैं। इन तीन कर्मोंमें ही भुजकारादिवन्ध होते हैं। शेष कर्मोंका तो एक ही बन्ध स्थान है। इस सागान्य कथनका पञ्चसंग्रहमें बहुत विस्तारसे कथन ६५ गाथाओं द्वारा दिया गया है।

पश्चात् व० श० में बन्धक का कथन गा० ४४ से ५० तक किया है। उसी-का विस्तृत कथन पञ्चसंग्रहमें है। व० श० गा० २१ में कहा है कि गत्यादि मार्गणाओंमें भी स्वामित्वका कथन कर लेना चाहिये। तदनुसार पञ्चसंग्रहमें गा० ३२५ से ३८९ तक उसका कथन किया है। उसके साथ ही प्रकृतिबन्धका कथन समाप्त हो जाता है। व० श० में गा० ५२ से ६४ तक स्थितिबन्धका कथन है। प० स० में यही कथन गा० ३९० से ४४० तक है। व० श० की गा० ५२-५३ में आठों मूलकर्मों की स्थिति बतलाई है। ये दोनो गाथाएँ पञ्चसंग्रहमें नहीं हैं। उनके स्थानमें दो भिन्न गाथाओंके द्वारा आठो कर्मों की स्थिति बतलाई है। शेष गाथाएँ पञ्चसंग्रहमें सम्मिलित हैं। व० श० में गाथा ६५ से ८६ तक अनुभाग बन्धका कथन है। प० स० गा० ४४१ से ४९२ तक अनुभागबन्धका कथन है जिसमें व० श० की उक्त गाथाएँ सम्मिलित हैं। केवल ७२ वी गाथा भिन्न है और ७३ वी गाथा के प्रथम चरणमें अन्तर है। मिलान से ऐसा प्रतीत होता कि इन गाथाओंमें कुछ हेरफेर किया गया है किन्तु अभिप्रायमें भेद नहीं है। व० श० की गाथा ८४ इस प्रकार है—

चदुपच्चएग मिच्छत्त सोलस दु पच्चया य पणतीसं ।

सेसा तिपच्चया खलु तित्थयराहारवज्जाओ ॥८४॥

प० स० में यह गाथा इस प्रकार है—

सायं चउपच्चइओ मिच्छो सोलह दु पच्चया पणवीस।

सेसा तिपच्चया खलु तित्थयराहारवज्जा दो ॥४८॥

बन्ध शतकमें दूसरे गुणस्थान तक बंधने वाली पच्चीस और चौथे गुणस्थान तक बंधनेवाली दस इन पैतीस प्रकृतियोंके बन्धका कारण मिथ्यात्व और अविरतिको बतलाया है और शेष प्रकृतियोंके बन्धके कारण मिथ्यात्व, अविरति, और कषाय को कहा है। किन्तु पञ्चसंग्रहमें केवल पच्चीसके ही बन्धका कारण मिथ्यात्व और अविरतिको बतलाया है और शेषके बन्धका कारण तीनोंको बतलाया है।

किन्तु जगमें मोक्ष मंदागति के भेद दृष्टिगोचर नहीं होता क्योंकि गुणस्थान तक अभिरक्षितों की प्रधानता है और अग्रायणों की प्रधानता है । इनो विषयोंमें न गतकमें पैसीमको दुप्रत्यय कहा है ।

व० प० गा० ८४-८५ में पञ्चम दिया है । प्रकृतिगोत्रा विनाया है और ८६ में भयतिपायी आदिहो । प० म० में ये लोग गाथाएँ हैं ।

आर्य प्रदेश वन्धका वर्णन है । इनमें जन्मशतकालों ८७ से लेकर १०७ तक सब गाथाएँ मन्त्राक्रम हैं । ८७ गाथाका नम्बर प० म० में ४१४ है और १०७ अन्तिम गाथा का न० ५१० है । इस तरह केवल आठ गाथाएँ इस प्रकरणमें अतिरिक्त हैं जिनमें वन्धकों का उल्लेख किया गया है । गाथा ९४ में अन्तर है ।

व० प० में 'आज्जवत्ता पदेसस्स पण मोहस्स मत्त ठाणाणि' पाठ है और प० म० में 'आज्जवत्ता पदेसस्स छत्ता मोहस्स पण उ ठाणाणि, पाठ है । वन्ध-शतकके अनुसार आयुर्कर्मका उत्कृष्ट प्रदेशवन्ध मित्रादृष्टि और चौथे गुणस्थानसे लेकर आतमें गुणस्थान पर्यन्त पाँच गुणस्थानगते जीव करते हैं । तथा मोहनीय कर्मका उत्कृष्ट प्रदेशवन्ध गाथादेन सम्पदृष्टि और सम्पदमिच्छादृष्टि गुणस्थान वाले जीवोंको छोड़कर दोष नाग गुणस्थानवाले जीव करते हैं । किन्तु पञ्चमग्रह के अनुसार आयुर्कर्मका उत्कृष्ट प्रदेशवन्ध दूसरे गुण स्थानमें होता है । अतः छह गुणस्थानवाले जीव आयुका उत्कृष्ट प्रदेशवन्ध करते हैं । और मोहनीय कर्मका उत्कृष्ट प्रदेशवन्ध पहलेसे लेकर नौ गुणस्थान पर्यन्त होता है ।

वन्धशतक' चूर्णमें 'अन्ने पठति' कहकर पचसग्रहवाले पाठका निर्देश किया है और उसे ठीक नहीं बतलाया । यह चतुर्थ प्रकरणकी स्थितिका चित्रण है । पचसग्रहमें इसका शतक नाम नहीं पाया जाता । किन्तु दोनों स० पञ्च संग्रहोंके अन्तमें 'शतकसमाप्तम्' आता है ।

सप्ततिका और पचसग्रह—

पंचसग्रहके पाँचवे अधिकारका नाम सत्तरि या सप्तति है । इस अधिकारके आदिकी गाथामें पचसग्रहकारने स्वयं उसका निर्देश किया है । तथा अभितगतने भी अपने संस्कृत पंच संग्रहमें पाँचवें अधिकारका नाम सप्तति दिया है । अतः इस अधिकारका उक्त नाम निर्वाह है ।

१. 'अन्ने पठति—'आज्जकोसस्सा पदेसस्स छत्ति' । मासणोवि उक्कोसं वतित्ति, त ण, मोहस्स सत्त ठाणाणि । अन्ने पठति—मोहस्स णव उ ठाणाणित्ति सासणसम्ममिच्छेहिं सत् । त ण सम्भवति ।'—प. ग. चू. ।

२. 'णमिऊणणिद्राण वरकेउल्लनिमुक्खपत्ताण । वोच्छा सत्तरिभग उवइत्थ वीरनाहेण ॥१॥

३. नत्ताहमहंतो भक्त्या धातिरुल्लपवातिन' । स्वशक्त्या सप्ततिवद्वये वधभेदावबुद्धये ॥३७६॥ स० प० सं० ।

जैसे चौथे अधिकार में पंचसग्रहकारने शतक ग्रन्थका सग्रह किया है और उसीके कारण अधिकारका नाम शतक रखा है। वैसे ही पाँचवें अधिकारमें सित्तरी अथवा सप्तिका नामक प्रकरणका सग्रह है और उसीसे इस अधिकारका नाम सत्तरि या सप्तति रखा गया है। सित्तरी ग्रन्थका परिचयादि पहले लिख आये हैं। जो विषय सित्तरीका है वही इस पाचवें अधिकारका है। इस पाँचवे-अधिकारमें मंगलाचरणके पश्चात् सित्तरीके आदिकी पाँच गाथाएँ यथाक्रमसे दी हुई हैं। उनके पश्चात् एक गाथा इस प्रकार आती है।

मूलपयडीसु एव अत्योगाढेण जिह विही भणिया ।

उत्तर पयडीसु एव जहाविहि जाण वोच्छामि ॥७॥

इसमें कहा है कि मूलप्रकृतियोंमें कथनकर दिया अब उत्तर प्रकृतियोंमें कहते हैं। इसके पश्चात् सि० की छठी गाथा आती है। उसमें ज्ञानावरण और अन्तराय कर्मके बन्ध स्थान, उदय स्थान और-सत्त्वस्थान पंचप्रकृति रूप कहे हैं। आगे दर्शनावरणीय कर्मके बन्धादिका कथन है। किन्तु सित्तरीकी-दर्शनावरण कर्मके कथन सम्बन्धी गाथाएँ पञ्चसग्रहमें नहीं हैं। उनके स्थानमें पंचसग्रहकारने अपनी स्वतंत्र गाथाएँ रची हैं। इसका कारण शायद यह प्रतीत होता है कि सप्ततिकामें क्षीण कषायमें निद्रा प्रचलाका उदय नहीं माना है। किन्तु दिगम्बर परम्परामें माना गया है।

स्वे० पंचसग्रहमें दोनो मतोंको स्थान दिया गया है। सित्तरीमें वेदनीय गोत्र और आयुर्कर्मके भगोका कथन नहीं है किन्तु पंचसग्रहकारने उनका कथन किया है। आगे मोहनीय कर्मका कथन है और उसका आरम्भ सित्तरीकी दसवी गाथासे होता है। उसकी सख्या ५० स० में २५ है। दस से लेकर १६ तक सित्तरीकी गाथाएँ पंचसग्रहमें मिलती हैं। प्रत्येक गाथा का स्पष्टीकरण दो एक गाथाओंसे आवश्यकताके अनुसार किया गया है।

सित्तरीकी गाथा १७, १८, २०, २१, २२ पञ्चसग्रहमें नहीं है। मोहनीय कर्म सम्बन्धी कथनके उपसंहार परक २३ वी गाथा है। २४वी गाथासे नामकर्मके के बन्ध स्थानोका कथन आरम्भ होता है। ५० स० में इसकी सख्या ५२ है। सित्तरीकी उक्त गाथामें केवल नामकर्मके बन्धस्थानोको गिनाया है। पंचसग्रहमें उसका विवेचन ४५ गाथाओंके द्वारा किया है। यही कथन शतक नामा चौथे अधिकारमें भी है। अत यह कथन पुनरुक्त है। दोनो प्रकरणोंकी गाथाएँ भी एक ही हैं।

इसके पश्चात् सित्तरीकी २५ वी गाथा आती है। इसमें नामकर्मके उदय-स्थानोंका कथन है। मलयगिरिकी टीकामें इस गाथाका न० २६ है अत गणनामें एकका व्यतिक्रम हो गया है। २७-२८ वी गाथा जिनमें नामकर्मके उदय स्थानोंके

भग वतलाये है पचसग्रहमें नही है । गा० २१ है इसमें नामकर्मके सत्त्वस्थानोको वतलाया है । यह गा० शाब्दिक भेदको लिए हुए है । इसी तरह आगे ३० आदि सख्या वाली गाथाएँ पचसग्रहमें यथास्थान है ।

इस प्रकार नामकर्मके वन्धस्थान, उदयस्थान और सत्त्वस्थानके भेद तथा उनके सवेधका कथन करके जीव समास और गुणस्थानोके आश्रयमें कर्मों के उक्त स्थानोके स्वामियोका कथन किया है ।

उसमें सि० गा० ३५ में और पच सग्रहमें आगत इसी गाथामें कुछ अन्तर है जो मतभेदका सूचक है । सप्ततिकामे दर्शनावरण के भेद पर्याप्त सत्ती पचेन्द्रिय के ग्यारह वतलाये है और प० स० में १३ वतलाये है । इस अन्तरका कारण यह है कि सप्ततिकामें क्षीण कपायमें निद्रा प्रचला का उदय नही माना गया किन्तु पंचसग्रहमें माना गया है ।

गा० ३७-३८ प० स० में व्यतिक्रमसे है पहले ३८ वी है फिर ३७ वी है । तथा मित्तरीमे सत्तीके नामकर्मके दस सत्त्वस्थान कहे है किन्तु प० स० में ११ कहे है । इसलिए सितरी मे अट्ठ दसग पाठ है । प० स० में अट्ठट्ठमेयार' पाठ है ।

ऊपर यह लिखना हम भूल गये कि नामकर्मके सत्त्वस्थानको लेकर दोनो ग्रन्थोंमें मतभेद है—सित्तरीके अनुसार उनकी सख्या १२ है—१३, १२, ८९, ८८, ८६, ८०, ७९, ७८, ७६ ७५, १, और ८ प्रकृतिक । और प० स० में १३, १२, ११, १०, ८८, ८४, ८२, ८०, ७९, ७८, ७७, १० और ९ प्रकृतिक ।^१

जीव समासोंमें स्थानोका कथन करनेके पश्चात् गुणस्थानमें वन्धादिस्थानोका कथन है । किन्तु दर्शनावरण कर्मकी प्रकृतियोंके उदयको लेकर मतभेद होनेके कारण उस सम्बन्धी गाथाएँ पचसग्रहमें नही है ।

आगे सित्तरीकी ४२ से ४५ तक गाथाएँ लगातार है । सित्तरीमें कुछ अन्तर्भाष्यगाथाएँ है उसमें से भी एक दो गाथा प० स० में मिलती है । उक्त गाथाओंके व्याख्यानरूप मोहनीयके उदय स्थानोका वर्णन पचस०में बहुत विस्तारसे किया गया है ।

१. कर्म प्रकृतिमे नाम कर्मके सत्त्व स्थान इस प्रकार बताये हैं—

‘तिदुगसय छप्पचगतिगनउइ नउइ इगुण नउइ य । चउ तिगदुगाही गासी नव अट्ठ-
नामठाणाह । ११४॥१०३, १०२, ९६ ९५, ९३, ९०, ८९, ८४, ८३, ८२ ९, और
८ । वन्धन सवातत्ती अलग गणना करनेसे १० की सख्या बढ गई है । सि० चू मे
अण्णे करके इस मतको अमान्य किया है ।

फिर गुणस्थानोंमें मोहनीयके सत्त्व स्थानोंका कथन है, और उसके लिए सित्तरीकी गाथा ४८ पाई जाती है। इसमें भी मतभेद है। सित्तरीमें 'तिगमिस्ते' लिखकर मिश्रगुण स्थानमें मोहनीय कर्मके तीन सत्त्वस्थान बतलाये हैं, २८, २७ और २४ प्रकृतिक। किन्तु पचसग्रहमें 'युगमिस्ते' पाठ रखकर मिश्रमें ही दो सत्त्वस्थान बतलाये हैं २८ और २४ प्रकृतिक। यह सैद्धान्तिक मतभेद को सूचन करता है।

आगे गुणस्थानोंमें नाम कर्मके बन्धादि स्थानोंका कथन करनेके लिये सि० की गा० ४९-५० आती है। उनका विवेचन किया गया है।

आगे गति आदिमें नाम कर्मके बन्धादि स्थानोंका कथन करनेके लिए प० स० में सित० की गा० ५१ आती है। फिर इन्द्रिय मार्गणामें कथन करनेके लिये सि० की ५२ वी गा० पं० सं० में आती है। सित्तरीमें आगेकी मार्गणाओंमें कथन नहीं किया है किन्तु पचसग्रहमें किया है। उसके पश्चात् सि० की ५३ वी गाथा आती है जो उपसहार रूप है। आगे उदय और उदीरणाके स्वामियों में अन्तर बतलानेके लिये सित्तरीकी ५४, ५५, आई है। फिर गुणस्थानको आधार बनाकर कौन किन कर्मप्रकृतियोंका बन्ध करता है, इसका कथन सि० की गा० ५६, ५७, ५८, ५९, ६० के द्वारा प० स० में किया गया है।

आगे सि० की ६१ वी आदि गाथाओंसे गतियोंमें कर्मप्रकृतियोंकी सत्ता-असत्ता का विशेष कथन किया गया है। ६१से आगे ७२ पर्यन्त सब गाथाएँ प० स० में वर्तमान हैं और उनके साथ ही वह सम्पूर्ण होता है।

इस तरह इस अधिकारमें सित्तरीकी कतिपय गाथाओंके सिवाय शेष सभी गाथाएँ अन्तर्निहित हैं जिनमेंसे कुछमें पाठभेद भी पाया जाता है।

पंचसग्रहके उक्त परिशीलनसे तो यही प्रकट होता है कि उसमें ग्रन्थकारने षट्खण्डागम, कसायपाहुड, कर्मस्तव, शतक और सित्तरी इन पाँच ग्रन्थोंका सग्रह किया है। उनमेंसे अन्तके तीन ग्रन्थोंको एक तरह से पूरी तरह आत्मसात्कर लिया है, शेष दोका आवश्यकतानुसार साहाय्य लिया है।

किन्तु प० परमानन्दजीने अपने 'श्वेताम्बर कर्म साहित्य और दि० पचसग्रह' नामक दूसरे लेखमें उक्त कथनसे बिल्कुल विपरीत विचार व्यक्त किया था। उनका कहना है कि कर्मस्तव, शतक और सित्तरी नाम के जो प्रकरण पाये जाते हैं वे उक्त पचसग्रहसे संकलित किये हैं। इन तीनों ग्रन्थोंमें संकलित गाथाएँ पचसग्रहकी मूलभूत गाथाएँ और शेष व्याख्या रूप गाथाएँ भाष्य गाथाएँ हैं। किसीने मूलभूत गाथाओंको शतकादि नामोंसे पृथक् संकलित कर लिया है।

जो कुछ स्थिति है उसमें पंडितजीके उक्त कथनको सहसा भ्रान्त तो नहीं

कहा जा सकता, क्योंकि न तो पचसग्रहके ही कर्ताके सम्बन्धमें कुछ ज्ञात है और न कर्मस्तव, और सित्तरी के ही कर्ताका पता है। हाँ, शतकको चूर्णिकारने। शतक अथवा बन्धशतकका निर्देश मिलता है और वह शतक या बन्ध कृति, अवश्य बतलाया है और कर्मप्रकृति तथा उसकी चूर्णमें भी शिवशर्मसूरिकी शतक वही माना जाता है जिसकी ९४ गाथाएँ पचसग्रहके शतक नामक चतुर्थ अधिकारमें सगृहीत है साथ ही कर्मप्रकृतिके साथ शतक की तुलना करने पर वे दोनों एक ही आचार्यकी कृति नहीं प्रतीत होते और शतक एक सग्रह ग्रन्थ जैसा प्रतीत होता है। दोनों पक्षोंके अनुकूल और प्रतिकूल वातोंके होते हुए भी एक वातको नहीं भुलाया जा सकता कि पचसग्रहके चतुर्थ और पचम अधिकारका नाम शतक और सप्ततिका है। जिस प्रकरणमें सौ या उसके-आसपास गाथा सख्या हो उसे शतक और जिसमें सत्तर या उसके आस पास गाथा सख्या हो उसे सित्तरी कहा जाता है। किन्तु प स०के चतुर्थ और पचम अधिकारोंकी गाथा सख्या पाँच-पाँच सौ से भी कुछ अधिक है। ऐसी स्थितिमें समान सख्या होते हुए भी एक अधिकार का नाम शतक और दूसरेका नाम सित्तरी रखनेका कारण समझमें नहीं आता। उसके उत्तरमें यही कहा जा सकता है कि चतुर्थ अधिकारकी मूल गाथाओंका प्रमाण सौ के लगभग और पाचवें अधिकारकी मूल गाथाओंका परिमाण सत्तरके लगभग होनेसे उन अधिकारोंको शतक और सित्तरी नाम दिया गया। किन्तु इससे तो यही प्रमाणित होता है कि उक्त दोनों अधिकारोंके मूल शतक और सित्तरी नामक प्रकरण हैं अतः मूल विवाद इस बात पर रह जाता है कि वे दोनों प्रकरण भी उन पर भाष्य रचने वाले पचसग्रहकारकी ही कृति हैं या किसी दूसरे की कृति हैं ? इस विवादके समाधानके लिये हमें उक्त प्रकरणोंको ही देखना होगा।

प० सं० के प्रथम द्वितीय और तृतीय अधिकारके आदिमें ग्रन्थकारने केवल एक गाथाके द्वारा मगलपूर्वक विषयवर्णनकी प्रतिज्ञा करके प्रकृत विषयका प्रतिपादन प्रारम्भ कर दिया है और उन अधिकारोंके अन्तमें कोई उपसंहार तक नहीं किया। किन्तु चौथे अधिकारके आदिमें तीन गाथाएँ मगलरूपमें हैं। प्रथम गाथामें श्रुतज्ञानमें पद कहनेकी प्रतिज्ञा की गई है और तीसरी गाथामें जो शतककी प्रथम गाथा है दृष्टिवादमें कुछ गाथाओंको कहनेकी प्रतिज्ञा की गई है। पहले अधिकारोंका कथन दृष्टिवादके आधार पर नहीं किया गया और चौथेका कथन दृष्टिवादके आधार पर किया गया ऐसा भेद क्यों ? इस अधिकारके अन्तकी तीन गाथाओंमें ग्रन्थकारने अपने कथनको कर्मप्रवादरूपी श्रुतसमुद्रका निस्यन्द कहा है और लिखा है मुक्त अल्पमतिने यह बन्ध विधान नक्षेपसे रचा, विशेष निपुण उसे पूरा करके कथन करें।' अपनी कृतिके एक अवान्तर अधिकारके अन्तमें कोई ग्रन्थकार ऐसी बात नहीं कहता। यही बात पचम अधिकारमें भी पाई जाती है। किन्तु उसके

अन्तिम अधिकार होनेसे इस प्रकारका उपसहार उचित भी हो सकता है किन्तु बीचके केवल एक चतुर्थ अधिकारके अन्तमें इस प्रकारकी बात कहना, जो ग्रन्थकी समाप्ति के लिये ही उपयुक्त हो सकती है, इस बातको सूचित करती है कि शतक नामके किसी स्वतंत्र प्रकरणका सग्रह इस अधिकारमें किया गया है उसीके कारण अधिकारका नाम 'शतक' रखा गया है। और यही बात सित्तरीके सवधमें समझनी चाहिये। ऐसी स्थितिमें ये दोनों प्रकरण उस पचसग्रहकारके नहीं जान पड़ते जिसने पचसग्रहके आदिके तीन अध्याय रचे थे, क्योंकि उनमें नकही दृष्टि-वादका उल्लेख है और न अपनेको मन्दमति बतलाकर उसके सशोधनादिकी बात कही गई है।

प० फूलचन्द्रजी सिद्धातशास्त्रीने श्वे० सित्तरीके अपने अनुवादकी भूमिकामें^१ एक बात कही है कि शतक और सित्तरी की अन्तिम गाथाओंमें कुछ साम्य प्रतीत होता है। यथा—

बोच्छ पुण सखेव णीसद दिट्ठीवादस्स ॥१॥ सित्त०
कम्मप्पवायसुयसागरस्स णिस्सदमेत्ताओ ॥१०४॥ शतक

× × ×

जो जत्थ अपडिपुण्णो अत्थो अप्पागमेण बद्धोत्ति ।
त खमिऊण बहुसुया पूरेऊण परिकहतु ॥७२॥—सप्त०

बधविहाण समासो रइओ अप्पसुयमदमइणावि ।
त बधमोक्खणिउणा पूरेऊण परिकहेत्ति ॥१०५॥—शतक

प०जी का कहना है कि 'इनमें 'णीसद' अप्पणम, अप्पसुयमदमइ, 'पूरेऊणं परिकहतु' ये पद ध्यान देने योग्य हैं। ऐसा साम्य उन्हीं ग्रन्थोंमें देखनेको मिलता है जो या तो एककर्तृक हों या एक दूसरेके आधारसे लिखे गये हों। बहुत संभव है कि शतक और सप्ततिकाके कर्ता एक हों।

उक्त साम्यके आधार पर पण्डितजीकी उक्त सभावना अनुचित तो नहीं कही जा सकती। किंतु शतकको कर्मप्रकृतिकारकी कृति माना जाता है और कर्म-प्रकृति तथा सित्तरीके कथनोंमें मतभेद है। अतः कर्मप्रकृतिकारकी कृति तो सित्तरी नहीं हो सकती। यदि शतक कर्मप्रकृतिकारकी कृति नहीं है जैसा कि सदेह प्रकट किया गया है तो शतक और सित्तरी एक व्यक्ति की भी कृति हो सकते हैं, क्योंकि दोनोंमें कोई मतभेद दृष्टिगोचर नहीं हुआ। किंतु इस सम्बन्धमें विशेष प्रमाणोंके अभावमें कोई निर्णय कर सकना शक्य नहीं है।

पचसंग्रहकी स्थिति पर विचार करनेके लिए एक बात और भी उल्लेखनीय है। और यह है उगमे पुनरुत्पत्ति गाथाओका होना और उनकी गंख्या भी कम नहीं है। इस दृष्टिसे शतक नामक चौथा अधिकार उल्लेखनीय है जिसकी गाथाएँ तीसरे और पाँचवे अधिकारमें पाई जाती हैं। इस पुनरुत्पत्तिका कारण है कि जो कथन चौथे में आया है वह तीसरे और पाँचवेंमें भी आया है। और उसके आनेका कारण यह है कि कर्मस्तव और बन्धशतकमें तथा शतक और सित्तरीमें कुछ कथन समान हैं।

कर्मस्तवकी गा० १३ आदिमें बन्धव्युच्छित्तिका कथन है और उधर शतककी गाथा ४६में बन्धव्युच्छित्तिका कथन है, उसको आधार बनाकर पंचसंग्रहकारने तीसरे अधिकारकी बन्धव्युच्छित्तिवाली गाथाएँ चौथे अधिकारमें भी लाकर रख दी हैं।

उधर शतककी गा० ४२-४३ में कर्मोंके बन्धस्थानोंका कथन है। उसके भाष्यरूप में पचसंग्रहकारने बहुत सा कथन किया है। उधर सप्ततिका २४में भी यही कथन होनेसे पचसंग्रहकारने उनके व्याख्या रूपसे चौथे अधिकारकी गाथा पाँचवे अधिकारमें लाकर रख दी है। इसी तरह दर्शनावरण कर्मके बन्धादिका कथन पाँचवे अधिकार प्रारम्भमें भी किया है। और आगे भी किया है। इससे उसमें भी 'पुनरुत्पत्ति' आ गई है।

इससे प्रथम तो इस बातका समर्थन होता है कि कर्मस्तव, शतक और सित्तरी पचसंग्रहकारकी कृति नहीं है किन्तु उन्हें उन्होंने अपनाकर उनपर अपने भाष्यकी रचना की है। यदि वे एक ही व्यक्तिकी कृति होते तो उनमें पिष्ट-पेषण न होता। दूसरे, उन्होंने उन्हें पृथक्-पृथक् प्रकरणके रूपमें रचा होना चाहिए। इसीसे एक प्रकरणकी गाथाओंको दूसरे प्रकरणमें रखते हुए उन्हें सकोच नहीं हुआ और इसीसे समग्र ग्रन्थमें न ग्रन्थका नाम मिलता है और न एक खण्ड ग्रन्थके रूपमें ही उसकी स्थिति दृष्टिगोचर होती है। उन्होंने स्वयं अथवा पीछेसे किसीने उनको सम्बद्ध करके पचसंग्रह नाम दे दिया है। जैसे सिद्धात ग्रन्थ षट्खण्डागमको भूतबलिने कोई सामूहिक नाम नहीं दिया और ध्वलाकार वीरसेनस्वामीने उसके खण्डोंके नामसे ही उसका निर्देश किया और पीछेसे छै खण्ड होनेके कारण षट्खण्डागम नाम दे दिया गया। वैसे ही उक्त पाँचो प्रकरण प्रारम्भमें भिन्न २ थे। पीछे उन्हें पचसंग्रह नाम दे दिया गया जान पड़ता है। इसीसे वीरसेनस्वामीने 'जीवसमास' प्रकरणका ही निर्देश किया है, सामूहिक नाम पचसंग्रहका निर्देश पूरा नहीं किया। उसपर से यह भी अनुमान किया जा सकता है कि वीरसेनस्वामीके पश्चात् ही किसीने उसे पचसंग्रह नाम दिया होगा।

रचनाकाल

१. प० आजागराजी ने अपनी मून्साराना दर्पण नामक टीका में भगवती आराधना की गाथा २१०४ की टीकामें 'तथा चोत्त पचनग्रह' उनके छै गाथाएँ उद्धृत की हैं। ये उहा गाथाएँ पचनग्रह के तीसरे अङ्कार के अन्त में उनी क्रममें अवस्थित हैं और उनकी क्रम गणना ६०-६५ है। प० आजागराजी विक्रमजी तेरहवीं शताब्दी में हुए हैं। अतः यह निश्चित है कि उसमें पहले पचनग्रहकी रचना हो चुकी थी।

२ आचार्य अमिनगति ने वि० ग० १०७२ में अपना संस्कृत पचनग्रह चरित्र पूर्ण किया था। यह संस्कृत प० ग० उक्त प्राकृत पचनग्रहकी ही नामने रचकर रचा गया है। अतः यह निश्चित है कि वि० ग० १०७३में पूर्व उमकी रचना हो चुकी थी।

३ आचार्य बीरगेनने अपनी धवला टीकामें जो बहुत सी गाथाएँ पचसंग्रहमें उद्धृत की हैं वे गाथाएँ धवलामें जिन क्रममें उद्धृत हैं प्रायः उनी क्रममें प० ग०में पाई जाती हैं। अधिकांश गाथाएँ प० ग०के अन्तर्गत जीव समास नामक प्रकरण की हैं। यद्यपि बीरगेनने 'पचनग्रह'का नामोल्लेख नहीं किया है किन्तु एक स्थान पर जायगमागका उल्लेख किया है। अतः यह जीवसमास पचसंग्रहके अन्तर्गत जीव समास ही होना चाहिए। तथा कुछ गाथाएँ प० स०के चौथे शतक नामक अधिकार की हैं; शतक नामक अधिकारमें एक शतक नामक प्रकरण संगृहीत है यह हम पीछे धतला आये हैं। ऐसी स्थितिमें यह सन्देह होना स्वाभाविक है कि गाथाएँ उम शतक प्रकरण से ही तो सीधे उद्धृत नहीं की गईं। यद्यपि वे गाथाएँ उम शतकमें भी हैं किन्तु उनमें से एक गाथा ऐसी भी है जो उम शतकमें नहीं है किन्तु प० स०के अन्तर्गत शतकमें है। वे तीन गाथाएँ इस प्रकार हैं—

चदुपचचङ्गो वधो पढमे उवरिमति ए तिपचचङ्गो ।

मिस्सग विदिओ उवरिमदुग च संसेगदेराहि ॥

उवरिल्लपचए पुण दुपचचओ जोग पचचओ तिण्ण ।

सामण्ण पचचया खलु अट्ठण्ण होति कम्माण ॥

पणवण्णा इरवण्णा तिदाल छादाल सत्ततीसा य ।

चदुवीसदु बावीसा सोलस एगूण जाव णव सत्त ॥

—(पद० पु० ८, पृ० २४)

इनमेंसे शुरूकी दो गाथाएँ शतक प्रकरणमें भी हैं। किन्तु प० स०में ये तीनों गाथाएँ उसके चौथे अधिकारमें इसी क्रमसे वर्तमान हैं और उनकी क्रमसंख्या ७८, ७९, ८० है। वचिच्छ पाठ भेद है। यथा—'उवरिमति ए' के स्थानमें 'अण-

तरतिए' 'मैसेगदेगम्हि' के स्थान 'देसेवकदेसम्हि' और 'इरवण्णा' के स्थान में 'पण्णासा' । किन्तु उनमें आशयभेद नहीं है । अतः ये गाथाएँ पचसग्रहसे ही उद्धृत की गई होनी चाहिए ।

इसी तरह धवलामे एक और गाथा इस प्रकार उद्धृत है—

एयवरोत्तोगाढंगणपदेसेहि कम्मणो जोगं ।

वधइ जहुत्तहेहू सादियमहणादिय वा वि ॥

(पदसं० पु० १२, पृ० २७७)

यद्यपि यह गाथा उक्तक प्रकरणमें भी है किन्तु उसमें 'एयपदेमोगाढं' पाठ है । और प० रा० में एयवरोत्तोगाढ पाठ (गाथा रा० ४९४) है । अतः यह भी उसीसे उद्धृत की गयी होनी चाहिए ।

उक्त उद्धरणों से प्रकट है कि धवलासे पहले पचसग्रहकी रचना हो चुकी थी । चूँकि धवला विक्रमकी नीवी शताब्दीमें रचकर पूर्ण हुई थी । अतः पचसग्रह उससे पहले रचा जा चुका था ।

४ शतक गाथा ९३ में पाठ है—'आउवकस्स पदेसस्स पच मोहस्स सत्त-ठाणाणि' । और प० स० के शतकाधिकारमें पाठ है—'आउवकस्स पदेसस्स छच्चं मोहस्स णव दु ठाणाणि' । शतकचूर्णिमें 'अन्ने पढति'^१ करके पञ्चसग्रहोक्त पाठ-भेद को उद्धृत किया है । अतः यह सिद्ध है कि चूर्णिकार पञ्चसग्रह से परिचित थे । इतना ही नहीं, श० चू०में पञ्चसग्रह से गाथाएँ भी उद्धृत की गई हैं ।

गुणस्थानो के वर्णन में (श० गा० ९) नीचे लिखी गाथा उद्धृत है—

सद्दहणासद्दहण जस्स जीवस्स होइ तच्चेसु ।

विरयाविरएण समो सम्मामिच्छोति णादब्बो ॥

यह पचसग्रह के प्रथम अधिकारकी १६९वीं गाथा है ।

यदि ये गाथाएँ अन्यत्रसे संगृहीत की गयी हो तब भी उक्त उद्धरणसे तो यह स्पष्ट ही है कि चूर्णिकार के सम्मुख पचसग्रहकारका मत था ।

मुक्ताबाई ज्ञानमन्दिरसे प्रकाशित चूर्णिसहित सित्तरीकी प्रस्तावनामें लिखा है—'परन्तु शतक लघुचूर्णिका कर्ता श्रीचन्द्राषिमहत्तर छे एविपेनो उल्लेख खभात श्रीशान्तिनाथजी ताडपत्रोय भडारनी प्रतिना अन्तमा मलता नीचेना उल्लेखना आधारे जाणी शकाय छे—'कृतिराचार्य श्रीचन्द्रमहत्तरशिताम्बरस्य 'शतकस्य ग्रन्थस्य' । उसमें उस पत्रका फोटु भी दिया है ।

१ 'अन्ने पढति 'आउवकस्स पदेसस्स छ ति' । , अन्ने पढति—'मोहस्स णव उ ठाणाणि' ।

श० चू० गा० ९३ ।

अतः जब शतकचूर्ण चन्द्रपि महत्तर रचित है तो स्पष्ट है कि उनके द्वारा रचित पञ्चसग्रहसे प्रकृत पंचसग्रह प्राचीन है और सम्भवतया उसीसे उन्हें शत-कादि ग्रन्थोंके आधारपर पंचसग्रह रचने की प्रेरणा मिली होगी। यद्यपि चन्द्रपि का भी समय सुनिश्चित नहीं है फिर भी उसकी स्थिति चिन्त्य है।

५ अकलक देवके तत्त्वार्थवार्तिकमें नीचे लिखी दो गाथाएँ उद्धृत हैं—

सर्वद्विदीण मुक्कस्सगो दु उक्कस्स सकिलेसेण ।

विवरीदेण जहण्णो आउगतिगवज्ज सेसाण ॥—(त० वा०, पृ० ५०७)

शुभपगदीण विसोधि ए तिब्बमसुहाण सकिलेसेण ।

विपरीदे दु जहण्णो अणुभागो सर्वपगदीण ॥—(त० वा० पृ० ५०८)

ये दोनो गाथाएँ पंचसग्रहके चतुर्थ शतक नामक अधिकारकी क्रमशः ४१९ और ४४५वीं गाथाएँ हैं। किन्तु ये दोनो गाथाएँ शतक प्रकरणमें भी वर्तमान हैं और उनका नम्बर क्रमशः ५७ और ६८ है। अतः यह कहा जा सकता है कि ये गाथाएँ शतक प्रकरण से न लेकर पञ्चसग्रहसे ही ली गई हैं इसमें क्या प्रमाण है? इस सन्देहको दूर करनेके लिए पंचसग्रह और तत्त्वार्थवार्तिक में निर्दिष्ट सैद्धान्तिक चर्चामें उतरना होगा।

शतक प्रकरणकी ७वीं गाथामें सञ्जी पर्याप्तिकके पन्द्रह योग बतलाये हैं। शतक चूर्णमें उसका खुलासा करते हुए लिखा है कि—‘एक अर्थात् सञ्जी पर्याप्तिकके पन्द्रह योग होते हैं—मनोयोग ४, बचनयोग ४, औदारिक, वैक्रियिक और आहारक काययोग तो प्रसिद्ध ही हैं। औदारिक मिश्रकाय योग और कार्मणकाययोग सयोग केवलीके समुद्धातकालमें होते हैं। वैक्रियिक मिश्रकाययोग और आहारकमिश्रकाय योग। विक्रिया करनेवाले तथा अहारक शरीर उत्पन्न करनेवालोंके होता है और वे पर्याप्तिक ही होते हैं। इस तरह पर्याप्त अवस्थामें वैक्रियिक मिश्र भी माननेसे सञ्जी पर्याप्तिकके पन्द्रह योग शतकमें बतलाये हैं। किन्तु पंचसग्रहगत उक्त शतकवाली गाथामें पण्णरसकी जगह ‘चउदस’ पाठ है जो बतलाता है कि सञ्जी पर्याप्तिकके चौदह योग होते हैं, वैक्रियिक मिश्र काययोग नहीं होता। प० स० की भाष्य^२

१ एकस्मि सन्निपज्जत्तगमि पन्नरस वि योगा भवन्ति । मणजोग (ग) वज्जोग (ग) ‘४’ ओरालिय वेउव्विय अहारक कायजोगा पसिद्धा, ओरालियमिस्सकायजोगो कम्मइय कायजोगो य सयोगकेवलं पडुच्च समुग्घायकाले लब्धन्ति, वेउव्विय मिस्सकायजोगो आहारमिस्सकायजोगो य वेउव्विय आहारगे विउव्वन्ते आहारयन्ते त पडुच्च, ते पज्जत्तगा चेव ।’—श० चू०, पृ० ६।

२ सन्नि अपज्जत्तु वेउव्वियमिस्स काय जोयो दु ।

सण्णीसु पुण्णेसु य चउदस जोया मुण्येव्वा ॥४२॥—स० स० ४ ।

गाथामें उठे स्पष्ट करते हुए लिखा है कि गंजी पर्याप्तको में वैक्रियिक मिश्र काय योग होता है और गंजी पर्याप्तकोमें चौदह योग होते हैं ।

इस तरह दोनोंमें संजी पर्याप्तके वैक्रियिक मिश्रयोगके होने और न होनेको लेकर मतभेद है । किंतु लक्ष्मणसुत ड्डा और अगित गति'आचार्यने अपने प० सं० में सजी पर्याप्तकोके पन्द्रह ही योग बतलाये हैं । मुझे इसका कारण लक्ष्मणसुत ड्डापर 'तत्त्वार्थवातिकका प्रभाव प्रतीत होता है । अभितगतिने तो उन्हीका अनुसरण किया है ।

अकलक देवने स्वामिभेदमें शरीरोंमें भेद करते हुए बतलाया है कि औदारिक तिर्यञ्च मनुष्योंके होता है, वैक्रियिक देव नारकियोंके होता है और किन्ही तैजस्कायिक, वायुकायिक, पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च तथा मनुष्यों के होता है । अकलक देवने अपने इस कथनपर पट्टस्फण्डागम के जीवस्थानका प्रमाण देकर यह आपत्ति शकाकारके द्वारा उठाई है कि जीवस्थान में तो काययोग के स्वामियोंका कथन करते हुए औदारिक काययोग और औदारिक मिश्रकाययोग तिर्यञ्च मनुष्योंके तथा वैक्रियिक काययोग और वैक्रियिक मिश्रकाय योग देव नारकियोंके कहा है यहाँ आप तिर्यञ्च मनुष्योंके भी कहते हैं । यह बात तो आगम विरुद्ध है । इसका उत्तर देते हुए अकलकदेवने कहा कि—'यह कथन अन्यत्र मिलता है व्याख्या प्रज्ञप्तिदण्डकोमें शरीरके भेदोंका कथन करते हुए वायुके औदारिक वैक्रियिक, तैजस और कर्मण चार शरीर कहे हैं । और मनुष्यों के पाँच ।' मनुष्योंके पाचो शरीर माननेसे ही सजी पर्याप्तकोके पन्द्रह योग हो सकते हैं, अन्यथा नहीं ।

ड्डाने प्राकृत पच सग्रहका संस्कृत अनुवाद करते हुए भी पचसग्रहगत पाठको छोड़कर मूल शतक प्रकरणका पाठ धोखा, यह अकलक देवके तत्त्वार्थ-वातिकके अवलोकनसे स्पष्ट हो जाता है उन्हें अकलकदेववाली बात जँची ।

१. द्वौ चतुर्षु नवस्वेक समस्ता. सति सशिनि ।

जीवस्थानेषु विज्ञेया योगा. योगविशारदै. ॥१०॥

तदित्थम् मशिनि पर्याप्ते पच दश योगा . ।— सं० प० सं० , पृ० ८२ ।

२. 'स्वामिभेदादन्यत्वम्—औदारिक तिर्यङ् मनुष्याणाम्, वैक्रियिकी । देवनारकाणाम्, तेजो-वायुकायिकपञ्चेन्द्रियतिर्यङ् मनुष्याणाञ्च केषाञ्चित् । अत्राह चोदक —जीवस्थाने योगभङ्गे सप्तविधकाययोगस्वामिप्ररूपणाया औदारिकमिश्रकाययोग औदारिकमिश्र-काययोगश्च तिर्यञ्चमनुष्याणा वैक्रियिकयोगो वैक्रियिक मिश्रकाययोगश्च देवनाराकाणाम्-उक्त , इह तिर्यङ् मनुष्याणामपीत्युच्यते । तदिदमार्थविरुद्धमिति । अत्रोच्यते—न अन्य त्रोपदेशात् । व्याख्याप्रज्ञप्तिदण्डकेपु शरीरभ ने वायोरौदारिकवैक्रियिकतैजस कर्मणानि चत्वारि शरीराण्युक्तानि, मनुष्याणा पच ।

डड्डा अकलक देवके भक्त ज्ञात होते हैं उन्होंने अपने पच सग्रहके अन्तमें अकलक देवके लघीयस्त्रय से एक कारिका उद्धृत की है। उन्हें अलकलक देवका कथन ही उचित प्रतीत हुआ। डड्डाका ही अनुसरण अमितगतिने किया। और पञ्चसंग्रहकारके सामने अकलकदेवका वार्तिक नहीं था क्योंकि पञ्चसग्रहकी रचना वार्तिक से पहले हो चुकी थी। अतः उन्होंने 'चउदस' पाठ रखना ही उचित समझा क्योंकि जीवट्टाण के अनुसार वही पाठ उपयुक्त था।

अतः पचसग्रहकार अकलक देवके पूर्ववर्ती होने चाहिए। अकलकदेव विक्रम की आठवीं शताब्दीसे पश्चात्के विद्वान् नहीं हैं। अतः पञ्चसग्रहकी रचना विक्रमकी आठवीं शताब्दीसे पूर्व होनी चाहिए।

चन्द्राणि महत्तरकृत पच सग्रह

दिगम्बरीय प्राकृत पञ्चसग्रहकी तरह श्वेताम्बर परम्परामें भी एक 'पच-सग्रह' नामक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। जिसपर पञ्चसग्रहकारकी एक स्वोपज्ञ संस्कृत वृत्ति भी है। तथा आचार्य मलयगिरिकृत संस्कृत टीका है। यह भी कर्म प्रकृति आदि की तरह प्राकृत गाथाबद्ध है।

उसकी प्रथम गाथामें वीर प्रभुको नमस्कार करते हुए पचसग्रहको कहनेका प्रतिज्ञा की गई है और उसे महार्थ तथा यथार्थ कहा है। गाथा^२ दोमें पचसग्रह नामकी सार्थकता बतलाते हुए कहा है कि चूँकि इस ग्रन्थमें शतक आदि पाँच ग्रन्थोका यथायोग्य न्यास किया गया है अथवा इसके पाँच द्वार हैं इसलिए पचसग्रह नाम सार्थक है।

शतक आदिसे कौनसे पाँच ग्रन्थ ग्रन्थकारको अभीष्ट थे वह उन्होंने स्वयं प्रकट नहीं किया। टीकाकार मलयगिरि ने पचसग्रह शब्दकी व्याख्या करते हुए लिखा है—'शतक', सप्ततिका, कषाय प्राभूत, सत्कर्म और कर्मप्रकृति इन पाँच ग्रन्थोका अथवा^३ योग उपयोग विषयक मार्गणा, बन्धक, बन्धव्य बन्ध हेतु और बन्धविधि, इन पाँच अर्थाधिकारोका जिस ग्रन्थमें सग्रह है वह पचसग्रह है।

शतक, सप्ततिका, कषाय प्राभूतका परिचय तो पीछे कराया जा चुका है।

१. स्वोपज्ञवृत्ति तथा मलयगिरिकी टीकाके साथ पञ्चसग्रह मुक्ताबाई शानमन्दिर डभोई (अहमदाबाद) से प्रकाशित हो चुका है।
२. 'सयगाइ पञ्च गथा जहारिह जेण एत्थ सखिता। दाराणि पञ्च अहवा तेण जहत्था-भिहाणमिण ॥२॥'—पं० सं०।
३. 'पञ्चाना शतक-सप्ततिका-कषायप्राभूत-सत्कर्म-कर्मप्रकृतिलक्षणाना ग्रन्थाना अथवा पञ्चानामर्थाधिकाराणा योगोपयोगविषयमार्गणा—बन्धक बन्धव्य-बन्धहेतु-बन्धविधि-लक्षणाना सग्रह पञ्चसग्रह।'—पं० सं० टी०, पृ० ३१।

किन्तु सत्कर्म गन्धगे हम परिचित नहीं हो सके। मलयगिरिने अपनी सप्ततिका टीकामें उससे एक उद्धरण^१ भी दिया है। सम्भवतया मलयगिरिका यह उद्धरण सप्ततिका चूर्णिका ऋणी है क्योंकि उसमें यही उद्धरण^२ 'संतकम्म भणियं' कहकर दिया गया है। 'सत्कम्म' का संस्कृत रूप सत्कर्म होता है।

पट्खण्डागमका परिचय कराते हुए सत्कम्मपाहुड या सत्कर्मप्राभृतके विषयमें प्रकाश डाला गया है। सत्कर्म उससे भिन्न होना चाहिए क्योंकि इसके उक्त उद्धरणमें बतलाया है कि क्षपक श्रेणि और क्षीण कपाय गुणस्थानमें निद्रा और प्रचलाका उदय नहीं होता। श्वेताम्बर^३ कर्म साहित्यमें इस विषयमें दो मत पाये जाते हैं। कर्मप्रकृति, सप्ततिका और सत्कर्मके अनुसार उक्त गुणस्थानमें निद्रा प्रचलाका उदय नहीं होता। किन्तु प्राचीन कर्मस्तत्र तथा प्राकृत पचसग्रहके अनुसार होता है। दिगम्बर कर्म साहित्य में यह मतभेद नहीं पाया जाता। उसमें क्षीणकपायमें निद्रा प्रचलाका उदय माना है। अतः दिगम्बरीय सत्कम्म-पाहुडसे श्वेताम्बरी 'सन्तकम्म' भिन्न होना चाहिए।

तीसरी गाथामें गन्धकारने ग्रन्थके योग उपयोग मार्गणा, बन्धक, बन्धव्य, बन्धहेतु और बन्धविधि इन पांच द्वारोंका निर्देश किया है और तदनुसार ही आगे कथन किया है। अर्थात् प्रथम द्वारमें योग और उपयोग का कथन गुणस्थान और मार्गणा स्थानोंमें किया है। जैसा कि राक्षेप रूपमें जतकके प्रारम्भमें पाया जाता है। दूसरे द्वार में कर्मका बन्ध करनेवाले बन्धक जीवोंका कथन है। प्रथम दो गाथाओंके द्वारा प्रश्नोत्तर रूपमें जीवका सामान्य कथन है—जीव किसे कहते हैं? औपशमिक आदि भावोंसे संयुक्त द्रव्यको। जीव किसका स्वामी है? अपने स्वरूपका। किसने उन्हें बनाया है? किसीने भी नहीं बनाया। कहाँ रहते हैं? शरीरमें अथवा लोकमें रहते हैं। कब तक रहते हैं? सर्वदा रहते हैं। कितने भावोंसे युक्त होते हैं? आगे सतपद प्ररूपणा, द्रव्यप्रमाण, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाग, भाव और अल्पबहुत्व इन नौ अनुयोगोंके द्वारा जीवका कथन है।

तीसरे बन्धद्वारमें आठों कर्मों और उनके उत्तर भेदोंका कथन है। आठों कर्मोंकी प्रकृतियोंको बतलानेके पश्चात् ध्रुवबन्धी, अध्रुवबन्धी, ध्रुवोदयी, अध्रुवोदयी, सर्वघाती, देशघाती, शुभ, अशुभ, तथा क्षेत्रविपाकी, भवत्रिपाकी, पुद्गल-विपाकी प्रकृतियोंको बतलाया है। इस तरह कर्मप्रकृतियोंका विविध रूपसे कथन तीसरे द्वारमें है।

१. 'तदुक्त सत्कर्मग्रन्थे—'निर्दादुगस्स उदओ खीणगखवगे परिच्चज्ज'।

—सप्त० टी०, पृ० १५८।

२. स० चू०, पृ० ७।

३. इस चर्चा के लिए देखो—सि० चू० पृ० ७३ टीप्पणी।

चौथे बन्धहेतु द्वारमें कर्मबन्धके कारण मिथ्यात्व, अविरति, कपाय और योग तथा उनके भेदोका कथन भगपूर्वक विस्तारसे किया है। चूँकि परीपह भी कर्मके उदयसे होती है इसलिए अन्तमें परीपहोका भी कथन तीन गाथाओसे किया है। स्तोत्रज्ञ वृत्तिमें नग्नताका कोई अर्थ सम्प्रदायपरक नहीं किया है जैसा कि मलयगिरि ने अपनी टीका में किया है।

पाँचवें बन्धविधि द्वारमें बन्धविधिके साथ ही उदय, उदीरणा और सत्ताका भी कथन किया है क्योंकि बद्धकर्मका उदय होता है, और उदयप्राप्त कर्ममें अनुदय प्राप्त कर्मका प्रक्षेपण करनेको उदीरणा कहते हैं। और जिस कर्मका उदय अथवा उदीरणा नहीं होते वह सत्तामें रहता है। अतः बन्धके साथ उदय उदीरणा और सत्ताका कथन किया गया है। अतः ये द्वार बड़ा है इसमें बन्धके चारो भेदोका कथन होनेके साथ ही माय उदय उदीरणा और सत्ताका भी कथन है। इस तरह पञ्चमग्रहके पाँचो द्वार समाप्त हो जाते हैं। और उनके साथ ही ग्रन्थका पूर्वार्ध हो जाता है।

उत्तरार्धमें कर्मप्रकृतिमें कथित आठो करणोका स्वरूप प्रतिपादित है। इसके प्रारम्भमें पञ्चसंग्रहकारने श्रुतधरोको नमस्कार किया है। किन्तु उन्होंने यह नहीं कहा कि मैं कर्मप्रकृतिका कथन करता हूँ। टीकाकार मलयगिरिने प्रथम गाथाको उत्पानिकामें कहा है—‘अव’ कर्मप्रकृति सग्रहको कहना चाहिए। कर्मप्रकृति महान् शास्त्रान्तर है। उसे हमारे जैसे अल्पबुद्धि केवल अपनी बुद्धिके प्रभावसे सग्रहीत करनेमें असमर्थ हैं किन्तु कर्मप्रकृति प्राभूत आदि शास्त्रोके पारगामी विशिष्ट श्रुतधरोके उपदेशकी परम्पराके साहाय्यसे कर सकते हैं। इसीसे ग्रन्थकारने श्रुतधरोको नमस्कार किया है।

इसका विषय परिचय करानेकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि इसकी रचना शिवशर्मप्रणीत कर्मप्रकृति तथा उसकी चूर्णिको सामने रखकर उसीके अनुसार की गयी है। दोनोंका मिलान करनेसे यह बात स्पष्ट हो जाती है। अन्तिम भागमें सप्ततिका का सग्रह किया गया है। अतः सप्ततिकामें जो विषय प्रतिपादित है वही इसमें भी है।

१ ‘नमिरुण सुयहराण वोच्छ करणाणि वधणाङ्गि ।

सकमकरण बहुसो अइदेसिय उदय सते ज । १॥

मलयटी०—सम्प्रति कर्मप्रकृतिसंग्रहोऽभिधातव्य । कर्मप्रकृतिश्च शास्त्रान्तरं महद्भि-
च’ ततो न मादृशैरल्पमेधोभि स्वमतिप्रभावत सग्रहीतु शक्यते । किन्तु कर्मप्रकृति प्राभूतादि-शास्त्रार्थ-पारगामि विशिष्टश्रुतधरोदेशपारम्पर्यतः ततोऽवश्य ते नमस्कार-
णीया—प० सं० उक्त० ।

ग्रन्थकारके द्वारा निर्दिष्ट ग्रन्थ

पञ्चसग्रहकारने अपने मूलग्रन्थमें 'सगगाई पंचगथा' करके घतक आदि विंशति पाँच ग्रन्थोंका संग्रह करनेकी प्रतिज्ञा की है उनमेंमें घतकके सिवाय षेणोका नही बतलाया, यह हम ऊपर लिए आये हैं। फिर भी पञ्चसंग्रहके पर्यवेक्षणमें यह निश्चित है कि षेण चार ग्रन्थोंमेंमें दो अवश्य ही कर्मप्रकृति और सप्ततिका हैं। षेण दोना प्रश्न विवादग्रन्थ हैं। मलयगिरिके अनुसार ये कणायपाहुट और सत्कर्म हैं। कणायपाहुटके सम्प्रन्धमें कोई ऐसा उल्लेख हमारे देखनेमें नहीं आया जिससे आधारपर उसकी विधि या निषेधपर जोर दिया जा सके। किन्तु सत्कर्मके सम्प्रन्धमें तो यह कहा जा सकता है कि पञ्चसग्रहकारके द्वारा निर्दिष्ट पाँच ग्रन्थोंमें उसकी स्थिति सिद्ध है क्योंकि पञ्चसग्रहकारने उसके मतके सामने 'कर्मस्तवका मत माना किया है। तथा एक म्यानपर 'स्वोपज्ञवृत्तिमें कर्मस्तवका उल्लेख भी किया है अतः पञ्चसग्रहकारके द्वारा संगृहीत पाँच ग्रन्थोंमें एक कर्मस्तव अवश्य होना चाहिए।

सप्ततिका और कर्मस्तवके सिवाय पञ्चसग्रहकारने अपनी वृत्तिमें प्रज्ञापन और जीवममासका उल्लेख किया है। दोनों ही प्राचीन ग्रन्थ हैं और उनमें प्रकृत ग्रन्थमें चर्चित कुछ विषय भी पाये जाते हैं। फिर भी पाँच ग्रन्थोंमें उनके होने की सम्भावना कम है।

पञ्चसग्रहकारका अन्य कामिको तथा सैद्धान्तिकोसे मतभेद

पञ्चसग्रहकारने यद्यपि अपने ग्रन्थ पञ्चसग्रहमें पाँच ग्रन्थोंका संकलन किया है तथापि उन्होंने एकान्त रूपमें अनुमरण नहीं किया। अनेक विषयोंमें उनका अन्य कामिको तथा सैद्धान्तिकोसे मतभेद प्रकट है। नीचे उसीको बतलाया जाता है।

१ पञ्चसग्रह (गा० १७) सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें दस योग बतलाये हैं। मलयगिरिने उसकी टीकामें यह शका उठायी है कि वैक्रिय लब्धि सम्पन्न

१. 'कर्मस्तवप्रणेता तु क्षीणमोहेषि द्विचरमममय यावन्निद्राप्रचलयोरुदयमिच्छति। तथा चोक्त कर्मस्तवे—'निद्रापायलाण तथा खीणदुचरिममि उदयवोच्छेभो'। इति। ततस्तन्मतेन निद्राप्रचलयोरपि क्षीणमोहगुणस्थानकद्विचरमममय यावदुदओ वेदितव्यः।'—प० स०, मलयटी०, भा० १, पृ० १९५। 'एतच्चाचार्येण कर्मस्तवाग्निप्रायेणोक्तम् सत्कर्मग्रंथाद्यभिप्रायेण तु क्षपकक्षीणमोहाना चतुणमिवोदयो न पञ्चानामपि। तदुक्त सत्कर्मग्रन्थे—'निद्रादुगस्स उदओ खीणगखवगे परिचज्ज।'—प०, स० मलयटी०, भा० २, पृ० २२७।

२. 'एवमेकादशभज्जा सप्ततिकाकारमतेन कर्मस्तवकारमतेन पञ्चानामप्युदयो भवति'—प० स०, भा० २, पृ० २२७।

पर्याप्त मनुष्य तिर्यञ्चो के सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें विक्रिया होती है उसके पहले वैक्रियमिश्र होता है वह यहाँ क्यों नहीं कहा^१ । उत्तर दिया गया है कि वहाँ विक्रिया नहीं होती इसलिए अथवा अन्य किसी कारणसे आचार्यने तथा दूसरोंने नहीं माना यह हम नहीं जानते क्योंकि उस प्रकारके सम्प्रदायका अभाव है ।

दिगम्बर परम्परामें भी तीसरे गुणस्थानमें दस योग बतलाये हैं और उक्त शक्ति विक्रियाको स्वीकार नहीं किया है ।

२ पञ्चसग्रह (गा० ९) में उपयोगका कथन गुणस्थानोंमें करते हुए पहले और दूसरे गुणस्थानमें पाँच ही उपयोग बतलाये हैं । शतक गा० ४१ में भी पाँच ही उपयोग बतलाये हैं । यही कार्मिकोका मत है जो दिगम्बर परम्परामें भी मान्य है । किन्तु प्रज्ञापनामें विभङ्गावधिके साथ अवधिदर्शन भी बतलाया है । पञ्चसग्रहकारकी कुछ बातोंका विरोध मलयगिरिने स्पष्ट रूपसे अपनी टीकामें किया है । यथा—

३ गाथा ४६ से ५१ तक पञ्चसग्रहकारने जीवोकी कायस्थितिका कथन किया है । यह कायस्थिति प्रज्ञापनामें कथित कायस्थितिसे मेल नहीं खाती । अतः मलयगिरिने उसे आगम विरुद्ध मान कर अपनी टीकामें प्रज्ञापनाके अनुसार ही कथन किया है । किन्तु यह कायस्थिति षट्खण्डागमके अन्तर्गत जीवद्वानके कालानुयोगद्वारमें कथित कायस्थितिसे मेल खाती है ।

४ चतुर्थद्वारकी गाथा १८ में पञ्चसग्रहकारने चौइन्द्रियोके तीनो वेद माने हैं । मलयगिरिने केवल एक नपु सक वेद ही लिखा है । दिगम्बर परम्पराके अनुसार भी चौइन्द्रियपर्यन्तजीव नपु सकवेदी ही होते हैं ।

५ चतुर्थद्वारमें ही पञ्चसग्रहकारने उत्तर प्रकृतियोंकी जो जघन्य स्थिति बतलायी है वह कर्मप्रकृतिसे मेल नहीं खाती । दोनोंमें अन्तर है । यथा—पञ्चसग्रहकारने तीर्थङ्कर नामकर्मकी जघन्यस्थिति दस हजार वर्ष बतलायी है । तथा आहारकट्टिककी जघन्यस्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण बतलायी है किन्तु कर्मप्रकृति आदिमें

१ 'इह मूलटीकायामन्यत्र च ग्रन्थान्तरे कायस्थितिरन्यथागमविरोधिनी दृश्यते । ततस्तासु-पेक्ष्य प्रज्ञापनासूत्रानुसारत सूत्रगाथा विवृता । अतएव ग्रन्थगौरवमनादृत्य सर्वत्र प्रज्ञापनासूत्रमुपादिशे —प० स० मलयटी०, भा० १ पृ० ८१ ।

२. पट्ख०, पु० ४ । ३- प स० मलय० टी०, भा० १, पृ० १८३ । ४- 'तिरिक्त्वा सुढा णवुसगवेदा एइ दियप्पहुडि जाव चउरिंदियाति ॥१०६॥—षट्ख० पु०, पृ० ३४५ ।

३ 'इदं च किल निद्रापञ्चकादारभ्य सर्वाषा प्रकृतीनां जघन्यस्थितिपरिमाणमात्रार्येण मतान्तरमधिकृत्योक्तमवसेयम्, कर्मप्रकृत्यादावन्यथा तस्याभिधानात् ।'—प० स० मलय टी०, भा० १, पृ० २२७ ।

उनकी जघन्य स्थिति गोटी-गोटी मागर बतलायी है। दिगम्बर परम्परामें भी यही बतलायी है।

कामिनी और सैदान्तिकोंमें तो मतभेद है ही। कुछ बातोंको लेकर कामिनीमें भी परस्परमें मतभेद है। जैसे क्षीणकपाय गुणस्थानमें निद्रा प्रचलाका उदय कोई मानता है कोई नहीं मानता। कर्मप्रकृतिकार और सप्ततिकार नहीं मानते। किन्तु प्राचीन कर्मस्तव और तदनुयायी पञ्चमसंग्रहकार तथा दिगम्बराचार्य मानते हैं। किन्तु 'पञ्चसंग्रहकारने अपने सप्ततिका प्रकरण में सप्ततिका-संग्रह करते हुए दोनोंका निर्देश कर दिया है। दूसरा मौलिक मतभेद अनन्तानुबन्धी कपायकी उपशमना और त्रिगयोजनाको लेकर है कर्मप्रकृतिकारका मत कि अनन्तानुबन्धीकी विसयोजना ही होती है, उपशमना नहीं होती। किन्तु सप्ततिका (गा० ६१) और पञ्चसंग्रहके अनुसार उपशमना होती है। तथापि पञ्चमसंग्रहमें विसयोजना भी बतलायी है।

पञ्चसंग्रहकारने अपने सप्ततिका नामक प्रकरणमें गा० ९ में वैक्रियिक द्वयका उदय चौथे गुणस्थान तक ही बतलाया है। उसकी टीकामें 'मलयगिरिने लिखा है कि वैक्रिय और वैक्रिय अगोपागका चौथे गुणस्थानसे आगे उदयका निषेध आचार्यने कर्मस्तवके अभिप्रायानुसार किया है। स्वयं तो वे देशविरत, प्रमत्त और अप्रमत्तमें उनका उदय मानते हैं।

उक्त चर्चाओमें प्राकट होता है कि पञ्चसंग्रहकार कर्मशास्त्रके बहुत विशिष्ट विद्वान थे और अपने समयके कर्मसिद्धान्त विषयक सभी प्रमुख ग्रन्थोंका उन्होंने अवलोकन किया था। और उन सभीके मतोंको उन्होंने अपने ग्रन्थमें स्थान दिया, फिर भी कुछ विषयोंमें उनका अपना भी विशिष्ट मत था।

कर्ता—

इस पञ्चसंग्रहके कर्ता आचार्यका नाम चन्द्रपि महत्तर था। पञ्च संग्रहकी अन्तिम ४ गाथा तथा उसकी वृत्तिमें उन्होंने अपना नाम 'चन्द्रपि' मात्र दिया है।

१. 'स्वयमे सुष्ठुम मि चउबन्धमि अवधगमि खीणमि।

एस्तंत चउरुदओ पंचणहवि केर इच्छति । १४॥ — श्वे० प० सं०, भाग, २७७।

२. श्वे. प० सं० उप०, गा०, ३४-३५।

३. 'वैक्रियवैक्रियागोपागनिषेधस्तु अत्राचार्येण कर्मस्तवाभिप्रायेण कृतोभिवेदितन्य', न स्वमतेन स्वयं देशविरत प्रमत्ताप्रमत्तौपु तदुदयाभ्युपगमात्, रवकृतमूलटीकाया तथा भगभावनाकरणात् । प० सं०, भा० २, पृ० २२७।

४. सुयदेवि पसायाओ पगरणमेथं समासओ भणिय।

समयाओ चन्दरिसिणा समइ वि भवानुसारेण ॥१५६॥

और अपने गुरु आदिके सम्बन्धमें कोई निर्देश नहीं किया ।

सित्तरीकी प्रतियोके अन्तमें जो एक गाथा पाई जाती है ।

‘गाह्वगं सयरीए चदमहत्तरमयाणुसारीए’

उसमें ‘चन्द्रमहत्तर’ नाम आता है । खंभातके श्री शान्तिनाथभण्डारमें जो शतकचूर्णिकी प्रति है उसके अन्तिम पत्रके अन्तमें यह वाक्य लिखा है—‘कृतिराचार्य श्रीचन्द्रमहत्तरशिताम्बरस्य’ ।

इन सब उल्लेखोंसे ग्रन्थाकारका पूरा नाम श्रीचन्द्रपि महत्तर प्रमाणित होता है किन्तु उनके कुलगुरु समय आदिके सम्बन्धमें कोई जानकारी प्राप्त नहीं होती ।

साधारणतया उन्हें एक बहुत प्राचीन आचार्य माना जाता है । ‘जैनसाहित्य’ नो इतिहास, (पृ० १३९) में उन्हें कर्मप्रकृतिकारके पश्चात् रखते हुए लिखा है—‘चन्द्रपि महत्तर थयाते घणा प्राचीन समयमा थया जणाय छे । ते प्राय आ समयमा थया हसो ऐम गणी अही तेमनो उल्लेख कयों छे’ ।

किन्तु मुनिश्री पुण्यविजयजीने ‘पञ्चमकर्मग्रन्थ और पष्ठम कर्मग्रन्थ’ का अपनी प्रस्तावना (पृ० १५) में ‘चन्द्रपि सप्ततिकाके रचयिता नहीं है’ इस बात-को स्पष्ट करते हुए उनके सम्बन्धमें दो बातें मुद्देकी लिखी है । एक-यदि सप्ततिकर्ता और पञ्चसंग्रहकर्ता आचार्य एक ही होते तो भाष्यकार चूर्णिकार आदि प्राचीन ग्रन्थकारोंके ग्रन्थोंमें जैसे शतक, सप्ततिका, कर्मप्रकृति आदि ग्रन्थोंका उल्लेख साक्षी रूपसे मिलता है वैसे पञ्चसंग्रह जैसे प्रासादभूत ग्रन्थके नामका उल्लेख भी जरूर मिलता । परन्तु ऐसा उल्लेख कहीं भी देखनेमें नहीं आता । दूसरे मुद्देकी बात मुनिजीने यह लिखी है कि ‘महत्तर’ पद तथा गर्गषि, सिद्धर्षि, पाश्वर्षि, चन्द्रर्षि आदि जैसे ऋषि पदान्त नाम सामान्यतया पिछले समय के होने चाहिए । आचार्य चन्द्रर्षिके समयका विचार करते समय दोनों मुद्दे नहीं भुलाये जा सकते ।

इनके समयका विचार करनेसे पूर्व वहा शतकचूर्ण और सप्ततिचूर्णिका परिचय कराया जाता है ।

एक अन्य शतकचूर्ण

शतक ग्रन्थका परिचय पहले कराया जा चुका है । उसीपर प्राकृत भाषामें यह चूर्ण रची गयी है । चूर्णिको देखनेसे प्रकट होता है कि उसका रचयिता कोई बहुश्रुत विद्वान होना चाहिए, क्योंकि चूर्णमें उद्धृत गाथाओंका बाहुल्य है ।

१—राजनगरस्थ वीर समाजकी ओरसे प्रकाशित शतक प्रकरणका इसचूर्णिके साथ प्रकाशन हुआ है ।

और चर्चित विषयके सम्बन्धमें कर्मिको औचसैद्धान्तिकोमें जो मतभेद है उनका भी यथा स्थान निर्देश किया गया है ।

यद्यपि पूरी चूर्णि प्राकृत भाषावद्ध है किन्तु कही-कही संस्कृत वाक्य भी पाये जाते हैं किन्तु उनकी घिरलता है । प्रारम्भिक गाथाकी उत्थानिकामें चूर्णिकारने सम्बन्धादिका कथन करनेके लिए एक संस्कृत आर्या उद्धृत की है—

‘संज्ञा निमित्तं कर्तारि परिमाण प्रयोजन ।

प्रागुक्त्वा सर्वतन्नाणा पश्चाद् वयता तं वर्णयेत् ॥’

प्रथम गाथा में कहा है कि ‘दृष्टिवादसे कुछ गाथाएँ कहाँ’ । चूर्णिकारने दृष्टिवादका परिचय कराते हुए उसके पाच भेदोंमें से दूसरे पूर्व अग्रायणीयके अन्तर्गत पचम वस्तुके बीस पाहुडोमेंसे चतुर्थ कर्मप्रकृति प्राभृतसे इस ग्रन्थकी उत्पत्ति बतलायी है । चतुर्थ कर्मप्रकृति प्राभृतके चौबीस अनुयोगद्वारोके नाम गिनाकर उनमें से छठे अनुयोगद्वार बन्धनके चार भेद—बंध, वधक, बन्धनीय और बन्ध-विधानमें से बन्धविधानसे प्रकृत शतकभी उत्पत्ति बतलाई है । इससे सूचित होता है कि चूर्णिकारको इस सब उपपत्तिका परिचय था ।

इसी तरह ग्रन्थमें वर्णित योग, उपयोग जीवसमास और गुणस्थानोंका चूर्णमें अच्छा विवेचन किया गया है जो संक्षिप्त होते हुए भी बहुमूल्य है । गाथा ३८-३९की चूर्णमें आठो कर्मों और उनकी उत्तरप्रकृतियोंका विवेचन भी सुन्दर है । आगे चारो बन्धोके कथन में भी चूर्णमें बहुत विषय भरा हुआ है और चूर्णिकारने ‘सागरमें सागरकी कहावत को चरितार्थ किया है ।

इस चूर्णके कर्ताका भी नाम अज्ञात है । किन्तु खभातके शान्तिनाथ भण्डारसे प्राप्त शतक चूर्णके अन्तमें उसे श्वेताम्बराचार्य श्री चन्द्रमहत्तरकी कृति बतलाया है ।

किन्तु पचसंग्रहके साथ चूर्णिकी तुलना करनेसे कोई बात प्रकट नहीं होती जिसके आधारपर यह निस्सन्देह रूपसे कहा जा सके कि यह चन्द्राणि महत्तरकी कृति है ।

१. प्रथम तो चूर्णिका उपोद्धात और पच-संग्रहका उपोद्धात ही भिन्न है । जहाँ चूर्णमें संज्ञा, निमित्त आदिका कथन ग्रन्थके प्रारम्भ में आवश्यक बतलाया है वहाँ पञ्चस० के प्रारम्भमें मंगल, प्रयोजन, सम्बन्ध और अभिषेयका कथन करके व्याख्या क्रमके ६ भेद किये हैं—और उनके सम्बन्धमें ‘उक्त च’ रूपमें यह श्लोक उद्धृत किया है ।

सहिता च पद चैव पदार्थः पदविग्रह ।

चालना प्रत्यवस्थानं व्याख्या तन्त्रस्य षड्विधा ॥१॥’

२ शतक गाथा १४ की चूर्णिमें मिथ्यात्वके अनेक भेद बतलाये हैं—एकान्त, वैनयिक, अज्ञान, सशय, मूढ़ और विपरीत । अथवा क्रियावाद, अक्रियावाद, वैनयिकवाद और अज्ञानवाद । तथा नीचे लिखी दो गाथाएँ उद्धृत की हैं—

‘असियसय किरियाण अकिरियवाईण जाण चुलसीई ।

अन्नाणि य सत्तदठी वेणइयाण च बत्तीस ॥’

जावइया णयवाया तावइया चेव होति परसमया ।

जावइया परसमया तावइया चेव मिच्छत्ता ॥’

उधर पच^१सग्रहमें मिथ्यात्वके पाच भेद गिनाये हैं—अभिगृहीत, अनभिगृहीत, आभिनिवेशिक, साशयिक और अनाभोग । तथा व्याख्यामें ‘च’ पद से सूचित मिथ्यात्व के भेदोंका सूचन करनेके लिए ‘सेसठ्ठा तिन्नीसया’ और ‘जावइया वयण पहा’ गाथाशोका निर्देश किया है जो बतलाता है कि चूर्णिमें उद्धृत इन गाथाओंसे ये दोनो गाथाएँ भिन्न हैं ।

३ शतक गा० ५२-५३ की चूर्णिमें उत्तर प्रकृतियोंके स्थितिबन्धका कथन विस्तारसे किया है । उसमें तीर्थङ्कर और आहारकद्वयकी जघन्यस्थिति कर्मप्रकृति के अनुसार, अन्त. कोटी-कोटी सागर ही बतलायी है । किन्तु पचसग्रहमें तीर्थङ्कर प्रकृतिकी अन्तर्मुहूर्त बतलायी है ।

चूर्णिमें वर्णादिचतुष्ककी उत्कृष्टस्थिति बीस कोडाकोडी सागर बतलायी है और पचसग्रह^२ में पृथक् २ बतलायी है । और भी उल्लेखनीय अन्तर स्थिति-बन्धके सम्बन्धमें है ।

अतः इन बातोंको लक्ष्यमें रखनेसे यह निर्विवाद रूपसे नहीं माना जा सकता कि शतकचूर्णिके कर्त्ता और पचसग्रहके कर्त्ता एक व्यक्ति है ।

शायद कहा जाये कि शतक कर्मप्रकृतिकारकी रचना है इसलिए चूर्णि-कारने उसमें कर्मप्रकृतिके अनुसार ही स्थितिका प्रतिपादन किया होगा । किन्तु ऐसा कहना भी उचित नहीं है क्योंकि चूर्णिकारने कर्मप्रकृतिका भी अनुसरण नहीं किया । कर्मप्रकृति^३के अनुसार प्रत्येक वर्गकी भी उत्कृष्ट स्थितिमें मिथ्यात्वकी

१ ‘आभिग्गहियमणभिग्गहिच अभिनिवेशिय चेव । ससइयमणामोगे मिच्छत्त पचहा होइ ॥२॥

२ सुनिकलसुरभी महुराण दस उ तह सुम चउण्ह फासाण । अठ्ठाइज्ज पवुड्डी अंविळ हालिदद पुव्वाण ॥३॥ इवे०पं० स० भा० १, पृ० २१९ ।

३. ‘वग्गु व्कोस ठिइणं मिच्छतुक्कोसगेण ज लद्ध’ । सेसाण तु जहन्ना पल्लासखिज्जभागूण ॥ “७९॥” —क० प्र०, बन्धन- ।

उत्कृष्ट स्थितिका भाग देनेसे जो लब्ध आता है उसमें पत्यका असख्यातवा भाग कम करनेसे उत्तरप्रकृतियोंकी जघन्य स्थितिका प्रमाण आता है । और पञ्चसग्रहके^१ अनुसार प्रत्येक उत्तर प्रकृतिकी अपनी-अपनी उत्कृष्ट स्थितिमें मिथ्यात्वकी उत्कृष्ट स्थितिका भाग देने से जो लब्ध आता है वही उस उत्तर प्रकृतिकी जघन्यस्थितिका प्रमाण होता है । चूर्णमें पञ्चसग्रहवाली वातको स्वीकार किया गया है किन्तु उसमें कर्मप्रकृतिकी तरह पत्यका असख्यातवा भाग कम भी किया गया है । श्वे० पञ्च स० की टीकामें मलयगिरि ने लिखा है^२ कि जीवाभिगम वर्गग्रह में यही स्थिति मान्य है जो चूर्णमें बतलायी है ।

दि० पञ्च सं० में भी यही स्थिति मान्य है । दि० प० स० की गाथाओंके साथ स्थिति निर्देशक चूर्णिका मिश्रण करनेसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उक्त चूर्ण की रचना दि० पं० स० की गाथाओंको सामने रखकर की गयी है । दोनों में कथनका क्रम भी एक है ।

किन्तु शतकचूर्णमें^३ तथा प० स० की स्यांपञ्चवृत्तिमें जिनभद्रगणी क्षमा-श्रमणके विशेषावश्यक भाष्यसे गाथाएं उद्धृत की गयी हैं । अतः दोनोंकी रचना विक्रमकी सातवीं शताब्दीके पूर्व ही हुई है यह निश्चित है ।

गुजरातके चालुक्यवशी नरेश कुमारपालके समयमें हुए आचार्य मलयगिरिने पञ्चसंग्रह पर टीका रची थी । अतः पञ्चसग्रहकी उत्तरावधि विक्रमकी बारहवीं शती निश्चित होती है । देखना यह है कि विक्रमकी सातवीं शताब्दीके अन्तसे लेकर बारहवीं शताब्दी पर्यन्त पाचसीं वर्षों के अन्दर पञ्चसग्रहकी रचना कब हुई ।

इस कालके बीचमें हुए ग्रन्थकारोंके ग्रन्थोंमें भी पञ्चसग्रहसे उद्धृत पद्य हमारे देखने में नहीं आये ।

पञ्चसग्रहसे भी कोई विशेष सहायता नहीं मिलती । हा, पञ्चसग्रहकी

१. 'क्षेसाणुक्कोसाओ मिच्छत्तट्ठिण ज लद्ध' ॥४८॥

—श्वे० प० स०, भाग १ पृ० २५५ ।

२ 'जीवाभिगमादौ आचार्योक्त जघन्यस्थितिपरिमाण पत्योपमासंख्येयभागन्यसुनुमुक्तम् श्वे० प० सं० पृ० २७७ ।

३. श० चू० गा० ३८-३९ मे—'जावन्ती अक्खराइ'—वि० भा० गा० ४४४ । 'इन्द्र यमणोणिमित—' वि० भा० गा० १०० ।

४ सव्वस्स केवलस्स वि जुगव' दो नत्थि उवओगा० 'वि० भा० गा० ३०९६ ।—श्वे० प० स०, भा० १, पृ० १० ।

स्वोपज्ञवृत्तिमें लिखा है कि कुछ 'आचार्य वामन को चौथा सस्थान मानते हैं किन्तु वह ठीक नहीं है। हमने खोजने पर गर्गणिके कर्मविपाकमें वामनको चौथा और कुब्जकको पाँचवा सस्थान पाया। यथा—

समचउरसे नगोहमंडले साइवामणे खुज्जे ।

हु डे वि य सठाणे तेसि सखुव इम होइ ॥१११॥

तब क्या पचसग्रहकारने 'केचित्' के द्वारा गर्गणिके मतका निर्देश किया है ? यदि ऐसा हो तो उन्हे गर्गणिके पश्चात्का ग्रन्थकार मानना होगा।

सिद्धिर्षि^१ आचार्यने अपनी उपमिति भव प्रपञ्चकथा वि० सं० ९६२ में रचकर समाप्त की थी। उसमें उन्होंने अपना परिचय देते हुए लिखा है कि लाट देशके निवृत्तिकुल में सूर्याचार्य हुए। उनका शिष्य छेल्ल महत्तर था जो ज्योतिर्विद था। उनका शिष्य दुर्गस्वामी था। उसने जैन साधुकी दीक्षा ली थी। उसका शिष्य मैं सिद्धिर्षि हूँ। सिद्धिर्षिने लिखा है कि मेरे गुरु दुर्गस्वामीको तथा मुझे गर्गस्वामीने दीक्षा दी थी। इन्हीं गर्गस्वामीको कर्म विपाकका रचयिता माना जाता है। अतः उसका समय विक्रमकी दसवीं शतीका पूर्वार्ध समझना चाहिए। और ऐसी स्थितिमें पचसग्रहकार चन्द्रर्षिको दसवीं शतीसे पहलेका विद्वान नहीं माना जा सकता। और इस आधार पर उनका समय विक्रमकी १० वीं शताब्दीका उत्तरार्ध माना जा सकता है। यद्यपि इस समयसे पहलेके रचे हुए ग्रन्थोंमें पचसग्रहके उद्धरण हमारे देखनेमें नहीं आये और इसलिए उक्त समयमें कोई असमजसता प्रतीत नहीं होती। तथापि उक्त आधार इतना पुष्ट नहीं है जिसके आधार पर उक्त समयको निर्विवाद रूपसे माना जा सके। क्योंकि गर्गर्षिने अपने कर्म विपाकमें जो वामनको चौथा सस्थान गिनाया है सम्भव है किसी अन्य आधार पर गिनाया हो और उसीका निर्देश पंचसग्रहमें किया गया हो।

यद्यपि शतक चूर्णि हमें पचसग्रहकार रचित प्रतीत नहीं होती तथापि उसके आधार पर भी उसके कर्ताके विषयमें, चाहे वह चन्द्रर्षि हो या अन्य, विचार करना आवश्यक है।

शतक चूर्णिमें ग्रन्थान्तरोसे उद्धृत पद्योका बाहुल्य है और वही एक ऐसा स्रोत है जिसके द्वारा चूर्णिके रचना कालके सम्बन्धमें किसी निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है।

१ 'वामनस्य केचित्चतुर्थं (र्थ सं०) स्थान वदन्ति तन्न भवतीति ।'—श्वे० प० सं०, भा० १, पृ० २२० ।

२ जै० सा० ३० (गु), पृ० १८२ ।

यह तो हम लिख ही आये हैं कि उसमें विशेषावश्यक भाष्यसे उद्धरण दिये गये हैं और उनके आधार पर उसके रचना कालकी पूर्वावधि निश्चित हो जाती है। अन्य उद्धरणोंके स्थानका पता न लग सकनेसे अथवा उनके स्थल में विवाद होनेसे किसी निष्कर्ष पर पहुचने में जो कठिनाई उपस्थित होती है उसका विवरण दिया जाता है।

दि० पंचसंग्रहका समय निर्णीत करते हुए यह लिख आये हैं कि शतक चूर्णिकार उससे परिचित थे। उसकी पुष्टिमें एक उद्धरण और भी मिलता है। नीचे लिखी गाथा श० चू० में उद्धृत है—

‘ज सामणं गहणं भावाण णेवकट्टु आगार ।

अविसेसिरुण अत्थे दसणमिई वुच्चए समए ।’—श० चू० पृ० १८ ।

यह गाथा दि० पं० सं० के प्रथम अधिकारकी १३८ वीं गाथा है। यह ध्वलामें भी उद्धृत है और द्रव्य संग्रहमें तो इसे मूलमें सम्मिलित कर लिया गया है। शतक चूर्णिकार यह गाथा अन्य श्वेताम्बर टीकाओं में भी उद्धृत की गयी है। यथा कर्मविपाक नामक प्रथम नव्य कर्म ग्रन्थकी गाथा १० की टीकामें वह उद्धृत है और सम्पादक ने उसे बृहद्द्रव्यसंग्रहकी वतलाया है। किन्तु मूलमें वह दि० पं० सं० की ही है। अतः शतक चूर्णिकार दि० प० सं० से अवश्य सुपरिचित थे। अस्तु,

शतक गाथा ९ की चूर्णिकार गुणस्थानोका कथन करते हुए अनेक गाथाएँ उद्धृत की गयी हैं। उनमें से प्रथम गुणस्थानके वर्णनमें नीचे लिखी ५ गाथाएँ एक साथ क्रमवार उद्धृत हैं—

उक्तंच— मिच्छत्त तिमिर पच्छाइयदिट्ठी रागदोससंजुत्ता ।

धम्म जिणपणत्त भव्वावि णरा ण रोचेन्ति ॥१॥

मिच्छादिट्ठी जीवो उवइट्ठ पवयण ण सदहइ ।

सदहइ असम्भाव उवइट्ठ वा अणुवइट्ठं ॥२॥

पदमक्खरं च एककपि जो ण रोएइ सुत्तणिदिट्ठं ।

सेसं रोएन्तो वि हु मिच्छादिट्ठी मुण्येव्वो ॥३॥

सुत्त गणहरकहियं तहेव पत्तेयबुद्धकहियं च ।

सुयकेवलिणा रइय अभिण्णदसपुग्गिणा कहिय ॥४॥

अहवा—त्त मिच्छत्त जमसदहण तच्चाण जाण अत्थाण ।

स इयमभिग्गहियं अणभिग्गहियं च त तिविहं ॥५॥’

इनमें से गाथा २ तथा ५, दि० प० सं० के प्रथम अधिकारकी ८ वीं तथा

७ वी गाथा है। तथा ३, ४, ५, भगवती आराधनामें हैं और उनकी सख्या क्रमश ३९, ३४, और ५६ है। गाथा न० ४ के पाठमें थोडा भेद है जो इसप्रकार है—

सुत गणधरगथिद तहेव पत्तेय बुद्धकहिय च ।

सुदकेवलिणा कहिय अभिण्णदसपुण्विगधिद च ॥३४॥

श्वेताम्बर साहित्यमें बृहत्सग्रहिणीमें गा० ३-४ पाई जाती है और उनका नम्बर १५३-१५४ है। तथा उसमें 'कहिय' आदिके स्थानमें सर्वत्र 'रइय' पाठ है।

इस तरह उक्त पाच गाथाओंमें से फुटकर रूपमें कुछ गाथाए दोनो परम्परा-ओके साहित्य में मिलती है। किन्तु लगातार पाचो गाथाए इसी क्रमसे किसी ग्रन्थमें नहीं मिलती और इसलिए यह निर्णय करना अशक्य है कि चूर्णिकारने इन्हें अमुकग्रन्थ से उद्धृत किया है।

खोजते खोजते हमें ये गाथाए इसी क्रमसे एक अन्य ग्रन्थमें भी उद्धृत मिली। सिद्धसेन गणिकृत तत्त्वार्थ भाष्यकी टीका (अ ८ सूत्र १० में) में ये गाथाए इसी क्रमसे उद्धृत हैं। केवल पाचवी गाथाकी प्रथम पक्तिके अन्तिम शब्द 'अत्या-ण' के स्थानमें 'भावाण' पाठ है।

परन्तु चौथी गाथा उद्धृत नहीं है उसके स्थानमें उसी आशयकी दो सस्कृत आर्याए इसप्रकार उद्धृत है—

'सूत्र तु प्रतिविशिष्टपुरुषप्रणीतमेव श्रद्धागोचर इति यथोक्तम्—

अर्हत्प्रोक्त गणधरदृब्धं प्रत्येकबुद्धदृब्ध वा ।

स्थविरग्रथितं च तथा प्रमाणभूतत्रिधा सूत्रम् ॥१॥

श्रुतकेवली च तस्मादधिगतदशपूर्वकश्च तौ स्थविरौ ।

आप्ताज्ञकारित्वान्च सूत्रमितरत् स्थविरदृब्ध ॥२॥

'सुत' गणधर कहियं', आदि गाथाके अभिप्रायसे उक्त सस्कृत आर्याओंके अभिप्रायमें कोई अन्तर नहीं है। गाथामें श्रुतवली रचितको तथा दसपूर्वी रचित-को सूत्र कहा है। सस्कृत पद्योंमें उन दोनोको स्थविर बतलाते हुए स्थविर रचितको सूत्र कहा है। हमारा विश्वास है कि शतक चूर्ण तथा सि० टीकाके बीचमें अवश्य ही आदान-प्रदान हुआ है और उन दोनोमें से एकने दूसरेका अनु-करण किया है। उसके बिना विभिन्न ग्रन्थोंसे सकलित की गयी गाथाए उसी क्रमसे दोनोमें नहीं मिल सकती।

हमारे उक्त विश्वास का आधार केवल उक्त गाथाए ही नहीं हैं, किन्तु दोनो ग्रन्थोंमें समान रूपसे पाये जानेवाले उद्धरणोंका तथा वाक्योंका बाहुल्य है।

ऐसी स्थितिमें शतकचूर्णिका अनुकरण मित्रमेन ने किया हो यह सम्भव है यद्यपि निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता ।

नवागवृत्तिकार अभयदेवसूरिने सप्ततिका या सित्तरी पर एक भाष्य रचा था । इसके प्रारम्भमें उन्होंने लिखा^१ है कि यह भाष्य में सित्तरीकी चूर्णिके अनुसार लिखता हूँ । अतः 'अभयदेवसूरि (१०८८-११३५ स०) से पहले सित्तरी चूर्णिकी रचना हो चुकी थी । और सित्तरीचूर्णिके पहले शतकचूर्ण रची जा चुकी थी । यह उसके देगनेमें प्रकट होता है ।

सि० चू० में कई स्थलों पर 'एयासि अत्यनविवरणा जहा मयगे' (पृ० ३), आदि पदोंके द्वारा कर्मोंके भेद-प्रगोदोका, गुणम्यानोका, जीवम्यानोका, विवरण शतक ग्रन्थकी तरह कहा है । मूल शतक ग्रन्थमें तो उनके नाममात्र गिनाये हैं, उनका विवरण तो चूर्णिके ही पाया जाता है । अतः यही स्वीकार करना पड़ता है कि सि० चू०के कर्तानि 'शतक' नामसे शतकचूर्णिका ही निर्देश किया है । अतः जब सि० चू० वि० स० ११००में पहले रची जा चुकी थी तो शतकचूर्ण उससे भी पहले रची गयी थी । और इसलिये शतकचूर्णिकी रचना की उत्तरावधि विक्रम की दसवीं शती मान लेना उचित होगा ।

अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि शतक चूर्णिके वि० सं० ७५०-१००० तकके कालमें किसी समय रची गयी है । और यदि पञ्चसग्रहकार श्री चन्द्रर्षि महत्तर उसके रचयिता हैं तो कहना होगा कि वे इसी कालमें किसी समय हुए हैं ।

और यदि पञ्चसग्रहमें निर्दिष्ट मत गर्गपिके कर्मविपाकका है तो उन्हें विक्रमकी दसवीं शताब्दीके अन्तका विद्वान् मानना होगा ।

बृहच्चूर्ण और लघुचूर्ण

शतककी हेमचन्द्राचार्यरचित वृत्तिसे तथा मलयगिरिकी कुछ टीकाओंसे प्रकट होता है कि शतकपर दो चूर्णियाँ थी—एक बृहच्चूर्ण और एक लघुचूर्ण । प्रकृत शतकचूर्ण लघुचूर्ण है ।

हेमचन्द्र ने अपनी शतक वृत्तिके प्रारम्भमें लिखा^१ है कि यद्यपि पूर्व चूर्णिकारो-

१ 'नमिज्ज महावीर कम्मट्ठपरूवण करिस्सामि बभोदयसत्तोहि सत्तरियाचुत्तिअनुसार

॥१॥ —स० भा० ।

२ जै० सा० ३० (गु०), पृ० २१७ ।

३ 'इदं च यद्यपि पूर्वचूर्णिकारैरपि व्याख्यातम्, तथापि तच्चूर्णीनामसिद्धिर्भावीति ।'

ने भी शतकका व्याख्यान किया है, तथापि उनकी चूर्णियाँ अति गम्भीर हैं ।^१ यहाँ उन्होंने 'चूर्णिकारै' और 'चूर्णिनाम्' लिखकर बहुवचनका प्रयोग किया है । जिससे प्रकट होता है कि शतकपर अनेक चूर्णियाँ थी । किंतु दो चूर्णियोंके ही उल्लेख मिलनेसे यह स्पष्ट है कि शतकपर दो चूर्णियाँ अवश्य थी और उनमें सैद्धांतिक मतभेद भी था ।

उपलब्ध 'लघुचूर्णिमें वेदक, औपशमिक और क्षायिक सम्यग्दृष्टियोंमें सञ्जी-पर्याप्तक और सञ्जी अपर्याप्तक दो जीवसमास बतलाये हैं । किंतु हेमचन्द्रने अपनी वृत्तिमें 'अन्ये' करके औपशमिक सम्यग्दृष्टिके सञ्जी अपर्याप्त होनेका निर्देश किया है किंतु इसे मान्य नहीं किया और अपने समर्थनमें बृहच्चूर्णिके मतका उल्लेख किया है । उसमें लिखा है कि—जो 'उपशम सम्यग्दृष्टी उपशम श्रेणिमें मरण करता है वह प्रथम समयमें ही सम्यक्त्वपुञ्जको उदयावलीमें लाकर उसका वेदन करता है । अतः उपशमसम्यग्दृष्टी अपर्याप्त नहीं होता ।'^२

शतक गाथा ३५ में दशवै गृणस्थानमें शुक्लध्यान बतलाया है । श्वेताम्बर परम्परामें इस विषयमें मतभेद है । अतः 'लघुचूर्णिमें'^३ लिखा है कि श्रेणिमें धर्म और शुक्ल दोनों हो सकते हैं । उसीको लेकर हेमचन्द्रने अपनी वृत्तिमें लिखा^४ है कि लघुचूर्णिके अनुसार श्रेणिमें स्थित जीवके धर्म और शुक्ल ध्यान दोनों ही अविरोध हैं । किन्तु बृहच्चूर्णिका अभिप्राय है कि सरागीके चाहे वह सूक्ष्म सराग भी हो, धर्मध्यान ही होता है ।^५

१ 'समत्ते ति, सम्मदिट्ठी खइग-वेयगउवसम-सासण-सम्मामिच्छ-मिच्छदिट्ठी थ, तत्थ वेयग उवसम-खइयसम्मदिट्ठिसु दो दो जीवट्ठाणाणि सन्निपज्जत्त-अपवत्तगाणि ।'

श० चू०, पृ० ५ ।

२. 'अन्ये तु सन्निपचेन्द्रियस्यापर्याप्तकस्याप्यौपशमिकसम्यक्त्व यर्णयन्ति, तच्च नाव-गच्छामस्तथाहि ... उपशमश्रेणौ मृत्वाऽनुत्तरसुरेष्टूपन्नस्यापर्याप्तकस्यैतल्लभ्यते इति चेत् ? ननु एतदपि न बहुमान्यामहे तस्य प्रथम समये एव सम्यक्त्वपुद्गलोदयात् । उक्तं च बृहच्चूर्णावस्मिन्नेव विचारे—'जो उवसम्मसम्मदिट्ठी उवसमसेदीए काल करेइ, सो पढमसमये चेव सम्मत पुंज उदयावलिआए छोहण सम्मतपुग्गले वेएइ, तेण न उवसमसम्मदिट्ठि अपज्जगो लब्भइ ।' इत्यादि ।'—श० वृ०, पृ० १०-११ ।

३ 'सुक्कज्झाणगगहण किंणिमित्त' इति चेत् ? भन्नइ, सेदीए धम्मसुक्कज्झाणाइ सवि-गप्पाइ अविरोद्धाइति 'तद्वोधनार्थं तु सुक्कज्झाणगगहण ।'—श० चू०, पृ० १७ ।

४. श्रेणि व्यवस्थितस्य हि जन्तोर्धर्मशुक्लध्यानद्वयमपि लघुचूर्ण्याद्यभिप्रायेणाविरुद्धमिति शुक्लध्यानस्यपि ग्रहणमिह न विरुध्यते—बृहच्चूर्ण्यभिप्रायस्तु सरागस्य सूक्ष्मसरागस्यापि धर्मध्यानमेव—श० वृ०, पृ० ३७ ।

आचार्य मलयगिरिने भी 'पंचसंग्रह तथा 'कर्मप्रकृति' टीकामें 'उक्तच 'शतकचूर्णों' लिखकर उद्धरण दिये हैं ।

उक्त उल्लेखोंमें स्पष्ट है कि शतककी पृष्ठचूर्णि १२वीं शतीमें विद्यमान थी । आज यह अनुपलब्ध है । अतः उसके कर्ता, काल आदिके सम्बन्धमें कुछ भी कहना शक्य नहीं है । किन्तु यह उल्लेखनीय है कि शतककी लघुचूर्णिमें किसी अन्य चूर्णि का निर्देश नहीं है । अतः मग्य है उसकी रचना लघुचूर्णिके पदनात् हुई हो । उसके लिए पृष्ठचूर्णिके कारण उगता बड़ा होना ही प्रतीत होता है, क्योंकि लघुचूर्णिका परिमाण लघु है तथा यू यू के रचयिता कोई कामिक न होकर गैद्वान्तिक ही प्रतीत होते हैं, क्योंकि उन्होंने गैद्वान्त पक्षको ही अपनाया है ।

सित्तरी चूर्णि

सित्तरी अथवा सप्ततिकापर भी एक चूर्णि है जो मुक्तावाह्य ज्ञान मन्दिर डभोर्से प्रकाशित हुई है । इसके भी कर्ता का नामादि अज्ञात है । इस चूर्णिमें गस्तुतका मिश्रण नहीं है और न उद्धृत पद्योंका बाहुल्य है । चूर्णिकारने परिमित शब्दोंमें गाथाके अभिप्रायको स्पष्ट करनेका ही प्रयत्न किया है और यथास्थान अन्य आचार्योंके श्लोका भी निर्देश किया है । यथा स्थान कुछ ग्रन्थोंके नामोंका भी निर्देश किया है । वे ग्रन्थ हैं—कम्मपगट्टि संग्रहणी (कर्मप्रकृति संग्रहणी), कसायपाहुड, मग्य (शतक) और सतकम्म ।

कर्मप्रकृति संग्रहणी तो शिद्वशर्म रचित कर्मप्रकृति है : उसको देखनेका निर्देश चूर्णिकारने कई जगह किया है । किन्तु सप्ततिका और कर्मप्रकृतिमें निर्दिष्ट नाम-कर्मके बन्धस्थानोंमें अन्तर है । सप्ततिका में नामकर्मकी ९३ प्रकृतियाँ मानकर बन्धस्थानोंका कथन किया है और कर्मप्रकृतिमें बन्धन और सघातको शरीरमें सम्मिलित न करके नाम कर्मकी प्रकृतियाँ १०३ मानी हैं । अतः उसमें १०३ को लेकर नामकर्मके बन्धस्थानोंका कथन किया है । यहाँ चूर्णिकारने कर्मप्रकृतिमें निर्दिष्ट १०३ आदि बन्ध स्थानोंको युक्तिसंगत^१ नहीं माना ।

जहाँ तक हम जान सके हैं, श्वेताम्बर साहित्यमें सित्तरीचूर्णि ही एक ऐसा ग्रन्थ है जिसमें कसायपाहुडका उल्लेख है । यह कसायपाहुड गुणधररचित वही कसाय पाहुड है जिसपर यतिवृषभके चूर्णिसूत्र है । चूर्णिकारने उसका निर्देश तीन

१. प० स० टी०, भा० १, पृ० १७ तथा १८ ।

२. क० प्र० टी०, पृ० ५१ ।

३. 'एत्थ अण्णे अण्णारिसाणि सत्तट्ठाणाणि विगप्पयन्ति । ताणि आगम जुत्तीट्ठि न षडति ।

—सि० चू०, पृ० २७ ।

स्थानोपर किया है । एक जगह लिखा^१ है कि कृष्टियो का लक्षण जैसा कसायपाहुडमें कहा है वैसा जानना । दूसरी जगह लिखा^२ है कि अपूर्व करण और अनिवृत्तिकरणके कालोके विषयमें अनेक वक्तव्यता है सो जैसे कसाय-पाहुड वा कर्मप्रकृतिसग्रहणीमें कहा है वैसे कहना चाहिए ।^३ यह सब कथन कसाय-पाहुडके चारित्र मोह क्षपणा नामक अधिकारमें है । चूर्णिकारने शतकका निर्देश भी अनेक स्थलो पर किया है । किंतु जिन विषयोके लिये शतकका निर्देश किया गया है वे विषय मूल शतकमें नहीं है, किंतु उसकी चूर्णिमें है । अतः शतक नामसे चूर्णिकारने उसकी चूर्णिका ही निर्देश किया है । यथा—^४ आठो कर्मोंके अर्थका विवरण जाननेके लिये शतकका निर्देश किया गया है । किंतु शतक गा० ३८ में आठो कर्मोंके नाम मात्र गिनाये हैं । और गाथा ३९ में उन आठो कर्मों की अवान्तर प्रकृतियोंकी सख्या मात्र । बतलाई है किंतु उनकी चूर्णिमें आठो कर्मों और उनकी उत्तर प्रकृतियोंका कथन विस्तारसे किया है । इसी तरह जीवस्थान^५ और भृगुस्थानोका विवरण जाननेके लिए चूर्णिकारने शतकको देखनेका निर्देश किया है किंतु मूल शतकमें उनका विवरण नहीं है, चूर्णिमें है । अतः यह निश्चित है कि शतक नामसे चूर्णिकारने शतकका ही निर्देश किया है ।

रचनाकाल

मलयगिरिने अपनी सप्ततिका टीकाके आरम्भमें लिखा है—

चूर्णयो नावगम्यन्ते सप्ततेर्मन्दबुद्धिभि

तत स्पष्टावबोधार्थं तस्याष्टीका करोम्यहम् ॥

अर्थात् मन्दबुद्धि लोग सप्ततिका चूर्णियोंको नहीं समझ सकते । इसलिए बोध करानेके लिए मैं उसकी टीका करता हूँ ।

बहु वचनान्त चूर्णय' पदसे तो यही व्यक्त होता है कि सप्ततिका अनेक चूर्णियाँ थी । किंतु मलयगिरिने अपनी टीका प्रकृतचूर्णिके आधारपर ही रची है, यह बात टीकामें प्रमाण रूपसे उद्धृत चूर्णवाक्योंसे प्रमाणित होती है । अतः विक्रमकी बारहवीं शतीसे पहले इस चूर्णिका रचना हो चुकी थी ।

१ 'तेसिं लक्खणं जहा कसायपाहुडे ।'—सि० चू०, पृ० ६६ ।

२ एत्थ अपुव्वकरण अणियट्ठिअद्धासु अणेगाइ' वत्तव्वगाइ' जहा कसायपाहुडे कम्मपगाडि सगहणीए वा तहा वत्तव्व । —सि० चू०, पृ० ६२ ।

३. 'तत्थ मूलपगती अट्ठविहा, त जहा—णाणावरणिज्ज जावतराधिचमिति । एयासि अत्य विवरणा जहा सयगे ।'—सि० चू०, पृ० ३ ।

४ 'जीवट्ठाणाण विवरण जहा सयगे' —सि० चू०, पृ० ४ ।

५ 'मिच्छादिट्ठीपमिती जाव अजोगित्ति, एयासि विवरण जहा सयगे'—सि चू पृ ४ ।

सप्ततिका भाष्यके रचयिता नारायणवृत्तिकार अभयदेवसूरिने अपने भाष्यके प्रारम्भमें लिखा है कि सप्तति चूर्णिके अनुसार में आठों कर्मोंका कथन करेगा । अभयदेवसूरिका अवसान वि० म० ११३५ में हुआ । अतः मित्तरी चूर्णिकी रचना उससे पहले हुई । इस आगारपर उसके रचनाकालकी उत्तरायधि विक्रमकी ११वीं शती निर्णीत होती है ।

तथा चूर्णिक मित्तरी चूर्णमें षतक नामने षतकचूर्णिका निर्देश किया है और षतकचूर्णिका रचनाकाल वि. सं. ७५०-१००० निर्णीत किया गया है अतः चूर्णिकी रचना भी इसी कालके बीचमें षतकचूर्णिके पदनान् किमी समय होनी चाहिए ।

संभव है मित्तरीचूर्णिकारने जयधवलाटीकाको देगा हो और जैसे उन्होंने षतक नामने षतकचूर्णिका निर्देश किया है वैसे ही कसायपाहुड नामने उसकी जयधवलाटीकाका निर्देश किया हो क्योंकि उनके द्वारा चर्चित विषय जयधवला में स्पष्टरूपमें मिलते हैं, कसायपाहुड और चूर्णिगूणोंमें तो उनका संकेत अथवा निर्देशमात्र किया गया है ।



जैन साहित्यका इतिहास

द्वितीय भाग

पंचम अध्याय

उत्तरकालीन कर्म-साहित्य

पिछले अध्यायमे प्राचीन कर्म-साहित्यका इतिवृत्त निरूपित किया गया है । इस अध्यायमें विक्रमकी नवम शताब्दीसे उत्तरकालमें रचे गये कर्म-साहित्यका विवेचन निबद्ध किया जायगा ।

नि सन्देह उत्तरकालमें कई सारगर्भित कर्म-साहित्य सम्बन्धी कृतियाँ रची गयी हैं । लोकप्रियता और उपयोगिताकी दृष्टिसे इन रचनाओका अध्ययन कई शताब्दियोंसे अनवच्छिन्न रूपसे होता चला आया है । आचार्यकल्प पण्डित टोडरमल्लजीने गोमटसार जैसे ग्रन्थपर लोकभाषामे विशाल और विशद टीका लिखकर इस ग्रन्थका मर्मोद्घाटन किया है । यही कारण है कि आज भी जिज्ञासुओंके स्वाध्यायका वह विषय बना हुआ है ।

धवला और जयधवला जैसी प्रचुर प्रमेययुक्त टीकाओंने मूल ग्रन्थका रूप ग्रहण कर लिया तो इन ग्रन्थोंके आधारपर सक्षेपमें कर्म-सिद्धान्तका बोध करानेके हेतु उत्तरकालीन आचार्योंने स्वतन्त्ररूपमें कर्मसाहित्यका प्रणयन किया । उत्तरकालीन कर्मसाहित्यकी शैली, भाषा और वर्ण्य-विषयकी दृष्टिसे निम्न विशेषताएँ उपलब्ध होती हैं —

- १ सक्षेप किन्तु स्पष्ट रूपमें कर्मसिद्धान्तका निरूपण ।
- २ सस्कृत और प्राकृत दोनों ही भाषाओका उपयोग ।
- ३ वन्ध, उदय और सत्त्वका गुणस्थान क्रमसे स्पष्ट निर्देश ।
- ४ गणितका बीजक्रम और अकक्रम रूपमें आलम्बन ।
- ५ विभिन्न मत मतान्तरोका सक्षेपमें प्रकटीकरण ।
- ६ शैली प्रसाद गुण युक्त और प्रवाह पूर्ण ।
- ७ सरल और सुवोधताके हेतु काव्योपकरणोंकी योजना ।

उत्तरकालीन कर्मसाहित्य

करणानुयोग विषयक प्राचीन कर्मसाहित्यके उक्त विवरणके पश्चात् हम उत्तरकालीन कर्मसाहित्यकी ओर आते हैं । साहित्यके कालक्रमानुसारी पर्य-

वैक्षणमे ऐसा प्रतीत होता है कि साहित्यिक प्रतिभागों भी लाग होता गया है। चित्रगकी प्रथम महम्मदवीरों के मध्यकाल तक तथा उनके पदनाम्नी दो तीन गताव्दी पर्यन्त जैगी प्रतिभाओंने जन्म लिया, महम्मदवीरों के पर्यवसानके लगभग वैसी प्रतिभाएँ दृष्टिगोचर नहीं होती। आचार्य गुणधर, पुण्यदन्त भूतबली, आचार्य यतिनृपभ आदिमें जो वाग्मिता, पाण्डित्य, बहुश्रुतत्व और रचनाचातुर्य था, आचार्य धीरसेन तक वह मन्द हो चला था। सम्भवतः कर्मचिपयक आगमिक साहित्यके पारगाभी धीरसेन स्वामी, अन्तिम साहित्यकार थे जिन्होंने ध्वला और जयध्वला जैसे प्रमेयबहुल चिन्तित टीकाग्रन्थ रचे और उनमें पहले कर्मप्रकृति, पंचसग्रह जैसी गाथाबद्ध मौलिक कृतियाँ रची गईं।

उन रचनाओंके पदनात् जो कर्मचिपयक साहित्य उक्तकालमें रचा गया, वह प्रायः उन्हीका ऋणी है। या तो उन्हीके आधार पर उनका गकलन किया गया है या उन्हीको परिवर्तित किया गया है। सबसे प्रथम हम एक परिवर्तित या रूपान्तरित कृति की ओर आते हैं।

लक्ष्मणसुत डड्डाकृत पञ्चसग्रह

लक्ष्मणसुत डड्डाकृत पञ्चसग्रह एक दशक पूर्व ही प्राकृत पञ्चसग्रहके साथ भारतीय ज्ञानपीठके प्रकाशित हुआ है। उनको प्रकाशमें लानेका श्रेय इसके सम्पादक प० हीरालालजी निदान्त शास्त्री को है। इनसे पहले न इस नामके किसी ग्रन्थकार को सुना गया था और न उनकी उस कृतिका ही कहींसे कोई आभास मिला था। हाँ, प्रख्यात साहित्यकार आचार्य अमितगतिका एक पञ्चसग्रह कई दशक पहले श्री माणिकचन्द्र ग्रन्थमालासे प्रकाशित हो चुका था और पञ्चसग्रह नामकी एक वही कृति दृष्ट श्रुत और अनुभूत थी। इसी नामकी किसी अन्य कृतिकी कोई कल्पना भी नहीं थी। ये दोनों ही पञ्चसग्रह दि० प्राकृत पञ्चसग्रहके सस्कृत अनुष्टुपोमें परिवर्तित रूप हैं। यत अमितगति एक प्रख्यात ग्रन्थकार थे और उनके पञ्चसग्रह को प्रकाशमें आये कई दशक हो चुके थे। दूसरी ओर श्रीपालसुत डड्डा एक नये सर्वथा अपरिचित व्यक्ति थे। उनकी एकमात्र कृति भी नई ही प्रकाशमें आई थी। अतः सम्पादक प० हीरालालजी शास्त्रीने जब दोनोंका तुलनात्मक अध्ययन किया तो उन्हें लगा कि एकने दूसरेका अनुकरण किया है। किन्तु यह तो कल्पना करना कठिन था कि अमितगति जैसे प्रख्यात ग्रन्थकार डड्डा जैसे अज्ञात रचयिताका अनुकरण करेंगे। अतः उन्होंने यही माना कि डड्डाने अमितगतिकी नकल की है फिर भी डड्डाकी कृतिने शास्त्रीजीको प्रभावित किया। उन्होंने अपनी प्रस्तावनामें लिखा है—

१ डड्डा की रचना मूल गाथाओंकी अधिक समीप है, अमितगतिकी

नहीं। जीव समास प्रकरण की ७४वीं मूल गाथाका पद्यानुवाद जितना डड्डाका मूलके समीप है उतना अमितगतिका नहीं।

२ कितने ही स्थलो पर डड्डाकी रचना अमितगतिकी अपेक्षा अधिक सुन्दर है।

३ अमित गतिने 'जीव समास' की 'साहारणमाहारो' आदि तीन गाथाओं-को स्पर्श भी नहीं किया, किन्तु डड्डाने उनका सुन्दर पद्यानुवाद किया है। उक्त स्थल पर अमित गतिने गोम्मटसार जीवकाण्डकी 'उववाद मारणतिय' इत्यादि गाथाका आशय लेकर उसका अनुवाद किया है। किन्तु जीवसमास प्रकरणमें उक्त गाथाके न होनेसे डड्डाने उसका पद्यानुवाद नहीं किया।

४ कितने ही स्थलो पर डड्डाने अमितगतिकी अपेक्षा कुछ विषयोंको बढ़ाया भी है। यथा प्रथम प्रकरणमें धर्मोंका स्वरूप, योगमार्गणाके अन्तमें विक्रिया आदिका स्वरूप।

५ अमित गतिने सप्ततिकामें पृष्ठ २२१ पर श्लोक ४५३ में शेषमार्गणामें बन्धादित्रिको न कहकर मूलके समान 'पर्यालोच्यो यथागमम्' कहकर समाप्त कर दिया है। किन्तु डड्डाने श्लोक ३९० में 'बन्धादित्रय नेयं यथागमम्' कहकर भी उसके आगे समस्त मार्गणाओंमें बन्धादित्रिको गिनाया है जो प्राकृत पञ्च-सग्रहके अनुसार होना ही चाहिये।

इसतरह शास्त्रीजीने डड्डाकी रचनासे प्रभावित होनेपर भी उसे अमित-गतिकी अनुकृति बताया। किन्तु वस्तुस्थिति इससे विपरीत है।

रचनाकाल—

डड्डाके पञ्चसग्रहका अन्त परीक्षण करनेसे नीचे लिखे तथ्य प्रकाशमें आते हैं—

१ डड्डाने शतक प्रकरणमें पृ० ६८३ पर जो मिथ्यात्वके पाँच भेदोंका स्वरूप गद्यमें लिखा है वह पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धि (८।१) से लिया गया है अतः उनके पञ्चसग्रहकी रचना पूज्यपाद (वि०की छठी शताब्दी) के पश्चात् हुई है।

२ सप्ततिकामें (पृ० ७३७) 'उक्तच' करके जो कारिका दी गई है वह अकलकदेवके लघीयस्त्रयके सातवें परिच्छेदकी चतुर्थ कारिका है। अतः अकलकदेवके लघीयस्त्रयके (वि०की सातवीं शताब्दी) पश्चात् उक्त पञ्चसग्रह रचा गया है।

३ जीव समास प्रकरणमें (पृ० ६६७) 'उक्तञ्च सिद्धान्ते' करके जो वाक्य उद्धृत है वह वीरसेनकी ध्वला टीकाका है। अतः ध्वला टीका (नवमी शती) के पश्चात् उक्त पञ्च सग्रहकी रचना हुई है।

४ 'द्वारे प्रकृति समन्तात्' अगिज्ञानं (पृ० ६७४) 'उपज्ञा' करके जो श्लोक उद्धृत है वह अमृतचन्द्रके तत्त्वार्थशास्त्रके अन्तर्गत ग्याख्या श्लोक है। अतः पञ्चमग्रहकी रचना सातवें भाग (इगमी शती) के पञ्चात् हुई है।

इस तरह उद्धाते पञ्चमग्रहके समयादि पारिभाषिक विवरणकी इगमी शती निर्दिष्ट होती है। अब हम उनसाधित और आते हैं।

१ भाग्यार नन्दिने कथा रंगू पर गुणचोपिनी टीका स्वी है। इनके अनुसार अग्यायके द्वारे सुपरी टीकामें ग्यायके सम्बन्धमें पाँच श्लोक उद्धृत हैं। ये पाँचों श्लोक उद्धाते पञ्चमग्रहके हैं। भाग्यार नन्दिना समय १३-१४वीं शती है। अतः पञ्चमग्रह इनके पञ्चात् रचना नहीं है।

२ पञ्चान्विताय (भाषा ५६) की टीकामें जयसेनाचार्यने एक श्लोक उद्धृत किया है।

‘मोक्ष कुर्वन्ति मिश्रोपजमिक क्षायिज्ञभिधा ।

बन्धमोदयिता भावा निष्क्रिया पारिणामिता ॥’

यह उद्धाते पञ्चमग्रहका पाँचवाँ श्लोक है। जयसेनाचार्यकी टीका पर ब्रह्मदेवकी बृहद्संस्कृतग्रहका स्पष्ट प्रभाव है।

३ बृहद्संस्कृत ग्रहकी ४१वीं भाषाकी ब्रह्मदेव रचित टीकामें सम्भवत्वका माहात्म्य बतलानेके लिए प्रथम एक भाषा ‘हेट्ठिमच्छणुट्ठीण’ आदि उद्धृत की है जो गोम्मटमार जीवकाण्डकी १२८वीं भाषा है। इनके पश्चात् ही ‘उमी अर्थाने प्रकारातरने गर्हते हैं’ लिखकर तीन श्लोक उद्धृत किये हैं। ये तीनों श्लोक उद्धाते पञ्चमग्रहके जीवसमास प्रारम्भमें उमी क्रममें वर्तमान हैं और उनकी संख्या क्रममें २२७, २२९, २३० है। अतः ब्रह्मदेवजीकी उक्त टीकामें पूर्व उद्धाका पञ्चमग्रह रचा गया था।

इस तरह अमृतचन्द्र और ब्रह्मदेवके अन्तरालमें किसी समय उद्धाते अपना पञ्चमग्रह रचा था। आचार्य अमृतगति भी इसी अन्तरालमें हुए हैं। उन्होंने अपना पञ्चमग्रह वि०स० १०७०में समाप्त किया था। इस तरह उद्धाते के समयकी पूर्व और उत्तर अवधि निर्दिष्ट हो जाने पर भी यह निर्णय शेष रहता है कि दोनों पञ्चमग्रहोंमें से पहले किसकी रचना हुई थी ?

इसका अन्वेषण करते हुए हमें जयसेनाचार्यके धर्मरत्नाकरमें पचायती जैन मन्दिर देहलीकी प्रतिपे पृ० ६७ पर एक उद्धृत पद्य मिला—

‘वचनैर्हेतुभी रूपे । सर्वेन्द्रियभयावहै ।

जुगुप्साशिक्ष वीभत्सैर्नैव क्षायिकदृक् भवेत् ॥

यह उद्धाते पञ्चमग्रहके जीवसमास प्रकरणका २२३वाँ श्लोक है। अतः

यह निश्चित है कि धर्मरत्नाकरसे पूर्व डड्ढाका पञ्चसग्रह रचा गया है। धर्म-रत्नाकरमें उसका रचनाकाल वि०स० १०५५ दिया है। और अमित गतिके पञ्चसग्रहमें उसका रचनाकाल १०७० दिया है। अतः यह सुनिश्चित है कि अमितगतिके पञ्चसग्रहसे कम-से-कम दो दशक पूर्व डड्ढाका पञ्चसग्रह रचा गया है। इस विषयमें यह भी उल्लेखनीय है कि आचार्य नेमिचन्द्रके गोम्मटसार-का प्रभाव अमितगतिके पञ्चसग्रह पर है किन्तु डड्ढाके पञ्चसग्रह पर नहीं है। अतः गोम्मटसारकी रचना इन दोनों पञ्चसग्रहोंके रचनाकालके मध्यमें किसी समय हुई है।

डड्ढाके पञ्चसग्रहके अन्तमें ग्रथकारने अपना परिचय केवल एक श्लोकके द्वारा दिया है—

श्री चित्रकूटवास्तव्यप्राग्वाटवणिजा कृते ।

श्रीपालसुतडड्ढेण स्फुट प्रकृतिसग्रह ॥

यह श्लोक चतुर्थ शतक प्रकरणके भी अन्तमें आता है। उसमें अन्तिम चरण 'स्फुटार्थ' पञ्चसग्रहे' है। इससे प्रकट है कि ग्रन्थकारका नाम डड्ढा है और उनके पिताका नाम श्रीपाल था। श्लोकके पूर्वार्द्धका 'वणिजाकृते' पद गडबड है। 'वणिजा' पद तृतीयान्त होनेसे डड्ढाका विशेषण प्रतीत होता है जो बतलाता है कि वे चित्रकूट वासी और पोरवाड जातिके वणिक् थे। चित्रकूट चित्तौड़-का पुराना नाम है। आज भी उस ओर पोरवाड जातिका निवास है। किन्तु उक्त अर्थसे 'कृते' शब्द व्यर्थ पड़ जाता है। यदि यह अर्थ किया जाता है कि चित्रकूटवासी पोरवाड जातिके वणिक्के लिए रचा तो उस वणिक्का नाम ज्ञात नहीं होता। अस्तु,

विषय परिचय—

यतः यह पञ्चसग्रह प्राकृत पञ्चसग्रहका ही संस्कृत श्लोकोमें अनुवाद-रूप है अतः इसकी विषयवस्तु वही है जो प्राकृत पञ्चसग्रह की है। उसीके अनुसार इसमें जीवसमास, प्रकृतिसमुत्कीर्तन, कर्मस्तव, शतक और सप्ततिका नामक पाँच प्रकरण हैं। प्रा० प० स० के जीवसमास प्रकरणमें २०६ गाथा हैं और इसकेमें २५७ श्लोक हैं। इस अन्तरके कई कारण हैं। १ डड्ढाने प्रारम्भमें अपना मंगल पृथक् किया है। २ श्लोक ४-५ के द्वारा जीवके पाँच भाव गिनाकर उन्हें वन्ध और मोक्षका कारण कहा है। ३ श्लोक २०-२७ के द्वारा दस धर्मोंके नाम गिनाकर उनका स्वरूप कहा है। ४ वेदके कथनमें श्लोक १२८ से १३१ तक द्रव्यवेदके चिन्होंका कथन किया है। सारांश यह है कि प्रा० प० स० में वेदमार्गणाका कथन केवल आठ गाथाओंमें है। किन्तु इस स० प० स० में श्लोक

१२४ मे १३८ तक विस्तारमें वर्णन है । ५ इसी तरह प्रा० प० ग० में ज्ञान-मार्गणाका वर्णन केवल दस भाषाओंमें है । किन्तु ग० प० ग० में १५ छन्दोंके द्वारा वर्णन है । इनमें अधिज्ञानके भेदों और उनके स्वामियोंका भी कथन किया है जो मूलमें नहीं है । ६ छन्दोंका वर्णन मात्र सात विस्तार में है । ७ मम्मत्त-मार्गणाके वर्णनमें मध्य सात पाँच छन्दोंका स्वरूप विस्तारमें समझाया है । इन तरह प्रा० प० ग० के कथनमें हमें बहुत विस्तारमें कथन है ।

आचार्य अमितागति पं० ग० में भी ये सब कथन जो उद्देश्य विरोधरूपसे किये हैं, पाये जाने हैं—

देशों—जीवसमान प्रारणके प्रसंग अमितगति १९३-२०२ श्लोक । ज्ञान-मार्गणाका कथन, मेध्याका कथन तथा मम्मत्तमार्गणाका कथन ।

प्रा० प० ग० में भाषा १।१२८ के द्वारा इनका ही कहा है कि मंजिपनेन्द्रिय पर्याप्तक नील कान्यादिच्छिन्नाती प्राप्ति होनेपर मम्मत्तग्रहणके योग्य होना है । उद्देश्यमें मध्य सात पाँच छन्दोंका स्वरूप विस्तारमें रखा है । अमितगतिके भी तत्पार्यवर्तिका अनुकरण करने हुए और भी अधिक विस्तारमें इनका कथन किया है । तथा मम्मत्तके नीलों भेदोंका स्वरूप और उनके मम्मत्तमें विशेष बातें भी उद्देश्यका अनुकरण करते हुए कही हैं ।

फिर भी अमितगतिके इन प्रथम प्रकारणमें दो कथन ऐसे किये हैं जो उद्देश्यके पं० ग० में भी नहीं हैं । एक तो उन्होंने ३६३ मत्तोंका उपपत्तिपूर्वक कथन किया है जो गोमटमार कर्मकाण्डका ऋणी प्रतीत होता है । दूसरे, चौदह गुणस्थानोंमें जीवोत्ति मस्याका कथन किया है । यह कथन गोमटमार जीवकाण्ड (गा० ६२२-६३२) के अनुरूप है ।

दूसरे, प्रकृतिगमतीर्तनमें मूलकी तरह ही आठ कर्मोंकी प्रकृतियोंका कथन है । तीसरे कर्मस्वयमें गुणस्थानोंमें कर्मप्रकृतियोंके वक्ष्य उदय और मत्त्वका विवेचन मूलकी तरह ही प्रायः है ।

प्राक्त पञ्चनग्रहमें पूर्वमें बन्धव्युच्छिन्ति और पश्चात् उदयव्युच्छिन्ति जिन ८१ प्रकृतियोंकी होती है उनकी केवल मस्याका निर्देश है सं० पं० सं० में उनके नाम भी बताये हैं । इसी तरह आगे परोदयवन्धी प्रकृतियोंको बतलानेके पश्चात् मं० पं० मं० में एक गद्यवाक्यके द्वारा यह भी स्पष्ट किया है कि कथो ये प्रकृतियाँ परके उदयमें बंधती हैं । प्रा० पं० सं० में अपने उदय और परके उदयमें बन्धनेवाली प्रकृतियोंकी केवल संख्या दी है । किन्तु सं० पं० सं० में उनके भी नाम गिनाये हैं । अन्तमें गद्य द्वारा सान्तर और निरन्तर बन्धका गद्य द्वारा स्वरूप भी कहा है । इस तरह सं० पं० सं० में मूलसे वैशिष्ट्य भी है । अमितगतिके पं० सं० में ये सब कथन डब्बाके अनुसार ही किया गया है ।

शतक नामके चतुर्थ प्रकरणमें भी उस वैशिष्ट्यके दर्शन स्थान-स्थानपर होते हैं। यद्यपि सब मूल कथन प्राकृत पञ्च स० के अनुसार हैं किन्तु वर्णनके क्रममें व्यतिक्रम है। प्रा० प० स० में मार्गणाओमें जीवसमास, जीवसमासोंमें उपयोग, मार्गणाओमें उपयोग, जीवसमासोंमें योग, मार्गणाओमें योग, मार्गणाओमें गुण-स्थान, गुणस्थानोंमें उपयोग, योग और प्रत्ययका क्रमसे कथन है। किन्तु इस सं० प० स० में मार्गणाओमें जीवसमास, गुणस्थान, उपयोग योगका कथन करके फिर जीवसमासोंमें उपयोग और योग कथन है। तथा बन्धके कारणोंके भेद प्रभेदोंका कथन गद्य द्वारा स्पष्ट करते हुए बहुत विस्तारसे किया है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि डड्डाने विषयको व्यवस्थित और सुस्पष्ट करनेका भी प्रयत्न किया है। मतभेद भी कही-कही है। जैसे गाथा ४१में जहाँ चौदह योग कहे हैं वहाँ श्लोक १२ में पन्द्रह योग कहे हैं। अमितगतिने भी श्लोक १० में पन्द्रह योग कहे हैं।

प्रा० प० स० के शतकमें गाथा ३२५ के द्वारा कहा गया है कि गुणस्थानोंमें कहे गये प्रकृतिबन्धका स्वामित्व मार्गणाओमें भी लगा लेना। इस कथनका विवरण आगे भाष्य गाथाओंके द्वारा किया गया है। स० प० स० में गाथा ३२५ का रूपान्तर तो है किन्तु भाष्यगाथाओका नहीं है। अतः यह सब कथन स० प० स० में नहीं है। यही पर प्रकृति बन्धको समाप्त कर दिया है। अमितगतिने भी ऐसा ही किया है। किन्तु नवम गुणस्थानमें जो प्रत्ययके भेद कहे हैं। डड्डा ने तो प्रा० प० स० के अनुसार कहे हैं किन्तु अमितगतिने पृथक् ही कहे हैं।

प्रा० प० स० चौथे अध्यायमें नौवे गुणस्थानमें प्रत्ययोंमें भेद इस प्रकार वतलाये हैं—

सजलण तिवेदाण णव जोगाण च होइ एयदर ।

सढूण दुवेदाण एयदर पुरिसवेदो य ॥१९७॥

अर्थात् नौवे गुणस्थानके सवेद भागमें चार सज्वलनकषायमेंसे एक, तीन वेदोंमें से एक और नौ योगोंमें एक होता है। नपुसक वेदका उदय व्युच्छिन्न हो जाने पर दो वेदोंमेंसे एक वेदका उदय होता है और स्त्रीवेदका उदय व्युच्छिन्न हो जाने पर एक पुरुष वेदका उदय होता है।

अतः $४ \times ३ \times ९ = १०८$, $४ \times २ \times ९ = ७२$ और $४ \times १ \times ९ = ३६$ भग होते हैं इस तरह

$१०८ + ७२ + ३६ = २१६$ कुल भग होते हैं। ये सवेद भागके भग हुए।

चढु सजलण णवण्ह जोगाण होइ एयदरदोते ।

कोढूण माणवज्ज मायारहियाण एगदरगं च ॥१९८॥

अर्थात् अवेद भागमें चार गज्जलन कपायोंमें एकका तथा नी योगोंमें एकका उदय होता है । क्रोधकी उदय व्युत्पत्ति हो जाने पर तीन कपायोंमें एक का उदय होता है, मानकी व्युत्पत्ति हो जाने पर दो कपायोंमें एकका उदय होता है और मायाकी उदय व्युत्पत्ति हो जाने पर केवल एक लोभ कपायका उदय होता है । नीयोगोंमें एक गोगात्र उदय मरण रहता है । अतः $४ \times ९ = ३६$, $३ \times ९ = २७$, $२ \times ९ = १८$ और $१ \times ९ = ९$ इन प्रकार अवेद भागके $३६ + २७ + १८ + ९ = ९०$ भग होने हैं । कुल मिलाकर $२१६ + ९० = ३०६$ भग दोनों भागोंके होते हैं ।

किन्तु ग० गज्जलग्रहमें नीचे गृण स्थानके अवेदभागमें चार कपाय और नी योगोंमें एक एकका उदयकी अपेक्षा $४ \times ९ = ३६$ भग वतलाये हैं ।

यथा—उपन्यो प्रत्ययो जेयो तायवेदानिपुत्तिके ।

नज्जालेषु चतुर्थेत्तो योगाना नवके पर ॥६६॥

१ × १। भगा । ४।९ अन्योन्याम्यम्नी ।

तथा सवेद भागमें चार कपाय, तीन वेद और नी योगोंमें एक एकका उदय होनेमें $४ \times ३ \times ९ = १०८$ भग ही लिये हैं । यथा—

कपायवेद योगानामैकैकग्रहणे सति ।

अनिवृत्ते सवेदस्य प्रगृह्णा प्रत्ययास्यय ॥६७॥

भगा ४।३।९ अन्योन्याम्यम्ता १०८ ।

इन गृह्ण अनिवृत्तिद्वारा गुणस्थानके सवेद भाग और अवेद भागमें १४४ भग योगकी अपेक्षा मोहनीयके उदय स्थानोंके वतलाये हैं । आगे प्रा० पचसग्रहमें भी उतने ही भंग लिए हैं और गोम्मटमार कर्मकाण्डमें भी इतने ही लिए हैं । शायद इसीमें ग० पं०स० के कतनि उक्त स्थानमें १४४ भेदोंको ही रसकर जो सर्वसम्मत थे, शेषका उल्लेख नहीं किया । उस विषयमें मतभेद भी है ।

पाँचवें मष्टतिका कथन प्रा० पं०स० के ही समान है । मध्यमें कही-कही किसी कथनको डड्डाने छोड़ भी दिया है । जैसे प्रा० पं०स० में गतिमार्गणामे नामकर्मके उदयस्थानोंको कहनेके बाद गा० १९१-२०७ में इन्द्रिय आदि शेष मार्गणाओंमें भी नामकर्मके उदयस्थानोंका कथन है । किन्तु डड्डाने उसे छोड़ दिया है । अमितगतिये भी डड्डाका ही अनुसरण किया है । प्रा० पचसग्रहके पाँचवें अध्यायमें मनुष्यगतिये नामकर्मके २६०९ भग वतलाये हैं । किन्तु स० पं०स०में २६६८ वतलाये हैं । उक्त २६०९ भंगोंमें सयोग केवलिके ५९ भग और जोड़े हैं । ये भंग प्रा० पचसग्रहमें नहीं हैं । अमितगतिके पचसग्रहमें भी ऐसा ही है ।

दोनों ही स० पञ्चसग्रहमें एक उल्लेखनीय बात और भी है। प्रा०^१ पञ्च- तथा स० पञ्चसग्रहमें योगकी अपेक्षा गुणस्थानोंमें मोहनीयकर्मके उदय स्थानोंके भंग १३२०९ बतलाये हैं और कर्मकाण्डमें १२९५३ बतलाये हैं। इस अन्तरका कारण यह है कि 'कर्मकाण्डमें छोटे गुणस्थानमें आहारकका उदय स्त्रीवेद और नपुसकके उदयमें नहीं माना गया। अतः छोटे गुणस्थानमें भग पञ्चसग्रह की अपेक्षा २११२ होते हैं और कर्मकाण्डमें १८५६ होते हैं इस तरह २५६ का अन्तर पड़ता है।

इसमें उल्लेखनीय बात यह है कि दोनों ही स० पञ्चसग्रहमें प्रथम अध्यायमें एक 'श्लोकोके द्वारा इस बातको स्वीकार किया है कि आहारक ऋद्धि, परिहार विशुद्धि, तीर्थकर प्रकृतिका उदय और मन पर्ययज्ञान ये स्त्रीवेद और नपुसकवेदके उदयमें नहीं होते। फिर भी आगे प्राकृत पञ्चसग्रहके अनुसार ही मोहनीयके उदय विकल्पोंका कथन किया गया है।

सप्ततिकाके पश्चात् इस स० प० स० में चूलिका भी है और उसमें ८४ श्लोकोके द्वारा मार्गणाओमें बन्ध स्वामित्वका विशेष रूपसे कथन है। इसके प्रारम्भ में कहा है कि यद्यपि आठकर्मोंकी सब प्रकृतियाँ १४८ हैं किन्तु उनमेंसे अठाईसको बन्धमें नहीं गिना जाता है। वे हैं—सम्यक्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व, पाँच बन्धन, पाँच सस्थान और रूप रस गन्ध स्पर्शके भेदोंमेंसे केवल चार मूल भेदोंको छोड़ कर १६। अतः बन्ध प्रकृतियाँ एक सौ बीस हैं। इनके बन्ध अबन्ध और बन्ध-व्युच्छित्तिका कथन चौदह मार्गणाओमें किया है। कर्मस्तव अधिकारमें गुण-स्थानोंमें तो कथन है कि किन्तु मार्गणा स्थानोंमें नहीं है।

यह चूलिका प्रा० प० स० में नहीं है। किन्तु अमितगतिके पञ्चसग्रहमें है।

१. तेरस चैव सहस्सा वे चैव सया हवति नव चैव। उदयवियप्ते जाणसु जोग पडि मोहणीयस्स ॥३३७॥ —प्रा० पञ्चसग्रह, अ० ५।

'मोहनोदयभगा ये योगानाश्रित्य मेलिता। नवोत्तरशते ते द्वे सहस्राणि त्रयोदश ॥७४२॥ —स० प०स०, पृ० २०७।

२ 'तेवण्ण णव सयाहिय वारससहस्सप्पमाणमुदयस्स। ठाणवियप्ते जाणसु जोग पडि मोहणीयस्स ॥४९८॥'—गो० कर्मकाण्ड।

३ कर्मका०, गा० ४९६-४९७।

४ 'आहारद्धि परीहारस्तीर्थकृत्यवेदनम्। नोदये तानि जायन्ते स्त्रीनपुसक-वेदयो ॥३४३॥'—अभि०स० प०स०, पृ० ४७।

आहारद्धि परिहारो मन पर्यय इत्यमी। तीर्थकृच्चोदये न स्यु स्त्रीनपुसक-वेदयो ॥ —डड्डा पृ० १२५५।

अतः यह स्पष्ट है कि अमितगतिने डड्ढाके पचसग्रहके प्रत्येक कथनको अपनाया है। उद्धृत पद्यो तकको भी अपनाया है।

यद्यपि अमितगतिने अपना पञ्चसग्रह गोम्मटसारके पश्चात् रचा क्योंकि उसमें उन्होंने गो० सा० का उपयोग किया है। तथापि प्रसंगवश उनका परिचय पूर्वमें दिया जाता है। क्योंकि उनके स० प० स० का अलगसे परिचय देना अनावश्यक है।

स० पं० स० के रचयिता अमितगति^१

विक्रमकी ग्यारहवीं शताब्दीमें अमितगति नामके एक आचार्य हो गये हैं। उन्होंने वि० स० १०७३ में अपना संस्कृत पञ्चसग्रह रचकर समाप्त किया था। यह माथुर सघके थे। देवसेन सूरिने अपने दर्शनसारमें माथुरसघ को पाँच जैना-भासोमें गिनाया है। माथुरसघ को निपिच्छिक भी कहते थे, क्योंकि इस सघके मुनि मोरकी या गौकी पिच्छि नहीं रखते थे।

अमितगतिने अपनी धर्म परीक्षाकी प्रशस्तिमें अपनी गुरु परम्परा इस प्रकार दी है—वीरसेन, उनके शिष्य देवसेन, देवसेनके शिष्य अमितगति (प्रथम), उनके नेमिपेण, नेमिपेणके माधवसेन और उनके शिष्य अमितगति।

तथा अमितगतिकी शिष्य परम्पराका पता अमर कीर्तिके छक्कमोवएससे लगता है जो इस प्रकार है—अमितगति, शान्तिपेण, अमरसेन, श्रीपेण, चन्द्रकीर्ति और चन्द्रकीर्तिके शिष्य अमरकीर्ति।

प० विश्वेश्वरनाथ रेऊके कथनानुसार अमितगति वाक्पतिराज मुजकी सभाके एकरत्न थे। अपने ग्रन्थोमें उन्होंने मुज और सिन्धुलका उल्लेख किया है। ये दोनों मालवेके परमार राजा थे और उनकी राजधानी धारा थी। अमितगतिने वि० स० १०५० में पौष शुक्ल पचमीके दिन अपना सुभाषित रत्न सन्दोह समाप्त किया था, उस समय राजा मुँज पृथ्वीका पालन करते थे।

अमितगति बहुश्रुत थे। उन्होंने विविध धार्मिक विषयो पर ग्रन्थोंका निर्माण किया है। उनके सब उपलब्ध ग्रन्थ संस्कृतमें हैं। वि० स० १०५० में उन्होंने सुभाषित रत्न सन्दोह नामक ग्रन्थका निर्माण किया। इसमें सासारिक विषय निराकरण, माया अहंकार निराकरण, इन्द्रिय निग्रह, स्त्री गुणदोष विचार आदि

१ देखो—‘जै० सा० ३०’ में पृ० २७५ पर ‘अमितगति’ शीर्षक निबन्ध।

२ ‘समारूढे पूतत्रिदशवसति विक्रमनृपे। सहस्रे वर्षाणा प्रभवति हि पचा-
शदधिके ॥ समाप्ते पचम्याभवति धरणी मुँजनृपतौ, सिते पक्षे पौषे बुधहित-
मिदं शास्त्रमनघम् ॥१२२॥—सुभा० २०।

वत्तीस प्रकरण है। अन्तमें श्रावक धर्मका निरूपण है। पूरे ग्रन्थमें ९२२ पद्य हैं। सं० १०७० में धर्म परीक्षाकी रचना की थी। इसमें सुन्दर कथाके रूपमें पुराणोकी उटपटाग कथाओं और मान्यताओंकी मनोरञ्जक रूपमें हँसी उड़ाई है। एक उपासकाचार रचा था जो अमितगति श्रावकाचारके नामसे प्रसिद्ध है। आराधना नामसे शिष्यार्थकी प्राकृतमें निबद्ध भगवती आराधनाका संस्कृत पद्योमें अनुवाद किया था। इसके सिवाय गामायिक पाठ, भावना द्वात्रिंशति भी रचे थे। इन ग्रन्थोंमें उनका रचनाकाल नहीं दिया। १०७३ सं०में संस्कृत पञ्चसग्रहकी रचना मसूतिका पुरमें की थी। यह धारके पास उसमें सात कोस दूर मसीद विलौदा नामक गाँव बताया जाता है।

गोम्मटसार और उसके कर्ता

विक्रमकी नौवीं शताब्दीमें धवला और जयधवलाकी रचना होनेके पश्चात् इन दोनों टीका ग्रन्थोंने अपने मूल ग्रन्थोंके सिद्धान्त नामको अपना लिया और ये दोनों धवलसिद्धान्त और जयधवल सिद्धान्तके नामसे ख्यात हो गये। वि० सं० १०२२ में रचकर समाप्त हुए पुष्पदन्त कविके महापुराणमें उनका स्मरण इन्हीं नामोंसे कविने किया है। यह हम पहले भी लिख आये हैं।

पट्खण्डागम और कसायपाहुडपर टीकाओंका निर्माण बराबर होता रहा है यह भी पहले विस्तारमें लिख आये हैं, और उन्हींके द्वारा कालक्रमसे उनके पठन-पाठनकी प्रवृत्ति भी चालू रही है। धवला और जयधवला टीकाके निर्माणके पश्चात् भी वह प्रवृत्ति चालू रही, किन्तु उसका आधार ये दोनों टीकाएँ हो गई और धवल तथा जयधवल सिद्धान्त ग्रन्थोंका अभ्यास एक बहुत ही महत्वपूर्ण मापदण्ड सिद्धान्त विषयक विद्वत्ताका माना जाने लगा।

विक्रमकी ग्यारहवीं शताब्दीमें दक्षिणमें नेमिचन्द्र नामके एक आचार्य हुए। उनकी उपाधि 'सिद्धान्त चक्रवर्ती' थी। ये दोनों सिद्धान्त ग्रन्थोंके अधिकारी विद्वान् थे। इन्होंने धवल सिद्धान्तका मथन करके गोम्मटसार नामक ग्रन्थकी रचना की और जयधवल सिद्धान्तका मथन करके लब्धिसार ग्रन्थकी रचना की। इन्होंने अपने गोम्मटसार कर्मकाण्डमें लिखा है—

जह् चक्केण य चक्की छक्खण्ड साहिय अविग्घेण ।

तह् मइचक्केण मया छक्खण्ड साहिय सम्मं ॥३९७॥

जिस तरह चक्रवर्ती अपने चक्ररत्नसे भारतवर्षके छ खण्डोंको बिना किसी विघ्न-बाधाके साधता है या अपने अधीन करता है, उसी तरह मैंने (नेमिचन्द्रने)

१ 'त्रिसप्तत्याधिकैज्जदानी सहस्रं शकविद्विष । मसूतिका पुरे जातमिदं शास्त्रं' मनोरमम् ॥६॥—सं० प० सं० ।

अपने बुद्धिर्गी चक्रमे पद्मगण्डोतो या पद्मगण्डागम मिद्धान्तको सम्यक् रीतिमे साधा ।

मिद्धान्त ग्रन्थोक्त अश्वत्थोक्तो 'मिद्धान्त चक्रमर्तो' पद देनेकी परम्पराका सूत्र-पात कब लिखे गये किया, उन विषयमे निश्चित रूपमे कुछ कहना शक्य नहीं है । किन्तु उन पराणि कथना अवश्य ही जयभवला प्रशस्तिके उग चक्रोक्तके आधारपर की गई होनी चाहिये जिसमे वीरमेन ग्वामीके लिये कहा गया है कि भारत चक्रमर्तो आनाही तर्ह जिनकी भारती पद्मगण्डागममे स्पष्टित नहीं हुई । अतः अवला-जयभवलाकी रचनाके पद्मान् विक्रमको दगवी यताब्दीमे ही उन पदवीका सूत्रपात होना चाहिये ।

नेमिचन्द्रके गुरु--

श्री नेमिचन्द्र मिद्धान्त चक्रमर्तोने अभयनन्दि, वीरनन्दि और उन्धनन्दि को अपना गुरु बतलाया है । कर्मकाण्डमें दो स्थानोपर उन्होंने इन तीनोंको नमस्कार किया है । उनमेंमे एक स्थानपर कहा है^१—जिसके चरणोके प्रमादमे वीरनन्दि और उन्धनन्दि का वत्स्य अनन्त ससाररूपी समुद्रे पार हो गया उन अभयनन्दि गुरुको मैं नमस्कार करता हूँ । दूसरे स्थानपर लिखा है^२—'अभयनन्दि को, धृत-समुद्रके पारगामी उन्धनन्दि गुरुको और वीरनन्दिनाथको नमस्कार करके प्रकृतियोंके पत्यय-कारणको कहूँगा ।' लघ्विमारमें उन्होंने लिखा है^३—वीरनन्दि और उन्धनन्दि के वत्स्य और अभयनन्दि के शिष्य अल्पज्ञानी नेमिचन्दने दर्शनलब्धि और चारित्र्यलब्धिका कथन किया । किन्तु 'त्रिलोकसारमें उन्होंने अपनेको अभयनन्दिका वत्स्य मात्र लिखा है । जेप दोनों आचार्योंका कोई निदेश नहीं किया ।

उन तीनोंमेंमे वीरनन्दि तो चन्द्रप्रभ चरितके कर्ता जान पड़ते हैं क्योंकि

१. 'प्रीणितप्रणिशपत्तिराक्रान्ताशेषगोचरा ।

भारती भारतीवाज्ञा पद्मगण्डे यस्य नास्त्वलत् ॥२०॥'—ज० ध० प्र० ।

२. 'जस्त य पायपसाएणणतससारजलहिमुत्तिणो ।

वीरिदणदिवच्छो णमामि त अभयणदि गुरु ॥४३६॥—कर्म का०

३. णमिऊण अभयणदि सुदसागरपारिगिदणदिगुरु ।

चरवीरणदिणाह पयडीण पच्चय वोच्छ ॥७८५॥—कर्म का०

४. वीरिदणदिवच्छेणप्पसुदेणभयणदिसिस्सेण ।

दसण चरित्तलद्धी सुसूयिया णेमिचदेण ॥६४८॥—ल० सा०

५. इदि णेमिचदमुणिणाणप्पसुदेणभयणदिवच्छेण ।

रइओ तिलोयसारो खमतु त बहुसुदाइरिया ॥—त्रि० सा०

उन्होंने चन्द्रप्रभचरितकी प्रशस्ति^१में अपनेको अभयनन्दिका शिष्य बतलाया है। और ये अभयनन्दि नेमिचन्द्रके गुरु ही होने चाहिये क्योंकि कालगणनासे उनका वही समय आता है। अतः अभयनन्दि इन सबमें जेठे तथा गुरु होने चाहिये। और वीरनन्दि, इन्द्रनन्दि और नेमिचन्द्र उनके शिष्य। नेमिचन्द्र सम्भवतया सबसे छोटे थे और उन्होंने अभयनन्दि गुरुसे अध्ययन करनेसे पूर्व वीरनन्दि और इन्द्रनन्दिसे भी अध्ययन किया था।

नेमिचन्द्रने वीरनन्दिको चन्द्रमाकी उपमा देकर सिद्धान्तरूपी अमृतके समुद्रसे उनका उद्भव बतलाया है। अतः वीरनन्दि भी सिद्धान्त ग्रन्थोके पारगामी थे। उसी तरह इन्द्रनन्दिको तो नेमिचन्द्रने स्पष्ट रूपसे श्रुतसमुद्रका पारगामी लिखा है। उन्हीके समीप सिद्धान्त ग्रन्थोका अध्ययन करके कनकनन्दि^२ने सत्त्वस्थानका कथन किया था। उसी सत्त्व स्थानका संग्रह नेमिचन्द्रने गोम्मटसार कर्मकाण्डमें किया है।

इन्द्रनन्दिके सम्बन्धमें मुह्तार^३ साहव ने लिखा है कि इस नामके कई आचार्य हो गये हैं। उनमेंसे ज्वाला मालिनीकल्पके कर्ता इन्द्रनन्दिने ग्रन्थका रचनाकाल^४ श० स० ८६१ (वि० स० ९९६) दिया है। और यह समय नेमिचन्द्रके गुरु इन्द्रनन्दिके साथ बिल्कुल सगत बैठता है। किन्तु उन्होंने अपनेको वप्प नन्दिका शिष्य बतलाया है। संभव है यह इन्द्रनन्दि वप्पनन्दिके दीक्षित हो, और अभयनन्दिसे उन्होंने सिद्धान्त शास्त्रकी शिक्षा प्राप्त की हो।

इस तरह विक्रमकी दसवीं शताब्दीके उत्तरार्धसे लेकर ग्यारहवीं शताब्दीके पूर्वार्ध तक सिद्धान्त ग्रन्थोंके ज्ञाताओंकी एक अच्छी गोष्ठी थी। उनमेंसे सिद्धान्त विषयक रचनाये दो ही आचार्योंकी उपलब्ध हैं। वे हैं कनक नन्दि तथा नेमिचन्द्र।

- १ 'मुनिजननुतपाद प्रास्तमिथ्याप्रवाद सकलगुणसमृद्धस्तस्य शिष्य प्रसिद्ध।
अभयप्रदभयनन्दी जैनधर्माभिनन्दी स्वमहिमजितसिन्धु भव्यलौकिकवन्धु ॥३॥
भव्याम्भोजविवोधनोद्यतमते भास्वत्समानत्विष
शिष्यस्तस्य गुणाकरस्य सुधिय श्री वीरनन्दीत्यभूत्।'—चन्द्र० च० प्रश०।
- २ वर इदणदिगुरुणो पासे सोऊण सयलसिद्ध त।
सिरिकणयणदिगुरुणा सन्तुट्ठाण समुद्दिट्ठ ॥३९६॥—कर्म का०।
- ३ पुरातन वा० सू०, प्रस्ता०, पृ० ७१-७२।
- ४ 'अष्ट शतस्यै (सै) कषष्ठि प्रमाणशकवत्सररेष्वतीतेषु।
श्रीमान्य खेटकटके पर्वण्यक्षयतृतीयायाम् ॥' —ज्वा० मा०, प्रश०।

कनकनन्दिकी विस्तर सत्त्व त्रिभगी

आचार्य कनकनन्दि रचित विस्तर सत्त्व त्रिभगी नामक एक ग्रन्थ जैनमिद्धात भवन आरामे वर्तमान है । उसकी कागज पर लिखी हुई दो प्रतिया हमें देखनेको प्राप्त हुई । जो गभवत्त एक ही लेखकनी लिखी हुई है । दोनोंकी गाथा सख्याओं में अन्तर है । एककी संख्या ४८ है और दूसरीमें गाथाओंकी गरया ५१ है । तथा दूसरी प्रतिमें गाथाओंके साथ मद्दण्डिया भी दी हुई है । इसीमें पहली प्रति-की पृष्ठगरया केवल ३ है दूसरीकी ७ है ।

कर्म काण्डमें इस कनक नन्दि विरचित विस्तर सत्त्व त्रिभगीको आदिमें अन्त-की गाथा पर्यन्त सम्मिलित कर लिया गया है । केवल बीचकी ८ या ११ गाथायें यत्र तत्र छोड़ दी गई हैं । क्योंकि कर्मकाण्डमें इस प्रकरणकी गाथाओंकी संख्या ३५८ में ३९७ तक ४० है ।

उस प्रकरणमें कर्मोंके सत्त्व स्थानोंका कथन गुणस्थानोंमें भगोंके साथ किया गया है । इसका विशेष परिचय आगे कर्मकाण्डका परिचय कराते हुए दिया जायेगा । जो गाथायें छोड़ दी गई हैं उनके छोड़ देनेमें भी प्रकृत कथनमें कोई बाधा नहीं आती । हा, उनके रहनेमें प्रकृत विषयकी चर्चा थोड़ा विशेष स्पष्ट हो जाती है । प्रथम और द्वितीय प्रतिके अनुसार छोड़ी हुई गाथाओंकी क्रम-सख्या इस प्रकार है—४-५ । (यह गाथा दूसरी प्रतिमें व्यतिक्रममें दी गई है इससे इसकी संख्या उसमें ५ है । गा० ९, १० । दूसरी प्रतिमें १५ नम्बर पर स्थित गाथा पहली प्रतिमें नहीं है । अतः दोनोंकी संख्यामें एकका अन्तर पड़ गया है । फलतः छोड़ी गई गाथाओंकी क्रम संख्या पहली प्रतिके अनुसार २२, २३, २८ ३० है और दूसरीके अनुसार २३, २४, २९ और ३१ है । दूसरी प्रतिकी गाथा ३८-३९ पहली प्रतिमें नहीं है । अतः दोनोंकी संख्यामें तीनका अन्तर है । फलतः पहली प्रतिके अनुसार छोड़ी गई ८वीं गाथाकी संख्या पहली प्रतिमें ४१ और दूसरीमें ४४ है । इस तरह कर्मकाण्डमें उक्त नम्बरकी गाथायें छोड़ दी गई हैं ।

साथ ही एक जगह थोड़ा व्यतिक्रम भी पाया जाता है । त्रिभगीकी गाथा न० १५, १६ और १७ की क्रम संख्या कर्मकाण्डमें, क्रमसे ३६८, ३६९, ३७० है । तथा गा० १४ की क्रमसंख्या ३७१ है । अर्थात् गाथा १४ को जिसमें प्रथम गुण स्थानके सत्त्वस्थानोंमें भगोंकी संख्या बतलाई गई है कर्मकाण्डमें १५, १६, १७ के बाद दिया है । इन तीनों गाथाओंमें प्रथम गुणस्थानके कुछ स्थानोंमें भगोंका स्पष्टीकरण किया गया है । अतः त्रिभगीमें पहले भगोंकी संख्या बतलाकर पीछे उसका स्पष्टीकरण किया गया है । और कर्मकाण्डमें पहले स्पष्टीकरण करके पीछे भगोंकी संख्या बतलाई है । अस्तु,

विचारणीय बात यह है कि कनक नन्दि आचार्यने ४८ या^१ ५१ गाथा प्रमाण विस्तरसत्त्व त्रिभगी ग्रन्थ क्या पृथक् रचा था और वादको उसे नेमिचन्द्राचार्यने अपने गोम्मटसारमें सम्मिलित कर लिया अथवा कर्मकाण्डके लिये ही उन्होंने इस प्रकरणकी रचना की ? उक्त दोनो बातोंमेंसे दूसरी बात ही विशेष सगत प्रतीत होती है क्योंकि कनकनन्दि भी सिद्धान्त चक्रवर्ती थे, यह बात त्रिभगीकी अन्तिम गाथासे जो कर्मकाण्डमें भी है, स्पष्ट होती है। ऐसे महान् आचार्यके द्वारा इतना छोटा-सा ग्रन्थ स्वतन्त्र रूपसे रचे जानेकी सभावना ठीक प्रतीत नहीं होती। अतः यही विशेष सभावित प्रतीत होता है कि उन्होंने गोम्मटसारके लिये ही उस प्रकरणको रचा और पीछे उसमें यथास्थान स्पष्टीकरणके लिये कुछ गाथाओंको बढ़ाकर उसे एक स्वतन्त्र प्रकरणका रूप भी दे दिया। अतः गोम्मट-सारकी रचनामें कनकनन्दि आचार्यका भी योगदान था। त्रिभगीकी अन्तिम गाथा नेमिचन्द्राचार्यकी बनाई हुई हो सकती है जिसमें कहा है कि इन्द्रनन्दि गुरुके पास-में सम्पूर्ण सिद्धान्तको सुनकर कनकनन्दि गुरुने सत्त्व स्थानका कथन किया। यहाँ कनकनन्दिके साथ गुरु शब्दका प्रयोग इसी बातका संकेत करता है।

कनक नन्दिके गुरु इन्द्रनन्दि थे। और इन्द्रनन्दिके गुरु अभयनन्दि थे। नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीके गुरु अभयनन्दी सिद्धान्त शास्त्रोके ज्ञाता थे। अतः जैनैन्द्र महावृत्तिको हमने इस दृष्टिसे देखा कि उसमें सिद्धान्त शास्त्र विषयक कोई उदाहरण है या नहीं ? खोजने पर सूत्र १।३।५ की वृत्तिमें 'प्राभूतपर्यन्तमधीते' एवं 'सबन्ध सटीकम्' उदाहरण महत्वपूर्ण है। इसके सम्बन्धमें डॉक्टर वासुदेव शरण अग्रवालने अपनी भूमिका (पृ० ९) में लिखा है—'यहाँ ऐसा विदित होता है कि प्राभूतसे तात्पर्य महाकर्म प्रकृतिप्राभूतसे था, जिसके रचयिता आ० पुष्प-दन्त तथा भूतबलि माने जाते हैं। (प्रथम द्वितीय शती)। इसीका दूसरा नाम षट्खण्डागम प्रसिद्ध है। इसीका भाग विशेष बन्ध या महाबन्ध (महाधवल सिद्धान्तशास्त्र) था जिसके अध्ययनसे यहाँ अभयनन्दीका तात्पर्य ज्ञात होता है। अर्थात् उस समय भी विद्वानोंमें प्राभूत या षट्खण्डागमसे पृथक् महाबन्धका

- १ श्रीप्रेमीजीने लिखा है कि 'प० जुगलकिशोरजी मुख्तारके अनुसार जैनसिद्धान्त भवन आराममें कनकनन्दिका रचा हुआ 'त्रिभगी' नामका एक ग्रन्थ है। जो १४०० श्लोक प्रमाण है (जै० सा० ३०, पृ० २०१)। और टिप्पणमें जैन हितैषी भाग १४, अंक ६ का निर्देश किया है। हमने उसे देखा उसमें मुख्तार साहबने जै० सि० भवनकी सूचीके आधार पर उक्त निर्देश किया था इसीसे पुरातन जैनवाक्य सूचीकी अपनी प्रस्तावनामें उन्होंने त्रिभंगीके परिमाणके सम्बन्धमें उक्त निर्देश नहीं किया। अतः त्रिभगीका १४०० श्लोक प्रमाण कथन भ्रामक है।

अस्तित्व था और दोनोंका आगमन जीवनका आदर्श माना जाता था । 'सटीक मधोत्ते' में जिन टीकाका उल्लेख है वह धवला टीका नहीं हो सकती क्योंकि उसकी रचना वीरसेनने ८१६ ई० में की थी । श्रुतावतारके अनुगाम महाकर्म-प्राभुन पर आचार्य कुन्दकुन्दने भी एक बड़ी प्राग्वहटीका लिखी थी जो इस समय अनुपलब्ध है । मभवत नहीं टीका प्राभुन और वन्द्यके साथ पढ़ी जाती थी ।'

उपेक्षर साहजिकता उक्त अनुमान हमें भी मगत प्रतीत होना है । पुष्पदन्त और भूतबलिने जिन महाकर्म प्राभूतको पट्गण्टागमके रूपमें उपगृह्यत किया था सम्भवत प्राभुनके उगीत ग्रहण वृत्तिारम्भे किया है । 'मवन्ध' और 'मटीक' पदोंका इसी बातका समर्थन होता है क्योंकि वन्द्य अथवा महावन्द्य उगीके अन्तर्गत अन्तिम गण्ट है और उगीकी टीकायें सन्तानारम्भके द्वाग रची गई थी । किन्तु प्राभूतमें पट्गण्टागम 'मवन्ध' पदका प्रयोग कुछ विशेष अर्थ रगता है । वन्द्य तो पट्गण्टागमका ही एक गण्ट है अत 'प्राभूत' में पट्गण्टागमका ग्रहण करनेपर वन्द्यका भी ग्रहण हो ही जाना है पुन 'मवन्ध' कहना कुछ विशेष अर्थ रगता है । जो वक्तव्यता है कि महावृत्तिकी रचनामें पूर्ण अन्तिम गण्ट वन्द्य पट्गण्टागम-में जुड हो जाता था । इसीमें 'मवन्ध' पदमें उगीत ग्रहण किया गया है ।

उक्त नन्दिने अपने श्रुतावतारमें लिखा है कि—'वष्पदेव गुरुने पट्गण्टमें महास्नाको पृथक् किया । और व्याग्याप्रज्ञप्ति नामक छठे गण्टको मक्षिप्त करके उगीमें मिलाया । उसी व्याग्या प्रज्ञप्तिको प्राप्त करके वीरसेन स्वामीने सत्कर्म नामक छठे गण्टकी रचना की और उगे पाँच गण्टोंमें मिलाकर छै गण्ट पूरे किये ।

अत वष्पभट्ट स्वामीने महावन्द्यको पट्गण्टागममें पृथक् कर दिया था । तथा वीरसेन स्वामीने भी उगे पृथक् ही रखाकर सत्कर्म नामक नया गण्ट रचकर उसमें मिलाया था जो धवलाका ही अंगभूत है । अत 'मवन्ध' पदमें इतना स्पष्ट है कि वष्पदेवके पदचात् अभयनन्दि हुए हैं । किन्तु वष्पदेवका समय भी ज्ञात नहीं है । परन्तु श्रुतावतारके अनुसार वे वीरसेनके गुरु एलाचार्यसे पूर्व हुए हैं । उनके और 'एलाचार्यके बीचमें श्रुतावतारमें किसी अन्य व्याख्याकारका निर्देश नहीं किया गया है । अत विक्रमकी मातवी शताब्दीके लगभग उनका काल माना जा सकता है । अत अकलकके पदचात् होनेवाले अभयनन्दिका 'मवन्ध और सटीकम्' लिखना उचित ही है ।

डॉ० अग्रवाल साहबने यद्यपि अभयनन्दिका कोई निश्चित समय नहीं लिखा तथापि वे उन्हें धवलासे पूर्वका विद्वान् मानते हैं इसीसे उन्होंने 'सटीक' पदसे धवलाटीकाका ग्रहण नहीं किया ।

किन्तु यदि प्रभाचन्द्रके द्वारा गुरुरूपसे स्मृत महावृत्तिकार अभयनन्दिका प्रभाचन्द्रके साथ कुछ विद्या सम्बन्ध था तो नेमिचन्द्रके गुरु भी वही हो सकते हैं और उस स्थितिमें उनके द्वारा 'सटीक' शब्दमे धवलाटीकाका उल्लेख होना ही सम्भव है। किन्तु अभी इस विषयमें निश्चित रूपसे कुछ कहना सम्भव नहीं है। एक अभयनन्दी नामका आचार्यने पूज्यपाद देवनन्दिके जैनेन्द्र व्याकरण पर जैनेन्द्र महावृत्ति रची है। इसका प्रकाशन भारतीय ज्ञानपीठ काशीमे हुआ है उसमें आरम्भिक द्वितीय श्लोकमें वार्तिककारने अपना नाम अभयनन्दि^१ मुनि दिया है। किन्तु अपने गुरु आदिका नाम नहीं दिया और न ग्रन्थ रचनाका समय ही दिया।

अभयनन्दीने सूत्र ४।३।११४ की वृत्तिमें माघकविके गिशुपालवधसे एक श्लोक उद्धृत किया है। माघका समय सप्तम शतीका उत्तरार्ध माना जाता है। क्योंकि माघके दादा सुप्रभदेव वर्मलातके मंत्री थे जिमका एक शिलालेख ६२५ ई० का पाया जाता है।

तथा उन्होंने सूत्र ३-२-५५ की वृत्तिमें 'तत्त्वार्थ वार्तिकमधीते' उदाहरण दिया है। इससे प्रकट होता है कि वे तत्त्वार्थवार्तिकके रचयिता भट्टाकलकके पश्चात् हुए हैं।

तथा जैनेन्द्र पर एक 'पचवस्तु' नामकी टीका है उसके रचयिता आर्य श्रुतकीर्ति है। कनडी भापाके चन्द्रप्रभ चरित नामक ग्रन्थके कर्ता अगल^२ कविने श्रुतकीर्तिको अपना गुरु बतलाया है। यह चरित शक स० १०११ (वि० सं० ११४६) में बनकर समाप्त हुआ था। यदि ये दोनों श्रुतकीर्ति एक हों तो अभयनन्दिको विक्रमकी १२वीं शतीसे पूर्वका विद्वान मानना चाहिये।

श्रुतकीर्तिने अपनी पचवस्तु^३ प्रक्रियाके अन्तमें एक श्लोकमें जैनेन्द्र शब्दागम अर्थात् जैनेन्द्र व्याकरणको महलकी उपमा दी है। मूल सूत्ररूपी स्तम्भो पर वह खड़ा है, न्यासरूपी उसकी रत्नमय भूमि है, वृत्ति रूप उसके कपाट है। भाष्य शय्यातल है। टीकारूप उसके माल या मजिल है और वह पचवस्तु टीका उसकी सोपान श्रेणी है। उसके द्वारा उस महल पर चढ़ा जा सकता है।

१ 'यच्छब्द लक्षण व्यक्तिकरोत्यभयनन्दिमुनि समस्तम् ॥२॥ जै० महावृ०, पृ० १।

२ 'श्रुतकीर्ति त्रिविद्य चक्रवर्तिपदपद्मनिधानदीपवर्ति श्रीमदगलदेव विरचिते चन्द्रप्रभ चरिते—जै० सा० ६०, पृ० ३६।

३ 'सूत्रस्तम्भसमुद्धृत प्रविलसन्न्यासोरत्नक्षिति श्रीमद्वृत्तिकपाटसंपुटयुते भाष्योऽथ शय्यातलम्। टीकामालमिहारुक्षुरचित जैनेन्द्रशब्दागम प्रासादं पृथु पचवस्तुकमिद सोपानमारोहतात् ॥'—जै० सा० ६०, पृ० ३३।

उगमें निर्दिष्ट वृत्ति तो अभयनन्दिनकृत वृत्ति है। और न्याय धायद पूज्य-पादकृत ही हो।

जैनेन्द्र व्याकरण पर प्रभाचन्द्राचार्य कृत 'षण्दाम्भोज भास्कर' नामक एक न्यास गन्य बम्बईके सरस्वती भवनमें वर्तमान है जो अपूर्ण है। उसमें तीसरे अध्यायके अन्तके एक पलोकमें अभयनन्दिको नमस्कार किया है तथा महावृत्तिके षण्द ज्योंके त्यों लिये गये हैं। इसके रचयिता आचार्य प्रभाचन्द्र वे ही प्रतीत होते हैं जिन्होंने प्रमेयकमल मार्तण्ड और न्याय कुमुद की रचना की थी।

प्रभाचन्द्रका समय न्यायाचार्य प० महेन्द्र कुमारजीने ९८० ई० से १०६५ तक निर्णीत किया है। अतः अभयनन्दिका उनमें पूर्व होना निश्चित है।

श्री नेमिचन्द्राचार्यका समय भी ९८९ ई० के लगभग है। अतः उनके गुरु अभयनन्दिका समय भी उसीके लगभग उसने कुछ पूर्व होना चाहिये। यदि यह अभयनन्दि ही महावृत्तिके रचयिता हो तो महावृत्तिका रचनाकाल विक्रम म० १००० और १०५० के मध्यमें होना चाहिये। श्री युधिष्ठिर भीमासकने अपने 'मस्तक व्याकरणका इतिहास' में उस एकताकी गभावनापर ही महावृत्ति के रचयिता अभयनन्दीका काल विक्रमकी ग्यारहवीं शताब्दीका प्रथम चरण माना कहा है।

श्री नाथूरामजी प्रेमीने 'जैनेन्द्र व्याकरण और आचार्य देवनन्दी' शीर्षक अपना निबन्ध प्रथमवार जै० सा० म०, भा० १ अकमें प्रकाशित कराया था। उसमें उन्होंने लिखा था—'हमारा अनुमान है कि चन्द्रप्रभ काव्यके कर्ता महाकवि वीरनन्दिने जिन अभयनन्दिको अपना गुरु बनाया है वे वे ही अभयनन्दि होंगे। आचार्य नेमिचन्द्रने भी गोम्मटसार कर्मकाण्डकी ४३६वीं गाथामें इनका उल्लेख किया है। अतएव इनका समय विक्रमकी ग्यारहवींके पूर्वार्धके लगभग निश्चित होता है।'।

किन्तु जै० सा० इ० में उन्होंने अपने उस लेखमेंसे उपर वाला अंश निकाल दिया है।

परन्तु प्रभाचन्द्रके न्यासमें जो श्लोक है वह उक्त अनुमानका पोषक प्रतीत होता है। श्लोक इस प्रकार है—

नमः श्री वर्धमानाय महते देवनन्दिने ।

प्रभाचन्द्राय गुरवे तस्मै चाभयनन्दिने ॥

इसमें आगत 'तस्मै अभयनन्दिने गुरवे' पद महत्वपूर्ण है, जो इस सन्देहको पुष्ट करता है कि प्रभाचन्द्रने अभयनन्दिसे शायद अध्ययन किया था। यदि ऐसा हो तो वे अभयनन्दि नेमिचन्द्राचार्यके गुरु ही हो सकते हैं।

नाम—

आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीने पट्खण्डागमकी धवला टीकाका मथन करके गोम्मटसार नामक महान् ग्रन्थकी रचना की थी । इस ग्रन्थराजके दो भाग हैं—प्रथम भागका नाम जीवकाण्ड है और दूसरे भागका नाम कर्मकाण्ड है । ये दोनों नाम टीकाकारोके द्वारा दिये गये हैं । ग्रन्थकारने प्रथम भागकी पहली गाथामें 'जीवस्स पख्खण वोच्छ' लिखकर जीवकी प्ररूपणा करनेकी प्रतिज्ञा की है और दूसरे भागकी पहली गाथामें कर्म प्रकृतियोका कथन करनेकी प्रतिज्ञा की है । अतः जीव और कर्मविषयक कथनोके कारण प्रथम भागको 'जीवकाण्ड' और दूसरे भागको कर्मकाण्ड सज्ञा दे दी गई है । किन्तु ग्रन्थकार ने इस ग्रन्थको बनाया दो ही भागोंमें है क्योंकि प्रथम भागके अन्तमें उस गोम्मट राजाकी जय-कामना की गई है जिसके लिए गोम्मटसार रचा गया था । तथा दूसरे भागके अन्तमें चूँकि वह गोम्मटसार ग्रन्थका अन्तिम भाग है इसलिये विशेष रूपसे गोम्मटका गुणगान किया गया है ।

टीकाकारोने गोम्मटसारका एक नाम और भी दिया है 'पञ्चसग्रह' । किन्तु क्यों उसे यह नाम दिया, यह उन्होंने नहीं बतलाया । सम्भवतया टीकाकारोने अमितगतिके पञ्चसग्रहको देखकर और उसके अनुरूप कथन इसमें देखकर इसे यह नाम दिया है । आचार्य नेमिचन्द्रने तो ग्रन्थके दूसरे भागके अन्तमें उसका नाम गोम्मट^३ सग्रह सुत्त अथवा गोम्मट सुत्त दिया है । गोम्मटसार नाम भी टीकाओमें ही पाया जाता है ।

नामका कारण—

जीवकाण्डके अन्तकी गाथा^४में ग्रन्थकारने कहा है—'आर्य आर्यसेनके गुण समूहको धारण करनेवाले अजितसेनाचार्य जिसके गुरु हैं वह राजा गोम्मट जयवन्त हो ।' कर्मकाण्डके अन्तमें कुछ गाथाओके द्वारा गोम्मट राजाका जयकार करते हुए ग्रन्थकारने कहा है—

'गणधर देव आदि ऋद्धि प्राप्त मुनियोंके गुण जिसमें निवास करते हैं, ऐसे

१ 'तद् गोम्मटसार प्रथमावयवभूत जीवकाण्ड विरचयन्'—मन्द प्र० टी०, पृ० ३ ।

२ 'गोम्मटसारनामधेयपञ्चसग्रह शास्त्र प्रारम्भमाण'—मन्द प्र० टी०, पृ० ३ । 'गोम्मटसार पञ्चसग्रह प्रपञ्चमारचयन्'—जीव० टी०, पृ० २ ।

३ 'गोम्मटसग्रह सुत्त'—कर्म का०, गा० ९६५ और ९६८ ।

४ 'अज्जज्जसेनगुणगणसमूहसंधारिअजियसेण गुरु । भुवणगुरु जस्स गुरु सो राओ गोम्मटो जयटु ॥७३५॥—जी०का० ।

गोम्मटेश्वरका अर्थ किया है—गोम्मट अर्थात् चामुण्डरायका देवता । उसीके कारण विन्ध्यगिरि, जिसपर गोम्मटेश्वरकी मूर्ति स्थित है, 'गोम्मट' कहा गया । इसी गोम्मट उपनामधारी चामुण्डरायके लिये नेमिचन्द्राचार्यने अपने गोम्मट-सार नामक सग्रह ग्रन्थकी रचना की थी । इसीसे इस ग्रन्थको गोम्मटसार संज्ञा दी गई ।

जीवकाण्डकी मन्दप्रबोधिनी टीकाकी उत्थानिकामे अभयचन्द्र सूरिने लिखा है—कि गगवशके ललामभूत श्रीमद्राजमल्लदेवके महामात्य पद पर विराजमान, और रण रगमल्ल, असहाय पराक्रम, गुणरत्न भूषण, सम्यक्त्व रत्न निलय आदि विविध सार्थक नामधारी श्री चामुण्डरायके प्रश्नके अनुरूप जीव-स्थान नामक प्रथम खण्डके अर्थका सग्रह करनेके लिये गोम्मटसार नाम वाले पञ्चसग्रह शास्त्रका प्रारम्भ करते हुए नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती परम मगल पूर्वक गाथासूत्र कहते हैं ।^१

अतः श्री नेमिचन्द्राचार्यने चामुण्डरायके लिये, जिनका नाम गोम्मटाराय भी था, यह ग्रन्थ रचा था । इसीसे उन्होंने इस ग्रन्थको 'गोम्मट' नाम दिया । जैसे शाकटायनने अपने शाकटायन व्याकरण पर रचित वृत्तिको राजा अमोघ वर्पके नामपर अमोघवृत्ति नाम दिया था ।

नेमिचन्द्राचार्यने गोम्मटसारके सिवाय दो ग्रन्थ और भी रचे हैं—उनमेंसे एक है लब्धिसार और दूसरा है त्रिलोकसार । त्रिलोकसारकी संस्कृत टीका

- १ 'श्रीमदप्रतिहतप्रभावस्याद्वादशासन-गुहाम्यन्तर-निवासि-प्रवादि-महाध-सिधुर-सिंहायमान-सिंहनन्दिमुनीन्द्राभिनन्दितगगवशललामराज-सर्वज्ञाद्यनेकगुणनाम-वेय-भागवेय-श्रीमद्राजमल्लदेव-महीवल्लभ-महामात्यपदविराजमान रणरग-मल्लसहायापराक्रम-गुणरत्नभूषण-सम्यक्त्व-रत्ननिलयादिविविध गुणनामसमा-सादितकीर्तिकात-श्रीचामुण्डराय-भव्य-पुण्डरीक-द्रव्यान्युयोगप्रज्ञानानुत्प महा-कर्मप्रकृतिप्राभतप्रथमसिद्धान्तजीव-स्थानाख्य-प्रथम-खंडार्थ सग्रह-गोम्मटसार-नामवेय-पञ्चसग्रह शास्त्रप्रारम्भमाण समस्तसिद्धान्तिकचूडामणि श्रीमन्नेमि-चन्द्र-सिद्धान्तिकचक्रवर्ती तद्गोम्मटसारप्रथमावयवभूत जीवकाण्ड विरचयन् ।'

—जी० का० म० पृ० टी०, पृ० ३ ।

- २ सिद्धान्तामृतसागर स्वमतिमन्यक्षमाभृदालोढ्य मध्ये, लेभेऽभीष्ट फलप्रदानपि सदा देशीगणाग्रेसर । श्रीमद् गोमट-लब्धिसार-विलम्ब त्रैलोक्यसाराम रदमाजश्रीमुरवेनुचिन्तितमणोन् श्रीनेमिचन्द्रो मुनि ॥६३॥

—ब्राह्म० च० ।

माधवचन्द्र त्रैविद्यके द्वारा रची गई है। ये माधवचन्द्र त्रैविद्य नेमिचन्द्रके सम-कालिक और उनके एक प्रमुख शिष्य थे। उनके द्वारा रचित भी कुछ गाथाएँ त्रिलोकसारमें हैं ऐसा उन्होंने अपनी टीकाकी अन्तिम प्रशस्ति^१में लिखा है। इन माधवचन्द्रने त्रि० सा० की प्रथम गाथाकी उत्थानिकामें लिखा^२ है कि चार अनुयोग रूपी समुद्रोके पारगामी भगवान नेमिचन्द्र सैद्धान्तदेव चामुण्डरायके बहानेसे समस्त विनेय जनोके प्रतिबोधनके लिये त्रिलोकसारकी रचना करते हैं।

तथा त्रि० सा० की प्रथम गाथाका व्याख्यान करते हुए उन्होंने उसे आचार्य नेमिचन्द्रके पक्ष^३में भी लगाया है और लिखा है कि वल अर्थात् चामुण्डराय और गोविन्द अर्थात् राचमल्लदेव (गगनरेश) ये दोनों नेमिचन्द्रको नमस्कार करते थे।

त्रिलोकसारकी एक प्राचीन प्रतिमें एक चित्र दिया है। जिसमें नेमिचन्द्रा-चार्य चामुण्डरायको उपदेश दे रहे हैं।

अत यह निर्विवाद है कि नेमिचन्द्र चामुण्डरायके समकालीन थे। उन्हींके निमित्तसे उन्होंने अपने ग्रन्थोकी रचना की थी और अपने एक सबसे महान् ग्रन्थको चामुण्डरायके अपरनाम 'गोम्मट' से अभिहित किया था।

समय

चामुण्डरायने अपना चामुण्डराय पुराण शक स० ९०० (वि०स० १०३५) में बनाकर समाप्त किया था। अत उनके लिए निर्मित गोम्मटसारका सुनिश्चित समय मुस्तार साहबने विक्रमकी ११वीं शताब्दी माना है, और श्री प्रेमीजीने विक्रमकी ग्यारहवीं शताब्दीका पूर्वार्द्ध निश्चित किया है।

गोम्मटसार कर्मकाण्डमें चामुण्डरायके द्वारा निर्मित गोम्मट जिनकी मूर्तिका निर्देश है। अत यह निश्चित है कि गोम्मटसारकी समाप्ति गोम्मट मूर्तिकी स्थापनाके पश्चात् ही हुई है। किन्तु मूर्तिके स्थापना कालको लेकर इतिहासज्ञोंमें

१ 'गुरुणेमिचन्द्र-सम्मद-कदिवय गाहा तहिं तहिं रइदा। माहवचदतिविज्जे-णिणमणुसरणिज्जमज्जेहि ॥१॥—त्रि०सा०।

२ 'भगवान्नेमिचन्द्रसैद्धान्तदेवश्चतुरनुयोगचतुरुदधिपारगश्चामुण्डरायप्रति-बोधनव्याजेनाशेषविनेयजनप्रतिबोधनार्थं त्रिलोकसारनामान ग्रन्थमारचयन्।'—त्रि० सा० टी०, पृ० २।

३ 'अथवा, णमसामि, कं० 'विमलयरणेमिचद'। विमलतर स चासौ नेमिचन्द्राचार्यश्च विमलतरनेमिचन्द्रस्त नमस्यामीति वल चामुण्डराय गा पृथ्वी विदति पालयतीति गोविन्दो रायमल्लदेव।—त्रि० सा० टी०, पृ० ३।

बड़ा मतभेद है। बाहुबलि चरित्रमें गोम्मटेश्वरकी प्रतिष्ठाका समय इस प्रकार दिया है—

‘कल्क्यब्दे षट्शताख्ये विर्नुतविभवसवत्सरे मासि चैत्रे
पञ्चम्या शुक्लपक्षे दिनमणिदिवसे कुम्भलग्ने सुयोगे ।
सौभाग्ये मस्तनाम्नि प्रकटितभगणे सुप्रशस्ता चकार,
श्रीमच्चामुण्डराजो वेल्गुलनगरे गोमटेशप्रतिष्ठाम् ॥’

अर्थात् कल्कि सवत् ६०० में विभव संवत्सरमें चैत्र शुक्ल ५ रविवारको कुम्भलग्न, सौभाग्ययोग, मस्त (मृगशिरा) नक्षत्रमें चामुण्डराजने वेल्गुल नगरमें गोमटेशकी प्रतिष्ठा कराई।

किन्तु उक्त तिथि कब पड़ती है इसमें भी अनेक मत हैं। प्रो० घोपालने अपने बृहद्रव्यसंग्रहके अंग्रेजी अनुवादकी प्रस्तावनामें उक्त तिथिको २ अप्रैल ९८० ई० माना है। श्री गोविन्द पौने १३ मार्च ९८१ ई० माना है। ज्योतिषाचार्य श्री नेमिचन्द्रजीने लिखा है कि भारतीय ज्योतिषके अनुसार बाहुबलि चरित्रमें गोम्मट मूर्तिकी स्थापना की जो तिथि, नक्षत्र, लग्न, सवत्सर आदि दिये गये हैं वे १३ मार्च सन् ९८१ में ठीक घटित होते हैं। प्रो० हीरालाल जीने लिखा है कि २३ मार्च १०२८ सन् में उक्ततिथि वगैरह ठीक घटित होती है। किन्तु शामशास्त्रीने ३ मार्च १०२८ सन् वतलाया है। एस० श्री कण्ठशास्त्री ‘कल्क्यब्दे’के स्थान पर ‘कल्यब्दे’ पाठ ठीक मानते हैं और शामशास्त्रीके मतको अमान्य करते हुए लिखते हैं कि १०२८ ई० तक चामुण्डरायके जीवित रहनेके प्रमाणोंका अभाव है। उन्होंने एक नये आधार पर मूर्तिकी स्थापनाका समय ९०७-८ ई० निर्धारित किया है। इस तरहसे मूर्तिकी स्थापनाके समयको लेकर बहुत मतभेद है।

चामुण्डरायने अपने चामुण्डराय पुराणमें मूर्ति स्थापनकी कोई चर्चा नहीं की है। इस परसे साधारणतया विद्वानोंका यही मत है कि उसकी समाप्तिके पश्चात् ही मूर्तिकी स्थापना हुई है। किन्तु श्रीकण्ठशास्त्री इस बातको महत्व नहीं देते। रत्नका अजितनाथ पुराण श० स० ९१५ में समाप्त हुआ था। उसमें लिखा है कि ‘अतिमव्वे’ने गोम्मटेश्वरकी मूर्तिके दर्शन किये। अतः यह निश्चित है कि श० स० ९१५ (वि० स० १०५०) से पहले मूर्तिकी प्रतिष्ठा हो

१ जै० सि० भा०, भा० ६, पृ० २६१।

२ जै० शि० स० भा० १, प्रस्ता० पृ० ३१।

३ जै० एण्टी०, जि० ५, नं० ४ में ‘दी डेट आफ दी कन्सक्रेशन आफ् दी इमेज, पृ० १०७-११४।

चुकी थी। यदि चामुण्डरायपुराणमें मूर्तिकी स्थापनाकी कोई चर्चा न होनेको महत्व दिया जाये तो कहना होगा कि वि०स० १०३५ और १०५० के बीचमें किसी समय मूर्तिकी प्रतिष्ठा हुई और इसी १५ वर्षके अन्तरालमें गोम्मटसारकी रचना हुई।

प्रेमीजी ने गगनरेश राचमल्लका राज्यकाल वि०स० १०३१ से १०४१ तक लिखा है। और भुजबलि शतक अनुसार उसीके राज्यकालमें मूर्तिकी प्रतिष्ठा हुई थी, अतः मूर्ति स्थापनाका समय ९८१ ई० (वि०स० १०३८) ही उपयुक्त जान पड़ता है। उसमें बाहुबलि चरितका तिथि क्रम भी घटित हो जाता है और चामुण्डराय पुराणमें उल्लेख न होने वाली बातकी सगति भी बैठ जाती है। यदि यह ठीक है तो उसके बाद स० १०४० के लगभग गोम्मटसारकी रचना होना संभव है।

इतने विस्तारसे इस पर प्रकाश डालनेका कारण यह है कि अमितगतिने अपना सस्कृत पञ्चसग्रह वि०स० १०७३ में बनाकर समाप्त किया था। और उसके देखनेसे प्रकट होता है कि अमितगतिने सम्भवतया गोम्मटसार को देखा था, क्योंकि स० पञ्चसग्रहके प्रथम अध्यायमें जो ३६३ मिथ्यामतोंकी उपपत्ति दी है वह कर्मकाण्डसे ली गई प्रतीत होती है। प्रा० पं०स० में तो वह है ही नहीं और कर्मकाण्डसे बिल्कुल मेल खाती है। कर्मकाण्डमें काल ईश्वर आत्मा नियति और स्वभावका जो लक्षण दिया है उसीका अनुवाद स० पञ्चसग्रह में है। केवल क्रममें अन्तर है। उसमें स्वभाव, नियति, काल, ईश्वर और आत्मा यह क्रम रखा गया है। नीचे कर्मकाण्डकी गाथा के साथ स० पञ्चसग्रहसे उसका सस्कृत अनुवाद दिया जाता है—

- १ कालो सव्व जणयदि कालो सव्व विणस्सदे भूद ।
जागति हि सुत्तेसु वि ण सक्कदे वच्चिदु कालो ॥८७९॥ क० का० ।
सुप्तेषु जागति सदैव काल काल प्रजा सहरते समस्ता ।
भूतानि काल पचतीति मूढा कालस्य कर्तृत्वमुदाहरन्ति ॥३१२॥
- २ अण्णाणि हु अणीसो अप्पा तस्स य सुह च दुक्ख च ।
सग्गं गिरय गमण सव्व ईसरकय होदि ॥८८०॥
अज्ञ शरीरी नरकेऽथ नाके प्रपेर्यमाणो ब्रजतीश्वरेण ।
स्वस्याक्षमो दुःखसुखे विधातुमिदं वदन्तीश्वरवादिनोऽन्ये ॥३१३॥
- ३ एक्को चेव महप्पा पुरिसो देवो य सव्ववावी य ।
सव्वगणिगूढो वि य सचेयणो णिग्गुणो परमो ॥८८१॥
एको देव सर्वभूतेषु लीनो नित्यो व्यापी सर्वकार्याणि कर्ता ।
आत्मा भूत सर्वभूतस्वरूप साक्षाज्ज्ञाता निर्गुण शुद्धरूप ॥३१४॥

४ जत्तु जदा जेण जहा जस्म य णियमेण होदि तत्तु तदा ।
तेण तहा तस्स हवे इदि वादो णियदिवादो वु ॥८८२॥
यथा यदा यथ यतोऽस्ति येन यत् तदा तथा तत्र ततोऽस्ति तेन तत् ।
स्फुट नियत्येह नियव्यमाण परो न शक्त किमपीह कर्तुम् ॥३११॥

५ को करड कटयाण तिकसत्त मियविहगमादीण ।
विविहत्त तु सहाओ इदि सव्वपि य सहाओ त्ति ॥८८३॥
क स्वभावमपहाय वक्रता कटकेषु विहगेषु चित्रताम् ।
मत्स्यकेषु गुरुते पयोगतिं पकजेषु सरदण्डता पर ॥३१०॥

इसके मिवाय अन्य भी कई बातें हैं जो गोम्मटमार जीवकाण्डसे ली गईं जान पड़ती हैं। जीवकाण्डमें कपायमार्गणामें पञ्चमग्रहसे कुछ विशेष कथन किया है। इस कथनको करने वाली कोई गाथा धवलामें भी हमारे देखनेमें नहीं आई। उस कथनको करने वाली जीवकाण्डमें यह गाथा विशेष है—

णारय-तिरिक्ख-णर-सुर-गईसु उप्पण-पढम-कालम्मि ।
कोहो माया माणो लोहुदओ अणियमो वा पि ॥२८७॥

इसी बातको सं० पञ्च सग्रहमें इस प्रकार कहा गया है—

क्रुद्ध ध्वभ्रेषु तिर्यक्षु मायाया प्रथमोदय ।
जातस्य नृषु मानस्य लोभस्य स्वर्गवासिषु ॥२१०॥
आचार्या निगदन्त्यन्ये कोपादि प्रथमोदये ।
भ्रमतो भवकान्तारे नियमो नास्ति जन्मिनाम् ॥२११॥

पहले श्लोकमें उक्त गाथाके तीन चरणोंका अनुवाद है और 'अणियमो वापि' इस चतुर्थ चरणके आशयको दूसरे श्लोकसे स्पष्ट किया गया है।

इसी तरह जीवकाण्ड-योग मार्गणामें आहारक शरीरके आकारादिके सम्बन्धमें जो विशेष कथन किया गया है वह सब सं० प० सं० में भी यथास्थान वर्तमान है।

जीव काण्डमें कहा है—

सुह सठाण धवल हत्थपमाण पसत्थुदय ॥२३७॥
अव्वाघादी अतोमुहुत्तकालट्ठिदी जहण्णिदरे ।'

सं० प० सं० में इसका अनुवाद इस प्रकार है—

'य प्रमत्तस्य मूर्धोत्थो धवलो धातुवर्जित ।
अन्तर्मुहूर्तस्थितिक सर्वव्याघातविच्युत ॥१७६॥
पवित्रोत्तमसंस्थान हस्तमान्नोजनघट्टति ।'

यदि श्लोक १७६ के उत्तरार्धके स्थानमें श्लोक १७७ के पूर्वार्धको रख दिया जाये तो गाथानुसार अनुवाद हो जाता है ।

इन उदाहरणोंसे यह स्पष्ट है कि अमितगतिने नेमिचन्द्राचार्यके गोम्मटसार-का भी उपयोग अपने स० पञ्चसग्रहमें किया है । अतः गोम्मटसार स० पञ्चसग्रहसे (वि० स० १०७३) तीस पैंतीस वर्ष पूर्व रचा गया होना चाहिये । और इसलिये उसका रचनाकाल वि० स० १०४० के लगभग जानना चाहिये ।

विषय-वस्तु

यह पहले लिखा जा चुका है कि गोम्मटसारके दो भाग हैं, पहले भागका नाम जीवकाण्ड है और दूसरे भागका नाम कर्मकाण्ड । जीवकाण्डके तीन संस्करण प्रकाशित हुए हैं । गाँधी नाथारगजी बम्बई द्वारा प्रकाशित संस्करणमें मूल गाथाएँ और उनकी संस्कृत छाया मात्र है । रायचन्दशास्त्रमाला बम्बईसे प्रकाशित संस्करणमें प० खूबचन्दजी रचित हिन्दी टीका भी दी गई है । ये दोनों संस्करण पुस्तकाकार हैं । गाँधी हरिभाई देवकरण ग्रन्थ मालासे प्रकाशित शास्त्राकार संस्करणमें मूल और छायाके साथ दो संस्कृत टीकाएँ तथा प० टोडरमलजी रचित दुबारी भाषामें टीका है । पहले दोनों संस्करणोंमें गाथा सख्या ७३३ है । किन्तु प्रथम मूल संस्करणमें दूसरेसे एक गाथा जिसका नम्बर ११४ है, अधिक है, यह गाथा दूसरे संस्करणमें नहीं है । फिर भी गाथा सख्या बराबर होनेका कारण यह है कि प्रथम मूल संस्करणमें दो गाथाओं पर २४७ नम्बर पड़ गया है । अतः पूरे ग्रन्थकी गाथा सख्या ७३४ है । तीसरे संस्करणमें गाथा सख्या ७३५ है । इसमें एक गाथा बढ जानेका कारण यह है कि गाथा न० ७२९ दो बार आई है और उस पर दोनों बार क्रमसे ७२९—७३० नम्बर पड़ गया है । अतः जीवकाण्डकी गाथा सख्या ७३४ है ।

जैसा इस भागके नामसे व्यक्त होता है इसमें जीवका कथन है । ग्रन्थकारने प्रथम गाथामें मगलपूर्वक जीवका कथन करनेकी प्रतिज्ञा की है और दूसरी गाथामें उन बीस प्ररूपणाओंको गिनाया है जिन बीस अधिकारोंके द्वारा जीवका कथन इस ग्रन्थमें किया गया है । वे बीस प्ररूपणाएँ हैं—गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, सज्ञा, १४ मार्गणाएँ और उपयोग । इन्हीं बीस प्ररूपणाओंका कथन पञ्चसग्रहके जीव समास नामक अधिकारमें किया गया है । उसीका विस्तारसे प्रतिपादन जीवकाण्डमें है । जीवसमास प्रकरणकी २१६ गाथाओंमेंसे अधिकांश गाथाएँ जीवकाण्डमें ज्योंकी त्यों ले ली गई हैं ।

गोमट्टसार एक सग्रह ग्रन्थ है, यह बात कर्मकाण्डकी गाथा न० ९६५में आये हुए 'गोम्मटसग्रह सुत्त' नामसे स्पष्ट है । जीवकाण्डका संकलन मुख्यरूपसे पञ्चसग्रहके

जीव समास अधिकार तथा पट्खण्डागमके प्रथम खण्ड जीवद्वान्णके सत्प्ररूपणा और द्रव्यपरिमाणानुगम नामक अधिकारोकी धवलाटीकाके आधार पर किया गया है ।

यह पहले लिख आये है कि धवलामे दि० पञ्चसग्रहकी बहुत-सी गाथाएँ उद्धृत हैं और क्वचित् किन्ही गाथाओमे शब्दिक अन्तर भी है । किन्तु जीवकाण्डमें सकलित इस प्रकारकी गाथाओका पाठ धवलासे मिलता है, पञ्चसग्रहसे नहीं । अतः जीवकाण्डके सकलनमें धवलाकी मुख्यता जाननी चाहिये ।

पञ्चसग्रहसे जीवकाण्डमें जो विशेषता है उसका दिग्दर्शन इस प्रकार है—

पञ्चसग्रहमें ३० गाथाओसे गुणस्थानोका कथन है किन्तु जी०का०में ६८ गाथाओमें कथन है । उसमें बीस प्ररूपणाओका परस्परमे अन्तर्भावका कथन तथा प्रमादोके भगोका कथन पञ्चसग्रहमे विशेष है । पं०स०में जीवसमासका कथन केवल ग्यारह गाथाओमे है किन्तु जी०का०में ४८ गाथाओमें है । उसमें स्थान, योनि, शरीरकी अवगाहना, और कुलोके द्वारा जीवसमासका कथन विस्तारसे किया है । यह सब कथन पं०स०में नहीं है । तथा पं०स०के इस प्रकरणकी केवल एक गाथा जी०का०में है शेष सब कथन स्वतन्त्र है ।

पर्याप्तिका कथन पं०स०में दो गाथाओमे है और जी०का०में ११ गाथाओमें । पं०स०की दोनो गाथाएँ जी०का०में हैं । प्राणोका कथन पं०स०में ६ गाथाओमें है और जी०का०मे ५ गाथाओंमें । इसमें पं०स०की केवल दो गाथाएँ ली गई हैं । सज्ञाओकी पाचो गाथाएँ जी०का०में ले ली हैं केवल स्वामियोका कथन जी०का०में विशेष है ।

जी० का० के मार्गणाओके कथनमें एक बड़ी विशेषता यह है कि उसमें मार्गणाओमें जीवोकी सख्याका कथन भी किया गया है । यह कथन दि० पं० स० में नहीं है ।

इन्द्रियमार्गणाके कथनमें पं० स० में एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय आदि जीवोको बतलाया है ये जीव एकेन्द्रिय हैं ये द्वीन्द्रिय हैं । जी० का० में इसे छोड़ दिया है और प्रत्येक इन्द्रियके विषयका तथा इन्द्रियोमे लगे हुए आत्मप्रदेशोका कथन विस्तारसे किया है, यह कथन पं० स० में नहीं है ।

कायमार्गणाके कथनमें जी० का० में पं० स० से कई बातें विशिष्ट हैं । जैसे त्रसोका वासस्थान, निगोदिया जीवोसे अप्रतिष्ठित शरीर और स्थावर जीवोके शरीरका आकार । योगमार्गणामें भी इसी तरह कई विशिष्ट कथन हैं ।

कषायमार्गणाके कथनमें जी० का० मे शक्ति, लेश्या और आयुबन्धावन्धकी

अपेक्षा कपायके भेदोंका कथन किया गया है जो प० स० में नहीं है। और जी० का० में ज्ञानमार्गणाका कथन तो बेजोड़ है। श्रुतज्ञानके बीस भेद जो उसमें बतलाये हैं उनका कथन पट्खण्डागमके वेदनाखण्ड और उसकी धवलासे लिया गया है। यह कथन श्वेताम्बर साहित्यमें भी नहीं मिलता। इसी तरह अवधिज्ञानके भेदोंका कथन भी बहुत विस्तृत है। ज्ञानमार्गणाकी गाथा सख्या १६६ है। पं० स० में केवल १० गाथाएँ इस प्रकरणमें हैं।

इसी तरह जी० का० में लेख्यामार्गणा भी बहुत विस्तृत है और लेख्याओका कथन बहुत विस्तारसे किया है। सम्यक्त्वमार्गणामें सम्यक्त्वके भेदोंका तथा उनके सम्बन्धसे छै द्रव्यों और नौ पदार्थोंका कथन बहुत विस्तृत है। इसमें तत्त्वार्थसूत्रके पाँचवें अध्यायका तो सभी आवश्यक कथन सगृहीत कर दिया गया है। उसके अतिरिक्त भी बहुत सा कथन सगृहीत किया गया है।

इस तरह जीवकाण्डमें 'गागरमें सागर' की कहावत चरितार्थ की गई है। उसका सकलन बहुत ही व्यवस्थित, सन्तुलित और परिपूर्ण है। इसीसे दिगम्बर साहित्यमें उसका विशिष्ट स्थान रहा है। उसीके कारण पंचसग्रह और जीवस्थानके ओझल हो जानेपर भी उनका अभाव नहीं खटका और लोग एक तरहसे उन्हें भूल ही गये।

कर्मकाण्ड

गोम्मटसारके दूसरे भागका नाम कर्मकाण्ड है। इसके दो सस्करण प्रकाशित हुए हैं। रायचन्द शास्त्रमाला बम्बईसे प्रकाशित सस्करणमें मूल तथा हिन्दी टीका है। और हरिभाईदेवकरण शास्त्रमालासे प्रकाशित सस्करणमें मूलके साथ सस्कृत टीका और उस सस्कृत टीकाके आधारपर ढुंढारी भाषामें लिखी हुई टीका दी गई है। उसकी गाथासख्या ९७२ है। उसमें नौ अधिकार हैं—१ प्रकृतिसमुत्कीर्तन, २ बन्धोदयसत्त्व, ३ सत्त्वस्थानभग, ४ त्रिचूलिका, ५ स्थानसमुत्कीर्तन, ६ प्रत्यय, ७ भावचूलिका, ८ त्रिकरणचूलिका और ९ कर्मस्थिति-रचना।

१ प्रकृतिसमुत्कीर्तन

इसका अर्थ होता है आठो कर्मों और उनकी उत्तरप्रकृतियोंका कथन जिसमें हो। यत कर्मकाण्डमें कर्मों और उनकी विविध अवस्थाओंका कथन है अतः पहले अधिकारमें यह बतलाते हुए कि जीव और कर्मका सम्बन्ध अनादि है कर्मोंके आठ भेदोंके नाम, उनका कार्य, उनका क्रम, उनकी उत्तरप्रकृतियोंमेंसे कुछ विशेष प्रकृतियोंका स्वरूप, बन्धप्रकृतियों, उदयप्रकृतियों और सत्त्वप्रकृतियोंकी सख्यामें अन्तरका कारण, देशघाती, सर्वघाती, पुण्य और पापप्रकृतियाँ, पुद्गलविपाकी,

क्षेत्रविपाकी, भवविपाकी और जीवविपाकी प्रकृतियाँ, कर्ममें निक्षेपयोजना आदि-का कथन ८६ गाथाओंमें किया गया है ।

इस अधिकारकी गा० २२ में कर्मोंके उत्तरभेदोकी संख्या दी है किन्तु आगे उन भेदोको न बतलाकर उनमेंसे कुछ भेदोके सम्बन्धमें विशेष बातें बतला दी है । जैसे दर्शनावरणीयकर्मके नौ भेदोंमेंसे पाँच निद्राओका स्वरूप गा० २३-२४-२५ द्वारा बतलाया है । फिर गाथा २६ में मोहनीयकर्मके एक भेद मिथ्यात्वके तीन भाग कैसे होते हैं, यह बतलाया है । फिर गाथा २७ में नामकर्मके भेदोंमेंसे शरीरनामकर्मके पाँच भेदोंके सयोगी भेद बतलाये हैं । गा० २८ में अगोपाग बतलाये हैं । गा० २९, ३०, ३१, ३२ में किस सहननवाला जीव मरकर किस नरक और किस स्वर्ग तक जन्म लेता है, यह कथन किया है । गाथा ३३ में बतलाया है कि उष्णनामकर्म और आतपनामकर्मका उदय किसके होता है । इस प्रकार आठो कर्मोंकी प्रकृतियोंको बतलाये बिना उनमेंसे किन्हीं प्रकृतियोंके सम्बन्ध-में कुछ विशेष कथन करनेसे ग्रन्थ अधूरा सा प्रतीत होता है । कुछ^१ वर्षों पहले इस प्रश्नको प० परमानन्दजीने उठाया था । और फिर यह भी प्रकट^२ किया था कि कर्मप्रकृति नामक एक ग्रन्थ नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती कृत मिला है । उसपर-से कर्मकाण्डका अधूरापन दूर हो जाता है । इस कर्मप्रकृतिकी १५९ गाथाओंमेंसे ७५ गाथाएँ ऐसी हैं जो उक्त कर्मकाण्डमें नहीं पाई जाती और जिन्हें यथास्थान जोड़ देनेसे कर्मकाण्डका सारा अधूरापन दूर होकर सबकुछ सुसम्बद्ध हो जाता है । प० परमानन्दजीने उन छूटी हुई ७५ गाथाओंको भी अपने उस लेखमें दिया था और यथास्थान उनकी योजना भी की थी । किन्तु प्रो० हीरालालजी^३ आदि कतिपय विद्वानोंने प० परमानन्दजीकी योजना तथा उनके मन्तव्यको स्वीकृत नहीं किया । उनका कहना था कि कर्मकाण्ड अपनेमें पूर्ण है उसमें अधूरापन नहीं है ।

प० श्री जुगलकिशोरजी मुस्तारने 'पुरातन जैन वाक्य सूची' की अपनी प्रस्तावना^४में उक्त चर्चाका विवरण देते हुए 'प० परमानन्दजीके इस मन्तव्यसे अपनी असहमति प्रकट की है कि कर्मप्रकृतिकी ७५ गाथाएँ कर्मकाण्डकी अंगभूत हैं ।

१ देखो—अनेकान्त वर्ष ३, कि० ४, पृ० ३०१ ।

२ अनेकान्त, वर्ष ३, कि० ८-९ में 'गोम्मटसारकी त्रुटिपूर्ति' शीर्षक लेख ।

३ अनेकान्त, वर्ष ३, कि० ११ में 'गोम्मटसार कर्मकाण्डकी त्रुटिपूर्ति पर विचार' शीर्षक लेख ।

४ पृ० ७४ आदि ।

और किसी समय लेखकोकी कृपासे कर्मकाण्डसे छूट गई या उससे जुदा पड़ गई है। अतः उन्हें कर्मकाण्डमें शामिल करके त्रुटिकी पूर्ति कर लेनी चाहिये।

उन्होंने लिखा है कि कर्मप्रकृति प्रकरण और प्रकृति समुत्कीर्तन अधिकार इन दोनोंको एक कैसे समझ लिया गया है जिसके आधारपर एकमें जो गाथाएँ अधिक हैं उन्हें दूसरेमें भी शामिल करनेका प्रस्ताव रखा है। जबकि कर्मप्रकृतिमें प्रकृति समुत्कीर्तन अधिकारसे ७५ गाथाएँ अधिक ही नहीं, बल्कि उसकी ३५ गाथाएँ (न० ५२ से ८६ तक) कम भी हैं जिन्हें कर्मप्रकृतिमें शामिल करनेके लिये नहीं कहा गया। और इसी तरह २३ गाथाएँ कर्मकाण्डके द्वितीय अधिकारकी (गा० १२७ से १४५, १६३, १८०, १८१, १८४) तथा ग्यारह गाथाएँ छठे अधिकारकी (८०० से ८१० तक) भी उसमें और अधिक पाई जाती हैं परन्तु प्रकृति समुत्कीर्तन अधिकारमें उन्हें शामिल करनेका सुझाव नहीं रखा गया। दोनोंके एक होनेकी दृष्टिसे यदि एककी कमीको दूसरे से पूरा किया जाये और इस तरह प्रकृति समुत्कीर्तन अधिकारकी उक्त ३५ गाथाओंको कर्मप्रकृतिमें शामिल करानेके साथ कर्मप्रकृतिकी उक्त (२३ + ११) ३४ गाथाओंको भी प्रकृति समुत्कीर्तनमें शामिल करानेके लिये कहा जाये तो X X X यह प्रस्ताव बिल्कुल असंगत होगा क्योंकि वे गाथाएँ प्रकृति समुत्कीर्तन अधिकारके साथ किसी तरह ही संगत नहीं हैं। वास्तवमें ये गाथाएँ प्रकृति समुत्कीर्तनसे नहीं, किन्तु स्थितिवन्धादिकसे सम्बन्ध रखती हैं।'

अतः कर्मप्रकृति एक स्वतंत्र ग्रन्थ ही ठहरता है जिसमें प्रकृति समुत्कीर्तनको ही नहीं, किन्तु प्रदेशवन्ध, स्थितिवन्ध और अनुभागवन्धके कथनोंको भी अपनी रुचिके अनुसार सकलित किया गया है और उसका सकलन गोम्मटसारके निर्माणके बाद किसी समय हुआ जान पड़ता है। मुस्तारसाहबका यह निष्कर्ष उचित है। इसीसे उसको यहाँ उद्धृत कर दिया है। किन्तु इस तरह कर्मप्रकृतिके एक स्वतंत्र ग्रन्थ मान लिये जानेपर भी कर्मकाण्डके प्रकृति समुत्कीर्तन अधिकारके गा० २२ से ३३ तकमें जो असवद्धता और अपूर्णता प्रतीत होनेका प्रश्न है वह तो खड़ा ही रहता है। उसके सम्बन्धमें भी हमें मुस्तारसाहबका सुझाव मान्य प्रतीत होता है।

जिन दिनों कर्मकाण्डकी त्रुटिपूर्तिकी चर्चा चल रही थी तब स्व० प० लोकनाथजी शास्त्रीने मूडविद्रीके सिद्धान्तमन्दिरके शास्त्र भण्डारमें, जहाँ ध्वलादि सिद्धान्त ग्रन्थोंकी मूलप्रतियाँ मौजूद हैं, गोम्मटसारकी खोज की थी और अपने खोजके परिणामने मुस्तारसाहबको सूचित किया था। उन्होंने सूचित किया था कि उक्त शास्त्र भण्डारमें गोम्मटसारके जीवकाण्डकी मूलप्रति त्रिलोकनार और लब्धिमार क्षपणानार सहित ताड़पत्रोपर मौजूद हैं। पत्र मर्या जीवकाण्डकी

३८, कर्मकाण्डकी ५३, त्रिलोकसारकी ५१ और लब्धिसार-क्षपणासारकी ४१ है। ये सब ग्रन्थ पूर्ण हैं। और उनकी पद्यसंख्या क्रमशः ७३०, ८७३, १०१८ और ८२० है। ताडपत्रोकी लम्बाई दो फुट दो इंच और चौड़ाई दो इंच है। लिपि प्राचीन कन्नड है।

ये तो हुआ प्रतियोके सम्बन्धमें। प्रकृत चर्चके सम्बन्धमें शास्त्रीजीने लिखा था—कि कर्मकाण्डमे विवादस्थ स्थल प्रतिमें सूत्र रूपमे है। और मुस्तारसाहबको उसका विवरण भी भेजा था। मुस्तारसाहबने पुरातन वाक्यसूचीकी अपनी प्रस्तावनामे उस विवरणके आधारपर जो कुछ लिखा है उसे हम यहाँ दे देना उचित समझते हैं—

‘कर्मकाण्डकी २२वीं गाथामें ज्ञानावरणादि आठ मूल प्रकृतियोंकी उत्तर कर्मप्रकृतियोंकी संख्याका ही क्रमशः निर्देश है—उत्तरप्रकृतियोंके नामादि नहीं दिये। २३वीं गाथामें क्रम प्राप्त ज्ञानावरणकी ५ प्रकृतियोंका कोई उल्लेख न करके दर्शनावरणकी नौ प्रकृतियोंमेंसे स्त्यानगृद्धि आदि पाँच प्रकृतियोंके कार्यका निर्देश करना प्रारम्भ कर दिया है। इन २२ और २३ गाथाओंके बीचमें निम्न गद्यसूत्र पाये जाते हैं जिनमे ज्ञानावरणीय तथा दर्शनावरणकी कर्मोंकी उत्तर-प्रकृतियोंका स्पष्ट उल्लेख है और जिनसे दोनों गाथाओंका सम्बन्ध ठीक जुड़ जाता है।—

‘णाणावरणीय दसणावरणीयं वेदणीय (मोहणीय) आउग णाम गोद अतराय चेइ। तत्थ णाणावरणीय पचविह आभिर्णिवोहिय-सुद-ओहि-मणपज्जवणाणा-वरणीय केवलणाणावरणीयं चेइ। दंसणावरणीय णवविहं थोणगिद्धि, णिहाणिहा, पयलापयला, णिहा य पयला य चक्खु-अचक्खु-ओहि दसणावरणीय केवलदसणा-वरणीयं चेइ।’

२५वीं गाथामें दर्शनावरणकी कर्मकी नौ प्रकृतियोंमेंसे प्रचला प्रकृतिके कार्यका निर्देश है। इसके बाद क्रमप्राप्त वेदनीय तथा मोहनीयकी उत्तर प्रकृतियोंका कोई निर्देश न करके २६वीं गाथामें एकदम यह प्रतिपादन किया है कि मिथ्यात्वका द्रव्य तीन भागोंमें बँटकर कैसे तीन प्रकृति रूप हो जाता है। मूडविद्वीकी उक्त प्राचीन प्रतिमें दोनों उक्त गाथाओंके मध्यमें निम्न गद्यसूत्र है जिनसे उक्त त्रुटि अशकी पूर्ति हो जाती है—

‘वेदनीय दुविह सादावेदणीयमसादावेदणीय चेइ। मोहणीय दुविह दसण-मोहणीय चारित्तमोहणीय चेइ। दसणमोहणीय बधादो एयविह मिच्छत्त, उदय सत्त पडुच्च तिविह मिच्छत्त सम्मामिच्छत्त सम्मत्तं चेइ।’

२६वीं गाथाके बाद चारित्र मोहनीयकी मूलोत्तर प्रकृतियों, आयुर्कर्मकी प्रकृ-

तियो और नामकर्मकी प्रकृतियोंका कोई नामनिर्देश न करके २७वीं गाथामें एकदम १५ सयोगी भेदोको गिनाया है जो नामकर्मकी शरीरबन्धन प्रकृतियोंसे सम्बन्ध रखते हैं, परन्तु वह कर्म कौन-सा है और उसकी किन-किन प्रकृतियोंके ये सयोगी भेद हैं यह सब ज्ञान नहीं होता । मूडविद्रीकी उक्त प्रतिमें निम्न गद्य सूत्र उक्त दोनो गाथाओके बीचमे पाये जाते हैं । जिनसे कथनकी सगति बैठ जाती है क्योंकि उनमें चारित्र मोहनीयकी २८, आयुकी ४ और नामकर्मकी ४२ पिण्ड प्रकृतियोंका नामोल्लेख करनेके अनन्तर नामकर्मके जाति आदि भेदोकी उत्तर प्रकृतियोंका उल्लेख करते हुए शरीर बन्धन नामकर्मकी पाँच प्रकृतियों तक ही कथन किया गया है, इससे गाथा न० २७ के साथ उसकी सगति विल्कुल ठीक बैठती है—

“चारित मोहणीय दुविह कसायवेदणीय णोकसायवेदणीय चेइ । कसायवेदणीय सोलसविह खवण पडुच्च अणताणुवधि कोह-माण-माया-लोह अपच्चक्खाण पच्चक्खाणावरण कोह-माण-माया-लोह कोहसजलण माणसंजलण मायासंजलण लोहसजलण चेइ । पक्कमदव्व पडुच्च अणताणुवधि-लोह-कोह-माया-माण सजलण लोह-माया-कोह-माण पच्चक्खाण लोह-कोह-माया-माण अपच्चक्खाण लोह-कोह-माया-माण चेइ । णोकसाय वेदणीय णवविह पुरसित्थिणउसयवेद रदि-अरदि-हस्स-सोग-भय-दुगुच्छा चेदि । आउग चउविह णिरयाउगं तिरिक्ख-माणुस्स-देवा-उग चेदि । णाम वादालीस पिंडापिंडपयडिभेयेण गयि-जायि-सरीर-वधण-सघाद-सठाण-अगोवग-सघडण-वण्ण-गध-रस-फास-आणुपुव्वी - अगुस्सलहुगुवघाद - परघाद-उस्सास-आदाव-उज्जोद - विहायगयि-तस-थावर-वादर-सुहुम-पज्जत्तापज्जत्त-पत्तेय-साहारणसरीर-थिरायिर-सुभासुभ-सुभग-दुव्वभग-सुस्सर-दुस्सर-आदेज्जाणादेज्ज-जसा-जसकित्ति-णिमिण-तित्थयरणाम चेदि । तत्थ गयिणाम चउव्विह णिरयतिरिक्ख-गयिणाम मणुसदेवगयिणाम चेदि । जायिणाम पचविह एइंदिय-विइंदिय-तीइंदिय-चउइंदियजायिणाम पचिंदिय जायिणाम चेदि । सरीरणाम पचविह ओरालिय-वेगु-व्विय-आहार-तेज-कम्मइयसरीरणाम चेइ । सरीरवधणणाम पचविह ओरालिय-वेगुव्विय-आहार-तेज-कम्मइय-सरीरवधणणाम चेइ ।

१ गो० कर्मकाण्डकी संस्कृत टीकामें इन सूत्रोका अक्षरशः संस्कृत रूपान्तर मिलता है । उससे मिलान करनेसे तथा सैद्धान्तिक दृष्टिसे भी सूत्रका पाठ अशुद्ध प्रतीत होता है । टीकाका संस्कृत पाठ इस प्रकार है—‘प्रक्रमद्रव्य विभजनद्रव्य प्रतीत्य अनन्तानुवधि लोभ माया क्रोध मानं सज्वलनलोभ-माया क्रोधमान प्रत्याख्यानलोभमायाक्रोधमान अप्रत्याख्यानलोभमाया क्रोध-मान चेति ।’

सूत्रके अन्तमें आगत शरीरबन्धन नामकर्मके पाँच भेदोंके १५ सयोगी भेद गाथा २७में बतलाये हैं । गाथा २८में शरीरके आठ अंग बतलाये हैं । मूडविद्री-की प्राचीन प्रतिमें गा० २७ और २८के बीचमें नीचे लिखे गद्य सूत्र है—

‘शरीरसघादणाम पचविह ओरालिय-वेगुव्विय-आहार-तेज-कम्मइयशरीर-सघाद णाम चेदि । शरीरसंठाणणामकम्मं छव्विहं समचउरसठाणणामं णग्गोद-परिमडल-सादिय-कुज्ज-वामण-हुडशरीरसठाणणामं चेदि । मरीरअंगोवगणाम तिविह ओरालिय-वेगुव्विय-आहार-सरीरअंगोवग णाम चेदि ।

२८वी गाथाके बाद नीचे लिखा गद्य सूत्र है—

‘सहडणणाम छव्विह वज्जरिसहणारायसहडणणाम वज्जणाराय-णाराय-अद्धणाराय-खीलिय-असपत्तसेवट्ठिशरीरसहडणणाम चेइ ।’

२८वी गाथाके अनन्तर चार गाथाओंमें छँ सहननोका कथन है । जिनमेंसे प्रथम तीन गाथाओंमें यह बतलाया है कि किस सहनन वाला जीव मरकर किस स्वर्ग तक अथवा किस नरक तक जन्म लेता है । और चौथी गाथामें बतलाया है कि कर्मभूमिकी स्त्रियोंके अन्तके तीन सहननोका ही उदय होता है ।

उक्त सूत्रके साथ इन गाथाओंकी सगति बैठ जाती है ।

गाथा ३२के बाद नीचे लिखे गद्यसूत्र मूडविद्री की प्रति में है—

‘वण्णणाम पचविह किण्ण-नील-रुहिर-पीद-सुक्किलवण्णणाम चेदि । गधणाम-दुविहं सुगध-दुगध णाम चेदि । रसणाम पचविहं तिट्ठ-कडु-कसायविल-महुर-रस-णाम चेइ । फासणाम अट्ठविह कक्कड-मउगगुरुलहुग-स्क्ख-सणिद्ध-सीदुसुण-फास-णाम चेदि । आणुपुव्वी णाम चउव्विहं णिरय-तिरक्खगाय-पाओग्गाणुपुव्वीणामं मणुस-देवगयि-पाओग्गाणुपुव्वी-णाम चेइ । अगुरुलघुग-उवघाद-परघाद-उत्सास-आदव-उज्जोद-णाम चेदि । विहायगदिणाम कम्म दुविह पसत्थविहायगदिणाम अप्पसत्थ-विहायगदिणाम चेदि । तस-वादर-पज्जत्त-पत्तेयसरीर-सुभ-सुभग-सुत्सर-आदेज्ज-जसकित्ति-णिमिण-तित्थयरणाम चेदि । थावर-सुहुम-अपज्जत्त-साहारणसरीर-अथिर-असुह-दुब्भग-दुत्सर-अणादेज्ज-अजसकित्ति णाम चेदि ।

इसके पश्चात् गाथा ३३ है जिसमें उष्ण नामकर्म और आतप नामकर्ममें अन्तर स्पष्ट किया है । गाथा ३३ के साथ नामकर्मकी प्रकृतियोंकी गणना समाप्त हो जाती है । ३३ गाथाके पश्चात् नीचे लिखे सूत्र है । जिनमें गोत्रकर्म और अन्तराय कर्मकी प्रकृतियाँ बतलाई हैं—

‘गोदकम्म दुविह उच्चणीचगोद चेइ । अतराय पंचविह दाण-लाभ-भोगोप-भोग-वीरिय-अंतराय चेइ ।

मूडविद्रीके प्रतिमे पाये जाने वाले उन सूत्रोंको ग्यारथान ग्य देनेमे कर्म-काण्ड गा० २२ मे ३३ तकमे जो अगम्यद्वता प्रतीत होती है वह दूर हो जाती है और सब गाथाएँ सुसगत प्रतीत होने लगती हैं ।

दि० प्रा० पञ्चसग्रहके दूसरे अधिकारका नाम भी प्रकृति समुत्कीर्तन है । उसके प्रारम्भमें चार गाथाएँ हैं । पहली मगल गाथाको छोड़कर शेष तीनों गाथाएँ कर्मकाण्डमें २०, २१, २२ नम्बरों लिये हुए विराजमान हैं । २२वीं गाथामें आचार्य नेमिचन्द्रने थोडा-सा परिवर्तन कर दिया है । नाम कर्मकी १३ या १०३ प्रकृतियाँ लिखकर उन्होंने कर्म पद्धतिमें निर्दिष्ट १५८ कर्म प्रकृतियोंकी मान्यताका भी मग्न किया है ।

पञ्चसग्रहमें आठों कर्मोंकी प्रकृतियोंकी मर्यादित बतलाने वाली गाथाके पश्चात् प्रकृतियोंके नामादिका कथन गद्य सूत्रों द्वारा ही किया गया है । उन्नी पद्धतिका अनुसरण नेमिचन्द्राचार्यने भी किया था, ऐसा मूडविद्रीकी कर्मकाण्डकी प्रतिमे प्रतीत होता है । पञ्चसग्रहमें गद्य सूत्रोंके द्वारा क्रममें सब प्रकृतियोंका निर्देश किया है । कर्मकाण्डमे बीच-बीचमें गाथासूत्र देकर प्रकृतियोंके सम्बन्धमें आवश्यक उपयोगी कथनोंका भी मग्न किया गया है ।

जीव स्थानकी चूलिकाके अन्तर्गत भी प्रकृति समुत्कीर्तन नामक अधिकार है । पञ्चसग्रहका प्रकृति समुत्कीर्तन अधिकार उसीकी उपज है । और इन्हीकी उपज कर्मकाण्डका प्रकृतिसमुत्कीर्तन अधिकार है । उसमें जो गद्यसूत्र हैं वे उक्त ग्रन्थोंके अन्तर्गत गद्यसूत्रोंका ही सक्षिप्त रूप हैं । उनमें जो कही अन्तर किया गया है वह कर्मकाण्डकी दृष्टिसे ही किया गया है ।

उल्लेखनीय अन्तर दर्शनावरणीय कर्मकी प्रकृतियोंके क्रममें है । जी० स्था० चूलिका तथा पञ्चसग्रहमें निद्रा निद्रा, प्रचला प्रचला, स्त्यानगृद्धि, निद्रा और प्रचला यह पाँच निद्राओंका क्रम है और कर्मकाण्डगत गद्य सूत्रमें, जो कि मूडविद्रीकी प्राचीन प्रतिमे उपलब्ध है—स्त्यानगृद्धि, निद्रानिद्रा, प्रचला प्रचला, निद्रा और प्रचला यह क्रम है । उक्त क्रमको बदलनेका कारण यह है कि कर्मकाण्डमें प्रदेश-वन्धके कथनमें समय प्रवृद्धका विभाग आठों मूलकर्मोंमें तथा उनकी उत्तर प्रकृतियोंमें बतलाया है । दर्शनावरणीय कर्मकी उत्तरप्रकृतियोंमें जिस क्रमसे बँटवारा होता है वही क्रम कर्मकाण्डके गद्यसूत्रमें अपनाया गया है । यह बात चारित्र मोहनीयकी उत्तर प्रकृतियोंको बतलाने वाले गद्यसूत्रोंसे समर्थित होती है । मूडविद्री-वाली प्रतिमे ऊपर चारित्रमोहनीय सम्बन्धी जो गद्यसूत्र दिये गये हैं उनमें कषाय-वेदनीयके सोलह भेदोंको दो अपेक्षाओंसे गिनाया गया है—एक क्षपणकी अपेक्षा से और एक प्रक्रम द्रव्यकी अपेक्षासे । प्रक्रम द्रव्यका अर्थ प० टोडरमलजी ने

अपनी टीकामें लिखा है—'यदुम्भि प्रदेश नन्दिने परमाण्वनि । येंद्वारा है ताकी अपेक्षा कहिये ।' धारणाकी अपेक्षा तो जो प्रसिद्ध क्रम है वही है किन्तु येंद्वारेकी अपेक्षा क्रम भिन्न है जैसा कि सूत्रमें ब्यक्तिया है ।

अतः मुद्रवित्री की प्रथिमं वर्तमान मयसूत्र अवश्य ही कर्मकाण्डके अंग है और वे नेमिनन्दानाथकी कृति है । कर्मकाण्डकी मद्रित संशयन टीकामें उन मृशोक्त संस्कृत स्पष्टान्तर अन्वयन पाया जाना भी उगाही पण्डित करता है । उन सूत्रों को यथा स्थान रखनेमें कर्मकाण्डकी पूर्तिपूति ही जानी है ।

२ वन्धोदय मन्वाधितार

इस अधिकांशमें कर्मोंके वन्ध उदय और मन्वका कथन है । रि० पा० पञ्च-संग्रहमें भी इस नामका तीसरा अधितार है जो कर्मस्वरूप काही है । उगाही प्रथम गाथाका उत्तरार्ध है—'यधुदयमत्तजगत्त चोत्पत्तिमि यम पितामेत ।' नेमि-चन्द्रानाथने अपने कथनके अनुसार उगमें पार्श्ववर्तन करने उमें इस प्रकार रखा है—'यधुदयमत्तजगत्त ओषादो गय गोचर ।' कर्मस्तर या पञ्चमगहमें स्तवका अर्थ नहीं लिखा । किन्तु कर्मकाण्डके इस अधितारकी दूसरी गाथामें उनका अर्थ कहा है—'जिगमें एक अगता विस्तार या मक्षेपमें कथन हो उस शारालो स्तव कहते हैं । जिगमें एक अगता विस्तार या मक्षेपमें कथन हो उमें स्तुति कहते हैं और जिगमें एक अगते अधितारका कथन विस्तार या मक्षेपमें हो उमें धर्मकथा कहते हैं । यह लक्षण शब्दोंके आधार पर रचित है । वेदना राण्डके कृति अनुयोग हारके सूत्र ५५में 'यध-युद्धि-धम्म कत्ता' आया है । धवला-में उसके लक्षण कहे हैं । उगीपरमें नेमिनन्दानाथने एक गाथाके द्वारा तीनों लक्षणोंको कहा है ।

स्तवके लक्षणके अनुसार कर्मकाण्डके इस दूसरे अधिकांशमें कर्मोंके वन्ध, उदय सत्त्वका गुणस्थान और मार्गणाओमें सर्वांगपूर्ण कथन दिया गया है । ऐसा समझना चाहिये ।

सबसे प्रथम वन्धका कथन करते हुए वन्धके चारो भेदोंका-प्रकृतिवन्ध, स्थिति वन्ध, अनुभागवन्ध और प्रदेशवन्धका, क्रमशः कथन किया गया है । प्रकृति-

१ 'सयलगेककगेकगहियार सवित्थर ससारोव । वणणसत्थ थययुद्ध-धम्मकहा होइ णियमेण ॥८८॥—क० का० ।

२ वारसगसघारो सयलगविसयप्पणादो थवो णाम । वारसगसु एक्कगोव-सघारो थुदोणा म । एक्कगस्स एगाहियारोवसहारो धम्मकहा ।'

बन्धका कथन करते हुए प्रथम यह बतलाया है कि किन २ कर्म प्रकृतियोंका बन्ध किस किस गुणस्थान तक होता है, आगे नहीं होता । यह कथन पञ्चसंग्रहमें भी है । गुणस्थानोंमें आठो कर्मोंकी १२० बन्ध प्रकृतियोंके बन्ध, अबन्ध और बन्ध व्युच्छित्तिका कथन करनेके बाद चौदह मार्गणाओंमें वही कथन किया गया है । यह कथन पञ्चसंग्रहमें नहीं है । इसे नेमिचन्द्राचार्यने पट्खण्डागमके बन्ध स्वामित्व विचय नामक तीसरे खण्डसे लिया है ।

प्रकृतिबन्धके पश्चात् स्थितिवन्धका कथन है । उसमें कर्मोंकी मूल तथा उत्तर-प्रकृतियोंकी उत्कृष्ट और जघन्यस्थितिवन्धका तथा उनके बन्धकोका कथन किया है । पञ्चसंग्रहके चतुर्थ अधिकारमें जो स्थितिवन्धका कथन है उससे कर्मकाण्डके कथनमें कई विशेषताएँ हैं । कर्मकाण्ड^१में एकेन्द्रियादि जीवोंके होनेवाले स्थिति-बन्धका भी कथन किया है, जो जीवस्थानकी जघन्यस्थिति चूलिकाकी धवला-टीका^२का ऋणी है । अन्तमें कर्मोंकी आवाधाका कथन है ।

तत्पश्चात् अनुभागबन्धका और फिर प्रदेशबन्धका कथन है । ये कथन पञ्चसंग्रहके ऋणी हैं । किन्तु कुछ कथन उससे विशेष भी हैं । प्रदेशबन्धका कथन करते हुए ५० स० में तो समयप्रवद्धका विभाग केवल मूलकर्मोंमें ही बतलाया है किन्तु कर्मकाण्डमें उत्तरप्रकृतियोंमें भी विभागका कथन किया है । तथा कर्मकाण्डमें प्रदेशबन्धके कारणभूत योगके भेदों और अवयवोंका भी कथन है । यह कथन पञ्चसंग्रहमें नहीं है, धवला और जयधवलामें है । इस बन्धप्रकरणमें पञ्चसंग्रहकी कई गाथाएँ ज्योकी त्यों संगृहीत हैं । उदयप्रकरणमें कर्मोंके उदय और उदीरणका कथन गुणस्थान और मार्गणाओंमें है अर्थात् प्रत्येक गुणस्थान और मार्गणामें प्रकृतियोंके उदय, अनुदय और उदय व्युच्छित्तिका कथन है । सत्त्व प्रकरणमें गुणस्थान और मार्गणाओंमें प्रकृतियोंकी सत्ता, असत्ता और सत्त्व व्युच्छित्तिका कथन है । मार्गणाओंमें बन्ध उदय और सत्त्व का कथन अन्यत्र नहीं मिलता । नेमिचन्द्राचार्यने प्राप्त उल्लेखोंके आधारपर उसे स्वयं फलित करके लिखा है । यह बात उदय और सत्त्वकी अन्तिम^३ गाथाके द्वारा ग्रन्थकार नेमिचन्द्रने स्वयं भी कही है ।

३ सत्त्व स्थान भग

पिछले प्रकरणमें कहे गये सत्त्व स्थानका भगोके साथ कथन इस प्रकरणमें

१ गा० १४४-१४५ । २—पट्ख० पु० ६, पृ० १८४ तथा १९५ ।

३ 'कम्मेवाणाहारे पयडीणं उदयमेवमादेसे । कहियमिण बलमाहवचदच्चिय-णेमिचदेण ॥३३२॥ कम्मेवाणाहारे पयडीण सत्तमेवमादेसे । कहियमिण बलमाहवचदच्चियणेमिचदेण ॥३५६॥—क०-का० ।

हैं। प्रत्येक गुणस्थानमें प्रकृतियोंका सत्त्व स्थान कितने प्रकारमें भंग्य है, और उसके साथ जीव किन आयुको भोगता है और परभवति किन २ आयुको वाचता है। यह सब कथन इस प्रकरणमें है।

उसी प्रकरणके अन्तमें ग्रन्थकारने यह कहा^१ है कि जन्मनन्दि गुणके पागमें श्रवण करके जनकनन्दिने सत्त्व स्थानका कथन किया। जनकनन्दिने 'विस्तरसत्त्व निभगी' नामक ग्रन्थका परिचय पीछे करा आये हैं। उमें नेमिचन्द्राचार्यने अपने इस प्रकरणमें प्रायः ज्योका त्यों अपना लिया है। आगकी प्रतिमें गाथा न० ८८ है और कर्मकाण्डके मुद्रित मस्करणोंमें ^२ प्रकरणकी गाथा नम्बरा ३५८ में ३९७ तक ४० है। अतः केवल ८ गाथाएँ छोड़ दी गई हैं और उनमें क्रमभेद भी किया गया है। जिन गाथा ३९७ में चक्रवर्तीकी तरह निदान्तके छ गण्डोंको अपनी बुद्धिमें साधनेकी बात कही गई है वह गाथा भी जनकनन्दिने विस्तार सत्त्व निभगीकी है। अतः नेमिचन्द्रकी तरह जनकनन्दि भी निदान्त चक्रवर्ती थे।

४ चिचूलिका अधिकार

इस अधिकारमें तीन चूलिकाएँ हैं—नव प्रश्न चूलिका, पचभागहार चूलिका और दशकरण चूलिका। जैने जीवस्थानके विषय स्थलोंके विवरणके लिये उसके अन्तमें चूलिका नामक एक भाग आता है वैसे ही कर्मकाण्डमें प्रतिपादित पूर्वाधिकारोके सम्बन्धमें विशेष कथन करनेके लिये यह अधिकार आया है। पहली नौ प्रश्न चूलिकामें नौ प्रश्नोंका समाधान किया गया है। वे नौ प्रश्न इस प्रकार हैं १ उदयव्युच्छित्तिके पहले बन्धकी व्युच्छित्ति किन प्रकृतियोंकी होती है। २ उदय व्युच्छित्तिके पीछे बन्धकी व्युच्छित्ति किन प्रकृतियोंकी होती है। ३ और उदय व्युच्छित्तिके साथ बन्धकी व्युच्छित्ति किन प्रकृतियोंकी होती है। ४ जिनका अपना उदय होनेपर बन्ध हो ऐसी प्रकृतियाँ कौनसी हैं। ५ जिनका अन्य प्रकृतिका उदय होनेपर बन्ध हो ऐसी प्रकृतियाँ कौन सी हैं। ६ और जिनका अपना तथा अन्य प्रकृतिका उदय होनेपर बन्ध हो, वे प्रकृतियों कौनसी हैं। ७ जिनका निरन्तर बन्ध होता है ऐसी प्रकृतियाँ कौनसी हैं। ८ जिनका सान्तरबन्ध होता है अर्थात् कभी बन्ध होता है और कभी नहीं होता, वे प्रकृतियाँ कौनसी हैं ९ और जिनका निरन्तर बन्ध भी होता है और सान्तरबन्ध भी होता है वे प्रकृतियाँ कौनसी हैं? इन नौ प्रश्नोंका उत्तर इस चूलिकामें दिया गया है। प्रा० प० स० के तीसरे अधिकारके अन्तमें नौ प्रश्न चूलिका आई है तथा पट्खण्डागम^३के अन्तर्गत बन्धस्वामित्वविचय नामक तीसरे खण्डकी

१ क० का०, गा० ४९६।

२ पट्ख० पु० ८, पृ० ७—१७।

ध्वलाके प्रारम्भमें ये नौ प्रश्न उठाकर उनका समाधान किया गया है और उसके समर्थनमें कुछ आर्ष गाथाएँ भी उद्धृत की गयी हैं। इन्हींके आधारसे यह नौ प्रश्न चूलिका लिया गया प्रतीत होता है।

पच भाग हार चूलिकामें उद्वेलन, विध्यात, अध प्रवृत्त, गुणसक्रम और सर्व-सक्रम इन पाँच भागहारोका कथन है। इन भागहारोके द्वारा जीवोके शुभाशुभ-कर्म अपने परिणामोके निमित्तसे अन्य प्रकृतिरूप परिणमन करते हैं। जैसे शुभ परिणामोका निमित्त पाकर वधा हुआ असातावेदनीयकर्म सातावेदनीय रूप परिणत हो जाता है। किस-किस कर्मप्रकृतिमें कौन-कौन भागहार सम्भव है और किस-किस भागहारके अन्तर्गत कौन-कौन प्रकृतियाँ हैं यह सब भी कथन किया गया है। साथ ही चूँकि पाँचो भागहार एक भाजक राशिके तुल्य हैं अतः उनका परस्परमें अल्पबहुत्व भी बतलाया गया है। यह सब कथन पञ्चसग्रहमें नहीं है।

दशकरण चूलिका—इसमें बन्ध, उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण, उदीरणा, सत्ता, उदय, उपसम, निधत्ति और निकाचना इन दस करणोका स्वरूप कहा गया गया है और बतलाया गया है कि कौन करण किस गुणस्थान तक होता है। करण नाम क्रिया का है—कर्मोंमें ये दस क्रियाएँ होती हैं। कर्मप्रकृतिमें इन करणोका स्वरूप बहुत विस्तारसे वर्णित है। 'जयध्वलामें 'दसकरणी सग्रह' नामक एक ग्रन्थका निर्देश है उसमें भी, जैसा कि उसके नामसे प्रकट होता है, दस करणोके कथनका सग्रह होना चाहिए।

५. बन्धोदय सत्त्व युक्त स्थान समुत्कीर्तन

एक जीवके एक समयमें जितनी प्रकृतियोंका बन्ध, उदय अथवा सत्त्व सभव है उनके समूहका नाम स्थान है। इस अधिकारमें पहले आठो मूलकर्मोंको लेकर और फिर प्रत्येक कर्मकी उत्तर प्रकृतियोंको लेकर बन्धस्थानो, उदयस्थानो और सत्त्व स्थानोका कथन किया गया है। जैसे मूलकर्मोंका कथन करते हुए कहा है कि तीसरे मिश्रगुणस्थानके सिवाय अप्रमत्त पर्यन्त छै गुणस्थानोंमें एक जीवके आयुकर्मके विना सातकर्मोंका अथवा आयु सहित आठ कर्मोंका बन्ध होता है, तीसरे, आठवें और नौवें, इन तीन गुणस्थानोंमें आयुके विना सात कर्मोंका ही बन्ध होता है। दसवें गुणस्थानमें आयु और मोहनीयके सिवाय छै ही कर्मोंका बन्ध होता है। ग्यारहवें आदि तीन गुणस्थानोंमें एक वेदनीय कर्मका ही बन्ध होता है, और चौदहवें गुणस्थानमें एक भी कर्मका बन्ध नहीं होता। अतः आठो कर्मोंके चार बन्धस्थान होते हैं—आठ प्रकृतिक, सात प्रकृतिक, छै प्रकृतिक और एक प्रकृतिक।

इसी तरह दगवें गुणस्थान तक आठो कर्मोंका उदय होता है, ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानमें मोहनीयके विना सातकर्मोंका उदय होता है। तथा तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानमें चार ही कर्मोंका उदय होता है। अत आठो कर्मोंके तीन उदयस्थान होते हैं—आठ प्रकृतिक, सात प्रकृतिक और चार प्रकृतिक।

ग्यारहवें गुणस्थान तक आठो प्रकृतियोंकी गत्ता रहती है, बारहवें गुणस्थानमें मोहनीयके विना सात कर्मोंकी ही गत्ता रहती है और तेरहवें तथा चौदहवें गुणस्थानमें चार कर्मोंकी ही गत्ता रहती है। अत आठो कर्मोंके तीन गत्त्वस्थान हैं—आठ प्रकृतिक, सात प्रकृतिक और चार प्रकृतिक।

इसी तरहका कथन प्रत्येक कर्मके विषयमें भी किया गया है। आठो कर्मोंमें—रो वेदनीय, आयु और गोत्रकर्मकी उत्तर प्रकृतियोंमें एक जीवके एक समयमें एक ही प्रकृतिका बन्ध होता है और एकका ही उदय होता है। ज्ञानावरण और अन्तरायकी पाँचो प्रकृतियोंका एकाग्र बन्ध, उदय और सत्त्व होनेसे स्थान एक ही है। अत इन पाँच कर्मोंको छोड़कर दर्शनावरण, मोहनीय और नामकर्मके बन्धस्थानो, उदयस्थानो और सत्त्वस्थानोका कथन बहुत विस्तारमें किया गया है। प्रत्येकका कथन करनेके बाद त्रिमयोगी भगोका कथन है अर्थात् बन्धमें उदय और सत्त्व, उदयमें बन्ध और सत्त्व और सत्त्वमें बन्ध और उदयका कथन किया गया है। फिर बन्धादिमेंसे दोको आधार और एकको आधेय बनाकर कथन किया गया है। प्रा०दि० पञ्चसग्रहके अन्तर्गत शतक तथा सप्ततिका नामक अधिकारमें भी उक्त कथन है और कर्मकाण्डका उक्त कथन उमका ऋणी जान पड़ता है। कुछ गाथाएँ भी दोनोंमें मिलती हुई हैं। 'कथनमें कुछ भेद भी है। जिसका कारण विवक्षा भेदके साथ मतभेद भी है, वह मतभेद परम्परामूलक है। इस प्रकरणमें आठो कर्मोंके विषयमें प्रसंगवश आगत कर्मविषयक और भी बहुत-सा ज्ञातव्य विषय है। यह अधिकार बहुत विस्तृत है इसकी गाथा संख्या ३३४ है।

६ प्रत्ययाधिकार

इस अधिकारमें कर्मबन्धके कारणोंका कथन है। मूल कारण चार हैं—मिथ्यात्व, अविरति, कपाय और योग। तथा इनके भेद क्रमसे ५, १२, २५, और १५ = कुल ५७ होते हैं। गुणस्थानोंमें इन्हीं मूल और उत्तर प्रत्ययोंका कथन इस अधिकार में किया गया है कि किस गुणस्थानमें बन्धके कितने प्रत्यय होते हैं। और उनके भङ्गोंका भी निर्देश किया है। प्रा० पञ्चसग्रहके शतका-

१ इस भेदको जाननेके लिए सप्ततिका प्रकरणका प० फूलचन्द्रजी कृत अनुवाद (पृ० १०३) देखना चाहिए।

धिकारके प्रारम्भ में यह कथन बहुत विस्तारसे किया गया है। यहाँ तो उसको बहुत सक्षिप्त कर दिया है।

इन प्रत्ययोके पश्चात् कर्मकाण्डके इस अधिकारमें प्रत्येक कर्मके विशेष कारण ११ गाथाओ द्वारा बतलाये हैं। ये गाथाएँ वही हैं जो शतक प्रकरणमें वर्तमान हैं और दि० प्रा० पञ्चसग्रहके शतक प्रकरणसे ली गई जान पड़ती हैं।

७. भावचूलिका

इस अधिकारमें औपशमिक, क्षायिक, मिश्र, औदयिक, और पारिणामिक इन पाँच भावोका तथा इनके भेदोका कथन करके उनके स्वसयोगी भगोका कथन गुणस्थानोमे किया गया है।

उसके पश्चात् जैन परम्पराकी वह प्राचीन गाथा दी गई है जिसमें कहा है कि क्रियावादियोके १८०, अक्रियावादियोके ८४, अज्ञानवादियोके ६७ और वैन्यिकोके ३२ इस तरह ३६३ मिथ्यामत हैं।

उस गाथाको देकर आगे उन मतोकी उपपत्ति दी है कि किस तरह क्रियावादी आदि मत १८० आदि होते हैं। श्वे-सूत्रकृतागके प्रथम श्रुत स्कन्ध अध्ययन १२ में भी मतोकी चर्चा मिलती है। और उसकी टीकामें शीलाकने उनकी उपपत्ति भी दी है किन्तु कर्मकाण्डकी उपपत्तिसे उसमें अन्तर है। तथा अमित-गतिके सस्कृत पञ्चसग्रहमें (पृ० ४१ आदि) भी उपपत्ति मिलती है जो कर्मकाण्डके ही अनुरूप है। अस्तु,

अन्तमें एक गाथाके द्वारा जो सन्मतितर्क (का० ३, गा० ४७) में भी वर्तमान है, कहा गया है कि 'जितने वचनके मार्ग हैं उतने ही नयवाद है और जितने नयवाद हैं उतने ही परसमय है। अर्थात् सब नयोके समूहका नाम ही जैनदर्शन है।

८ त्रिकरणचूलिका

इस अधिकारमें अध करण और अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इन तीन करणोका स्वरूप कहा गया है। जीवकाण्डके प्रारम्भमें भी गुणस्थानोके प्रकरणमें इन करणोका स्वरूप कहा गया है और तीनों करणका स्वरूप बतलाने वाली

१ देखो—कर्मकाण्ड गा० ८००-८१० और शतक गा० १६-२६।

२ असिदिसद किरियाण अक्किरियाणा च आहु चुलसीदी। सत्तट्ठण्णाणीण वेण-यियाण तु वत्तीसं ॥८७६॥

३ 'जावइया वयणवहा तावदिया चेव होति णयवादा। जावदिया णयवादा तावदिया चेव होति परसमया ॥८९४॥—गो० क० का०।

गाथाओं भी जीवकाण्डकी ही हैं। उस अधिकारकी विशेषता यह है कि इसमें पहले दोनों करणोंके स्वस्वको अकमदृष्टिके द्वारा समझाया गया है।

९ कर्मस्थितिरचना अधिकार

प्रतिमगग बधनेवाले कर्मपरमाणुओंका आठो कर्मोंमें विभजन होनेके पश्चात् प्रत्येक कर्मप्रकृतिसे प्राप्त कर्मनिपेकोकी रचना उसकी स्थितिके अनुसार आवाका-कालको छोड़कर हो जाती है अर्थात् बन्धको प्राप्त हुए वे कर्मपरमाणु उदयकाल आने पर गिरने प्रारम्भ हो जाते हैं और अन्तिम स्थिति पर्यन्त गिरते रहते हैं। उनकी रचनाको ही कर्मस्थिति रचना कहते हैं उसीका कथन इस अधिकारमें है। बन्धोदय मन्वाधिकार नामक दूसरे अधिकारके अन्तर्गत स्थितिवन्धाधिकारके अन्तर्गत भी यह कथन आया है। फलतः गाथा न० ९१४ में ९२१ तक जो गाथाएँ हैं वे सब गाथाएँ उस अधिकारमें आचुरी हैं और वहाँ उसका नम्बर १५५ से १६२ तक है। किन्तु यहाँ वही कथन विस्तारमें किया है। अन्त में प्रगस्ति है।

संक्षेपमें यह कर्मकाण्डका परिचय है।

लब्धिसार-क्षपणासार

लब्धिसार—गोम्मटगारके अनिरिख नानेपिनन्द्रानागकी दूसरी कृति लब्धिसार है। यह गाथा बद्ध है। इसके भी दो सम्स्करण प्रकाशित हुए हैं, एक रायबद शास्त्र माला बम्बई में। इसमें मूल तथा ५० मनोहरलालजीके द्वारा रचित सक्षिप्त हिन्दी टीका है, जिसमें गाथाका अर्थमात्र दिया गया है। इसमें गाथाओंकी संख्या ६४९ है। दूसरा सम्स्करण हरिभाई देवकरण ग्रन्थ मालामें प्रकाशित हुआ है, शास्त्राकार है। इसमें लब्धिसार पर नेमिनन्द्र रचित संस्कृत टीका और ५० टोडरमलजी रचित दुहारी भाषाकी टीका है। तथा क्षपणासार पर केवल ५० टोडरमलजी रचित भाषा टीका ही है। इसकी गाथा संख्या ६५३ है। इस अन्तरका कारण यह है कि दूसरे संस्करणकी गाथा न० १५६, १६७, २५४, ५३१ चार गाथाएँ पहले संस्करणमें नहीं हैं।

यह लब्धिसार क्षपणासार गोम्मटसारका ही उत्तर भाग समझना चाहिये। गोम्मटसारके जीवकाण्डमें जीवका और कर्मकाण्डमें जीवके द्वारा बाँधे जाने वाले कर्मोंका कथन है और इस लब्धिसारमें जीवके कर्मबन्धनसे मुक्त होनेका उपाय तथा प्रक्रिया बतलाई गई है।

मोक्षकी पात्रता जीवमें सम्यक्त्वकी प्राप्ति होने पर ही मानी जाती है क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव ही मोक्ष प्राप्त करता है। तथा सम्यग्दर्शन होनेके पश्चात् सम्यक् चारित्रिका भी होना जरूरी है। अतः सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रिकी

लब्धि अर्थात् प्राप्तिका कथन होनेसे ग्रन्थका नाम लब्धिसार^१ रखा गया है। इसकी प्रथम गाथायें पंच परमेष्ठीको नमस्कार करके सम्यग्दर्शन और सम्यक्-चारित्र्य लब्धिको कहनेकी प्रतिज्ञा ग्रन्थकारने की है।

सर्वप्रथम सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिका कथन है। उसकी प्राप्ति पाँच लब्धियों के होने पर ही होती है। वे पाँच लब्धियाँ हैं—क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करणलब्धि। इनमेंसे आरम्भकी चार लब्धियाँ तो सर्वसाधारणके होती रहती हैं किन्तु करणलब्धिके होने पर ही सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है। इन लब्धियोगका स्वरूप ग्रन्थके प्रारम्भमें दिया गया है। अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्ति करणका स्वरूप गोम्मटसारमें भी दिया गया है। इनकी प्राप्तिको ही करणलब्धि कहते हैं। अनिवृत्ति करणके होनेपर अन्तमुहूर्तके लिये प्रथमोपशम सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है। प्रथमोपशम सम्यक्त्वके कालमें कम से कम एक समय और अधिक से अधिक ६ आवलि काल शेष रहने पर यदि अनन्तानुबन्धी कषायका उदय आ जाता है तो जीव सम्यक्त्वसे च्युत होकर सासादन सम्यक्त्वी हो जाता है और उपशम सम्यक्त्वका काल पूरा होने पर यदि मिथ्यात्व कर्मका उदय होता है तो मिथ्यादृष्टि हो जाता है।

इस तरह गाथा १०९ पर्यन्त प्रथमोपशम सम्यक्त्वका कथन है। इस प्रकरणमें आगत गाथा ९९ कसायपाहुडसे ली गई है। गाथा १०६, १०८ और १०९ जीवकाण्डके प्रारम्भमें भी आई है।

गाथा ११० से क्षायिक सम्यक्त्वका कथन प्रारम्भ होता है। दर्शनमोहनीय कर्मका क्षय होनेसे क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। किन्तु दर्शनमोहनीय कर्मके क्षयका प्रारम्भ कर्म भूमिका मनुष्य तीर्थंकरके पादमूलमे अथवा केवलि श्रुतकेवलीके पादमूलमे करता है (गा० ११०)। और उसकी पूर्ण। वही अथवा सौधर्मादिकल्पोमें अथवा कल्पातीत देवोंमें अथवा भोगभूमिमें अथवा प्रथम नरकमें करता है क्योंकि ब्रह्मायुष्क कृतकृत्यवेदक मरकर चारो गतियोंमें जन्म ले सकता है (गा० १११)।

अनन्तानुबन्धी चतुष्क और दर्शन मोहकी तीन, इन सात प्रकृतियोंके क्षयसे उत्पन्न हुआ क्षायिक सम्यक्त्व मेरुकी तरह निष्कम्प, अत्यन्त निर्मल और अक्षय होता है (गा० १६४)। क्षायिक सम्यग्दृष्टी उसी भवमे, अथवा तीसरे भवमें अथवा चौथे भवमें मुक्त हो जाता है। (गा० १६५)।

१ 'सम्यग्दर्शन-सम्यक्चारित्र्योर्लब्धि' प्राप्तिर्यस्मिन् प्रतिपाद्यते स लब्धिसाराख्यो ग्रन्थ ।—ल० सा०, टी० ।

क्षायिक सम्यक्त्वके साथ दर्शनलब्धिका-कथन पूर्ण हो जाता है और चारित्र-लब्धिका कथन प्रारम्भ होता है ।

चारित्र लब्धि एक देश और सम्पूर्णके भेदसे दो प्रकारकी है (गा० १६८) । अनादि मिथ्यादृष्टि जीव उपशम सम्यक्त्वके साथ देश चारित्रको ग्रहण करता है । और सादि मिथ्यादृष्टि जीव उपशम सम्यक्त्व अथवा वेदक सम्यक्त्वके साथ देश-चारित्रको धारण करता है । जिस तरह धारण करता है और उस समय जो जो कार्य होते हैं उन सबका कथन किया गया ।

सकल चारित्रके तीन प्रकार हैं—क्षायोपशमिक, औपशमिक और क्षायिक ।

क्षायोपशमिक चारित्र सातवें और छठे गुणस्थानमें होता है । यह उपशम सम्यक्त्व सहित भी होता है और वेदक सम्यक्त्व सहित भी होता है । (गा० १८९-१९०) । गा० १९५ में म्लेच्छ मनुष्यके भी आर्य मनुष्यकी तरह सकल-सयम बतलाया है । उसकी टीका^१में यह प्रश्न किया गया है कि म्लेच्छ भूमिके मनुष्य सकल सयमको कैसे धारण कर सकते हैं । उसके समाधानमें कहा गया है कि जो म्लेच्छ मनुष्य चक्रवर्तीके साथ आर्यखण्डमें आते हैं, और उनका चक्रवर्ती आदिके साथ वैवाहिक सम्बन्ध हो जाता है वे सकल सयम धारण कर सकते हैं । अथवा चक्रवर्ती आदिसे विवाही गई म्लेच्छ कन्याओके गर्भसे उत्पन्न सतान, मातृ-पक्षकी अपेक्षा म्लेच्छ कही जाती है, उसके सयम धारण करना संभव है क्योंकि इस प्रकारकी जाति वालोको दीक्षाके योग्य होनेका निषेध नहीं है ।

वीरसेनने जयधवलाटीकामें यह चर्चा उठाई है । उसीसे टीकाकारने उसे लिया जान पड़ता है । अस्तु,

वेदक सम्यग्दृष्टि जीव क्षायोपशमिक चारित्रको धारण करनेके बाद जब औपशमिकचारित्रको धारण करनेके अभिमुख होता है तो पहले या तो क्षायिक-सम्यक्त्वको उत्पन्न करता है या द्वितीयोपशमसम्यक्त्वको धारण करता है । क्षायिकसम्यक्त्वकी उत्पत्तिका विधान तो पहले कहा गया है अतः यहाँ द्वितीयो-पशमसम्यक्त्वकी उत्पत्तिका कथन करके चारित्रमोहकी उपशमनाका कथन किया गया है । चारित्रमोहका उपशम करनेपर जीव ग्यारहवें उपशान्तकषाय गुणस्थान-

१ 'म्लेच्छ-भूमिज-मनुष्याणा सकलसयमग्रहण कथं संभवतीति नाशकितव्य दिग्विजयकाले चक्रवर्तिना सह आर्यखण्डमागताना म्लेच्छराजाना चक्रवर्त्या-दिभि सह जात वैवाहिकसम्बन्धाना सयमप्रतिपत्तेरविरोधात् ।

अथवा तत्कन्यकाना चक्रवर्त्यादिपरिणीताना गर्भेषूपन्नस्य मातृपक्षापेक्षया म्लेच्छ व्यपदेशभाज सयमसम्भवात् तथाजातीयकाना दीक्षार्हत्वे प्रतिषेधा-भावात् ॥१९५॥ —ल० सा० टी० ।

में पहुँचता है और वहाँ अन्तर्मुहूर्तकाल तक रहता है । उसके बाद उसका वहाँसे पतन हो जाता है । पतनके कारण दो है या तो मृत्युकालका उपस्थित होना या उपशमकालका समाप्त होना । यदि मृत्युकाल आ जाता है तो वह मरकर देव-गतिमें जन्म लेता है और उसके चौथा गुणस्थान हो जाता है । यदि उपशमकालके समाप्त हो जानेसे गिरता है तो ग्यारहवेंसे गिरकर दसवेंमें, दसवेसे नौवेंमें, नौवेसे आठवेंमें और आठवेंसे सातवेंमें पहुँचता है । पीछे यदि उसके परिणाम विशुद्ध होते हैं तो फिर आठवें आदि गुणस्थानोंमें चढ़ जाता है, अन्यथा नीचे गिर जाता है (अ० ३१०) ।

द्वितीयोपशम सम्यक्त्वका काल भी अन्तर्मुहूर्त है । उसके साथ अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थानमें चढ़नेवाला जीव जितनी देरमें गिरकर पुनः आठवेंमें आ जाता है, उससे सख्यातगुणाकाल द्वितीयोपशमसम्यक्त्वका है । जब उसका काल पूरा होता है तो या तो वह जीव गिरकर चौथे गुणस्थानमें आ जाता है अथवा पाचवें गुणस्थानमें आ जाता है । अथवा द्वितीयोपशमसम्यक्त्वके कालमें छह आवलीकाल शेष रहनेपर अनन्तानुबन्धीकपायका उदय होनेसे सासादनगुणस्थानको प्राप्त हो जाता है । यदि वह मरता है तो यतिवृषभ आचार्यके वचनोके अनुसार मरकर नियमसे देव होता है । (३४९ गा०) क्योंकि जिसने परभवकी नरक, तिर्यञ्च या मनुष्यायुका बन्ध कर लिया है वह मनुष्य चारित्रमोहनीयका उपशम नहीं कर सकता ।

यहाँ ग्रन्थकारने कपायपाहुडपर चूर्णिसूत्रोके रचयिता यतिवृषभ^१के मतका उल्लेख करके पट्खण्डागम सूत्रोके रचयिता भूतबलिका भी मत दिया है । उनका मत यतिवृषभके मतके विपरीत है । अर्थात् यतिवृषभके मतमें उपशम श्रेणीसे गिरा हुआ जीव दूसरे सासादनगुणस्थानको प्राप्त हो सकता है किन्तु भूतबली^२के मतसे प्राप्त नहीं हो सकता । इन्हीं दोनों आचार्योंकी उक्त कृतियों तथा उनकी टीकाओंके आधारपर लब्धिसारकी रचना की गई है ।

गाथा ३९१ तक चारित्रमोहनीय कर्मको उपशम करनेका कथन है । उससे आगे चारित्रमोहकी क्षपणाका कथन है ।

चारित्रमोहकी क्षपणाके अन्तर्गत जो क्रियाएँ होती हैं उन्हींको आधार बनाकर चारित्रमोहकी क्षपणाके अधिकारोका नामकरण किया गया है वे अधिकार

१ जरि मरदि सासणो सो गिरय तिरिक्ख णर ण गच्छेदि ।

णियमा देव गच्छदि जइधसहमुणिदवयणेण ॥३४९॥—ल०सा० ।

२ उवसमसेढीदो पुण ओदिण्णो सासण ण पाउणदि ।

भूदवलिणाह णिम्मलसुत्तस्स फुडोवदेसेण ॥३५१॥—ल०सा० ।

है—अघ करण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण ये तीन करण, बन्धापसरण, सत्त्वापसरण ये दो अपसरण, क्रमकरण, कपायो आदिकी क्षपणा, देशघातिकरण, अन्तरकरण, सक्रमण, अपूर्वस्पर्धककरण, कृष्टिकरण, और कृष्टिअनुभवन (गा० ३९२) । इन्ही अधिकारोके द्वारा उस क्रियाका कथन किया गया है ।

चारित्रमोहका क्षय करनेपर जीव बारहवे गुणस्थानमे पहुँचता है इसीसे उसका नाम क्षीणमोह है । क्षीणमोह होनेके पश्चात् ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तरायकर्मको नष्ट करके तेरहवे गुणस्थानमे पहुँच जाता है और सर्वज्ञ सर्वदर्शी हो जाता है । जब अन्तर्मुहूर्तप्रमाण आयु शेष रहती है तो वह तेरहवें गुणस्थानवर्ती सयोगकेवली दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण समुद्धात करके तथा उसका उपसहार करके शेष वचे चारो कर्मोंकी स्थिति आयुक्रमके बराबर करके तीसरे शुक्लध्यानके द्वारा अयोगकेवली हो जाता है । और वहाँ सब कर्मोंको नष्ट करके मुक्त हो जाता है ।

जैसे इस ग्रन्थकी प्रथम गाथामें ग्रन्थकारने दर्शन लब्धि और चारित्रलब्धि-को कहनेकी प्रतिज्ञा की है वैसे ही अन्तिम (६५२ में) भी कहा है कि वीरनन्दि और इन्द्रनन्दिके वत्स्य तथा अभयनन्दीके शिष्य नेमिचन्द्रने दर्शन और चारित्रकी लब्धि भले प्रकार कही । यहाँ भाषा टीकाकार पं० टोडरमलजी ने 'लब्धिसार नामक शास्त्र विपै कही' ऐसा लिखा है । अतः इस ग्रन्थका नाम लब्धिसार ही है ।

किन्तु टीकाकार नेमिचन्द्रकी टीका गाथा ३९१ तक ही पाई जाती है जहाँ तक चारित्रमोहकी उपशमनाका कथन है । चारित्रमोहकी क्षपणा वाले भाग पर सस्कृत टीका नहीं है । अतः भाषा टीकाकार पं० टोडरमल जीने उसके प्रारम्भमें लिखा है—

‘इहाँ पर्यन्त गाथा सूत्रनिका व्याख्यान सस्कृत टीकाके अनुसार किथा जातै इहाँ पर्यन्त गाथानि ही की टीका करिकै सस्कृत टीकाकारने ग्रन्थ समाप्त कीना है ; वहुरि इहा तै आगै गाथा सूत्र है तिनि विपै क्षायिकका वर्णन है तिनकी सस्कृत टीका तौ अवलोकन में आई नाही तातै तिनका व्याख्यान अपनी बुद्धि अनुसार इहाँ कीजिये है । वहुरि भोज नामा राजा बाहुवलि नामा मन्त्रीकै ज्ञान उपजावनेके अर्थ श्रीमाधव चन्द्रनामा आचार्य करि विरचित क्षपणासार ग्रन्थ है । तिहि विपै क्षायिक चारित्र ही का विधान वर्णन है सो इहाँ तिस क्षपणासारका अनुसार लिऐं भी व्याख्यान करिए है ।’

माधवचन्द्र रचित क्षपणासारके अनुसार व्याख्यानके कारण लब्धिसारके इस भागको क्षपणासार नाम दे दिया गया जान पड़ता है ।

इस तरह आचार्य नेमिचन्द्र रचित गोम्मटसार तथा लब्धिसार एक तरहसे

सग्रह ग्रन्थ है उनमें षट्खण्डागम, कषायपाहुड और उनकी धवला टीकाका सार ही सग्रहीत नहीं किया गया है, बल्कि उनसे तथा पञ्चसग्रहसे बहुत-सी गाथाएँ भी सगृहीत की गई हैं। किन्तु सगृहीत होने पर भी इसकी अपनी विशेषता है। उसी विशेषताके कारण गोम्मटसार और लब्धिसारकी रचनाके पश्चात् षट्खण्डागम और कषायपाहुडके साथ उनकी टीका धवला और जयधवलाको भी लोग भूल से गये और उत्तरकालमें इन सिद्धान्त ग्रन्थोको जो स्थान प्राप्त था, धीरे-धीरे वह नेमिचन्द्राचार्यके गोम्मटसारको मिल गया।

आचार्य नेमिचन्द्र रचित त्रिलोकसार नामक एक ग्रन्थ और भी है लोकानुयोगके प्रसंगमें उसके सम्बन्धमें लिखा जायेगा।

देवसेनकृत भावसंग्रह

भावसंग्रह नामक एक ग्रन्थ विमलसेन गणधरके शिष्य देवसेनने रचा था। इस ग्रन्थमें ७०० गाथाओंके द्वारा चौदह गुणस्थानोका स्वरूप बतलाया गया है। सैद्धान्तिक दृष्टिसे यह ग्रन्थ विशेष महत्वपूर्ण नहीं है क्योंकि इसमें चौदह गुणस्थानोका कथन तो बहुत साधारण है। किन्तु उनका आलम्बन लेकर ग्रन्थकारने विविध विषयोका कथन विस्तारसे किया है।

दो गाथाओके द्वारा चौदह गुणस्थानोके नाम बतलाकर ग्रन्थकारने मिथ्यात्व गुणस्थानका स्वरूप बतलाया है। तथा मिथ्यात्वके एकान्त, विनय, सशय, अज्ञान और विपरीत इन पाँच भेदोको बतलाकर ब्राह्मण मतको विपरीत मिथ्यादृष्टि बतलाते हुए लिखा है—ब्राह्मण ऐसा कहते हैं—‘जलसे शुद्धि होती है, माससे पितरोकी तृप्ति होती है, पशु बलिदानसे स्वर्ग मिलता है और गो योनिके स्पर्शसे धर्म होता है।’ इन्हीं चारोका खण्डन आगे किया गया है और स्वपक्षके समर्थनमें गीता आदि ब्राह्मण ग्रन्थोसे प्रमाण भी उद्धृत किये गये हैं।

एकान्त मिथ्यात्वके कथनमें क्षणिकवादी बौद्धोका खण्डन किया गया है और वैशेषिक मिथ्यात्वके कथनमें यक्ष, नाग, दुर्गा, चण्डिका आदिको पूजनेका निषेध किया गया है। सशय मिथ्यात्वका कथन करते हुए श्वेताम्बर मतका खण्डन किया गया है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय स्त्रीको निर्वाणकी प्राप्ति मानता है, केवलीको कदलाहारी मानता है और साधुओके वस्त्र-पात्र रखनेका पक्षपाती है। इन्हींकी आलोचना की गई है। श्वेताम्बर अपने साधुओको स्थविरकल्पी बतलाते हैं। ग्रन्थकारने लिखा है यह स्थविरकल्प नहीं है यह तो स्पष्ट रूपसे गृहस्थ कल्प है। आगे उन्होंने जिनकल्प और स्थविर कल्पका स्वरूप बतलाया है। (गा० ११९-१३९)। और लिखा है कि परीपहसे पीडित और दुर्घर तपसे भीत जनोने गृहस्थ-कल्पको स्थविरकल्प बना दिया (गा० १३३)।

आगे ग्रन्थकारने श्वेताम्बर मतकी उत्पत्तिकी कथा दी है और लिखा है कि सौराष्ट्र देशकी वलभी नगरीमें वि०स० १३६में श्वेताम्बर सघकी उत्पत्ति हुई (गा० १३७)। यह कथा इससे पूर्वके किसी ग्रन्थमें नहीं मिलती। इसके सम्बन्धमें पीठिका भागमें विस्तारसे लिखा जा चुका है।

अज्ञान मिथ्यात्वका कथन करते हुए लिखा है कि पार्श्वनाथ स्वामीके तीर्थमें मस्करिपूरण नामक ऋषि हुआ। वह भगवान महावीरके समवसरणमें गया। किन्तु उसके जानेपर भगवानकी वाणी नहीं खिरी। यह रुष्ट होकर समवसरणसे चला आया और बोला—मैं ग्यारह अगोका धारी हूँ फिर भी मेरे जानेपर महावीर की वाणी प्रवाहित नहीं हुई और अपने शिष्य गौतम गणधरके आनेपर प्रवाहित हुई। गौतमने अभी ही दीक्षा ली है वह तो वेदभाषी ब्राह्मण है, वह जिनोक्त श्रुतको क्या जाने।' अतः उसने अज्ञानसे मोक्ष बतलाया। (गा० १६१-१६३)।

भगवान महावीर तथा गौतमबुद्धके समयमें मक्खलि गोशाल और पूरणकश्यप नामके दो शास्ताओका उल्लेख त्रिपिटक साहित्यमें मिलता है। मक्खलिका सस्कृत रूप मस्करी माना जाता है। अतः मस्करी और पूरण इन दोनों नामोंको मिलाकर एक ही व्यक्ति समझ लिया गया जान पड़ता है। मक्खलि गोशाल नियतिवादी माना जाता है।

इन पाँचों मिथ्यात्वोंका कथन करनेके पश्चात् चार्वाकके द्वारा स्थापित मिथ्यात्वका कथन है। चार्वाक चैतन्यको भूतोंका विकार मात्र मानता है। ग्रन्थकारने इसे 'कौलाचार्यका मत कहा है। किन्तु यशस्तिलकके छोटे आश्वासमें कौलिक मतको शैवतत्रका अंग बतलाया है। लिखा^२ है—'सर्व पेय अपेयोंमें और भक्ष्य अभक्ष्योंमें निःशब्द चित्तसे प्रवृत्ति करना कुलाचार्यका मत है। इसीको उसमें त्रिक मत भी बतलाया है। त्रिक मतमें आराधक मनुष्य मांस और मदिराका सेवन करके और वामागमें किसी स्त्रीको लेकर स्वयं शिव और पार्वतीका पार्ट करता हुआ शिवकी आराधना करता है।'।

चूँकि चार्वाक भी पुण्य पाप, परलोक आदि नहीं मानता। इसीसे ग्रन्थकारने कौलिक मतको भी चार्वाक समझ लिया जान पड़ता है।

चार्वाकके पश्चात् साख्य मतकी चर्चा है। उसमें लिखा है कि जीव सदा

१ 'कउलायरिओ अक्खइ अत्थि ण जीवो हु कस्स त पावं । पुण्ण वा कस्स भवे को गच्छइ णिरयसग्गवा ॥१७२॥ भा०स० ।

२ 'सर्वेषु पेयापेयभक्ष्यादिषु निःशंकचित्ताद्वृत्तात् इति कुलाचार्यका. । तथा च त्रिकमतोक्ति -।' य०च०, भा० २, पृ० २६९ ।

अकर्ता है और पुण्य पापका भोक्ता भी नहीं है। ऐसा लोकमें प्रकट करके वहन और पुत्रीको भी अगीकार किया गया है। (गा० १७९)।

एक पद्य इस प्रकार है—

‘धूय मायरिवहिणी अण्णावि पुत्तत्थिणि
आयति य वासवयणुपयडे वि विप्पे ।
जह् रमियकामाउरेण वेयगव्वे उपण्ण दप्पे
वभणि-छिपणि-डोवि-नडिय-वरुडि-रज्जइ-चम्मारि ।
कवले समइ समागमइ तह भुत्ति य परणारि ॥१८५॥’

इसमें कहा है कि व्यास का वचन है कि पुत्री माता वहन तथा अन्य भी कोई स्त्री पुत्रोत्पत्तिकी भावनासे आये तो कामातुर वेदज्ञानी ब्राह्मणको उसको भोगना चाहिये। तथा कपिलदर्शनमें आई हुई ब्राह्मणी, डोम्नी, नटी, धोविन, चमारिन आदि परनारियोको भोगना लिखा है। स्मृतियोंमें इस प्रकारका कथन है कि जो पुरुष स्वयं आगता नारीको नहीं भोगता उसे ब्रह्महत्याका पाप लगता है। उसी को लक्ष्यमें रखकर तथा पौराणिक उपाख्यानोके आधार पर उक्त कथन किया गया है। किन्तु इस तरहकी बातोंका कपिलदर्शनसे कहाँ तक सम्बन्ध है यह चिन्त्य है।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि यद्यपि भावसंग्रहकी रचना आकृत गाथाबद्ध है तथापि यत्र तत्र कुछ उक्त प्रकारके छन्द भी पाये जाते हैं उन्हें ‘वस्तु-च्छन्द’ लिखा है।

आगे तीसरे मिश्र गुणस्थानका कथन करते हुए ब्रह्मा, विष्णु और रुद्रकी आलोचना की गई है। ब्रह्माकी आलोचना करते हुए तिलोत्तमा आदिके उपाख्यानोंकी चर्चा है और कृष्णकी आलोचनामें शूकर, क्रुर्म तथा रामावतारकी समीक्षाकी गई है। रुद्रकी आलोचनामें उनके स्वरूप और ब्रह्म हत्या आदि कार्योंकी आलोचना है। (गा० २०३-२५५)

चौथे अविरत सम्यग्दृष्टी गुणस्थानका स्वरूप बतलाते हुए सात तत्त्वोका कथन किया गया है। पाँचवें गुणस्थानका स्वरूप २५० गाथाओंके द्वारा बहुत विस्तारसे बतलाया है। चूँकि पाँचवाँ गुणस्थान श्रावकाचारसे सम्बद्ध है अतः उसमें श्रावकाचारका वर्णन है। उसमें अणुव्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रतोंके नामोंके साथ अष्टमूल गुण भी बतलाये हैं और वे अष्टमूल गुण हैं—प्राँच उदम्बर, फलो और मद्य मास मधुका त्याग। फिर चार प्रकारके ध्यानका कथन है। आगे देव पूजाका कथन है अन्य श्रावकाचारोंमें इस प्रकारका कथन नहीं मिलता। इसमें अभिषेकके समय ऋण, पवन, यक्ष आदि देवताओंको अपने २ प्रियवाहन तथा शस्त्रोंके साथ आवाहन करनेका और उन्हें यज्ञका भाग देनेका विधान है। (गा०

४३९-४४०) । अन्य श्रावकाचारोंमें इस तरहका विधान हमारी दृष्टिसे नहीं गुजरा । इसमें सिद्ध चक्रयत्रका भी उद्धार है (गा० ४५४) । तथा भगवानके चरणोंमें चन्दनका लेप करनेका भी विधान है (गा० ४७१) । आगे चार दानोंका, और उसके फलका कथन है ।

सातवें गुणस्थानके स्वरूप कथनमें पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत-ध्यानका संक्षिप्त कथन है । आगे शेष गुणस्थानोंका सामान्य कथन करके ग्रन्थको समाप्त कर दिया गया है ।

कर्ता और समय

यह पहले लिग आये हैं कि इस ग्रन्थके कर्ता विमल गणधरके शिष्य देवसेन हैं । देवसेन नामके कई आचार्य हो गये हैं । उनमें एक देवसेन वह है जिन्होंने वि० स० ९९० में दर्शनसार नामक ग्रन्थकी रचना की थी । आलाप पद्धति, लघुनय-चक्र, आराधनासार और तत्त्वसार नामक ग्रन्थ भी देवसेनके द्वारा रचित हैं । ये सब ग्रन्थ माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बईसे प्रकाशित हो चुके हैं । इन सबको दर्शनसारके रचयिता देवसेनकी ही कृति माना है ।

दर्शनसारके अन्तमें अपना परिचय देवसेनने इस प्रकार दिया है—

‘पुब्बाइरियकयाइ गाहाइं सच्चिऊण एयत्थ ।

सिरिदेवसेणगणिणा धाराए संवसतेण ॥४९॥

रइओ दसणमारो हारो भव्वाण णवसए नवई ।

सिरिपासणाहगेहे सुविसुद्धे माहसुद्धदसमीए ॥५०॥’

अर्थात् पूर्वाचार्योंकी रची हुई गाथाओंको एकत्र करके श्रीदेवसेन गणिने धारामें रहते हुए श्रीपार्श्वनाथके जिनालयमें माघ सुदी दसमी वि० स० ९९० को यह दर्शनसार रचा ।

तत्त्वसारके अन्तमें लिखा है—

सोऊण तच्चसार रइय मुणिणाहदेवसेणेण ।

जो सद्विद्वी भावइ सो पावइ सासय सोखं ॥७४॥

‘मुनिनाथ देवसेनने सुनकर तत्त्वसार रचा । जो सम्यग्दृष्टि उसकी भावना करता है वह शाश्वत सुख को पाता है ।’

आराधनासारके अन्तमें लिखा है—

ण य मे अत्थि कवित्त ण मुणामो छदलक्खण कि पि ।

णियभावणाणिमित्तं रइय आराहणासार ॥११४॥

अमुणिय तच्चेण इम भणिय जं कि पि देवसेणेण ।

सोहंतु तं मुणिदा अत्थि हु जइ पवयणविरुद्ध ॥११५॥

‘न मेरे में कवित्व है और न मैं छन्दका लक्षण ही कुछ जानता हूँ। अपनी भावनाके निमित्त मैंने आराधनासार रचा है ॥११४॥ तत्त्वसे अनजान देवसेनने जो कुछ भी इसमें कहा है, उसमें यदि कुछ आगम विरुद्ध कथन है तो मुनीन्द्र उसे शुद्ध करलें ॥११५॥

इस तरह देवसेनने दर्शनसारमें तो ग्रन्थके रचनास्थान तथा कालका निर्देश किया है किन्तु अन्य रचनाओंमें वैसा नहीं पाया जाता। दर्शनसारमें अपनेको देवसेन गणि कहा है, तत्त्वसारमें मुनिनाथ देवसेन कहा है और आराधना-सारमें केवल देवसेन कहा है। गणि और मुनिनाथ पदको एकार्थवाचक मान लेने-से दोनोंमें एकवाक्यता मानी जा सकती है। किन्तु जो विनम्रता आराधनासारकी अन्तिम गाथासे व्यक्त होती है, भावसग्रहमें उसका अभाव है। इसके सिवाय इन सबमें उन्होंने अपने गुरुका नाम नहीं कहा, परन्तु भावसग्रहमें कहा है। परन्तु आराधनासारकी मंगलगाथामें ‘विमलयर गुणसमिद्ध’, पदके द्वारा, दर्शनसारमें ‘विमलणाण’ पदके द्वारा, नयचक्रमें ‘विगयमल’ और ‘विमलणाण सजुत’ पदोंके द्वारा गुरुके नामका उल्लेख किया गया है, ऐसा श्री जुगलकिशोरजी मुख्तार^१का मत है। अतः वह भावसग्रहको उक्त देवसेनकी ही कृति माननेके पक्षमें है।

किन्तु प० परमानन्दजीका कहना है कि भावसग्रह दर्शनसारके रचयिता देवसेनकी कृति नहीं है, क्योंकि दर्शनसार मूलसधका ग्रन्थ है। उसमें काष्ठासध, द्रविडसध, यापनीयसध और माथुरसधको जैनाभास घोषित किया है। परन्तु भाव-सग्रह केवल मूलसधका मालूम नहीं होता क्योंकि उसमें त्रिवर्णाचारके समान आचमन, सकलीकरण, यज्ञोपवीत, और पचामृताभिषेकादिका विधान है। इतना ही नहीं किन्तु इन्द्र, अग्नि, काल, नैऋत्य, वरुण, पवन, यक्ष और सोमादिको सशस्त्र तथा युवतिवाहनसहित आह्वान करने, वलि, चरु आदि पूजा द्रव्य तथा यज्ञके भागको बीजाक्षरयुक्त मन्त्रोंसे देनेका विधान है।^१

उनका मत है कि अपभ्रंश भाषाका ‘सुलोचना चरित’के कर्ताका भी नाम देवसेन है और उनके गुरुका नाम भी विमलसेनगणि है अतः भावसग्रह उन्हींका हो सकता है।

श्री प्रेमीजीने भी उनके इस मतको अपने ‘जैनसाहित्य और इतिहास’ नामक पुस्तकके दूसरे संस्करणमें स्थान देते हुए लिखा है—‘एक और प्राकृतग्रन्थ भाव-सग्रह है जो विमलसेन गणिके शिष्य देवसेनका है। यह भी मुद्रित हो चुका है इसमें कई जगह दर्शनसारकी अनेक गाथाएँ उद्धृत हैं इसपरसे हमने अनुमान

१ पु० वा० सू० की प्रस्ता० पृ० ५९। देवसेनके लिये इस प्रस्तावनाके सिवाय ‘जै० सा० इ०’ (पृ० १६८) देखना चाहिये।

किया था कि दर्शनसारके कर्ता ही इसके कर्ता हैं। परन्तु प० परमानन्दजी शास्त्रीने अनेकान्त (वर्ष ७, अंक ११-१२) में इसपर सन्देह किया है और सुलो-यणा चरिऊके कर्ता तथा भावसग्रहके कर्ताको एक बतलाया है जो विमलगणिके शिष्य है' (पृ० १७६)।

इस तरह भावसग्रहके कर्ता देवसेन कौनसे हैं, इसमें विवाद है।

'सुलोचनाचरिउ'^१ में उसका रचनाकाल राक्षस सवत्सरकी श्रावण शुक्ल चतुर्दशी दिया है। ज्योतिषकी गणनाके अनुसार यह सवत्सर वि० स० ११३२ में तथा १३७२ में पड़ता है ऐसा प० परमानन्दजीने लिखा है। इन दोनोंमेंसे किस सम्बन्धमें उक्त रचना हुई यह भी चिन्त्य है।

उक्त विप्रतिपत्तिके निरसनके लिये भावसग्रहका अन्त परीक्षण करना उचित प्रतीत होता है। सम्भव है उससे प्रकृत विषयपर कुछ प्रकाश पड़ सके।

यह हम बतला आये हैं कि भावसग्रहमें गुणस्थानोंका कथन है और उन्हें ग्रन्थका मुख्य आधार बनाया गया है।

गुणस्थानोंके वर्णनमें देवसेनने पंचसग्रह प्राकृतका अनुसरण किया है और उससे अनेक गाथाएँ ज्योकी त्यों वैसे ही ली हैं। जैसे धवलामें और गोम्मटसारमें ली गई हैं। उन गाथाओंको यहाँ दे देना उचित होगा —

मिच्छो सासण मिस्सो अविरय सम्मो य देस विरदो य ।

विरओ पमत्त इयरो अपुव्व अणियट्ठि सुहमो य ॥१०॥

उवसत खीणमोहो सजोइ केवलजिणो अजोगी य ।

ए चउदस गुणठाणा कमेण सिद्धा य णायव्वा ॥११॥

×

×

×

णो इंदिएसु विरओ णो जीवे थावरे तसे वा पि ।

जो सद्दहइ जिणुत्त अविरइ सम्मोत्ति णायव्वो ॥१२६१॥

जो तसवहाउविरओ णो विरओ तह य थावरवहाओ ।

एक्कसमयम्मि जीवो विरयाविरउत्ति जिणु कहई ॥३५१॥

×

×

×

वत्तावत्तपमाए जो णिवसइ पमत्तसजदो होइ ।

सयलगुणसीलकलिओ महव्वई चित्तलायरणो ॥६०१॥

विकहा तहा कसाया इंदिय णिहा तह य पणओ य ।

चउ चउ पणमेगेगे हूँति पमाया हु पणरसा ॥६०२॥

×

×

×

१ 'रक्खस सवत्सरे बुहदिवसए । सुक्कचउट्ठिसि सावण मासए । चरिउ सुलोयणाहि णिप्पणउ, सद्दअत्थ वण्णसवुण्णओ—सुलो० च० ।

णट्टाग्गेगपमाओ वयगुणगीलेहि मण्णिओ णाणी ।

अणुवगमओ अगवओ माणणिन्नीणो हु अप्पमत्तो गो ॥६१४॥

X

X

X

हुंति अणियट्ठिणो ते पण्डियममय जम्म एवकपरिणाम ।

विमलयर माणहुयवह्मिहाहि णिहट्टकम्मवणा ॥६५१॥

X

X

X

जह सुद्धफलियभायणि गित्त पीर नु णिम्मल सुद्ध ।

तह णिम्मलपरिणामो मीणत्ताओ मुणेयत्तो ॥६६२॥

उक्त गाथाएँ प्राकृत पञ्चमग्रहमें हैं और उगीमे ली गई जान पड़ती है । अन्तिम गाथाको छोटकर दोप गाथाएँ गोम्मटमार जीवकाण्डमें तथा कुछ धवलामें भी हैं जो प्रा० पञ्चमग्रहमें ली गई हैं । ऐसी स्थितिमें यह शका हो सकती है कि उन गाथाओंको भावमग्रहकारने पञ्चमग्रहमें ही लिया और धवला या जीवकाण्डमें न लिया इसमें क्या प्रमाण है ? उसके सम्बन्धमें पहला प्रमाण तो यह है कि न० ६६२ वाली गाथा पञ्चमग्रह की है । यह न तो धवलामें है और न जीवकाण्डमें । उगमे यह स्पष्ट है कि भावमग्रहकारके सामने पञ्चमग्रह अवश्य था । दूसरे जीवकाण्ड और पञ्चमग्रहमें पाठभेद भी है । भावमग्रहगत पाठ पञ्चमग्रहके अनुरूप है जीवकाण्डके नहीं । यथा—गा० ११में 'ए चउदमा गुण ठाणा' पाठ पञ्चमग्रहसे अधिक मिलता है । प०स०में 'चोद्दस गुण ठाणाणि य' पाठ है और जीवकाण्डमें इसके स्थानमें 'चोद्दस जीवसमासा' है । यह गाय धवलामें नहीं है ।

किन्तु इससे यह प्रमाणित नहीं किया जा सकता कि भावमग्रहकारके सामने जीवकाण्ड नहीं था । प्रत्युत कुछ गाथाएँ तथा पाठ ऐसे हैं जिनमें यह प्रमाणित होता है कि दोनोंके कर्ताओंमेंसे किसी एकने दूसरेको अवश्य देखा था । इसके लिये प्रथम तो उक्त उद्धृत गाथाओंमें न० ३५१की गाथा है । प०स०में इस गाथाका रूप इस प्रकार है—

जो तसवहाउ विरदो णोविरओ अक्खयावरवहाओ ।

पडिसमय सो जीवो विरयाविरओ जिणेक्कमई ॥१३॥

और 'धवला तथा जीवकाण्डमें उसका रूप इस प्रकार है—

जो तसवहाडु विरदो अविरदओ तह य थावरवहाओ ।

एक्कसमयम्मि जीवो विरदाविरदो जिणेक्कमई ॥३१॥

किन्तु भावमग्रहमें उक्त गाथाका रूप पञ्चमग्रह और जीवकाण्डका मिश्रित

रूप है। अब हम भावसग्रहसे कुछ ऐसी गाथाएँ उद्धृत करते हैं जो पचसग्रहमें नहीं हैं किन्तु जीवकाण्डमें ज्योकी त्यो या कुछ अन्तरको लिये हुए मिलती हैं—

एए तिण्णि वि भावा दसणमोह पडुच्च भणिआ हु ।

चारित्त णत्थि जदो अविरयअतेसु ठाणेसु ॥२६०॥

यह गाथा जीवकाण्डमें इसी रूपमें वर्तमान है इसका नम्बर वहाँ १२ है।

तेसि यि समयाण सखारहियाण आवली होई ।

सखेज्जावलिगुणिओ उस्सासा होई जिणदिट्ठो ॥३१२॥

सत्तुस्सासे थोओ सत्तथोएहि होइ लओ इक्को ।

अट्ठत्तीसद्धलवा णाली वेणालिया मुहुत्त तु ॥३१३॥

जीवकाण्डमें इन गाथाओका रूप इस प्रकार है—

आवलि असखसमया सखेज्जावलिसमूहमुस्सासो ।

सत्तुसासा थोवो सत्तत्थोवा लवो भणियो ॥५७३॥

अट्ठत्तीसद्धलवा नाली वे नालिया मुहुत्त तु ।

एग समएण हीण भिण्णमुहुत्त तदो सेस ॥५७४॥

जीवकाण्डमें एक गाथा इस प्रकार है—

एदे भावा णियमा दसणमोह पडुच्चभणिदाहु ।

चारित्त णत्थि जदो अविरदअन्तेसु ठाणेसु ॥१२॥

पहले, दूसरे, तीसरे और चौथे गुणस्थानमें भावोका कथन करके यह गाथा कही गयी है। इसमें बतलाया है कि ये भाव दर्शनमोहनीयकी अपेक्षासे कहे गये हैं क्योंकि अविरत गुणस्थान पर्जन्त चारित्र नहीं होता। भावसग्रहमें चतुर्थ गुणस्थानका स्वरूप बतलाते हुए उसमें तीन भाव बतलाये हैं। और आगे उक्त गाथाके प्रथम चरणको 'एदे तिण्णि वि भावा' रूपमें परिवर्तित करके दिया है। ध्यान देनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह गाथा मूलमें जीवकाण्डकी होनी चाहिये। अस्तु।

इससे सन्देह नहीं कि भावसग्रह एक सग्रहात्मक ग्रन्थ है और ग्रन्थकारने पूर्वाचार्योंके वचनोको ज्योका त्यो या परिवर्तित करके उसमें संगृहीत किया है। यह बात सर्वाशमें नहीं लेना चाहिए, आशिक रूपमें ही लेना चाहिये क्योंकि भावसग्रहमें उसके कर्तके विचार ही अधिक है। केवल जैनतत्त्व ज्ञानसे सवधित विवेचनमें ही पूर्वाचार्योंके वचनोको यत्र तत्र लिया गया है। इसके समर्थनमें एक तो पचसग्रह को ही उपस्थित किया जा सकता है। उसके सिवाय कुन्दकुन्दके ग्रन्थोको भी रखा जा सकता है।

भाव सग्रहमें दो गाथाएँ इस प्रकार हैं—

जीवो अणाइ णिच्चो उवओगसजुदो देहमित्तो य ।

कत्ता भोत्ता चेतो ण हु भुत्तो सहाव उड्ढगई ॥२८६॥

पाण चउक्क पउत्तो जीवस्सइ जो हु जीविओ पुव्व ।

जीवेइ वट्टमाण जीवत्त गुणसमावण्णो ॥२८७॥

ये दोनो गाथाएँ पञ्चास्तिकायकी नीचे वाली दो गाथाओको सामने रखकर रची गई है—

जीवो त्ति हवदि चेदा उवओगविसेसिदो पहू कत्ता ।

भोत्ता य देहमेत्तो ण हि मुत्तो कम्मसजुत्तो ॥२७॥

पाणेहि चहुहि जीवदि जीवस्सदि जो हु जीविदो पुव्व ।

सो जीवो पाणा पुण बल मिदियमाउ उस्सासो ॥३०॥

प्रा० पञ्चसग्रह और पञ्चास्तिकाय तो देवसेनसे बहुत पहले रचे गये हैं अतः उनमें तो किसी तरहका विवाद संभव नहीं है । किन्तु उनकी ही तरह जीवकाण्ड, द्रव्यसग्रह और वसुनन्दिश्रावकाचारकी कतिपय गाथाओके साथ भी भावसग्रहकी कुछ गाथाओमें अशत अथवा सर्वतः समानता पाई जाती है । और ये सब ग्रन्थ उसी समयके लगभगके हैं जिस समयका भाव सग्रह माना जाता है । अतः उनके साथ जो समानता है, काल निर्णयकी दृष्टिसे वही विचारणीय है । जीवकाण्डकी रचना वि स १०४०के लगभग हुई है, वसुनन्दि^१का समय विक्रमकी बारहवीं शताब्दी है । और पहले द्रव्यसग्रहको भी जीवकाण्डके रचयिताकी ही कृति मान लिया गया था किन्तु अब वह मत मान्य नहीं है । फिर भी उसे ११वीं १२वीं शताब्दीके लगभगकी रचना माना जाता है ।

भावसग्रहमें सम्यग्दर्शनका वर्णन करते हुए सम्यग्दर्शनमें प्रसिद्ध हुए आठ व्यक्तियोंके नाम गिनाये हैं । भा० स० की ये २७९ से २८४ तक छहो गाथाएँ ज्यो की त्यो उसी क्रमसे वसु० श्रा० में वर्तमान हैं और वहाँ उनकी क्रम संख्या ५१ से ५६ तक है ।

दोनोंका मिलान करनेसे अन्य भी गाथाओमें शाब्दिक तथा विषयगत समानता पाई जाती है ।

इसी तरह द्रव्य सग्रहके सम्बन्धमें भी जानना चाहिये । उसके साथ साम्य दर्शनके लिये नीचे भावसग्रहसे कुछ गाथाएँ दी जाती हैं ।

जीवाण पुग्गलाण गइप्पवत्ताण कारण धम्मो ।

जहमच्छाण तोयं थिरभूया णेव सो णेई ॥३०६॥

ठिदिकारण अघम्मो विसामठाण च होइ जह छाया ।

पहियाण खक्खस्स य गच्छत णेव सो धरई ॥३०७॥

×

×

×

१ जै० सा० इ० पृ० ३०२ तथा पु० वा० सू० की प्रस्ता० पृ० ९२ और ९९ ।

कालेण उवाएण य पच्चति जहा वणस्सुई फलाइ ।

तह कालेण तवेण य पच्चति क्याइ कम्माइ ॥३४५॥

द्रव्यसंग्रहकी गाथा इस प्रकार है—

गइपरिणयाण धम्मो पुग्गलजीवाण गमणसहयारी ।

तोय जह मच्छाण अच्छता णेव सो णेई ॥१७॥

ठाणजुदाण अधम्मो पुग्गलजीवाण ठाणसहयारी ।

छाया जह पहियाण गच्छता णेव सो धरई ॥१८॥

×

×

×

जह कालेण तवेण य भुत्तरस कम्मपुग्गलं जेण ।

इस तरह भावसंग्रहका सादृश्य उक्त ग्रन्थोके साथ पाया जाता है और उनके अवलोकनसे कोई ऐसा विशिष्ट प्रमाण प्रकट नहीं होता जिसके आधार पर नि-
सशय कहा जा सके कि अमुकने अमुकका अनुसरण किया है । अतः उसके निर्धारणके लिये कुछ अन्य सबल प्रमाणोंकी आवश्यकता है ।

पं० आशाधरजीने अपने सागार धर्माभूतकी टीका १२९६ वि० स० और अनगार धर्माभूतकी टीका वि० स० १३०० में समाप्त की थी । अनगार धर्माभूतकी टीका उद्धरणोके लिये आकर सदृश है । उसमें बहुतसे ग्रन्थोके उद्धरण दिये गये हैं । उनमें गोम्मटसार, द्रव्यसंग्रह और वसुनन्दि श्रावकाचारके अनेक उद्धरण हैं । देवसेनके आराधना सारके भी कई उद्धरण हैं, एक उद्धरण इस प्रकार है—

‘सवेओ णिव्वेओ णिंदा गरुहा य उपसमो भक्ती ।

वच्छल्ल अणुकपा गुणा हु सम्मत्तजुत्तस्स ॥—अनगा० टी०, पृ० १६४ ।

चामुण्डरायके चरित्रसार नामक ग्रन्थमें उक्त गाथाका संस्कृत रूपान्तर इस प्रकार है—

सवेगो निर्वेदो निंदा गर्हा तथोपशम भक्ती ।

अनुकपा वात्सल्य गुणास्तु सम्यक्त्वयुक्तस्य ॥

चामुण्डरायका समय विक्रमकी ११वीं शताब्दीका पूर्वार्ध है । आशाधरजीने उक्त श्लोकको गाथाके रूपमें परिवर्तित करके दिया है यह तो सभव प्रतीत नहीं होता, क्योंकि गाथाओंको तो संस्कृत रूपान्तर करनेकी परम्परा रही है किन्तु प्राचीन संस्कृत श्लोकोंको गाथाके रूपमें परिवर्तित करनेकी परम्परा नहीं रही । अतः आशाधरजीके द्वारा उद्धृत गाथा अवश्य ही चामुण्डरायसे पहलेकी होनी चाहिये । शायद उसीसे भावसंग्रहकारने या वसुनन्दिने उसे परिवर्तित किया है ।

ऐसी स्थितिमें आशाधरके द्वारा भावसंग्रहका उद्धृत न किया जाना अवश्य ही उल्लेखनीय है ।

यदि भावसग्रह दर्शनसारके रचयिता देवसेनका है तो सोमदेवके उपासका-ध्ययनसे वह अवश्य ही एक चतुर्थ शताब्दी पूर्वका है क्योंकि सोमदेवने अपने यशस्तिलकको शक स० ८८१ (वि० स० १०१६) में समाप्त किया था। सोमदेव सूरिने जो पाँच उदुम्बर और तीन मकारोके त्यागरूप अष्टमूल गुण वतलाये हैं भावसग्रहमें भी वे ही अष्टमूल गुण वतलाये हैं। अतः उन अष्टमूल गुणोंके आविष्कर्ता भावसग्रहकार ठहरते हैं, सोमदेव नहीं। किन्तु सागार धर्माभूतमें अष्टमूल गुणोंके मतभेदका निर्देश करते हुए आशाधरजीने उक्त अष्टमूल गुणोंको सोमदेव सूरिका वतलाया है। भावसग्रहकारका वहाँ सकेत तक नहीं है।

सागार धर्माभूतके ही टिप्पणमें एक गाथा उद्धृत है जो इसप्रकार है—

‘उत्तम पत्त साहू मज्झिमपत्त च सावया भणिया ।

अविरद सम्माद्वी जहणपत्त मुण्येव्वम् ॥’

भावसग्रहमें इस गाथाको इस रूपमें परिवर्तित पाया जाता है—

तिविह भणति पत्त मज्झिम तह उत्तम जहण च ।

उत्तमपत्त साहू मज्झिम पत्त च सावया भणिया ॥४९७॥

अविरइ सम्माद्वी जहणवत्त तु अक्खिय समये ।

णाऊ पत्तविसस दिज्जइ दाणाइ भत्तीए ॥४९८॥

ऐसी स्थितिमें वसुनन्दिके द्वारा भावसग्रहकी गाथाओंको लिये जानेकी अपेक्षा यही अधिक संभव प्रतीत होता है कि भावसग्रहके कर्ताने ही वसुनन्दिको अपनाया और वसुनन्दिको ही क्यों, उन्होंने जीवकाण्ड और द्रव्यसग्रहको भी सामने रखकर उनका भी अनुसरण किया प्रतीत होता है।

जीवकाण्डमें^१ मिथ्यात्वके पाँच भेद करके बुद्धको एकान्तवादी, ब्रह्मको विपरीतवादी, तापसको वैनयिक, इन्द्रको संगयिक और मस्करीको अज्ञानी कहा है। भावसग्रहमें भी उन्हींको आधार बनाकर मिथ्यात्वके पाँच भेदोंका कथन किया है (गा० १६-१७१)। किन्तु उसमें ब्रह्मसे ब्राह्मण लिया है।

दर्शनसारमें बुद्धको एकान्तवादी, श्वेताम्बर सघके प्रवर्तकको विपरीतवादी, मस्करी पूरणको अज्ञानी कहा है और वैनयिकोंको अनेक प्रकारका वतलाया है। यदि दर्शनसारके रचयिताकी कृति भावसग्रह होती तो वे श्वेताम्बर सघको सशय मिथ्यात्वी न कहते। साथ ही मिथ्यात्वका कथन करते हुए तथोक्त जैना-भासोंको यूँ ही अच्छा न छोड़ देते। चूँकि भावसग्रहके कर्ता उन्हींमेंसे थे इसलिये उन्होंने उनको छोड़ दिया जान पड़ता है।

१ ‘एयत्त बुद्धदरिंसी विवरीओ बम्ह तावसो विणओ । इदोविय ससइओ मक्क-डिओ चैव अण्णाणी ॥१६॥’—जी० का०

यदि भावसंग्रह विक्रमकी दसवीं शताब्दीके अन्तमें रचा गया होता तो उस समयके लगभग रचे गये श्रावकाचारोंमेंसे किसी एकमें तो उन बातोंकी प्रति-ध्वनि सुनाई पड़ती जिन्हें भावसंग्रहकारने स्थान दिया है। किन्तु उस समयकी कृतियोंमें उन बातोंका संकेत तक नहीं है। उनके द्वारा निरूपित पूजा विधानकी विधि भी सागार धर्माभूत पर्यन्त किसी श्रावकाचारमें देखनेको नहीं मिलती।

भावसंग्रहमें स्त्री वाहनादियुक्त दश दिग्पालोको अर्घ्यदान देनेके सिवाय एक उल्लेखनीय बात और भी है। उत्तमपात्रोंमेंसे कुछको वेदमय^१ और कुछको तपोमय कहा है। और वेदका अर्थ सिद्धान्त करके सिद्धान्तके जानकारको वेदमय पात्र और तपस्वी ज्ञानीको तपोमय पात्र कहा है। इस तरहका भेद भी किसी श्रावकाचारमें नहीं मिलता। वैसे सागार धर्माभूतमें शास्त्रज्ञोंका भी समादर करना पाक्षिक श्रावकका कर्तव्य बतलाया है।

एक बात और भी उल्लेखनीय है। भावसंग्रहमें पशुवधका निषेध करते हुए कहा है कि हरिहरादिके भक्तोंके शास्त्रोंमें कहा है कि सब जीवोंके पाँच स्थानोंमें देवताओंका आवास है। तो उनके मारनेपर सब देवताओंका भी घात होगा। आगेकी गाथा इस प्रकार है—

देवे वहिऊण गुणा लब्भहि जइ इत्थ उत्तमा केई ।

तु रुक्कवदणया अवरे पारद्धिया सव्वे ॥४८॥

केकड़ीके ५० रतनलालजीने हमें सूचित किया है कि अजमेरकी प्रतिमे 'वहिऊण' के स्थानमें 'हणिऊण' तथा 'तु रुक्कवदणया' के स्थानमें 'तो तु रुक्कवदणीया' पाठ है।

इन पाठोंसे गाथाका अर्थ स्पष्ट हो जाता है जो इस प्रकार है—'यदि देवोंका हनन करनेसे किन्हीं उत्तम गुणोंकी प्राप्ति होती है तो तुर्क (मूर्तिभजक मुसलमान) तथा सब शिकारी भी वदनीय है। इससे स्पष्ट है कि भावसंग्रह उस समय रचा गया है जब भारतमें मुसलमानोंका आक्रमण हो चुका था। प्रसिद्ध मूर्तिभजक मुहम्मद गजनीने ई० स० १०२३ में सोमनाथका मन्दिर तोड़ा था। उसके बाद बारहवीं शताब्दीमें सहाबुद्दीन गौरीके आक्रमण हुए थे। उसकी चर्चा आशा-धरजीने अनगार धर्माभूतकी प्रशस्तिमें की है। अतः यह निश्चित है कि भावसंग्रह वि० स० ९९० (ई० सन् ९३३)की रचना किसी भी तरह हो नहीं सकती।

अतः भावसंग्रहके देवसेन (वि० ९९०) की रचना होनेके सम्बन्धमें अनेक विप्रतिपत्तियाँ हैं और कोई सबल प्रमाण नहीं है।

१ किं किंचिवि वेयमय किंचिवि पत्त तवोमयं परम । त पत्तं संसारं तारणय होइ णियमेण ॥५०५॥—भा० स०

प्रभाचन्द्राचार्यने अपने प्रमेयकमलमार्तण्डमें नीचे लिखी गाथा उद्धृत-
की है—

णोकम्मकम्महारो कवलाहारो य लेप्पमाहारो ।

ओज मणो वि य कमसो आहारो छव्विहो णेयो ॥

यह गाथा भावसंग्रहमें बिल्कुल इसी रूपमें वर्तमान है और उसकी क्रम सख्या ११० है । न्यायाचार्य प० महेन्द्रकुमारजीने उक्त ग्रंथकी भूमिकामें प्रभाचन्द्रा-
चार्यका समय ९८० ई० से १०६५ तक निश्चित किया है । किन्तु भाव संग्रहकी
उक्त स्थितिको देखते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि उक्त गाथा भावसंग्रहसे
ली गई है ।

भावसंग्रह अवश्य ही कम से कम भारतमें गजनीके आक्रमणके पश्चात्
रचा गया है । और उसे उसकी पूर्वाविधि माना जा सकता है । तथा कर्मप्रकृति
नामके संग्रह ग्रन्थमें कुछ गाथाएँ ऐसी हैं जो भावसंग्रहमें भी हैं और उनकी
क्रमसख्या भावसंग्रहमें ३२५ से ३३८ तक (न० ३३० को छोड़कर) है । चूँकि
कर्म प्रकृतिमें उन गाथाओंकी स्थिति उतनी सगत नहीं जान पड़ती जितनी
भावसंग्रहमें है । अतः भावसंग्रहसे यदि उन्हें कर्मप्रकृतिमें सगृहीत किया माना
जाये तो भावसंग्रहकी उत्तराविधि कर्मप्रकृतिके पूर्व हो सकती है । किन्तु कर्म-
प्रकृतिके संग्रहका समय भी सुनिश्चित नहीं है ।

वामदेवकृत संस्कृत भावसंग्रह प्राकृत भावसंग्रहका ही छायानुवाद जैसा है ।
वामदेव रचित त्रैलोक्य प्रदीप ग्रन्थकी स० १४३६ की लिखी हुई प्रति श्री महावीर
जीके शास्त्र भण्डारमें है । अतः वामदेवने अपना भावसंग्रह यदि विक्रमकी चौद-
हवीं शताब्दीके उत्तरार्धमें रचा हो तो यह निश्चित है कि प्राकृत भावसंग्रह उससे
पूर्वका रचा हुआ है । पूर्वोल्लिखित वातोंकी ध्यानमें रखते हुए प्राकृत भावसंग्रह-
को विक्रमकी १२वीं १३वीं शताब्दीका मानना ही उचित प्रतीत होता है । जैसा
कि प० परमानन्दजीका भी मत है ।

गर्गोर्वि रचित कर्मविपाक

शतक और सित्तरीसे प्रमाणित होता है कि जैन परम्परामें इस प्रकारके
प्रकरणोंको रचनेकी प्रवृत्ति आरम्भसे ही रही है । उससे कर्मसिद्धान्तके एक एक
विषयको समझनेमें सरलता होती है, अन्यथा यह सिद्धान्त इतना गहन और
विस्तृत है कि साधारण बुद्धिका प्राणी उसका पार पाना तो दूर, उसमें
प्रवेश करनेका भी साहस नहीं कर सकता । इस प्रकारके प्रकरण ग्रन्थ दोनों
जैन परम्पराओंमें रचे गये । दिगम्बरमें तो आचार्य नेमिचन्द्रने गोम्मतसारके द्वारा
जीव और कर्मविषयक मौलिक सिद्धान्तोंको दो भागोंमें निबद्ध कर दिया । किन्तु

श्वेताम्बर परम्परामें विभिन्न आचार्योंने छोटे २ प्रकरण रचकर उस कमीकी पूर्ति की ।

आचार्य^१ गर्गिषिने १६८ गाथाओके द्वारा कर्मविपाक नामक ग्रन्थ रचा । जैसा कि ग्रन्थके नामसे प्रकट होता है इस ग्रन्थमें आठो कर्मों और उनकी उत्तर-प्रकृतियोंके विपाक (पककर फल देने) का कथन किया है । साधारणतया आठो कर्मोंकी १४८ प्रकृतियाँ ही मान्य हैं किन्तु नामकर्मकी प्रकृतियोंमें पाँच शरीरोके अवान्तर भेदोंको ले लेनेसे उनकी सख्या १५८ भी हो जाती है । तदनुसार गर्गिषिने अपने कर्मविपाकमें कर्मप्रकृतियोंकी सख्या १५८ ही मान्य की है ।

आठो कर्मोंके स्वभावको बतलानेके लिये आठ दृष्टान्त दिये गये हैं—

पड-पडिहारसिमज्जा-हल्लिचित्त-कुलाल-भडगारीण ।

जह एदेसिं भावा तह वि य कम्मा मुण्येव्वा ॥

यह गाथा शतकमें है । फिर उसीसे प्राकृत दि० पञ्चसग्रह, कर्मकाण्ड, और गर्गपिके कर्मविपाकमें भी ज्यो-की-त्यो ले ली गई है । केवल चतुर्थचरणमें थोडा-सा पाठ भेद है । कर्मविपाकमें गर्गिषिने प्रत्येक दृष्टान्तका पृथक्से स्पष्टीकरण भी किया है । दिगम्बर परम्पराके भावसग्रह और कर्मप्रकृतिमें भी वैसा किया गया है ।

कर्मविपाकमें प्रत्येक कर्मप्रकृतिका कार्य पृथक् २ बतलाया है । इससे वह बहुत विस्तृत हो गया है, किन्तु उससे प्रत्येक प्रकृतिका कार्य स्पष्ट रूपसे समझमें आ जाता है ।

प्रकृतियोंके स्वरूपमें अन्तर

दोनों जैन परम्पराओंमें आठो कर्मों और उनकी उत्तरप्रकृतियोंकी सख्या तथा उनके नामोंमें अन्तर नहीं है । किन्तु कुछ उत्तरप्रकृतियोंके कार्योंमें और अर्थोंमें अन्तर^२ है । ऐसी प्रकृतियोंमें दर्शनावरण कर्मके अन्तर्गत पाँच निद्राएँ और नामकर्मके अन्तर्गत कुछ प्रकृतिया उल्लेखनीय हैं । उनमें भी नामकर्मके सहननके

१ 'भणिओ कम्मविवाओ समासओ गगगरिसिणा उ ॥१६७॥

एव गाहाण सय अहिय छावट्टिए पढिऊण ।

जो गुरु पुच्छइ नाही कम्मविवाग च सो अइरा ॥१६८॥'—ग०क०वि० ।

यह कर्मविपाक ग्रन्थ दो संस्कृत टीकाओंके साथ 'सटीकाञ्चत्वार प्राचीना कर्मग्रन्था के अन्तर्गत जैन आत्मानन्द सभा भावनगरसे प्रकाशित हुआ था ।

२ आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक मण्डल आगरासे प्रकाशित 'पहला कर्मग्रन्थ'

पृ० १३३ आदिमें यह अन्तर दिया हुआ है ।

भेद वज्रर्षभनाराच सहननका अर्थ विशेष रूपसे उल्लेखनीय है। कर्मविपाकमें उसका अर्थ इस प्रकार किया है—

रिसहो य होइ पट्टो वज्ज पुण कीलिया मुण्येव्वा ।

उभओ मक्कडवधं नाराय त वियाणाहि ॥१०९॥

यह गाथा जीव समास ग्रन्थसे ली गई है। अतः इसे प्राचीन होना चाहिये। इसमें कहा है—ऋपभ पट्टको अर्थात् परिवेष्टन पट्टको कहते हैं। वज्रका अर्थ कील जानना चाहिये और दोनो ओरसे मर्कटबन्धको नाराच जानना चाहिये। अर्थात् जिसमें दो हड्डियाँ दोनो ओरसे मर्कटबन्धमे बधी हो, और पट्टकी आकृति वाली तीसरी हड्डीमे वेष्टित हों और ऊपरसे इन तीनों हड्डियोंको बंधने वाली कील हो उस संहननको वज्रऋपभनाराच कहते हैं।

दिगम्बर परम्परामें—सहनन अर्थात् हड्डी समूह, ऋपभ-वेष्टन, वज्रके समान अभेद्य होनेसे वज्रऋपभ कहलाता है। और वज्रके समान नाराचको वज्र नाराच कहते हैं। अर्थात् जिस सहनन नामकर्मके उदयसे वज्रमय हड्डियाँ, वज्रमय वेष्टनसे वेष्टित और वज्रमय नाराचसे कीलित होती है वह वज्रर्षभ नाराच शरीर सहनन है। (पट्खं०, पु० ६, पृ० ७३)

यह अर्थभेद बहुत पुराना प्रतीत होता है। इसी तरहका अर्थ भेद कुछ अन्य प्रकृतियोंमें भी पाया जाता है।

इस कर्मविपाकको वृहत्कर्मविपाक भी कहते हैं। और इसे प्रथम प्राचीन कर्मग्रन्थ भी कहा जाता है। इसका कारण यह है कि देवेन्द्र सूरिने विक्रमकी तेरहवीं शताब्दीके अन्तमें चार कर्मग्रन्थोंकी रचना की थी जो नवीन कर्मग्रन्थ कहे जाते हैं। उन्हींके कारण पहलेके कर्मग्रन्थोंको प्राचीन तथा वृहत् विशेषण दिया गया है जिससे दोनोंका भेद परिलक्षित किया जा सके, क्योंकि देवेन्द्र सूरिने अपने कर्मग्रन्थोंको वही नाम दिया है।

आचार्य गर्गर्षि

आचार्य गर्गर्षिने अपने सम्बन्धमें कोई जानकारी नहीं दी और न अन्य स्रोतसे ही उनके सम्बन्धमें कोई जानकारी मिलती है। उनके कर्मविपाककी दो संस्कृत टीकाएँ मुद्रित हो चुकी हैं उनमेंसे एक टीका तो अज्ञातकर्तृक है। उसके कर्तृके सम्बन्धमें कोई भी बात ज्ञात नहीं है। दूसरी टीका परमानन्द सूरिकी रची हुई है। यह कुमारपालके (स० ११९९-१२३०) राज्यमें वर्तमान थे। उनकी टीका की एक ताडपत्रीय प्रति स० १२८८ की लिखी हुई उपलब्ध^१ है। और गर्गर्षि कुमारपालसे पहले हो गये हैं।

सिद्धर्षिने अपनी उपमिति भव प्रपञ्च कथामें गर्गपिका गुरु रूपसे स्मरण किया है। और उक्त कथा उन्होंने स० ९६२ में समाप्त की थी। अतः गर्गपि और उनकी कृति कर्मविपाकका समय विक्रमकी नौवीं शताब्दीका अन्तिम चरण या दशवीका प्रथम चरण होना चाहिये।

गोविन्दाचार्य' रचित कर्मस्तव वृत्ति

कर्मस्तव' के सम्बन्धमें पहले लिखा जा चुका है। श्वेताम्बर परम्परामें उसे द्वितीय प्राचीन कर्म ग्रन्थके रूपमें माना जाता है। इस पर २४ और ३२ गाथात्मक दो भाष्य भी हैं। उनके कर्ता आदिके सम्बन्धमें कुछ भी ज्ञात नहीं है। तथा गोविन्दाचार्य रचित एक सस्कृत वृत्ति है। इस वृत्तिकी एक प्रति १२८८ की लिखी हुई उपलब्ध है। अतः यह निश्चित है कि ग्रन्थकार उससे पहले हो गये हैं।

बन्धस्वामित्व^३

यह एक ५४ गाथाओका प्रकरण ग्रन्थ है। जैसा कि नामसे प्रकट होता है, इसमें चौदह मार्गणाओके आश्रयसे कर्मप्रकृतियोंके बन्धके स्वामियोंका कथन है। इसके कर्ताका नाम अज्ञात है। अन्तिम गाथामें उसने कहा है—'मुझ^१ जडबुद्धि-ने पूर्व सूरि रचित प्रकरणोंमेंसे कर्मस्तवको सुनकर इस बन्ध स्वामित्वको रचा।' अतः कर्मस्तवके पश्चात् इसकी रचना हुई है। इस प्रकरण पर हरिभद्रसूरि रचित एक सस्कृत टीका है। यह बृहद्गच्छके मानदेव सूरि जिनदेव उपाध्यायके शिष्य थे। इन्होंने जयसिंहके राज्यमें वि० स० ११७२ में बन्धस्वामित्व षडशीति आदि कर्मग्रन्थों पर वृत्ति रची थी। इन्होंने अपनी टीकामें^४ कर्मस्तव टीकाका निर्देश किया है। यदि यह टीका गोविन्दाचार्य रचित है तो गोविन्दाचार्यका समय उनसे पहले होना चाहिये।

जिनवल्लभ गणि रचित षडशीति

यह छियासी गाथाओका एक प्रकरण ग्रन्थ है। इसीसे इसका नाम षडशीति

- १ यह कर्मस्तव भी गोविन्दाचार्यकी टीकाके साथ आत्मानन्दसभा भावनगरसे 'सटीका चत्वार कर्मग्रन्था' के अन्तर्गत प्रकाशित हो चुका है।
- २ यह बन्धस्वामित्व भी हरिभद्रसूरि रचित टीकाके साथ 'सटीका चत्वार कर्मग्रन्था' के अन्तर्गत आत्मानन्द जैन सभा भावनगरसे प्रकाशित हुआ है।
- ३ 'इयं पुर्वसूरि कय पगरेणसु जडबुद्धिणा मए रइय।
बधसामित्तमिण नेय कम्मत्थय सोउ ॥५४॥'—व० स्वा०।
- ४ 'आसा दसानामपि गाथाना पुनर्व्याख्यान कर्मस्तवटीकातो बोद्धव्यमिति।

है। इसमें ग्रन्थकारने जीवसमास, मार्गणा, गुणस्थान, उपयोग, योग और लेख्या आदिका कथन किया है। इसका दूसरा नाम आगमिक वस्तु विचारसार भी है।

इसमें जो विषय वर्णित है वह सब गोमट्टसार जीवकाण्डमें है। किन्तु दोनो-की शैलीमें बहुत अन्तर है। जीवकाण्डमें वीस प्ररूपणाएँ हैं और प्रत्येक प्ररूपणा-का उसमें बहुत विस्तृत और विशद वर्णन है। प्रकृत षडशीति तो उसका एक अंश जैसा है। अनेक स्थलोमें दोनोमें मतभेद^१ भी है।

इसके रचयिता जिनवल्लभगणि^२ चैत्यवासी जिनेश्वर सूरिके शिष्य थे और उन्होने नवाग वृत्तिकार अभयदेव सूरिके पास विद्याध्ययन किया था। इससे वह चैत्यवासके विरोधी हो गये और उन्होने अभयदेव सूरिसे दीक्षा ली। बादको वे उनके पट्टधर हुए और स० ११६७ में उनका स्वर्गवास हुआ।

इस ग्रंथकी तीन वृत्तियाँ उपलब्ध हैं। एक वृत्ति तो बन्धस्वामित्व पर वृत्ति-के रचयिता हरिभद्रसूरिकी है। दूसरी वृत्ति मलय गिरिकी है। तीसरी वृत्ति यशो-भद्र सूरिकी है। इनमेंसे पहली दो वृत्तियोंके साथ षडशीतिका प्रकाशन आत्मानन्द सभा भावनगरसे हुआ है।

ये सब वृत्तियाँ विक्रमकी १२वी १३वी शताब्दी की हैं।

जिन वल्लभ गणिका एक सार्धशतक नामक ग्रंथ भी है। इसमें १५५ गाथायें हैं और ११० गाथाओका उसपर एक भाष्य है। उसके कर्ताका नाम ज्ञात नहीं है। मुनिचन्द्र सूरिने वि० सं० ११७० में उस पर चूर्णि रची थी और धनेश्वर सूरिने उसी समयके लगभग उस पर वृत्ति रची थी।

देवेन्द्रसूरि रचित नव्य कर्मग्रन्थ

आचार्य देवेन्द्रसूरिने पाँच कर्मग्रन्थोंकी रचना की थी और उन्होने उनका नामकरण भी पूर्वमें विद्यमान प्रकरणोंके नामोंके आधारपर कर्मविपाक, कर्शस्तव, बन्धवामित्व, षडशीति और शतक ही रखा था। वास्तवमें उनके ये पाँचो कर्म-ग्रन्थ स्वतंत्र नहीं हैं किन्तु प्राचीन कर्मग्रन्थोंके आधारपर ही उनकी रचना हुई है। यद्यपि ग्रन्थोंका नाम, विषय, वस्तु वर्णनका क्रम आदि प्रायः सभी उक्त प्राचीन कर्मग्रन्थोंका ऋणी हैं। तथापि उसमें जो वैशिष्ट्य है वह ग्रन्थकारके वैदुष्य और रचना चातुर्यका परिचायक है। इन नवीन कर्मग्रन्थोंकी इस विशिष्टताके कारण ही प्राचीन कर्मग्रन्थोंकी ओरसे पाठक उदासीन जैसे बन गये।

१. जै० मा० ३० (गु०), पृ० २३०-३१।

२. श्री आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक मण्डल आगरासे षडशीति नामक नवीन चतुर्थ कर्मग्रंथका हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हुआ है। उससे मतभेदोंको जाना जा सकता है।

हमने भी इसीसे उनका साधारण परिचय देकर सन्तोष कर लिया क्योंकि नवीन कर्मग्रन्थोंके विषयमें आवश्यक वक्तव्य देना अपेक्षित था ।

उक्त नामके प्राचीन पाँचो कर्मग्रन्थ विभिन्न आचार्योंकी कृति होनेसे विभिन्न कालोंमें रचे गये थे । अतः उनका कोई क्रम निर्धारित नहीं था । देवेन्द्रसूरिने अपने पाँचो कर्मग्रन्थोंको पुराना नाम देकर जो क्रम निर्धारित किया, उसी क्रमके अनुसार प्राचीन कर्मग्रन्थोंको भी पहला दूसरा आदि सजाएँ दे दी गई । फलतः कर्मविपाक पहला, कर्मस्तव, दूसरा, बन्धस्वामित्व तीसरा, षडशीति चौथा और शतक पाँचवा कर्मग्रन्थ प्रसिद्ध हो गया ।

यह क्रम इतना अधिक रूढ़ हो गया है कि इन कर्मग्रन्थोंके मूलनामसे अपरिचित भी प्रथम, द्वितीय आदि कर्मग्रन्थ कहनेसे ठीक-ठीक समझ जाते हैं ।

कर्मविपाक

इस प्रथम कर्मग्रन्थमें कर्मोंकी सब प्रकृतियोंके विपाकका ही मुख्य रूपसे कथन है । उस कथनको पाँच भागोंमें बाँटा जा सकता है—

१—प्रत्येक कर्मके प्रकृति आदि भेदोंका कथन । २—कर्मोंकी मूल तथा उत्तरप्रकृतियाँ । ३—पाँच प्रकारके ज्ञान और चार प्रकारके दर्शनोका कथन । ४—सब प्रकृतियोंका दृष्टान्तपूर्वक कार्य-कथन और ५—मव प्रकृतियोंके कारणोंका कथन । इसमें केवल ६० गाथाएँ हैं । और इस तरह यह प्राचीन कर्मविपाकसे बहुत छोटा है । किन्तु उससे इसमें विषय अधिक है । आठों कर्मोंके बन्धोंके जो कारण शतकमें बतलाये हैं, देवेन्द्रसूरिने उन्हें कर्मविपाकमें ही दे दिया है ।

प्राचीन कर्मविपाकमें श्रुतज्ञानावरण कर्मका वर्णन करते हुए श्रुतज्ञानके चौदह भेदोंका निर्देश मात्र किया है । किन्तु इस कर्मविपाकमें एक गाथाके (६) द्वारा उन चौदह भेदोंको गिनाया है और एक गाथा (७) के द्वारा श्रुतज्ञानके उन बीस भेदोंको भी गिनाया है जो षड्खण्डागम और जीवकाण्डमें गिनाये गये हैं । श्वेताम्बर परम्परामें ये बीस भेद अन्य किसी ग्रन्थमें देखनेमें नहीं आये ।

२ कर्मस्तव

देवेन्द्रसूरि रचित इस नवीन कर्मस्तवमें केवल ३४ गाथाएँ हैं और इस तरह यह भी प्राचीन कर्मस्तवसे प्रमाणमें छोटा है । इसमें गुणस्थानोमें कर्मोंके बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्त्वका कथन थोड़ेमें बड़े सुन्दर ढंगसे किया गया है ।

३ बन्धस्वामित्व

बन्ध स्वामित्व नामके इस तीसरे कर्मग्रन्थकी गाथा सख्या मात्र २४ है । और इस तरह प्राचीन बन्ध स्वामित्वसे प्रमाणमें यह भी छोटा है । दोनोंमें विषय समान होते हुए भी प्राचीनमें जो बात विस्तारसे कही है नवीनमें उसे

परिमित शब्दोंमें कहा है । इसीमें गति आदि मार्गणाओंमें गुणस्थानोंकी सख्याका निर्देश जैसा प्राचीन बन्धस्वामित्वमें अलगमें किया है, नवीन कर्मग्रन्थमें वैसा नहीं किया । किन्तु गुणस्थानोंको लेकर बन्ध स्वामित्वका कथन इस रीतिमें किया है उनका ज्ञान पाठकोंको स्पष्ट हो जाता है ।

४ षडशीति

षडशीति नामक चतुर्थ कर्मग्रन्थमें प्राचीनकी तरह ही ८६ गाथाएँ हैं । इसीसे दोनोंके षडशीति नाममें भी समानता है । किन्तु प्राचीनकी टीकाके अन्तमें टीकाकारने उसका नाम 'आगमिक वस्तु विचारसार' दिया है, जबकि नवीनके कर्तानि 'सूदमार्थ विचार' नाम दिया है । प्राचीनकी तरह नवीनमें भी मुख्य अधिकार तीन ही हैं—जीवस्थान, मार्गणा स्थान और गुणस्थान । किन्तु गाथा-सख्या समान होते हुए भी नवीनमें ग्रन्थकारने विषयका विस्तारपूर्वक कथन किया है । 'भाव' और 'सख्या' का कथन प्राचीनमें नहीं है किन्तु नवीनमें विस्तारसे है ।

शतक

शतक नामक इस पञ्चम कर्मग्रन्थका नाम शतक होते हुए भी प्राचीन शतक-से इसके विषयवर्णनमें अन्तर है । सबसे प्रथम ध्रुवबन्धिनी, देवघाती, अघाती, पुण्यरूपा, पापरूपा, परावर्तमाना और अपरावर्तमाना कर्मप्रकृतियोंका कथन है । फिर उन्हीं प्रकृतियोंमें कौन क्षेत्रविपाकी, जीवविपाकी, भवविपाकी और पुद्गल-विपाकी है यह बतलाया है । फिर बन्धके चार भेदोंका स्वरूप बतलाकर उनका कथन किया है । प्रकृतिबन्धका कथन करते हुए मूल तथा उत्तरप्रकृतियोंमें भूय-स्कार, अल्पतर, अवस्थित और अवक्तव्यबन्धोंको बतलाया है । स्थितिबन्धका कथन करते हुए मूल तथा उत्तरप्रकृतियोंकी जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति, एकेन्द्रिय आदि जीवोंमें उसका प्रमाण निकालनेकी रीति, और उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति बन्धके स्वामियोंका कथन किया है । प्रदेशबन्धका कथन करते हुए वर्गणाओंका स्वरूप, उसकी अवगाहना, वृद्ध कर्मदलिकोंका मूल तथा उत्तरप्रकृतियोंमें वट-वारा, कर्मके क्षपणमें करण ग्यारह गुणश्रेणियाँ, गुणश्रेणी रचनाका स्वरूप, गुणस्थानोंका जघन्य और उत्कृष्ट अन्तराल, प्रसगवश पत्न्योपम सागरोपम और पुद्गल परावर्तके भेदोंका स्वरूप, योगस्थान वगैरहका अल्पबहुत्व और लोक आदिका स्वरूप बतलाया है । तथा अन्तमें उपशम श्रेणि और क्षपक श्रेणिका कथन किया है । इनमेंसे बहुतसे कथन प्राचीन शतकमें नहीं हैं ।

कर्मग्रन्थोंकी स्वोपज्ञ टीका

देवेन्द्रसूरिने अपने पाँचों कर्मग्रन्थों पर संस्कृतमें टीका भी बनाई है । और

उनकी टीका उनकी विद्वत्ता और रचना चातुर्यकी परिचायिका है। इससे उनकी अध्ययन शीलताका पता चलता है। उनकी टीकाएँ कर्मसाहित्यके उद्धरणोंसे और कर्मविषयक विविध चर्चाओंसे भरी हुई हैं। उसको देखनेसे उनके कर्मविषयक पाण्डित्यके प्रति गहरी आस्था होती है। टीकाकी शैली प्रसन्न और भाषा सरल है। कर्मसाहित्यके अभ्यासीके लिए यह टीका अवश्य ही अवलोकनीय है।

ग्रन्थकार तथा उनका समय

उक्त कर्मग्रन्थोंके रचयिता श्री देवेन्द्रसूरिने अपनी टीकाके अन्तमें अपनी प्रशस्ति दी है। उससे ज्ञात होता है कि उनके गुरुका नाम जगच्चन्द्रसूरि था और वे चान्द्रकुलमें हुए थे। तथा विबुध श्री धर्मकीर्ति और विद्यानन्दसूरिने उनके कर्मग्रन्थोंकी टीकाका सशोधन किया था।

गुर्वावलि^१में श्री जगच्चन्द्रसूरिके विषयमें लिखा है कि वि०स० १२८५में इन्होंने उग्र तप धारण किया, इससे इनकी ख्याति 'तपा' नामसे हो गई और इनका वृद्धगच्छ तपागच्छ नामसे प्रसिद्ध हुआ। दैलवाराके प्रसिद्ध मन्दिरोंके निर्माता श्री वस्तुपाल तेजपाल इनका बहुत आदर करते थे। तपागच्छकी स्थापनाके बाद श्री जगच्चन्द्रसूरिने अपने शिष्य देवेन्द्रसूरि और विजयचन्द्रसूरिको सूरिपद दिया।

श्री देवेन्द्रसूरिने उज्जैनी नगरीके वासी सेठ जिनचन्द्रके पुत्र वीरधवलको प्रतिबुद्ध करके वि०स० १३०२में दीक्षा दी थी और वि०सं० १३२३में गुजरातके प्रल्हादनपुर नामक नगरमें उसे सूरिपद दिया था। यही वीरधवल विद्यानन्दसूरिके नामसे प्रसिद्ध हुए और उन्होंने अपने गुरु श्री देवेन्द्रसूरि रचित कर्मग्रन्थोंकी टीकाका सशोधन किया। गुर्वावलीके अनुसार वि०स० १३२७में देवेन्द्रसूरिका स्वर्गवास हुआ। अतः उनका समय विक्रमकी तेरहवीं शताब्दीका उत्तरार्ध तथा चौदहवींका पूर्व भाग है।

संस्कृत कर्मग्रन्थ

विक्रमकी १५वीं शताब्दीके प्रारम्भमें जयतिलक सूरिने संस्कृतके ५६९ श्लोकोंमें चार कर्मग्रन्थोंकी रचना की थी।

कर्मप्रकृति नामक अन्य ग्रन्थ

जिन रत्नकोशमे कर्मप्रकृति नामक आठ ग्रन्थोंका निर्देश है। इनमेंसे पहलीके रचयिता गिवशर्म सूरि हैं इसके सम्बन्धमे पीछे विस्तारसे लिख आये हैं। दूसरी-

१ 'तदादिवाणद्विप भानुवर्षे श्रीविक्रमात् प्राप तदीयगच्छ ।
वृहद्गणाह्वोऽपि तपेति नाम श्रीवस्तुपालादिभिरर्च्यमान ।'

के रचयिता तथागच्छके यशोविजय सूरि हैं जो विक्रमकी १८वीं शतीके पूर्वार्धमें हुए हैं। तीसरीके रचयिता नेमिचन्द्र सैद्धान्तिक हैं। इसकी प्रतियाँ अनेक भण्डारोंमें पाई जाती हैं। चौथीके रचयिता ऋपभनन्दि हैं। आरा जैनसिद्धान्त भवनकी ग्रन्थसूचीमें ऐसा ही छपा हुआ है। उसीका निर्देश जिन रत्नकोशमें है। हमने आरासे उसकी प्रति मगाई तो नेमिचन्द्र सैद्धान्तिककी कर्मप्रकृति आई। अतः उक्त ऋपभनन्दिका निर्देश भ्रमपूर्ण प्रतीत होता है किन्तु उस भ्रमका कारण क्या है यह चिन्त्य है। अस्तु,

पाँचवींके रचयिता सुमतिकीर्ति हैं। किन्तु यह उल्लेख भी भ्रमपूर्ण ही प्रतीत होता है। कोशमें लिखा है कि ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन, बम्बईकी सूचीमें कर्मप्रकृति टीकाको ज्ञानभूषण और सुमतिकीर्ति रचित बतलाया है। वही ठीक भी प्रतीत होता है क्योंकि उसकी प्रति देहली और जयपुरके शास्त्र भण्डारोंमें भी वर्तमान है। अस्तु,

नेमिचन्द्र सैद्धान्तिक रचित कर्मप्रकृति नामक ग्रन्थकी गाथा सख्या १६२ है। यह कोई स्वतन्त्र कृति नहीं है किन्तु सकलित है। और इसका सकलन गोम्मट-सारके कर्मकाण्डसे किया गया है। इसमें प्रकृति समुत्कीर्तन, स्थितिबन्ध, अनुभाग-बन्ध और मूलप्रकृतियोंके बन्धके कारणोंका कथन है जो कर्मकाण्डके प्रकृति-समुत्कीर्तन नामक प्रथम अधिकार, बन्धोदयसत्ता नामक द्वितीय अधिकार और प्रत्यय नामक छठे अधिकारसे सकलित किया गया है और आवश्यकतानुसार सकलयिताने कुछ अन्य गाथाएँ भी यथास्थान उसमें सम्मिलित कर दी हैं जो सम्भवतया सकलयिताकी कृति हो सकती हैं।

कर्मप्रकृतिकी गाथाओंका पूरा विश्लेषण इस प्रकार है—कर्मकाण्डके प्रकृति-समुत्कीर्तन नामक प्रथम अधिकारकी पहली गाथासे कर्मप्रकृतिका प्रारम्भ होता है इस अधिकारकी प्रथम १५ गाथाएँ कर्मप्रकृतिमें यथाक्रम वर्तमान हैं। १५वीं गाथामें सप्तभगीके द्वारा जानकर श्रद्धान करनेकी बात आई है अतः कर्मप्र०में १६वीं गाथा सात भगोंका कथन करनेवाली है। यह गाथा पञ्चास्तिकायकी १४वीं गाथा है और वहीसे ली गई जान पड़ती है। इस एक गाथाके बीचमें बढ जानेसे कर्मकाण्ड और कर्मप्रकृतिकी यथाक्रम गाथा सख्यामें एकका अन्तर पड गया है। आगे पुनः कर्मकाण्डकी २० पर्यन्त गाथाएँ कर्मप्रकृतिमें यथाक्रम वर्तमान हैं। कर्मकाण्डकी बीसवीं गाथामें जिसकी सख्या कर्मप्रकृतिमें २१ है, आठो कर्मोंके क्रमपाठका समर्थन करते हुए उसका उपसंहार किया गया है। इसके आगे पाँच गाथाएँ कर्मप्रकृतिमें नवीन हैं। इनमें बतलाया है कि जीवके अनादिकालसे विविध कर्मोंका बन्ध होता है। उनका उदय होनेपर जीवके राग-द्वेषरूप भाव होते हैं। उन भावोंके कारण पुनः कर्मबन्ध होता है। उस बन्धके चार भेद हैं।

चालू चर्चाके मध्यमें उक्त कथन बिल्कुल वेमौके प्रतीत होता है। उसका गाथा २१ और २७ के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। अस्तु,

२७वीं गाथामें, जिसका नम्बर कर्मकाण्डमें २१ है आठो कर्मोंका स्वभाव उदाहरणके द्वारा प्रकट किया गया है। कर्मप्रकृतिकी जो प्रति हमारे सामने है उसमें उस गाथाका संस्कृतमें व्याख्यान किया गया है। आगे नवीन आठ गाथाओंके द्वारा उसी कथनको विस्तारसे किया है अर्थात् एक एक गाथाके द्वारा एक-एक कर्मका स्वभाव बतलाया गया है। फिर गाथा ३६ में जिसका क्रमांक कर्मकाण्डमें २२ है प्रत्येक कर्मकी उत्तरप्रकृतियोंकी सख्या बतलाई है।

आगे जीवकाण्ड^१के ज्ञानमार्गणाधिकारसे मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञानका लक्षण बतलानेवाली गाथाएँ देकर तथा दर्शन-मार्गणाधिकारसे दर्शन, चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन सम्बन्धी गाथाएँ देकर ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्मोंकी प्रकृतियाँ बतलाई हैं। दो गाथाओंके द्वारा जिनकी क्रमसख्या ४७-४८ है, दर्शनावरणीयके भेद गिनाकर पाचो निद्राओका स्वरूप तीन गाथाओंके द्वारा बतलाया है। ये तीनों गाथाएँ कर्मकाण्ड की हैं। कर्मकाण्डमें इनकी क्रमसख्या २३, २४, २५ है और कर्मप्रकृतिमें ४९, ५०, ५१ है। गाथा ५२-५३ के द्वारा वेदनीय और मोहनीयके एक भेद दर्शनमोहनीयके भेद बतलाकर कर्मकाण्डकी २६वीं गाथाके द्वारा दर्शनमोहनीयके तीन भेद कैसे हो जाते हैं यह बतलाया है।

आगे चारित्रमोहनीयके भेद गिनाये हैं। उसके लिये पहली दो गाथाएँ तो नई रची गई हैं। आगे कषायके भेदोका कथन करनेवाली ५ गाथाएँ जीवकाण्ड^२के कषायमार्गणाधिकारसे ली गई हैं।

फिर एक गाथा न० ६२ के द्वारा नोकषायके भेद बतलाये हैं। आगे स्त्री और पुरुषकी व्युत्पत्ति करनेवाली दो गाथाएँ तथा नपुंसक वेदका स्वरूप बतलाने वाली एक गाथा जी० का ४ के वेद मार्गणाधिकारसे ली है।

आगे आयु और नाम कर्मकी प्रकृतियोंको गिनाया है। कर्मकाण्डमें गा० २७ के द्वारा पाँच शरीरोके सयोगीभेद, गा० १८के द्वारा शरीरके आठ अंग और गाथा २९-३२के द्वारा सहननोके बारेमें विशेष कथन किया गया है तथा गाथा ३३के

१ जी० का०, गा० ३०५, ३१४, ३६९, ४३७, ४५९।

२ जी०का०, गा० ४८१, ४८३, ४८४, ४८५। इनमेंसे गा० ३०५ के उत्तरार्धमें थोडा परिवर्तन कर दिया गया है।

३ जी०का०, गा० २८३, २८४, २८५, २८६ और २८२।

४ जी० का०, गा० २७२, २७३, २७४।

द्वारा आतप नामकर्म और उष्ण नामकर्मके अन्तरको स्पष्ट किया है। नामकर्मके भेदोको बतलाते हुए कर्मप्रकृतिके संकलयिताने इन सब गाथाओको यथास्थान सकलित कर लिया है। इस तरह सब कर्मोंकी उत्तर प्रकृतियोंकी सख्या समाप्त होने पर्यन्त कर्म प्रकृतिकी गाथा सख्या १०३ हो जाती है। आगे पुन कर्म-काण्डकी गाथा ३४ से ५१ तक यथाक्रम है। ५१ सख्याकी गाथाका नम्बर कर्म प्रकृतिमें १२२ है। यही प्रकृति समुत्कीर्तन अधिकार समाप्त हो जाता है। जबकि कर्मकाण्डके इस अधिकारमें ५१के बाद भी ३५ गाथाएँ शेष रह जाती हैं जो कर्म प्रकृतिमें नहो ली गई हैं। अस्तु,

इसके बाद कर्म प्रकृतिमें स्थितिवन्धका कथन है। यह कर्मकाण्डसे सकलित है। कर्मकाण्डके अन्तर्गत स्थिति वन्धाधिकारकी गा० १२७से १४४ तक ज्यो की त्यों यथाक्रम सकलित है। उनका नम्बर १२३ से १४० तक है। यही स्थिति-वन्धाधिकार समाप्त हो जाता है। यद्यपि कर्मकाण्डमें आगे भी चलता है। अनु-भागवन्धाधिकारमें केवल चार गाथाएँ हैं जो कर्मकाण्डके अनुभागवन्धा० की हैं। कर्मकाण्डमें उनका नम्बर १६३, १८०, १८१ और १८४ है।

आगे आठो कर्मोंके प्रत्ययोका कथन भी कर्मकाण्डके प्रत्ययाधिकार नामक छठे अधिकारसे सकलित किया गया है। कर्मकाण्डमें ८०० से ८१० गाथा तक ग्यारह गाथाओसे यह कथन किया गया है। किन्तु कर्मप्रकृतिमें गा० १४५ से १६२ तक १८ गाथाओसे प्रत्ययोका कथन है। उसका कारण यह है कि कर्मप्रकृतिके सकलयिताने एक गाथाके द्वारा असाता वेदनीयके वन्धके कारणोका, ५ गाथाओ-के द्वारा तीर्थकर नामकर्मके वन्धके कारणोका और एक गाथाके द्वारा अशुभ नामकर्मके वन्धके कारणोका विशेष कथन किया है जो कर्मकाण्डमें नहीं है। इससे गाथा सख्या बढ़ गई है।

इस तरह कर्मप्रकृति एक सकलित रचना है। मुख्य रूपसे कर्मकाण्डसे उसका सकलन किया गया है और कमी पूर्तिके रूपमें सकलयिताने उसके कुछ अन्य गाथाएँ भी जो उसकी स्वरचित प्रतीत होती हैं, जोड़ दी हैं। किन्तु सकलयिता-की रचि कुछ विचित्र सी जान पड़ती है। उसने अनुभागवन्धकी केवल चार गाथाएँ ही सकलित की और प्रदेशवन्ध^१ को तो एक तरहसे छोड़ ही दिया है।

१ कर्मप्रकृतिकी गाथा २१-२६ में जीव प्रदेशों और कर्मप्रदेशोके वन्धादिका कथन किया है। और गाथा २६ में वन्धके चार भेद बतलाकर उत्तरार्धमें लिखा है—‘पयडिट्टिदि अणुभागपएसवधो पु कहियो।’ मुस्तार साहवने अपनी पु० वा० सू० की प्रस्ता० (पृ० ८३) के फुटनोटमें लिखा कि ‘पयडिट्टिदि अणु भाग पएसवधो पुरा कहियो’ कर्मप्रकृतिकी अनेक प्रतियोमें यही पाठ पाया जाता है जो ठीक जान पड़ता है क्योंकि ‘जीवपएसवधोकेके’

अथवा जिस रूपमें उसका कथन किया गया है वह सकल्यिताकी बुद्धिमत्ताका परिचायक नहीं है। जो गाथाएँ उसकी स्वरचित हैं उनसे वह विशेष दक्ष प्रतीत नहीं होता।

सकल्यिताका नाम तथा समय

प्रतिमें कर्मप्रकृतिके रचयिताका नाम नेमिचन्द्र सिद्धान्ति लिखा है। कर्मकाण्डके रचयिताका नाम नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती था। अतः यह नेमिचन्द्र सिद्धान्ती कोई दूसरे ही व्यक्ति प्रतीत होते हैं। मुखतार साहवने लिखा है—‘मेंरी रायमें यह कर्मप्रकृति या तो नेमिचन्द्र नामके किसी दूसरे आचार्य, भट्टारक अथवा विद्वान्की कृति है, जिनके साथ नामसाम्यादिके कारण ‘सिद्धान्त चक्रवर्ती’ पद बादको कही कही जुड़ गया है, सब प्रतियोंमें यह नहीं पाया जाता। या किसी दूसरे विद्वान्ने उसका सकलन कर उसे नेमिचन्द्र आचार्यके नामांकित कर दिया है। ऐसा करनेमें उसकी दो दृष्टि हो सकती है, एक तो ग्रन्थ प्रचारकी और दूसरी नेमिचन्द्रके श्रेय तथा उपकार स्मरणको स्थिर रखनेकी क्योंकि इस ग्रन्थका अधिकांश शरीर आद्यन्त भागो सहित उन्हीके गोम्मटसारसे बना है। (पृ० वा० सू० प्रस्ता०, पृ० ८८)।

यद्यपि सकल्यिताके नामका निर्णय न हो सकनेसे उसके समयका निर्णय किया जा सकना शक्य नहीं है। तथापि हमारे सामने आरा जैन सिद्धान्त भवनकी जो प्रति उपस्थित है उस पर प्रति लेखनका काल सम्बत् १६६९ लिखा है। भट्टारक ज्ञान भूषण और सुमतिकीर्ति ने उस पर एक टीका भी लिखी है। पञ्चसग्रहकी वृत्ति भी सुमतिकीर्तिकी लिखी हुई है और उसमें उसका रचनाकाल सम्बत् १६२० दिया है। उसका सशोधन भी ज्ञानभूषणने ही किया था। अतः यह वृत्ति भी उसी समयके लगभग की होनी चाहिये।

अतः इतना तो सुनिश्चित है कि विक्रमकी ११वीं शताब्दीके पश्चात् १६वीं

इत्यादि पूर्वकी तीन गाथाओंमें प्रदेश बन्धका ही कथन है। ज्ञानभूषणने अपनी टीकामें इसका अर्थ देते हुए लिखा है—‘ते चत्वारो भेदा के ? प्रकृति-स्थित्यनुभागा प्रदेशबन्धश्च, अयं भेद पुरा कथितः।’ मुख्तार साहवने यह भी लिखा है कि मेरे पास कर्मप्रकृतिकी एक वृत्ति सहित प्रति और है जिसमें यहाँ पाँचके स्थान पर छै गाथाएँ हैं। छठी गाथा ‘सो बधो चउभेओ’ से पूर्व इस प्रकार है—

‘आउगभागो थोवो णामा गोदे समो तदो अहिओ ।

घादि तिये वि य तत्तो मोहे तत्तो तदो तदिये ॥’

यह कर्मकाण्डकी गाथा १९२ है।

शताब्दी पर्यन्त ५०० वर्षोंके सुदीर्घ कालके अन्दर किसी समय इस कर्मप्रकृतिका सकलन किया गया है ।

इस कालमें कव इसकी रचना हुई यही विचारणीय है—

सस्कृत क्षपणासारके रचयिता माधवचन्द्र त्रैविद्यके गुरुका नाम भी नेमिचन्द्र गणी था । उन्होंने क्षपणासारकी प्रशस्तिमें उन्हें सैद्धान्ताधिप लिखा है । कर्मकाण्डके आधार पर सकलित बन्ध त्रिभगीके रचयिताका नाम एक प्रतिमें नेमिचन्द्रके शिष्य माधवचन्द्र लिखा है । अतः क्षपणासारके रचयिता माधवचन्द्रके गुरु नेमिचन्द्र सिद्धान्ती ही कर्मप्रकृतिके सकलयिता प्रतीत होते हैं । माधवचन्द्रने क्षपणासारको शक स० ११२५ (वि०स० १२६०)में रचा है । अतः कर्मप्रकृति भी इसी समयके लगभग संकलित की गई जान पड़ती है ।

बन्धत्रिभगी, उदयत्रिभगी और सत्त्वत्रिभगी

जिस तरह किसी सकलयिताने कर्मकाण्डके आधारसे कर्मप्रकृतिकी सकलना की है भवतया उसी प्रकार कर्मकाण्डके आधार पर अन्य भी प्रकरण सग्रहीत किये गये हैं । इसी तरहके तीन प्रकरण कर्मकाण्डके बन्धोदय सत्त्व नामक दूसरे अधिकारसे सकलित किये गये हैं । कर्मप्रकृतिके सकलयिताकी तरह इनके सकलयिताने उक्त अधिकारसे अपनी रुचिके अनुसार गाथाएँ सकलित की हैं और आवश्यकताके अनुसार उनके बीचमें कुछ स्वरचित गाथाएँ भी जोड़ दी हैं ।

इनमेंसे प्रथम प्रकरण बन्धत्रिभगीका प्रारम्भ कर्मकाण्डके दूसरे अधिकारकी प्रथम गाथासे होता है जिसकी क्रमसंख्या कर्मकाण्डमें ८७ है । ८७के बाद ८८वीं गाथा है और फिर कर्मकाण्डकी गा० ३४, ३७ यथाक्रम है । फिर कर्मप्रकृतिकी ५३-५४वीं गाथा यथाक्रम है । फिर कर्मकाण्डकी ३५वीं गाथा है । फिर कर्मकाण्डके दूसरे अधिकारकी ८९, ९०, ९१ नम्बरकी तीन गाथाएँ छोड़कर ९२वीं से १०७ पर्यन्त गाथाएँ हैं । फिर जीवकाण्डकी १२८वीं और त्रिलोकसारकी २०३वीं गाथा है । पुनः कर्मकाण्डकी गाथा १०८ और १०९ है । फिर एक गाथा स्वरचित है । पुनः कर्मकाण्डकी गाथा ११० है । फिर स्वरचित गाथाएँ हैं । बीच-बीचमें कुछ व्याख्या भी संस्कृत में है । सदृष्टिया भी हैं । इस तरहसे बन्धत्रिभगी, उदयत्रिभगी और सत्त्वत्रिभगीका कथन किया गया है । कुल गाथा संख्या १४३ है । अन्तमें लिखा है 'तत्त्वत्रिभगी समाप्ता ।' शायद 'सत्त्व'के स्थानमें तत्त्व लिखा गया है । एक दूसरी प्रति भी उक्त भण्डारमें उसीके साथ है उसमें 'सत्त्वत्रिभगी' लिखा हुआ है उसमें कुछ गाथाएँ अधिक हैं ।

इनकी एक संस्कृत टीका भी है । उसके सम्बन्धमें आगे प्रकाश डाला जायेगा ।

आराके जैनसिद्धान्त भवनमें त्रिभगीके नामसे एक हस्तलिखित ग्रन्थ वर्तमान है उसमें ही उक्त प्रकरण वर्तमान है ।

जिन रत्न कोशमें त्रिभंगीमार नामक एक ग्रन्थका निर्देश है जिसे नेमिचन्द्र सैद्धान्तिकका बतलाया है। उसके विवरणमें लिखा है कि इस ग्रन्थमें आगे लिखे विभाग हैं—१ आस्रवत्रिभंगी, २ वन्धत्रिभंगी, ३ उदय-उदीरणत्रिभंगी, ४ सत्तात्रिभंगी, ५ सत्त्वस्थानत्रिभंगी, ६ भावत्रिभंगी। इस ग्रन्थका निर्देश बम्बई रायल एशियाटिक सोसायटीकी बम्बई शाखामें स्थित हस्तलिखित प्रतियोंकी विवरणात्मक सूचीसे जिन रत्नकोशमें लिया गया है।

जिन रत्नकोशमें उसका विवरण देते हुए लिखा है कि त्रिभंगीमारके अन्तर्गत विभाग विभिन्न ग्रन्थ कर्ताओंके द्वारा रचे गये हैं—प्रथम आस्रवत्रिभंगीमें ६३ गाथाएँ हैं और वह श्रुतमुनिके द्वारा रचित है। द्वितीय वन्धत्रिभंगीमें ४४ गाथाएँ हैं और उनके रचयिता नेमिचन्द्रके शिष्य माधवचन्द्र हैं। तीसरी उदयत्रिभंगीमें ७३ गाथाएँ हैं और उसके कर्ता नेमिचन्द्र हैं। चौथी सत्तात्रिभंगीमें ३५ गाथाएँ हैं और उनके रचयिता भी नेमिचन्द्र हैं। पाँचवी सत्त्वस्थानत्रिभंगीमें ३७ गाथाएँ हैं और उनके रचयिता कनकनन्दि हैं। इस पर नेमिचन्द्रकी टीका भी है। अन्तिम भावत्रिभंगीमें ११६ गाथाएँ हैं और यह भी श्रुतमुनिके द्वारा रचित है।

आराकी उक्त त्रिभंगी उक्त त्रिभंगीसार की ही प्रतिलिपि है। उसमें उक्त क्रमसे छहो त्रिभंगियाँ सकलित हैं। किन्तु उसमें वन्धत्रिभंगी, उदयत्रिभंगी और सत्त्वत्रिभंगीके कर्ताका नाम नहीं दिया है। गाथा सख्यामें भी कुछ अन्तर है।

उक्त छहो त्रिभंगीमेंसे आदि और अन्तकी त्रिभंगी तो श्रुतमुनि रचित है। एक सत्त्वस्थानत्रिभंगी कनकनन्दि रचित है। यह कनकनन्दि नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीके गुरुओंमें से थे। शेष तीन त्रिभंगी कर्मकाण्डसे सकलित की गई हैं। उनमेंसे एकका रचयिता नेमिचन्द्रके शिष्य माधवचन्द्रको बतलाया है और शेषका नेमिचन्द्र को। जैसाकि कर्मप्रकृतिके सम्बन्धमें विचार करते हुए लिख आये हैं—क्षपणासार सस्कृतके रचयिता माधवचन्द्र और उनके गुरु नेमिचन्द्र सैद्धान्ताधिप या सैद्धान्ती ही उनके संकलयिता प्रतीत होते हैं।

श्रुतमुनिकी रचनाएँ—

भावत्रिभंगी

श्रुतमुनिके^१ द्वारा रचित इस भावत्रिभंगीमें जीवके औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक औदयिक और पारिणामिक भावोका कथन गुणस्थान और मार्गणा-स्थानोंमें ११६ गाथाओंके द्वारा किया गया है।

१ 'इदि गुणमग्गणठाणे भावा कहिया प्रवोह सुयमुणिणा।

सोहंतु ते मुणिदा सुयपरिपुण्णा दु गुणपुण्णा ॥११६॥'—भा० त्रि०

कर्मकाण्डके भावचूलिका नामक सातवें अधिकारमें भावोका कथन विविध भगोंके साथ किया गया है। यहाँ भगोंको छोड़कर सामान्य कथन है किन्तु कर्मकाण्डमें मार्गणाओके आश्रयसे भावोका कथन नहीं है, जबकि इस ग्रन्थमें है। पहले गुणस्थानोंमें कथन है और फिर मार्गणास्थानोंमें कथन है।

पाँचो भावोके उत्तर भेदोंमेंसे किस स्थानमें कितने भाव होते हैं, कितने नहीं होते और कितने भाव उसी स्थानमें होकर आगे नहीं होते। इन तीन बातोंको लेकर भावोका कथन होनेके कारण इसे भावत्रिभगी कहते हैं। वैसे दूसरी^१ गाथामें तो सूत्रोक्त मूलभाव तथा उत्तरभावोका स्वरूप कहनेकी प्रतिज्ञाकी गई है। उसपरसे इसे 'भाव स्वरूप' नामसे कहा जा सकता है।

श्रीमाणिकचन्द्र जैन ग्रन्थमाला बम्बईसे प्रकाशित भावसंग्रहादि नामक २०वें ग्रन्थमें यह ग्रन्थ प्रकाशित हो चुका है। उसमें भावत्रिभगी नाम पर लगे पाद टिप्पणमें लिखा है कि पुस्तकके अन्तमें 'भावसंग्रह समाप्त.' पाठ था किन्तु प्रारम्भमें उल्लिखित नामके अनुसार उसे परिवर्तित करके 'भावत्रिभगी समाप्ता' ऐसा छपा गया है। इसपरसे उसका भावसंग्रह नाम भी ज्ञात होता है।

पुस्तकके साथमें सदृष्टियाँ भी बनी हुई हैं। संभव है ये सदृष्टियाँ श्रुत-मुनिने ही अपने ग्रन्थमें बनाकर लगा दी हो। इनसे ग्रन्थका विषय स्पष्ट हो जाता है।

रचना सरल और स्पष्ट है। प्रत्येक बातको बहुत सरलता और स्पष्टताके साथ कहा गया है। और उसका आधार कर्मकाण्डका सातवाँ अधिकार है। गोम्मटसारकी गाथाओकी अनुकृति उसकी गाथाओ पर छाई हुई है।

आस्रवत्रिभगी

इन्ही श्रुतमुनिकी दूसरी कृति आस्रवत्रिभगी^२ है। कर्मकाण्डके प्रत्यय नामक छठे अधिकारमें भी आस्रवके प्रत्ययोका कथन आया है। और यहाँ उस प्रकरण की दो एक गाथाएँ भी ज्योकी-त्यो ले ली गई हैं। किन्तु कर्मकाण्डमें केवल गुणस्थानोंमें भगोंके साथ कथन है जब कि यहाँ गुणस्थानोंमें सामान्य कथन है और उसके सिवाय चौदह मार्गणाओमें भी प्रत्ययोका कथन है जो कर्मकाण्डमें नहीं है। तथापि उसका आधार कर्मकाण्ड ही प्रतीत होता है। आस्रवके कारण

१ 'इदि वंदिय पचगुरू सरूव सिद्धत्य भवियवोहत्यं।

सुत्तुत्त मुलुत्तरभावसरूव पवक्खामि ॥२॥'—भा० त्रि०।

२ यह आस्रवत्रिभंगो माणिकचन्द्र ग्रन्थमालासे प्रकाशित भावसंग्रहादि नामक २०वें ग्रन्थमें प्रकाशित हो चुकी है।

चार हैं—मिथ्यात्व, अविरति, कपाय और योग। मिथ्यात्वके ५ भेद हैं अविरतिके १२ भेद हैं, कपायके २५ और योगके १५ भेद हैं। इस तरह मूल प्रत्यय चार हैं और उत्तर प्रत्यय ५७ हैं। इनके निमित्तसे कर्मोंका आस्रव होता है।

ये आस्रव प्रत्यय किस गुणस्थानमें कितने होते हैं, कितने नहीं होते और कितने प्रत्यय उसी गुणस्थान तक होते हैं आगे नहीं होते, इन तीन भगोंका कथन होनेसे इसका नाम आस्रवत्रिभगी है। इसमें कुल ६२ गाथाएँ हैं और साथमें सदृष्टियाँ भी हैं।

श्रुतमुनिका परिचय और समय

श्रुतमुनिने अपने भावत्रिभगी अथवा भावसग्रह नामकग्रन्थके अन्तमें अपनी प्रशस्ति^१ दी है उससे ज्ञात होता है कि श्रुतमुनिके अणुव्रतगुरु बालेन्दु या बालचन्द्र थे और महाव्रतगुरु अभयचन्द्र सैद्धान्तिक थे। तथा शास्त्र गुरु अभयसूरि और प्रभाचन्द्र नामक मुनि थे। इनका परिचय कराते हुए श्रुतमुनिने लिखा है कि कुन्दकुन्दान्वयके मूलसध, देशगण, पुस्तकगच्छकी इगुलेश्वर शाखामें हुए मुनि प्रधान अभयचन्द्र सैद्धान्तिकके शिष्य बालचन्द्र मुनि थे। और शब्दागम, परमागम, तर्कागमके पूर्णज्ञाता अभयसूरि सैद्धान्तिक थे। तथा सारत्रयमें निपुण, शुद्धात्मामें लीन और भव्य जीवोंका प्रतिबोध करनेवाले प्रभाचन्द्र नामक मुनि थे। श्रुतमुनिने बालचन्द्र मुनि और अभयसूरि सिद्धातका जयघोष करनेके बाद दो गाथाओंके द्वारा चारुकीर्ति मुनिका भी जयघोष किया है।

श्रुतमुनिके द्वारा रचित एक ग्रन्थ परमागमसार है उसमें भी उक्त प्रशस्ति

- १ 'अणुवदुगुरु बालेन्दु महव्वदे अभयचद सिद्धति । सत्येऽभयसूरि पभाचंदा खलु सुयमुणीस गुरु ॥११७॥ श्रीमूलसध देसियगणपुत्थयगच्छकोडकुदाणं । परपण्णइगलेसरवल्लिह जादस्स मुणिपहाणस्स ॥ सिद्धताभयचदस्स य सिस्सो बालचदमुणिपवरो । सो भव्वकुवलयाणं आणंदकरो सया जयउ ॥११९॥ सहागम-परमागम-तक्कागम गिरवसेसवेदी हु । विजिदसयलण्णवादी जयउ चिर अभयसूरि सिद्धती ॥१२०॥ णयणिकखेवपमाण जाणित्ता विजिदसयलपर-समओ । वरणिवयिणि वह वंदियपयपम्मो चारुकीर्त्तिमुणी ॥१२१॥ णाद णिक्खिलत्थसद्दो सयलणरिंदेहि पूजियो विमलो । जिणमग्गयणसूरो जयउ चिरं चारुकिर्त्तिमुणी ॥१२२॥ वरसारत्तयणिउणो सुद्धप्परओ विरहियपर-भावो । भवियाणं पडिवोहणपरो पहाचदणाम मुणी ॥१२३॥'—भा० त्रि० प्रश० ।

दी है किन्तु उसमें उसका रचनाकाल भी दिया है जो शक स० १२६३ (वि० स० १३९८) है अतः श्रुतमुनि विक्रमकी चौदहवीं शताब्दीके उत्तरार्धमें हुए है।

श्रवणवेल गोलाके विन्ध्यगिरि पर्वतके एक शिलालेख^२ न० १०५ में अभयचन्द्रके शिष्य श्रुतमुनिकी बड़ी प्रशंसा की गई है। इसमें चारुकीर्ति और अभयसूरिकी भी प्रशंसा है। अतः यह श्रुतमुनि ही प्रतीत होते हैं। यह शिलालेख शक स० १३२० का है अर्थात् परमागमसारकी रचनाके ५७ वर्ष पश्चात् का है।

चन्द्रगिरि पर्वत परके एक अन्य शिलालेखमें भी अभयचन्द्र और उनके शिष्य बालचन्द्र पण्डितका उल्लेख है। यह शिलालेख शक स० १२३५ का है। ये दोनों श्रुतमुनिके व्रत गुरु ही प्रतीत होते हैं।

इन्हीं अभयचन्द्रको डॉ० उपाध्येने गोमटसारकी मन्द प्रबोधिकाका रचयिता माना है। किन्तु वेलूर शिलालेखोंके आधारपर अभयचन्द्रका स्वर्गवास सन् १२७९ में और बालचन्द्रका ईस्वी १२७४ में बतलाया है जो ठीक प्रतीत नहीं होता। मन्द प्रबोधिकाकी रचनाके समयकी चर्चामें इसपर प्रकाश डाला गया है।

केशववर्णीने अपनी कर्णाटवृत्ति शक स० १२८१ में बनाकर समाप्त की थी। केशववर्णी अभयसूरि सिद्धान्त चक्रवर्तीके शिष्य थे। अभयसूरि श्रुतमुनिके शास्त्र गुरु प्रतीत होते हैं। क्योंकि परमागमसारकी रचनाके १८ वर्ष बाद केशववर्णीने अपनी कर्णाटवृत्ति समाप्त की थी। अतः श्रुतमुनिके वह लघु समकालीन थे, यह निश्चित है।

पञ्चसग्रहकी प्राकृत टीका

पञ्चसग्रह पर एक प्राकृत टीका है उसकी जो प्रति हमारे सामने है उसमें उसका लेखनकाल सवत् १५२६ दिया है। यह टीका किसने कब रची इसका कोई पता उससे नहीं चलता। किन्तु इतना निश्चित है कि धवला टीकाके पश्चात् ही उसकी रचना हुई है क्योंकि टीकाके प्रारम्भमें धवलाकी तरह मंगल निमित्त, हेतु, परिमाण, नाम और कर्ता की चर्चा है जो धवलासे ली गई है किन्तु यथास्थान उसमें कुछ काट-छाट कर दी गई है। उल्लेखनीय बात यह है कि ग्रन्थका नाम बतलाते हुए 'आराधना' नाम बतलाया है। यथा—

‘तत्थ गुणणाम आराहणा इदि । किं कारण ? जेण आराधिज्जते अणआ दसण-णाण-चरित्त-त्तवाणि त्ति ।’

इससे प्रतीत होता है कि आराधना भगवतीकी प्राकृत टीकाका यह आद्यश

१ 'सगगा (का) ले हु सहस्से विसयतिसट्ठिगदे दुविसवरिसे । मग्गसिर सुद्ध सत्तमि गुरुवारे गथ सपुण्णो ॥२२३॥—जै० प्र० सं०, भा० १, पृ० १९१।

२ शि० सं०, भाग १, पृ० २०१।

होना चाहिये । भगवती आराधनाकी विजयोदया^१ टीकामें प्राकृत टीकाका उल्लेख है । किन्तु वह टीका धवलासे प्राचीन होनी चाहिये, अतः उसमें धवलाकी अनुकृति-की सभावना नहीं की जा सकती । सम्भव है धवलाके बाद किसीने उस पर कोई प्राकृत टीका रची हो । किन्तु यह सब अनुमान मात्र है ।

अन्य सब कथन धवलासे लेने पर भी उसके रचयिताने कर्ताके विषयमें परिवर्तन कर दिया है । धवलामें कर्ताके दो भेद वतलाये हैं अर्थकर्ता और ग्रन्थ-कर्ता । किन्तु इसमें तीन भेद वतलाये हैं, मूलतन्त्रकर्ता^२, उत्तरतन्त्रकर्ता और उत्तरोत्तरतन्त्रकर्ता । तथा भगवान् महावीरको मूलतन्त्रकर्ता, गौतम गणधरको उत्तरतन्त्रकर्ता और लोहाचार्य तथा भट्टारक 'अप्पभूदिअ' आचार्यको उत्तरोत्तर तन्त्रकर्ता लिखा है । यथा—

‘कत्तारा तिविधा मूलततकत्ता, उत्तरततकत्ता, उत्तरोत्तरततकत्ता चेदि । तत्थ मूलततकत्ता भगव महावीरो । उत्तरततकत्ता गोदम भयवदो । उत्तरोत्तर ततकत्ता लोहायरिया भट्टारक अप्पभूदिअ आयरिया ।’

यहाँ उत्तरोत्तर तन्त्रकर्तामें जो भट्टारक 'अप्पभूदिअ' आचार्य का नाम दिया है, वह टीकाके कर्ताके अन्वेषणकी दृष्टिसे चिन्त्य है ।

आगे श्रुतज्ञान रूपी वृक्षका वर्णन है उसमें बारह अंगो और चौदह पूर्वोका कथन धवलासे प्रायः ज्योका ल्यो ले लिया गया है । और अन्तमें लिखा है—
‘एव श्रुतवृक्ष समाप्त ।’

इसके पश्चात् पचसग्रह गत प्रकृति समुत्कीर्तन अधिकार आता है । पञ्च-सग्रहमें इसका नम्बर दूसरा है और जीवसमास नामक अधिकारका पहला । किन्तु इस टीकामें प्रकृति समुत्कीर्तनको पहला स्थान दिया है ।

प्रायः प्रत्येक अधिकारमें टीकाकार पहले ग्रन्थका मूलभाग जो प्रायः अधूरा होता है, देता है । फिर उसका व्याख्यान करता है । प्रत्येक गाथाका अलग-अलग व्याख्यान करनेकी पद्धति टीकाकारने नहीं अपनाई है ।

प्रकृति समुत्कीर्तन अधिकारमें प्रकृतियोंका स्वरूप निरूपण प्राकृतगद्यमें बहुत सुन्दर रीतिसे किया गया है । और बीच-बीचमें कुछ गाथाएँ भी ग्रन्थान्तरसे उद्धृत की गई हैं ।

टीकामें धवलाकी तरह प्राकृतके साथ यत्रतत्र संस्कृत भाषाका भी उपयोग

१ इसके परिचय तथा उल्लेखोंके लिये देखें—जै०सा० इ० पृ० ८४ आदि ।

२ इयमूलततकत्ता सिरिवीरो इदभूदि विप्पवरो । उवतते कत्तारो अणुतते सेस आइरिया ॥८०॥—त्रि० प०, अधि० १ ।

किया गया है खास कर जहाँ व्युत्पत्ति आदि दी गई है। और इस तरह उसमें जानने योग्य विषयकी बहुतायत है। आभिनिवोधिक ज्ञानकी जो व्युत्पत्ति दी गई है वह अभी तक हमारे देखनेमें किसी ग्रन्थान्तरमें नहीं आई। यथा—

‘आभिनिवोधिक ज्ञानमिति’—अ इति द्रव्य पर्याय । भि इति द्रव्याभिमुख ‘निरिति निश्चयबोध इति ।’ बुध अवगमने धातु । अभिनिवोधिक एव आभिनिवोधिक वा प्रयोजन अस्येति आभिनिवोधिकम् । आभिनिवोधिकमेव ज्ञान आभिनिवोधिक ज्ञानम् । आभिनिवोधिक ज्ञानस्य आवरण आभिनिवोधिक ज्ञानावरणीय चेति ।

इसमें ‘अ’ का अर्थ द्रव्य और ‘भि’ का अर्थ द्रव्याभिमुख अश्रुत पूर्व है। समस्त दिगम्बर तथा श्वेताम्बर साहित्यमें ‘अभिमुख नियमित बोध’ अर्थ ही किया गया है। ज्ञानके भेदोका अच्छा कथन ज्ञानावरणीय कर्मके कथनमें किया गया है।

नामकर्मकी कुछ प्रकृतियोंका स्वरूप कथन प्रायः तत्त्वार्थवार्तिकसे लिया गया है। किन्तु आनुपूर्वी नामकर्मका जो लक्षण किया है वह दिगम्बर परम्पराके शास्त्रोमे हमारे देखनेमें नहीं आया। दिगम्बरीय^१ साहित्यके अनुसार आनुपूर्वी नामकर्मका कार्य पूर्व शरीर छोड़नेके बाद और नया शरीर धारण करनेके पहले विग्रह गतिमें जीवका आकार पूर्व शरीरके समान बनाये रखना है।

किन्तु टीकाकारने लिखा^२ है कि यदि आनुपूर्वी नामकर्म न होता तो जीव एक क्षेत्रसे दूसरे क्षेत्रमें नहीं जा सकता था। अतः क्षेत्रसे क्षेत्रान्तरमें ले जाने वाला कर्म आनुपूर्वी है। यह लक्षण श्वेताम्बर परम्परासे मेल खाता है। उसके अनुसार आनुपूर्वी^३ नामकर्म समश्रेणिसे गमन करते हुए जीवको खींचकर उसके विश्रेणि पतित उत्पत्तिस्थानमें ले जाता है।

इसी तरह विहायोगति नामकर्मका स्वरूप बतलाते हुए लिखा^४ है—यदि

- १ ‘पद्मुदयात् पूर्वशरीराकाराविनाशस्तदानुपूर्व्यं नाम ॥—त० वा० पृ० ५७७ ।
- २ ‘अनुपूर्वे भवा अनुपूर्वी अनुगति अनुक्रान्तिरित्यर्थ । यद्यानुपूर्वी नामकर्म न स्यात् क्षेत्रात् क्षेत्रान्तर प्राप्तिर्जीवस्य न स्यात् । अतः क्षेत्रान्तर प्रापक-कर्मानुपूर्वी नाम ।’
- ३ देखो प्रथम कर्मग्रन्थके हिन्दी अनुवादका परिशिष्ट पृ० १३४ ।
- ४ ‘विहायसि गति विहायोगति । यदि विहायोगति नामकर्म न स्यात् आकाशे जीवगतिर्न स्यात् । तदभावे अल्पप्रदेशाना भूम्यवस्थान बहूवा आकाश व्यवस्थापन पतनमेव स्यात् । यदि त्रसनाकर्म न स्यात् न त्रसति जीव ,

विज्ञानयोगति नामकर्म न होता तो आत्मन में जीवती गति न होती और उसके अभावमें पण्य प्रदंभी पशुश्रोता भूमिपर टट्टना और पशु प्रदंभी पशुश्रोता जातकमें टट्टना (न) होता, पण्य हो जाता । पण्य नामकर्ममें श्रुति लिखा है कि यदि पण्य नामकर्म न होता तो वे उन्मिश्र आदि जीवोंमें मनुज, प्रमाणा, निमीलन, उन्मीलन, हस्त-पल्लव आदि न होता । तथा धर्म, स्थावर नामकर्म न होता तो जीव न टट्टता ।

वे सब लक्षण पण्य, स्थावर अद्वयों की स्मृतिसे अज्ञानपर पड़े गये जात पण्य हैं । श्रोतापर पण्यकर्म भी इस प्रकारसे अज्ञान नहीं है । पण्य नहीं, टीकाकारने तर्कित करने दिया है या स्वयं ही पण्य है । अन्तः,

प्रधान मन्त्रनिर्वाकते पश्यात् कर्मण्यत्र नामा अभिवार आता है । कर्मन्त्य मन्त्री मन्त्राधिकारिणी, उन्मिश्र आदि श्रुति और मन्त्र दक्षिणार्धमें मन्त्र केवल मान्य गाथाओं की देश उक्तता अतः मन्त्र पर लिखा गया है । इसमें पहले मन्त्र कर्मन्त्य पर एक मान्य दे दिया गया है । इस प्रकारसे पण्यकर्म जो भाष्य गाथाएँ हैं उक्तता नहीं होई निर्देश नहीं है ।

उक्त वार 'जीव ममाग' क्या है ? उक्तरी जो गाथाएँ उक्त हैं उनमें अनेक गाथाएँ ऐसी हैं जो मूल पण्यकर्मों अन्तर्गत जीव ममागमें नहीं हैं और बहुतनी गाथाएँ छान भी दी गई हैं । पण्यकर्मों परिनियम रगतें हुए जीव-ममान नामक प्रकरणों के मन्त्रोंमें हमने लिखा था कि योग प्रमाणाओंका पण्य नमाप्त हो जानेके बाद पण्य देवता समन्वित मन्त्र लिखा गया है जो अमरवद या लगना है । उक्तमें वे सब गाथाएँ नहीं हैं और योग प्रमाणाओंके कथनकी नमाप्तिके साथ ही प्रकरणोंके नमाप्त कर दिया गया है । यह तो कुछ मूल प्रकरणोंके मन्त्रोंकी बात ।

टीकाके नाम पर केवल दो स्थानोंपर टीका की गई है । एक तो प्रारम्भमें गुणस्थानके लक्षण वाली तीसरी गाथाके नीचे 'उदाणी लक्षिविह्वत्तडम्भामो । लिङ्गकर लक्षि विधान ? कथन है । इस लक्षि विधानमें प्रत्येक गुणस्थानमें कौन सा भाव क्यों होता है, उक्तका स्पष्ट और सुन्दर कथन है । दूसरी मार्गणाके मोक्षो वाली गाथाके नीचे चौदह मार्गणाओंकी व्युत्पत्ति की गई है जो धवला भाग एकमें ली गई हैं । वस, इस प्रकरणमें टीकाके नामपर इनता ही है ।

आकुञ्चन-प्रसारण-निमीलनोन्मीलन-स्पन्दनादि असन । तद्धीन्द्रियादीना न स्यात् । अतः असनिर्वर्तक असनाम । यदि स्थावर नामकर्म न स्यात् नावतिष्ठति जीव स्पन्दनाभावात् । अतः स्थावर निर्वर्तक स्थावरनाम ।'

इसके बाद शतक है। मूल शतककी प्रत्येक गाथाका व्याख्यान टीकाकारने किया है किन्तु पञ्चसग्रह गत भाष्य गाथाएँ केवल तीस पैतीसके लगभग ली गई हैं शेषको छोड़ दिया है। अन्तमें लिखा है—‘सदगपजिया समत्ता’। अर्थात् शतककी पजिका समाप्त हुई।

शतकमें गत्यादि मार्गणाओमें बन्ध स्वामित्वका कथन कर लेनेकी सूचना एक गाथाके द्वारा दी गई है। उसकी टीकामें टीकाकारने मार्गणाओमें कर्म-प्रकृतियोंके बन्धादिका कथन विस्तारसे किया है। उसके अन्तमें तीन गाथाएँ इस प्रकार हैं—

जह जिणवरेहि कहिय गणहरदेवेहि गथिय सम्म ।
आयरियकमेण पुणो जह गगणइपवाहुव्व ॥१२॥
तह पउमणदि मुणिणा रइयं भवियाण वोहणट्ठाए ।
ओघेणादेसेण य पयडीण बधसामित्त ॥१३॥
छउमत्थिया य रइअ ज इत्थ ह्विज्ज पवयणविरुद्ध ।
त पवयणाइ कुसला सोहतु मुणी पयत्तेण ॥१४॥

इसमें कहा है कि जैसा जिनवरने कहा और गणधर देवोंने सकलित किया फिर जैसा गगानदीके प्रवाहकी तरह आचार्य परम्परासे आया, वैसा ही ओघ और आदेशकी अपेक्षासे प्रकृतियोंके बन्धस्वामित्वको भव्यजीवोको बोध करानेके लिये पद्मनन्दि मुनिने रचा। इस छन्दस्थके रचे हुएमें जो बात आगमविरुद्ध हो उसे प्रवचनमें कुशल मुनि प्रयत्न पूर्वक शुद्ध करें।

यह पद्मनन्दि मुनि इस टीकाके रचयिता है अथवा टीकाकारने जहाँसे बन्ध-स्वामित्वको लिया है उसके रचयिता है, यह बिना प्रमाणोके प्रकाशमें निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता।

पद्मनन्दी नामके अनेक आचार्य हुए हैं। जम्बूद्वीप प्रशस्तिके कर्ताका नाम भी पद्मनन्दी था रज० प्रज्ञ० की प्रशस्तिमें उन्हे सिद्धान्त पारगामी भी लिखा है। तथा उसकी अन्तिम गाथा उक्त उद्धृत अन्तिम गाथासे बहुत अधिक मिलती है, जो इस प्रकार है—

छउमत्थेण विरइय ज किं पि ह्वेज्ज पवयणविरुद्ध ।
सोधतु सुगीदत्था तं पवयणवच्छलत्ताए ॥१७०॥

तथा उसमें भी ग्रन्थकारका निर्देश ‘मुणिपउमणदिणा’ करके है। अतः संभव है उन्होंने बन्धस्वामित्वका कथन किसी ग्रन्थमें किया हो और उसीसे टीकाकारने उसे लिया है। ज० प्र० की रचना विक्रमकी ग्यारहवीं शताब्दीके उत्तरार्धमें

हुई है। अतः उसके बाद ही यह टीका रची गई है यह निश्चित समझना चाहिये, क्योंकि जीवकाण्ड और त्रिलोकसारसे भी उसमें गाथाएँ उद्धृत हैं। अस्तु,

शतकके पश्चात् सित्तरीकी टीका है। इसमें टीकाकारने मूल सित्तरी तो प्रायः पूर्ण ले ली है किन्तु भाष्य गाथाएँ केवल ३० के लगभग ही ली हैं। टीका में शतककी टीकाका कई जगह उल्लेख किया गया है।

अन्तमें लिखा है—‘एव सत्तरि चूलिया समत्ता’।

टीकामें ‘पञ्चसग्रह’ नामका निर्देश दृष्टिगोचर नहीं होता।

सिद्धान्तसार

माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बईसे प्रकाशित सिद्धान्तसारादिसग्रह नामक २१वें पुष्पके प्रारम्भमें सिद्धान्तसार नामक प्रकरण ज्ञानभूषणके भाष्यके साथ प्रकाशित हुआ है। इसमें ७९ प्राकृत गाथाएँ हैं। उनके द्वारा ग्रन्थकारने चौदह मार्गणाओंमें जीवसमासोका, गुणस्थानोका, योगोका और उपयोगोका तथा चौदह जीवसमासोमें योगोका और उपयोगोका, व चौदह गुणस्थानोमें योगोका और उपयोगोका, फिर चौदह मार्गणाओमें चौदह जीवसमासोमें और चौदह गुणस्थानोमें बन्धके ५७ प्रत्ययोका कथन किया है।

इस तरहसे ग्रन्थकारने थोड़ी-सी गाथाओके द्वारा काफी सैद्धान्तिक बातोंका कथन किया है।

ग्रन्थकार

सिद्धान्तसारादिसग्रहके प्रारम्भमें ग्रन्थकर्ताका परिचय देते हुए श्री नाथूराम जी प्रेमीने लिखा है—‘इस सग्रहके प्रथम ग्रन्थ ‘सिद्धान्तसार’के मूलकर्ता जिननामके आचार्य हैं जैसा कि उक्त ग्रन्थकी ७८वीं गाथासे और उसकी टीकासे भी मालूम होता है। प्रारम्भमें ‘जिनेन्द्राचार्य’ नाम सशोधककी भूलसे मुद्रित हो गया है।’ सम्पादक और सशोधक प० पन्नालालजी सोनीने भी उक्त गाथाके पाद-टिप्पणीमें लिखा है—‘प्रारम्भे हि जिनेन्द्राचार्य’ इति विस्मृत्य लिखितोऽस्माभिरन्यमूलपुस्तक विलोक्य’ अर्थात् अन्य मूल पुस्तकको देखकर ग्रन्थके प्रारम्भमें हमने भूलसे ‘जिनेन्द्राचार्य’ लिख दिया है। हमारे सामने भी आराके जैनसिद्धान्त भवनकी हस्तलिखित प्रतिके अन्तमें ग्रन्थकारका नाम जिनेन्द्राचार्य ही लिखा है।

गाथा ७८में ‘जिनइदेण पउत्त’ पाठ है। ‘जिनइद’ का संस्कृत रूप जिनेन्द्र होता है जिनचंद्र नहीं होता। किन्तु भाष्यकार ज्ञानभूषणने ‘जिणइदेण जिनचन्द्रनाम्ना, सिद्धान्तग्रन्थ वेदिना’ लिखा है। इससे सिद्धान्तसारके कर्ताका नाम जिनचंद्र मान लिया गया है।

किन्तु जिनेन्द्राचार्य नामके किसी ग्रन्थकारका पता अन्यत्रसे नहीं चलता जबकि जिनचन्द्र^१ नामके सिद्धान्त वेत्ता अनेक विद्वान् हो गये हैं। उनमेंसे एक धर्मसंग्रह श्रावकाचारके कर्ता मेधावीके गुरु और पाण्डव पुराणके कर्ता शुभचन्द्रके शिष्य थे। तिलोय पण्णत्तिकी दान प्रशस्तिमें मेधावीने अपनी गुरुपरम्पराका परिचय देते हुए सरस्वती गच्छके प्रभाचन्द्र-पद्मनन्दि-शुभचन्द्रके शिष्य जिनचन्द्रका उल्लेख किया है जो सैद्धान्तिकी की सीमा थे। उक्त प्रशस्ति वि०स० १५१९ में लिखी गई है और उस समय जिनचन्द्र वर्तमान^२ थे। परन्तु प्रेमीजीने उन्हें सिद्धान्तसारका कर्ता नहीं माना है, क्योंकि सिद्धान्तसारकी एक कनडी टीका प्रभाचन्द्रकृत है। और प्रभाचन्द्रका समय कर्नाटक कवि चरिते (द्वि०भा०)में तेरहवीं शताब्दी अनुमान किया है।

दूसरे जिनचन्द्र तत्त्वार्थसूत्रकी सुखबोधिका टीकाके कर्ता भास्करनन्दिके गुरु थे। इनका ठीक समय मालूम नहीं है। प० शान्तिराज शास्त्रीने वि०स० १३५३ के लगभग अनुमान किया है। इन्हें भी भास्करनन्दिने महासैद्धान्त कहा है। यदि उक्त अनुमानित समय ठीक हो तो ये भी सिद्धान्तसारके कर्ता नहीं हो सकते। इस तरहसे सिद्धान्तसारके कर्ताका नाम तथा समय दोनों ही विवाद-ग्रस्त हैं।

किन्तु ग्रन्थके अन्तरंग परीक्षणसे यह स्पष्ट है कि गोम्मटसारको पढ़कर ग्रन्थकारने उसकी रचना की है। उसका प्रारम्भ ही जीवकाण्डके अन्तकी दो गाथाओंको लेकर हुआ है वे दोनों गाथाएँ इस प्रकार हैं—

सिद्धाण सिद्ध गई केवलणाण व दंसण खयिय ।
सम्मत्तमणाहार उवजोगाणक्कमपडत्ती ॥७३२॥
गुण जीव ठाण रहिया सण्णापज्जत्तिपाण परिहीणा ।
सेसणवमग्गणूणा सिद्धा सुद्धा सदा होति ॥७३३॥

और सिद्धान्तसारके प्रारम्भकी दो गाथाएँ इस प्रकार हैं—

जीवगुणठाणसण्णा पज्जत्तिपाण मग्गणाणवूणे ।
सिद्धत्तसारमिणमो भणामि सिद्धे णमसिता ॥१॥
सिद्धाण सिद्धगई दसण णाण च केवल खइय ।
सम्मत्तमणाहारे सेसा ससारिए जीवे ॥२॥

अतः ग्यारहवीं शताब्दीके पश्चात् ही सिद्धान्तसार रचा गया है। और चूँकि

१ देखो—‘जिनचन्द्र, ज्ञानभूषण और शुभचन्द्र’ शीर्षक निबन्ध, जै०सा०इ०, पृ० ३७८ ।

सिद्धान्तमारकी कनट्री टीताके कर्ता प्रभावन्दका समय तेरहवीं शताब्दी अनुमान किया गया है, अतः चारहवीं शताब्दीके लगभग सिद्धान्तमार रचा गया होना चाहिये ।

सकलकीर्तिका कर्मविपाक

सकलकीर्ति विरचित कर्मविपाक मगधुत भाषामें रचित एक गुन्दर सरल ग्रन्थ है । इसमें प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्धका साधारण कथन है । अधिकतर कथन गममें है । प्रत्येक प्रकरणके प्रारम्भमें श्लोक है जो नमस्कारात्मक है । प्रकृतिबन्धमें कर्मोंकी उत्तर प्रकृतियोंके लक्षण विस्तारसे कहकर मिथ्यादृष्टि गुणस्थानोंमें प्रकृतियोंके बन्ध और अबन्धका कथन बड़े स्पष्ट रूपमें किया है, केवल गद्या न बतलाकर प्रकृतियोंके नाम गिनाये हैं । फिर स्थितिबन्धका कथन है । उगमें प्रत्येक प्रकृतिकी उत्पत्ति और जघन्य स्थिति विस्तारसे बतलाई है । फिर अनुभाग बन्धका कथन है । और फिर प्रदेशबन्धका कथन है । उगमें प्रत्येक कर्मके बन्धके कारणोंका तथा तत्कार्यमूत्र तथा उगकी टीकाओंके आशारे किया है । अन्तमें गुणस्थानोंमें प्रकृतियोंके क्षयका कथन किया है ।

उग ग्रन्थमें तो सकलकीर्तिने अपना कोई परिचय नहीं दिया । किन्तु अन्य ग्रन्थकारोंने इनका स्मरण बड़े आदरके साथ किया है । उगका कारण यह है कि यह मूलसाध, बलात्कारगण और गरस्वती गच्छती ईडरकी गद्दीके भट्टारक थे । इनकी शिष्य परम्परामें अनेक विद्वान् भट्टारक ग्रन्थकार हुए हैं और उन्होंने अपने पूर्वज सकलकीर्तिका स्मरण बड़े आदरके साथ किया है ।

कामराजकृत जयपुराणकी प्रशस्तिमें लिखा है कि सकलकीर्ति भट्टारकने गुजरात और वागड आदि देशोंमें जैनधर्मका उद्धार किया था । भ० सकलकीर्ति के शिष्य और लघुभाता व्र० जिनदासने भी अपने ग्रन्थोंमें सकलकीर्तिका स्मरण बड़े गौरवके साथ किया है । प० परमानन्दजीने लिखा है कि स० १४४४ में वह ईडरकी गद्दी पर बैठे थे और स० १४९९ के पूषमासमें उनकी मृत्यु महसाना (गुजरात) में हुई थी । महसानामें उनका समाधि स्थान भी बना हुआ है । प०

१ 'आचार्य कुन्दकुन्दाख्यस्तस्मादनुक्रमादभूत् ।

स सकलकीर्ति योगीशो ज्ञानी भट्टारकेश्वर ॥२१॥

येनोद्धृतो गतो धर्मो गुर्जरे वाग्वरादिके ।

निर्ग्रन्थेन कवित्वादि गुणानेवार्हता पुरा ॥२२॥

—जै० प्र० स० भा १, पृ० ४० ।

२ जै० स० १ भा०, प्रस्ता, ४० १०-११ ।

परमानन्दजीने यह भी लिखा है। कि सकलकीर्तिके द्वारा प्रतिष्ठित मूर्तियोंके कितने ही अभिलेख स० १४८० से १४९२ तकके मेरी नोटबुकमें दर्ज हैं। अतः यह निश्चित है कि वे विक्रमकी १५वीं शतीके उत्तरार्द्धके विद्वान् हैं। उनके द्वारा रचित कुछ ग्रन्थोंके नाम इस प्रकार हैं—

सिद्धान्तसार दीपक, धन्यकुमार चरित्र, कर्म विपाक, सद्भाषितावली, धर्म प्रश्नोत्तर श्रावकाचार, मूलाचार प्रदीप, सुकुमालचरित्र, जम्बूस्वामिचरित्र, श्रीपाल चरित्र, वृषभचरित्र, सुदर्शनचरित्र, वर्धमान पुराण, पार्श्वनाथपुराण, मल्लिनाथ पुराण, सारचतुर्विंशतिका, यशोधरचरित्र पुराणसार आदि।

सिद्धान्तसार भाष्य

आचार्य जितेन्द्र या जिनचन्द्र रचित सिद्धान्तसार पर एक संस्कृत व्याख्या है जो सिद्धान्तसारके साथ माणिकचन्द्र जैन ग्रन्थमाला बम्बईसे प्रकाशित हो चुकी है। व्याख्या साधारण होते हुए भी मूल ग्रन्थको समझनेके लिये उपयुक्त है और उससे प्रतीत होता है कि टीकाकार प्रकृत विषयका अच्छा अभ्यासी है।

यद्यपि भाष्यकारने सिद्धान्तसारके भाष्यमें अपना कोई स्पष्ट परिचय नहीं दिया है, ग्रन्थके अन्तमें कोई प्रशस्ति भी नहीं दी है, तथापि मंगलाचरणके श्लोकमें सिद्धान्तसार भाष्यके दो विशेषण दिये हैं—‘लक्ष्मी वीरेन्दुसेवित’ और ‘ज्ञान सुभूषणम्’। इन विशेषणोंके द्वारा लक्ष्मीचन्द्र, वीरचन्द्र और ज्ञानभूषण ये तीन नाम प्रकट होते हैं। अतः प्रेमीजीने ज्ञानभूषणको भाष्यका कर्ता बतलाया है। सुमतिर्कीर्ति भट्टारकने प्राकृत पंचसग्रहकी अपनी वृत्तिके अन्तमें जो प्रशस्ति दी है। उसमें उन्होंने ज्ञानभूषणकी गुरु परम्परा इस प्रकार दी है—मूलसधमें उत्पन्न हुए नन्दिसधमें बलात्कार गण और सरस्वती गच्छमें आचार्य कुन्दकुन्द

१ ‘श्रीमूलसंघेऽजनि नन्दिसधो वरो बलात्कारगणप्रसिद्ध ।

श्रीकुन्दकुन्दो वरसूरिवर्यो बभौ बुधो भारतिगच्छ सारे ॥१॥

तदन्वये देवमुनीन्द्रवद्य श्री पद्मनन्दी जिनधर्मनन्दी ।

ततो हि जातो दिविजेन्द्रकीर्तिविधा (दि) नन्दी वर धर्ममूर्ति ॥२॥

तदीयपट्टे नृपमाननीयो मल्ल्यादिभूषो मुनिवदनीय ।

ततो हि जातो वरधर्मधर्ता लक्ष्मादिचन्द्रो बहुशिष्यकर्ता ॥३॥

पचाचाररतो नित्य सूरिसद्गुणधारक ।

लक्ष्मीचन्द्र गुरुत्वामी भट्टारकशिरोमणि ॥४॥

दुर्वारदुर्वीक्षिकपर्वताना वज्रायमानो वरवीरचन्द्र ।

तदन्वये सूरिवरप्रधानो ज्ञानादिभूषो गणिगच्छराज ॥५॥

—प्रा० पंच ०, प्रशस्ति ।

हुए । उनके वशमें पद्मनन्दी हुए । उनके पट्ट पर दिविजेन्द्रकीर्ति विद्यानन्दि हुए, उनके पट्ट पर राज मान्य मल्लिभूषण हुए । फिर क्रमसे लक्ष्मीचन्द्र, वीरचन्द्र और ज्ञानभूषण हुए । उन्ही ज्ञानभूषणकी प्रेरणामे सुमतिकीर्तिने प्राकृत पञ्चसग्रहकी वृत्ति बनाई और ज्ञानभूषणने उमका मशोधन किया ।

कर्मप्रकृतिकी टीका ज्ञानभूषण और सुमतिकीर्ति दोनोंने बनाई है । उममें भी मल्लिभूषणके पूर्वज विद्यानन्दिने उक्त गुरु परम्परा दी है ।

अतः सुमतिकीर्तिके गुरु ज्ञानभूषण ही उक्त भाष्यके रचयिता प्रतीत होते हैं । किन्तु श्रीनाथूरामजी प्रेमीने लिगा है कि कारजा मे जो सिद्धान्तसार भाष्यकी प्रति है उसमे मालूम होता है कि उसके कर्ता ज्ञानभूषण नहीं है, सुमतिकीर्ति है । और उसका मशोधन सुमतिकीर्तिके गुरु ज्ञानभूषणने किया है । ऐसा होना संभव है क्योंकि कर्मप्रकृतिकी टीका भी ज्ञानभूषणने सुमतिकीर्तिके गाय बनाई थी और प्रा० पञ्चसग्रहकी वृत्तिता उन्होंने मशोधन किया था । अतः सिद्धान्तसार भाष्यकी रचना सुमतिकीर्तिने और मशोधन ज्ञानभूषणने किया हो तो कोई विशेष बात नहीं है । किन्तु ऐसी स्थितिमें सिद्धान्तसार भाष्यमे सुमतिकीर्तिका नाम कहीं दृष्टिगोचर न होना कुछ शका पैदा करता है क्योंकि दोष दोनों टीकाओंमें ज्ञानभूषणके साथ सुमतिकीर्तिका भी नाम है । अन्तु,

ज्ञानभूषणकी दो गुरु परम्पराएँ

प्रा० पञ्चसग्रहकी प्रशस्तिमें, ज्ञानभूषणकी गुरु परम्परा इस प्रकार दी है—
पद्मनन्दि, दिविजेन्द्र (देवेन्द्र) कीर्ति, विद्यानन्दि, मल्लिभूषण, लक्ष्मीचन्द्र, वीरचन्द्र, ज्ञानभूषण । और ज्ञानभूषणके उत्तराधिकारी प्रभाचन्द्र थे । कर्मप्रकृति

१ 'विद्यानन्दि-सुमल्ल्यादिभूष-लक्ष्मीन्दु-सद्गुरुन् ।

वीरेन्दु, ज्ञानभूषहि वन्दे सुमतिकीर्तियुक् ॥२॥'—कर्मप्र० टी० ।

२ 'इति श्रीसिद्धान्तसारभाष्य श्रीरत्नत्रयज्ञापनार्थं सुमतीन्दुना लिखितम् ।
सूरिवर श्रीरमरकीर्तिसमुपदेशात् श्रीमूलसंघबलात्कारगणाग्रणी श्रीमङ्गल-
ट्टारक श्रीलक्ष्मीचन्द्रस्तत्पट्टपयोधिचच्चन्द्रभट्टारक श्रीवीरचन्द्रस्तत्पट्टालंकार
भट्टारक श्रीज्ञानभूषण श्री सिद्धान्तसार भाष्यं बल्लभजनवल्लभ मुमुक्षु श्री
सुमतिकीर्ति विरचित शोधितवान् ।

टीका सिद्धान्तसारस्य सता सद्ज्ञानसिद्धये ।

ज्ञानभूष इमा षक्ने मूलसंघविदावर ॥

सिद्धान्तसार भाष्य च शोधित ज्ञान भूषण ।

रचित हि सुमत्यादि

॥—जै० सा० इ०, पृ० ३७९ ।

टीकाके प्रारम्भमें भी यही गुरुपरम्परा दी है। उसमें पद्मनन्दि और देवेन्द्रकीर्ति-का नाम नहीं है।

किन्तु भट्टारक सकलभूषणने अपनी उपदेश रत्नमालाकी प्रशस्तिमें, ब्रह्म कामराजने जयपुराणकी प्रशस्तिमें और भट्टारक शुभचन्द्रने अपनी प्रशस्तिमें जो गुरुपरम्परा दी है वह है—पद्मनन्दि, सकलकीर्ति, भुवनकीर्ति और ज्ञानभूषण। ज्ञानभूषणके उत्तराधिकारी थे विजयकीर्ति, उनके शुभचन्द्र और शुभचन्द्रके सुमतिकीर्ति।

श्रीयुत नाथूराजी प्रेमीने इन दोनों परम्पराओके ज्ञानभूषणको एक ही व्यक्ति माना है। किन्तु गुरुपरम्परा तथा कालक्रमको देखते हुए ये दोनों ज्ञानभूषण दो व्यक्ति प्रतीत होते हैं।

प्रथम गुरुपरम्पराके अनुसार ज्ञानभूषणके गुरु लक्ष्मीचन्द्र और वीरचन्द्र थे इसीसे सिद्धान्तसार भाष्यके मंगलाचरणमें भी 'लक्ष्मीवीरेन्दुसेवित' के द्वारा उनका स्मरण ज्ञानभूषणने किया है। किन्तु दूसरी परम्पराके अनुसार ज्ञानभूषण के पूर्व गुरु भुवनकीर्ति थे।

तथा प्रथम गुरु परम्पराके अनुसार पद्मनन्दी और ज्ञानभूषणके मध्यमें पाँच व्यक्ति हैं किन्तु दूसरी परम्पराके अनुसार केवल दो ही व्यक्ति हैं। अतः ये दोनों ज्ञानभूषण एक व्यक्ति नहीं हो सकते। उन दोनोंको एक व्यक्ति मान लेनेसे समय सम्बन्धी कठिनाई उपस्थित होती है। जिसका खुलासा इस प्रकार है—

समय विचार

ज्ञानभूषणकृत तत्त्वज्ञानतरंगिणीमें उसका रचनाकाल वि०स० १५६० दिया है। प्रेमी जीने लिखा है कि—'जैन धातु प्रतिमा लेखसंग्रहमें प्रकाशित वीसनगर (गुजरात) के शान्तिनाथके स्वस्ताम्बर मन्दिरकी एक दिगम्बर प्रतिमाकी लेखसे और पैथापुरके स्वस्ताम्बर मन्दिरकी दि० प्रतिमाके लेखसे मालूम होता है कि वि सं १५५७ और १५६१में ज्ञानभूषण भट्टारक पद पर नहीं थे, किन्तु उनके शिष्य विजयकीर्ति थे और वे १५५७के पहले इस पदको छोड़ चुके थे।' इसलिये तत्त्वज्ञान तरंगिणीकी रचना उन्होंने उस समय की है जब भट्टारक पदपर विजय-कीर्ति थे।'

पूर्वोक्त जैनधातु प्रतिमा लेखसंग्रह नामक ग्रन्थमें विक्रम संवत् १५३४, १५३५ और १५३६के तीन प्रतिमा लेख और भी हैं जिनसे मालूम होता है कि उक्त सबतोंमें ज्ञानभूषण भट्टारक पद पर थे। भट्टारक पद छोड़नेके बाद भी वह बहुत समय तक जीवित रहे।'

उक्त प्रतिमा लेखोमे यह स्पष्ट है कि ज्ञानभूषण १५३४मे भट्टारक पद पर थे । किन्तु वे कव उम पद पर बैठे यह ज्ञात नहीं है । सकलकीर्ति भट्टारकके विषयमें प० परमानन्द जीने लिखा है कि वे स १४४४मे गद्दी पर आसीन हुए थे और सवत् १४९९के पूष मासमें उनकी मृत्यु महाना (गुजरात)में हुई थी । इनके शिष्य तथा कनिष्ठ भ्राता व्र जिनदागने ऊई ग्रथ रचे हैं । १५२० सं०मे इन्होंने गुजराती भाषामें हर्षिचर राशकी रचना की है । उनके ग्रंथोंकी प्रशस्तिमे सकलकीर्ति और उनके शिष्य भुवनकीर्तिका नाम है ज्ञानभूषण का नहीं है । अतः ज्ञानभूषण १५२० के पश्चात् और १५३४ से पहले गद्दी पर बैठे थे ।

श्रीयुक्त प्रेमीजीने जिंग जैनघातु प्रतिमा लेख संग्रहका उल्लेख किया है उसमें नन्दिसध बलात्कारगण गरस्वती गच्छते उक्त आचार्योंके अनेक प्रतिमा लेख संग्रहीत हैं जिनसे उनके समय पर अच्छा प्रकाश पड़ता है । उन प्रतिमालेखोंके अनुसार जिस सम्बन्धमें जो आचार्य भट्टारक पद पर प्रतिष्ठित थे उनकी तालिका इस प्रकार है—

लेख न० ५३५—स०	१४८८	भ० पद्मनन्दिदेव
„ न० ६—स०	१४९२	भ० सकलकीर्ति
„ न० ६७३—स०	१५०९	भ० भुवनकीर्ति
„ ७४८—स०	१५१३	„
„ ७५१—स०	१५१५	„
„ ६६—सं०	१५१६	„
„ ४४—स०	१५२३	„
„ ४३—स०	१५२६	भ० ज्ञानभूषण
„ ८६७—सं०	१५३४	„
„ ६७४—स०	१५३५	„
„ ५०९—स०	१५३०	„
„ ५०३—स०	१५५७	विजयकीर्ति
„ ४९७—सं०	१५५९	„
„ ६९३—स०	१५६१	„
„ ६७७—स०	१६११	शुभचन्द्र
„ ६८—सं०	१६३२	सुमतिकीर्तिके शिष्य गुणकीर्ति
„ १३९०—स०	१६५१	गुणकीर्तिके शिष्य वादिभूषण
„ १४५१—सं०	१६६०	भ० वादिभूषण

अतः उक्त प्रतिमा लेखोंसे यह स्पष्ट है कि भ० ज्ञानभूषण स० १५२६ से

१५३६ तक तो अवश्य ही भट्टारक पद पर विराजमान थे । और वे स० १५२३ के पश्चात् और १५२६ से पहले किसी समय भट्टारक पद पर प्रतिष्ठित किये गये थे । तथा स० १५५७ में उनके शिष्य विजयकीर्ति उस पद पर थे । सूरतकी मन्दिरकी एक जिनविम्ब पर स० १५४४ का लेख है । लेखसे प्रकट है कि वह मूर्ति भुवनकीर्तिके शिष्य ज्ञानभूषणके उपदेशसे प्रतिष्ठितकी गई थी । अतः स० १५४४ तक ज्ञानभूषण भट्टारक पद पर थे ।

उधर सुमतिकीर्तिने अपनी पञ्चसग्रह वृत्तिके अन्तमें उसका रचना काल स० १६२० दिया है । यह वृत्ति भ० ज्ञानभूषणकी प्रेरणासे रची गई थी और उन्होंने उसका सशोधन भी किया था । अतः यह स्पष्ट है कि वि० स० १६२० में ज्ञानभूषण जीवित थे । उधर ज्ञानभूषण वि० स० १५२६में भट्टारक पद पर प्रतिष्ठित थे और वि० स० १५२३ के पश्चात् वे गद्दी पर बैठे थे । यदि यही मान लिया जाये कि वे स० १५२५ में गद्दी पर बैठे थे और उस समय उनकी उम्र १५ वर्ष भी मानी जाये तो पञ्चसग्रहवृत्तिकी रचनाके समय उनकी उम्र ११० वर्ष ठहरती है । एक तो इतनी छोटी अवस्थामें भट्टारक पद पर प्रतिष्ठित होना और फिर इतनी लम्बी उम्रका होना चित्तको लगता नहीं ।

फिर यदि ज्ञानभूषणकी दूसरी गुरु परम्परा सामने न होती तो उक्त दोनो बातोंको भी अगीकार किया जा सकता था । किन्तु दूसरी परम्परा न केवल ग्रन्थ प्रशस्तियोंमें किन्तु मूर्तिलेखोंमें भी अकित मिलती है । बुद्धिसागर सूरिके जैनघातु प्रतिमालेख सग्रहमें ही दोनो परम्पराओंके मूर्तिलेख मिलते हैं जो इस प्रकार हैं ।

न० ६७४—स० १५३५ वर्षे पोष व० १३ श्रीमूलसघे सरस्वतीगच्छे भ० श्री सकलकीर्ति तत्पट्टे भ० श्री भुवनकीर्ति तत्पट्टे भ० श्री ज्ञानभूषण गुरुप-देशात् ।'

न० ७५७—'स० १६३० वर्षे चैत वदि ५ श्री मूलसघे श्री सरस्वती गच्छे श्री बलात्कार गणे श्री कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भ० श्री वीरचन्द भ० श्री ज्ञानभूषण भ० श्री प्रभाचन्द्रोपदेशेन । इस तरह पहले वाले ज्ञानभूषणके गुरुका नाम भुवनकीर्ति था और दूसरे ज्ञानभूषणके गुरुका नाम वीरचन्द था ।

श्री कामता प्रसादजीके द्वारा सम्पादित प्राचीन जैनलेख सग्रह (१ भाग) में अलीगजके जैनमन्दिरकी एक मूर्तिके तलमें भी दूसरे ज्ञानभूषणसे सम्बद्ध एकलेख अकित है । किन्तु उसमें सम्बत् नहीं है । यह मूर्ति वीरचन्द्रके शिष्य ज्ञानभूषणके उपदेशसे प्रतिष्ठित हुई थी । शिलालेख इस प्रकार है—

१ 'स० १५४४ वर्षे वैशाख सुदी ३ सोमे श्रीमूलसघे भ० श्री भुवनकीर्तिस्त-
त्पट्टे भ० श्रीज्ञानभूषण गुरुपदेशात् । —दान० माणि० पृ० ४५ ।

२६—‘श्रीमूलसंघे भ० लक्ष्मीचन्द्र तत्पट्टे भ० वीरचन्द्र तत्पट्टे भ० ज्ञान-
भूषणोपदेशात् ।’

यही ज्ञानभूषण सिद्धान्तसार भाष्यके रचयिता है ।

उक्त दोनों गुरुपरम्परायें पद्मनन्दीसे प्रारम्भ होती हैं । जिसमें प्रकट होता है कि पद्मनन्दीके दो शिष्य थे सकलकीर्ति और देवेन्द्रकीर्ति । प० परमानन्दजी^१ ने लिखा है कि पद्म नन्दीके शिष्योंमें मतभेद हो जानेके कारण गुजरातकी गद्दीकी दो परम्परायें चालू हो गई थी । एक भट्टारक सकलकीर्तिकी और दूसरी देवेन्द्र-कीर्तिकी । सकलकीर्तिसे ईडरकी गद्दीकी परम्परा चली और देवेन्द्रकीर्तिमें सूरतकी गद्दीकी परम्परा चली ।

देवेन्द्रकीर्तिके उत्तराधिकारी भट्टा० विद्यानन्दि थे । इनके मूर्ति लेख वि० स० १४९९ से वि० स० १५२३ तकके पाये जाते हैं । विद्यानन्दिके उत्तरा-धिकारी मल्लिभूषण थे । सूरत आदिके मूर्तिलेखोंमें जाना जाता है कि मल्लि-भूषण वि० स० १५४४ में भट्टारक पद पर आसीन थे ।

सूरत जैनमन्दिरके दो प्रतिमालेखों पर वि० स० १५४४ वैसाख सुदी तीज अंकित है । किन्तु एक शिलालेखमें^२ भुवनकीर्तिके शिष्य ज्ञानभूषणका नाम है और दूसरेमें^३ भट्टारक विद्यानन्दिके शिष्य भट्टारक मल्लीभूषणका नाम है । अर्थात् जिस समय ईडरकी गद्दीके भट्टारक पद पर ज्ञानभूषण थे तब सूरतकी गद्दी पर भ० मल्लिभूषण विराजमान थे । मल्लिभूषणके पश्चात् लक्ष्मीचन्द्र और लक्ष्मी-चन्द्रके पश्चात् वीरचन्द्र और तब ज्ञानभूषण सूरतकी गद्दी पर बैठे । मल्लिभूषण-के समकालीन ज्ञानभूषण बीस पच्चीस वर्ष तक ईडरकी भट्टारकी करनेके बाद मल्लिभूषणके दो उत्तराधिकारियोंके पश्चात् पुन सूरतके भट्टारक पद पर प्रति-ष्ठित हुए हो ऐसा तो संभव प्रतीत नहीं होता । अत ईडरके भट्टारक ज्ञानभूषणसे सूरतके भट्टारक ज्ञानभूषण जुड़े ही होने चाहिये । अत सूरतवाले ज्ञानभूषण ही सिद्धान्तसार भाष्य और कर्मप्रकृति टीकाके कर्ता हैं ।

वे कब सूरतकी गद्दी पर बैठे यह ज्ञात नहीं हो सका । अन्य मूर्तिलेखोंके प्रकाशमें आने पर ही उस पर प्रकाश पड़नेकी पूर्ण आशा है । किन्तु इतना

१ जै० प्र० स०, भा० १, पृ० १९ ।

२ ‘स० १५४४ वर्षे वैसाख सुदी ३ सोमे श्रीमूलसंघे भ० श्री भुवनकीर्ति-स्तत्पट्टे भ० श्री ज्ञानभूषणगुरु पदेशात्’ ।—दान० माणि० पृ० ४५ ।

३ स० १५४४ वर्षे वैसाख सुदी २ सोमे । श्रीमूलसंघे । सरस्वतीगच्छे बला-त्कार गणे । भट्टारक श्री विद्यानन्दी देवा तत्पट्टे भट्टारक श्री मल्लीभूषण ।

—दा० मा०, पृ० ४३ ।

निमित्त है कि कि. य. वि० न० १६२० में वर्णित थे और उन समय मूर्तकी गद्दी पर उनके पिता प्रभावराज विराजमान थे। यह बात प्रा० पद्मप्रताप प्रशस्ति में प्रमाण दी गई है। उन उक्त समय विष्णुगोपाय नाट्यी जनान्दीका अन्तिम चरण और १६२० जनान्दीका प्रथम चरण समझना चाहिये।

उन जाग्रतकी उत्पत्तिवासी क्रमसे प्रभावराज, प्रसीत और गद्दीचन्द्र थे। और प्रभावराज की गद्दीके भट्टारक थे। उन वर्षमें वि० न० १६१३ में वर्णित अनुश्रवणी नीति पत्रों की थी। उसी प्रशस्तिमें उन्होंने लिखा है कि मुमतिरौति की प्रार्थना उनको यह पुनि मनी है। उही प्रशस्तिमें मुमचन्द्रने लक्ष्मीचन्द्र और धीरचन्द्र की वाना मूल उत्पत्ति है। ये लक्ष्मीचन्द्र और धीरचन्द्र थे ही, जो मूलतः गद्दीके भट्टारक तथा जाग्रतकी मूल थे। ऐसा प्रतीत होता है कि उन समय मुमतिरौति नाट्यभूषणों का धुमचन्द्रमें पड़ने थे। नायक होनेसे नाट्यभूषणों ने मुमतिरौति की अपना मुकाम बना रखा है। मुमचन्द्रके बाद लक्ष्मी गद्दीपर मुमतिरौति बैठे थे। इन दृष्टि में भी वह मुमचन्द्रके निम्न नरकभूषणोंके मुकाम होते हैं।

मुमचन्द्र वि० न० १६११ में भट्टारक पदमीन थे यह बात एक 'प्रतिमा-कर्म' प्रामाण्य होती है। तथा वि० न० १६२६ में मुमतिकीर्ति भट्टारक पदपर विराजमान थे। नरकभूषणोंके उपदेन रत्नमालाकी रचनाके समय वि० न० १६२७ में मुमतिकीर्ति गच्छामीन थे। अतः पञ्चाग्रहवृत्तिकी रचनाके पश्चात् ही वह भट्टारक पदपर विराजमान हुए थे ऐसा प्रतीत होता है क्योंकि उनकी प्रशस्ति में उन बातों का उल्लेख तक नहीं है।

१ 'तथा माधु सुभत्यादिकीर्तिना कृतप्रार्थना । गार्थीकृता नमयें शुभचन्द्रेण मूर्तिना ॥९॥'

भट्टारक पदाधीना मूलमधे विदायरा । रमाविरन्दु-चिद्रूप-गुरवो हि गण-जिन ॥१०॥—जै०प्र० प्र०ग० भा० १, पृ० ४२-४३ ।

२ 'पट्टे तस्य प्रीणित प्राणिवर्ग शान्तो दात शीलशाली सुधीमान् । जीयात्सूरि श्री सुमत्यादिकीर्तिगच्छाधीन कर्मकान्ति कलावान् ॥२३॥—जै०प्र० प्र०ग० भा० १, पृ० २० ।

३ 'न० १६११ वर्षे माघ व ७ श्री मूलमधे नदिमधे सरस्वतीगच्छे बलात्कार गणे श्री कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भ० विजयकीर्तिस्तत्पट्टे भ० श्री शुभचन्द्र ।'—जै०प्र० ले० स०, ले० न० ६७७ ।

४ 'स० १६२६ वर्षे फाल्गुण सुदी ३ शुक्रे श्री मूलसंघे भ० श्री सुमतिकीर्ति उपदेयात् ईडरवास्तव्य'—प्रा० जै०ले० स०, पृ० २८ ।

सुमतिकीर्तिके उत्तराधिकारी गुणकीर्ति थे । एक प्रतिमालेखसे प्रकट होता है कि वि० स० १६३२ में गुणकीर्ति पट्टपर थे ।

सकलभूषणने सुमतिकीर्तिकी बड़ी प्रशंसा की है । लिखा है वह बड़े शीलवान्, बुद्धिमान्, जितेन्द्रिय और सयमी थे । उनसे सब प्रसन्न रहते थे । आदि ।

त्रिभगी टीका

पीछे त्रिभगीसार नामसे सगृहीत जिन छै त्रिभगियोका निर्देश किया है, उनमेंसे आश्रवत्रिभगी तथा बन्ध उदय और सत्त्व त्रिभगीकी टीकाकी कई प्रतियाँ धर्मपुरा दिल्लीके नये मन्दिरके शास्त्र भण्डारमें वर्तमान हैं । यह टीका एक ही ग्रन्थके रूपमें है और उसके अन्तमें लिखा है 'इति त्रिभगीसार टीका समाप्ता ।'

प्रारम्भकी आश्रव त्रिभगीके रचयिता श्रुतमुनि है । किन्तु टीकाकारने उसे भी नेमिचन्द्र सिद्धान्तकी कृति समझकर बन्धोदयसत्त्वत्रिभगीके साथ एक ग्रन्थके रूपमें सम्मिलित कर लिया जान पड़ता है, क्योंकि आश्रवत्रिभगी टीकाके अन्तमें लिखा है—'इति मूलनेमिचन्द्रसिद्धान्तकीर्ता आश्रवत्रिभगी समाप्ता ।'

किन्तु प्रथम गाथाके 'बोच्छे ह' पद का अर्थ करते हुए लिखा है—'श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तिणा कथित अहं सप्तपचाशदाश्रवा कथयाम (मि) ।'

अर्थात् श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीके द्वारा कथित सत्तावन आश्रवोंको मैं कहता हूँ । श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीने कर्मकाण्डमें सत्तावन प्रत्ययोका कथन किया है और उसीके आधारसे श्रुतमुनिने आश्रवत्रिभगीकी रचना की है । और इसलिये आश्रवत्रिभगीके मूलकर्ता नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती हैं । किन्तु आगे कर्ताका निरूपण करते हुए लिखा है—'उत्तरोत्तरकर्ता गुरु पूर्व क्रमागत सकलसिद्धान्तचक्रवर्ती अखण्डित रत्नत्रयाभरणभूषित मूलोत्तराराद (?) सकल गुण सम्पूर्ण श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तिना भट्टारकेणासन्नभव्यसंदोहस्थोपकारार्थं श्रीमज्जिनागमात्युद्धारकरणार्थं च ग्रन्थरचनानिमित्त ।'

टीकाकारकी भाषा बहुत स्वलित है इससे उनका ठीक आशय समझनेमें कठिनाई होती है । आश्रवत्रिभगीके कर्ता श्रुतमुनिने अन्तिम गाथामें अपना नाम दिया है और उसका अर्थ करते हुए टीकाकारने 'सुदमुणिणा-श्रुतमुनिना' ऐसा लिखा है तथापि उन्होंने अन्यत्र कहीं श्रुतमुनिको उसको रचयिता नहीं लिखा ।

टीकाके आरम्भ में एक श्लोक इस प्रकार है—

या पूर्वं श्रुतटीका कर्णाटभाषया विहिता ।

लाटीया भाषया सा चिरच्यते सोमदेवेन ॥४॥

अर्थात् पहले जो श्रुतमुनिने कर्णाट भाषामें टीका लिखी थी, उसे सोमदेव लाटीय भाषामें रचता है ।

श्रुतमुनिने स्वरचित आस्रवत्रिभगी पर कन्नड भाषामें टीका भी बनाई थी । मूडविद्री^१के जैन मठमें इसकी प्रति वर्तमान है और उसका ग्रन्थ न० २०४ है । उसी टीकाको सोमदेवने लाटी भाषामें रचा है । किन्तु सस्कृत भाषाके लिये लाटीया भाषा शब्दका व्यवहार विचित्र ही है । लाटीया भाषाका मतलब लाट देशकी भाषा होता है । लाट गुजरातका प्राचीन नाम है । उसकी भाषाको लाटी भाषा कहना चाहिये । अस्तु,

आगे एक श्लोक इस प्रकार है—

प्रणिपत्य नेमिचन्द्र वृषभाद्यान् वीर पश्चिमान् जिनान् ।

सर्वान् वक्ष्ये सुभाषयाऽहं विशदा टीका त्रिभग्याया ॥६॥

इसमें सुभाषाके द्वारा त्रिभगीकी टीका रचनेकी प्रतिज्ञा की गई है । सुभाषासे तो सस्कृत भाषाका ग्रहण हो सकता है किन्तु लाटीया भाषासे सस्कृतका ग्रहण नहीं हो सकता । शायद टीकाकारने जिस भ्रष्ट सस्कृत भाषामें अपनी टीका रची है उसे लाटी भाषा कहा हो । किन्तु उसके लिए भी यह प्रयोग विचित्र ही है ।

देहलीके सेठके कूचेके जैन मन्दिरमें उक्त टीकाकी एक भाषा टीका भी है । उसे देखकर हमें लगा कि टीकाकारने उस भाषा टीकाके लिये तो लाटीया भाषा शब्दका प्रयोग नहीं किया । क्योंकि उस टीकामें किसी अन्य टीकाकारका नाम नहीं है और सस्कृत टीकाके अन्तमें जो प्रशस्ति है वह प्रशस्ति ज्योकी त्यो है उसकी भाषा टीका नहीं की गई है । यदि कोई अन्य टीकाकार होता तो वह प्रशस्तिकी भी भाषा करता । खेद है कि उस प्रतिका प्रथमपत्र नहीं है यदि होता तो शायद इस विषय पर उससे विशेष प्रकाश पड़ता ।

रचयिता और समय

इस त्रिभगी टीकाके रचयिताका नाम सोमदेव है । ग्रन्थ टीकाके आदिमें उन्होंने श्लोकमें, जो पीछे उद्धृत किया गया है, अपना नाम दिया है । उससे पहले श्लोक^२ ३ में उन्होंने गुणभद्र सूरिको नमस्कार किया है । किन्तु उससे यह स्पष्ट नहीं होता कि गुणभद्र सूरि उनके गुरु थे ।

१ कन्नड० ता० ग्र० सू०, पृ० १० ।

२ 'कर्म द्रुमोन्मूलनदिवकरीन्द्र सिद्धान्तपाथोनिधिदृष्टपार ।

षट्त्रिंशदाचार्यगुणै प्रयुक्त नमाम्यहं श्रीगुणभद्रसूरि ॥३॥'

ग्रन्थकी अन्तिम प्रशस्तिमें^१ उन्होंने अपने वश वगैरहका कथन किया है । पिताका नाम आभदेव था और माताका नाम वैजेणी था । वह बघेरवाल वशके थे । उन्होंने मूल सघके श्री पूज्यपादके प्रसादसे आत्मशक्तिके अनुसार जिनोक्त शास्त्रोका ज्ञान प्राप्त किया था । यह ग्रहस्थ थे और जिन विम्ब प्रतिष्ठाचार्य थे । इनका सस्कृत भाषा विषयक ज्ञान परिपक्व नहीं था इसीसे उन्होंने अपनी टीका-मे आगम विरोधीके साथ ही साथ शब्द शास्त्रसे विरुद्ध कथनको भी शोधनेकी प्रार्थना मनीपियोसे की है ।

प्रशस्तिका अन्तिम श्लोक आशाधरजी की शैलीके अनुकरणको लिये हुए है और उसमें उन्हीकी तरह 'शिवाशाधर' पदका प्रयोग भी किया गया है । आशाधर जी भी बघेरवालवशी थे । शायद इसी जाति स्नेहवश उनके नामका इस प्रकार प्रयोग किया गया है ।

सोमदेवने अपने स्थान और समयका कोई निर्देश नहीं किया । फिर भी यह निश्चित है कि वह विक्रमकी चौदहवीं शताब्दीके पश्चात् हुए है क्योंकि जिस श्रुतमुनिकी आस्रव त्रिभगी पर उन्होंने टीका रची है उन्होंने अपना परमागम-सार वि० सं० १३९८में समाप्त किया था । अब विचारणीय यही है कि चौदहवीं शताब्दीके पश्चात् वह कब हुए हैं ?

१ 'अमितगुणगण साध्वाभदेवाब्धिसोम विजयनिवररत्न काममुद्योतकारी ।

गतकलिलकलक सर्वदोष स्ववृत्त स जयति जिनविम्ब स्थापनाचार्यचार्या
(वर्ण) ॥१॥

यथामरेन्द्रस्य पुलोमजा प्रिया नारायणस्याब्धिसुता बभूव ।

तथाभदेवस्य वैजेणिनाम्नी प्रिया सुधर्मा, सुगुणा सुशीला ॥२॥

तयो सुत सद्गुणवान् सुवृत्त सोमोऽभिध कौमुदवृद्धिकारी ।

व्याघेरवालवुनिधे सुरत्नं जीयाच्चिर सर्वजनीनवृत्ति ॥३॥

श्रीमज्जिनोक्तानि समजसानि शास्त्राणि लेभे स यथात्मशक्त्या ।

श्रीमूलसधाब्धिविवर्धनेन्दो श्रीपूज्यपादप्रभुसत्प्रसादात् ॥४॥

×

×

×

शब्दशास्त्रविरोधंयत् यदागमविरोधि च ।

न्यूनाधिकं च यत्प्रोक्त शोधित तन्मनीपिभि ।

श्रीसद्भाद्रियुगे जिनस्य नितरा लीन शिवाशाधर ।

सोम सद्गुणभाजन सविनय सत्यान्नदाने रत ।

सद्दर्शनत्रययुक् सदा बुधमनाल्हादी चिर भूतले ।

नद्याद्येन विवेकिना विरचिता टीका सुवोधाभिधा ॥७॥

त्रिवर्णाचारके कर्ता भट्टारक सोमसेनने भी गुणभद्रसूरिका स्मरण किया है और उन्होने अपना त्रिवर्णाचार स० १६६७में तथा रामपुराण स० १६५६ में रचा है। इस परसे प० परमानन्दजीने सोमसेन और सोमदेवके ऐक्यकी सम्भावना पर त्रिभगीसार टीकाका समय विक्रमकी सतरहवीं शताब्दीका उत्तरार्ध माना है।

किन्तु प्रथम तो दोनोंके नामोंमें भेद है। दूसरे, जब सोमसेन भट्टारक है तब सोमदेव गृहस्थ प्रतिष्ठाचार्य है। तीसरे, नया मन्दिर देहलीके भण्डारकी त्रिभगी-टीकाकी प्रतिमें उसका लेखनकाल विक्रम सम्वत् १६१५ लिखा है। अतः सोमसेन और सोमदेव एक व्यक्ति नहीं हो सकते। सोमदेव सोमसेनसे पहले हुए है।

अतः उक्त उल्लेखोके आधार पर इतना ही कहा जा सकता है कि सोमदेव विक्रम सम्वत्की १५वीं और १६वीं शताब्दीमें किसी समय हुए है।

गोम्मटसारकी टीकाएँ

कर्मकाण्डके अन्तमें एक गाथा इस प्रकार आती है—

गोम्मटसुत्तल्लिहणे गोम्मटरायेण जा कया देसी ।

सो राजो चिरकाल णामेण य वीर मत्तडी ॥९७२॥

इस गाथाकी जीवतत्त्वप्रदीपिका टीका तथा तदनुसारिणी सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका भाषाटीका इस प्रकार है।

जी० प्र०—गोम्मटसार सूत्रलेखने गोम्मटराजेन या देशी भाषा कृता स राजा नाम्ना वीरमार्तण्डश्चिरकाल जयतु ॥

स च०—गोम्मटसार ग्रन्थके सूत्र लिखने विषै गोम्मट राजाकरि जो देशी भाषा करी सो राजा नामकरि वीर मार्तण्ड चिरकालपर्यन्त जीतिवत प्रवृत्तौ ।

इस परसे यह धारणा बनी कि चामुण्डरायने गोम्मटसारकी रचनाके समय उसपर देशी भाषामें अर्थात् कनडीमें कोई वृत्ति रची थी और चामुण्डरायके नाम पर उसका नाम वीर मार्तण्ड था ।

जीवतत्त्व प्रदीपिकाके आरम्भिक मंगलपद्यमें उसके रचयिताने कहा^१ है कि मैं कर्णाट वृत्तिके आधारसे गोम्मटसारकी टीका करता हूँ। इस परसे उक्त धारणा को बल मिला और कतिपय विद्वान^२ लेखकोंने यहा तक लिखा कि जीव० प्रदी-

१ 'नेमिचन्द्र जिन नत्वा सिद्ध श्रीज्ञानभूषण । वृत्ति गोम्मटसारस्य कुर्वे कर्णाट-वृत्ति ॥१॥'

२ कर्मकाण्ड भूमिका पृ० ५ (रा० शा० माला स० १९२८ ई०), जीवकाण्ड भूमिका, द्रव्यसंग्रह अग्रेजी, भूमिका, पृ० ४१, जीवकाण्ड अग्रेजी, भू० पृ० ७, और गोम्मटसार, मराठी टीकाकी भूमि०, पृ० १ आदि ।

पिकामें जिस कर्णाटक वृत्तिका उल्लेख है वह चामुण्डरायकी वह वृत्ति है जिसका उल्लेख गो० कर्मकाण्डकी अन्तिम गाथामें किया गया है ।

डॉ० ए० एन० उपाध्येने एक लेख 'गोम्मट शब्दके अर्थ विचार पर सामग्री' शीर्षकसे इ० हि० क्वा०, जि० १६मे प्रकाशित कराया था । उसका अनुवाद जै० सि० भास्करके भा८, कि० २ मे प्रकाशित हुआ था । उसमें कर्मकाण्डकी उक्त अन्तिम गाथाके सम्बन्धमें अपने नोटमें डॉ० उपाध्येने लिखा है—'इस गाथाकी रचना असन्तोपजनक है जीवतत्त्व प्रदीपिकाके अनुसार यह 'वीरमत्तडी' पढा जाता है । क्योंकि वहाँ इसे 'राओ' का विशेषण कहा है । जीवतत्त्व प्रदीपिका' में 'जाकया देसी' का 'या देशी भाषा कृता' कर लिया गया है । प० टोडरमल्ल इत्यादि चामुण्डरायकी टीकाका इसे एक उल्लेख समझते हैं । नरसिंहाचार्यके अनुसार, चामुण्डरायने ऐसी कोई रचना नहीं की । इसका अर्थ केवल इतना होता है कि इस ग्रन्थकी कोई हस्तलिपि अभी तक प्रकाशमें नहीं आई है (?) । जीव० प्रदी०का प्रथम श्लोक स्पष्ट रूपमें कहता है कि इसका आधार एक कन्नड टीका पर है । हमारे पास इस कथनके लिये कोई प्रमाण नहीं है कि यह चामुण्डरायकी कृति है । हमे मालूम है कि कन्नडमें गोम्मटसारकी टीका है जिसका नाम जीवतत्त्व प्रदीपिका है जिसे केशववर्णिने सन् १३५९ में रचा था । -वे अभय सिद्धान्त चक्रवर्तीके शिष्य थे और धर्मभूषणके आदेशानुसार यह टीका की थी । वीरमार्तण्डी, जैसा कि गाथामें मिलता है देशीका विशेषण है और यह वृत्तिका नाम है । चामुण्डरायकी उपाधि भी वीरमार्तण्ड थी, जो उन्होंने तोलम्बाके युद्धमें अपनी वीरता प्रदर्शित करके प्राप्त की थी । और यह असंगत प्रतीत नहीं होता कि उन्हें ने इसका नाम अपनी एक उपाधिके नाम पर रक्खा हो । यदि हमारे देशी शब्दका अर्थ सत्य है तो इसका अर्थ है कि कन्नड जो कि एक द्रविड भाषा है एक प्राकृतभाषाके लेखकके द्वारा देशी नामसे सम्बोधित की गई है ।'

उक्त उद्धरणसे स्पष्ट है कि डॉ० उपाध्ये भी इस बातसे सहमत हैं कि उक्त गाथाका वीरमार्तण्डी देशीका विशेषण है और वृत्तिका नाम है । अतः उक्त गाथाका जो अर्थ समझा गया वह एकदम गलत तो नहीं समझा गया । किन्तु चामुण्डरायकी इस प्रकारकी किसी कृत्तिका कोई उल्लेख अन्यत्र नहीं मिलता ।

गोमट्टसार पर अब तक दो संस्कृत टीकाएँ प्रकाशमें आई हैं, उनमेंसे एकका नाम मन्द प्रबोधिका है और दूसरीका जीव तत्त्व प्रदीपिका । ये दोनों टीकाएँ गान्धी हरिभाई देवकरण जैन ग्रन्थमाला कलकत्तासे प्रकाशित गोमट्टसारके शास्त्राकार संस्करणमें प० टोडरमलजीकी हिन्दी टीका सम्यग्ज्ञान चन्द्रिकाके साथ

प्रकाशित हो चुकी है। इनमें मन्द प्रबोधिका जीवकाण्डकी गाथा ३८३ तक ही मुद्रित है। इस टीकाके कर्ता अभयचन्द्र है। अभयचन्द्रने अपनी टीका पूरे गोमट्ट-सार पर रची थी। या उसे उन्होंने अपूर्ण ही छोड़ दिया था, यह अभी तक अनिर्णीत है।

जीवतत्त्वप्रदीपिका टीकाके अवलोकनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि उसके रचयिताने मन्द प्रबोधिका टीकाका पूरा अनुसरण किया है। उसके बहुतसे विवरण मन्दप्रबोधिकाके अनुसार है। मन्द प्रबोधिकाके अधिकांश परिभाषिक विवरणोंको जी० प्रदीपिकामें पूरी तरहसे अपना लिया गया है। जी० प्रदीपिकाके प्रत्येक अध्यायके आरम्भमें जो संस्कृत पद्य दिये गये हैं वे भी मन्द प्रबोधिकामें पाये जाने वाले पद्योंकी अनुकृति हैं। जी०^१ प्रदी० में अभयचन्द्रका नामोल्लेख भी किया गया है।

जी०का०गा० ३८३ की मन्द^२ प्रबोधिका टीकामें गाथाका व्याख्यान न करके केवल इतना लिखा है कि श्रीमदभयचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती कृत व्याख्यान यहाँ समाप्त हो जाता है। अतः यह कर्णाटवृत्तिके अनुसार कहता है। यदि यह वाक्य जी० प्रदीपिकामें होता तो उससे यह स्पष्ट था कि वह बात जी० प्रदीपिकाके कर्तानि कही है। किन्तु टोडरमलजीकी टीका जी० प्रदीपिकाका ही अनुवाद है। और उसमें उक्त वाक्यका अनुवाद नहीं है। अतः जी० प्रदी० के कर्ताका तो यह वचन हो नहीं सकता और मन्दप्रबोधिकाका कर्ता ऐसी बात लिख नहीं सकता। अतः उक्त कथन किसका है यह स्पष्ट नहीं होता। और उसके आधार पर यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि जी०प्रदी० के कर्ताको भी यही तक टीका प्राप्त हुई थी।

इसके सिवाय कर्मकाण्डके कलकत्ता संस्करणमें दी हुई सपादकीय टिप्पणोंसे यह प्रकट होता है कि सभवतया उनके सामने कर्मकाण्ड पर अभयचन्द्र रचित मन्द प्रबोधिका टीका वर्तमान थी क्योंकि उन्होंने अपने टिप्पणोंमें यह बतलाया है कि जी० प्र० के मन्द प्र० में इतना पाठ अधिक है और उस पाठको उद्धृत भी किया है। अतः मन्द प्रबोधिका टीकाकी प्रतियोगी खोज किये बिना यह कहना शक्य नहीं है कि अभयचन्द्रने अपनी मन्द प्रबोधिका टीका गोमट्टसार जीवकाण्डके अमुक भाग तक बनाई थी।

१ 'इति श्रीमदभयचन्द्रसूरिसिद्धान्तचक्रवर्त्यभिप्राय ।

जी०का०टी०, गा० १३ ।

२ 'म० प्र०—'श्रीमदभयचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्तीविहितव्याख्याना विश्रान्तमिति-कर्णाटवृत्त्यनुरूपमयमनुवदति ।

१ मन्दप्रबोधिका टीका

मन्द प्रबोधिकाका नाम सार्थक है। टीकाकारने यथासंभव संक्षेपमें प्रत्येक गाथाका अर्थ दिया है और जहाँ स्पष्टीकरणके लिये विशेष कथनकी आवश्यकता प्रतीत हुई वहाँ विशेष कथन किया है। संस्कृत भी मरल है विशेष कठिन नहीं है। प्रथम मंगल गाथाका व्याख्यान करते हुए चामुण्डरायके प्रश्नको इस ग्रन्थके निर्माणमें निमित्त बतलाया है। गुरु शिष्य परम्परासे प्रवर्तित उपदेशको हेतु बतलाया है। गाथा सूत्रोका परिमाण ७२५ बतलाया है और ग्रन्थका नाम जीवकाण्ड, जीवप्ररूपण अथवा जीवस्थान बतलाया है। कर्तके तीन भेद किये हैं—मूलतत्र-कर्ता भगवान् महावीर, उत्तर तत्रकर्ता गौतम गणधर और उत्तरोत्तर तत्रकर्ता नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीको कहा है।

टीकाके अवलोकनसे टीकाकारके सिद्धान्त विषयक ज्ञानकी गम्भीरता प्रकट होती है। किन्तु उनके सिद्धान्त चक्रवर्तित्वमें सन्देह होता है। मंगलके प्रकरणमें उन्होंने लिखा^१ है कि गौतम गणधरने वेदना खण्डके आदिमें 'णमो जिणाण आदि मंगल किया है। किन्तु धवला (पृ० ९, १०३) में लिखा^२ है कि गौतम गणधरने महाकर्म प्रकृति प्राभृतके आदिमें णमोजिणाण आदि मंगल किया था और वहाँसे लाकर भूत बलि भट्टारकने उसे वेदना खण्डके आदिमें रखा। अभयचन्द्रजी या तो भूलसे वैसा लिख गये हैं या फिर उन्होंने धवलाका पूरा अनुगम नहीं किया प्रतीत होता। किन्तु उनका सिद्धान्त विषयक ज्ञान परिपूर्ण था। इसमें सन्देह नहीं है।

जीवतत्त्व प्रदीपिका में तो उनका अनुसरण किया ही गया है किन्तु जिस कर्णाटवृत्तिके आधार पर जीवतत्त्व प्रदीपिकाको रचनेकी प्रतिज्ञा टीकाकारने की है उस कर्णाटवृत्तिकी रचना भी मन्द प्रबोधिकाके साहाय्यकी ऋणी है यह बात डा० ए० एन० उपाध्येने अपने लेखमें^३ दोनों टीकाओंसे एक उद्धरण देकर स्पष्ट की है। वह उद्धरण जीवकाण्डकी गा० १३ की टीकाका है। कर्णाटकटीकावाले

१ 'श्रीमद् गौतम गणधरपादैरपिवेदनाखण्डस्यादौ णमोजिणाणमित्यादिना'

—गो० म० प्र० टी०, पृ० १४।

२ 'महाकम्मपयडिपाहुडस्स कदियादि चउवीस अणियोगावयवस्स आदीए गोदम-सामिणा पखुविदस्स भूदवलिभट्टारएण वेयणाखण्डस्स आदीए मंगलहुं तत्तो आणेदूण ठविदस्स'।—षट्खं, पृ०, ९, पृ० १०३।

३ गो० जी० प्र० टीका, उसका कर्तृत्व और समय'—अनेकान्त, वर्ष ४, कि० १, पृ० ११३।

उद्धरणमें अभयचन्द्र सूरि सिद्धान्त चक्रवर्तीका नाम भी है जिससे किसी प्रकारका सन्देह नहीं रहता । अतः गोमट्टसारकी उपलब्ध इन तीनों टीकाओंमें मन्द प्रबो-
धिका आद्य टीका है । शेष दोनों टीकाएँ उसीके आधार पर बनी हैं । इस दृष्टि
से उस टीका और उसके कर्ताका महत्त्व स्पष्ट है ।

कर्ता और रचनाकाल

मन्द प्रबोधिकाके कर्ताका नाम अभयचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती है । उनकी
टीकासे उनके तथा रचनाकालके सम्बन्धमें कोई सकेत तक नहीं मिलता । किन्तु
चूँकि कटर्नाटक वृत्तिमें उनका उल्लेख है अतः यह निश्चित है कि कर्णाटकवृत्तिसे
पहले मन्द प्रबोधिकाकी रचना हो चुकी थी । कर्णाटकवृत्तिके रचयिता केशववर्णी
अभयसूरि सिद्धान्त चक्रवर्तीके शिष्य थे और उन्होंने अपनी वृत्ति धर्मभूषण भट्टा-
रकके आदेशानुसार शक स० १२८१ या ईस्वी सन् १३५९ में लिखी थी । ऐसा
डॉ० उपाध्येने अपने उक्त लेखमें लिखा है । अतः निश्चय ही मन्द प्रबोधिकाकी
रचना उससे पहले हुई है । किन्तु कितने समय पहले हुई है यह चिन्त्य है ।

अभयचन्द्रने जीवकाण्ड गा० ५६-५७की मन्दप्रबोधिका^१ टीकामें श्रीबालचन्द्र
पण्डितदेवका निर्देश किया है । श्रवणवेलगौलाके एक शिलालेखमें जो ई० सन्
१३१३ का है बालेन्दु पण्डितका उल्लेख है । डॉ० उपाध्येने अभयचन्द्रके द्वारा
निर्दिष्ट बालचन्द्रको और श्रवणवेलगौलाके शिलालेखमें स्मृत बालेन्दु पण्डितको
एक ही व्यक्ति माना है । उन्होंने यह भी लिखा^२ है कि 'इसके अतिरिक्त उनकी
पदवियो-उपाधियो और छोटे-छोटे वर्णनोसे जो कि उनमें दिये हुए हैं, मुझे मालूम
हुआ है कि हमारे अभयचन्द्र और बालचन्द्र, सभी सम्भावनाओंको लेकर वे ही हैं
जिनकी प्रशंसा वेलूर शिलालेखोंमें की गई है और जो हमें बतलाते हैं कि
अभयचन्द्रका स्वर्गवास ईस्वी सन् १२७९ में और बालचन्द्रका ईस्वी सन् १२७४
में हुआ था ।'

इस तरह डॉ० उपाध्येने अभयचन्द्रकी मन्द प्रबोधिकाका समय ईस्वी सन्की
तेरहवीं शताब्दीका तीसरा चरण स्थिर किया है । जो अन्य प्रमाणसे भी समर्थित
होता है ।

१ 'पुनरपि कथंभूता ? विमलतरङ्ग्यानुवृत्तवहशिखाभिर्निर्दग्धकर्मवना -प्रतिसमयम-
नन्तगुणविशुद्धिसामर्थ्यानायुर्वर्जितसप्तकर्मणां गुणश्रेणि गुण सक्रम-स्थित्यनुभाग-
काण्डकघातैः षोडशप्रकृतिक्षपणेन मोहनीयस्याष्टकपायादिक्षपणेन वादरसूक्ष्म-
कृष्टिविधानेन अन्यैश्चोपायैः आत्मनः श्रेयोमार्गभ्रान्तिहेतुं ' इति श्रीबालचन्द्र
पण्डितदेवानां तात्पर्यार्थः ।'—म-प्रबो० ।

२ वही लेख, अने० वर्ष ४, कि० १ ।

अभयचन्द्रने जी० का० की प्रथम गाथाकी मन्द प्रबोधिका टीकामें एक पद्य^१ उद्धृत किया है जो प० आशाधरके अनगार धर्माभूतके नीवें अध्यायका २६वा पद्य है । प० आशाधरने अपने अनगारधर्माभूतकी टीका वि० स० १३०० अर्थात् ई० सन् १२४३में समाप्त की थी । अतः मन्दप्रबोधिकाकी रचना उसके बाद हुई यह निश्चित है । और चूँकि कर्णाटक वृत्तिकी समाप्ति ई० सन् १३५९ में हुई ।^२ अतः मन्द प्रबोधिकाकी रचना सन् १२४३ और १३५९ के मध्यमें किसी समय हुई है । श्रवण वेलगोला और वेलूरके शिलालेखोंमें निर्दिष्ट वालचन्द्र पण्डित और अभयचन्द्र पण्डित भी इसी समयमें हुए हैं । किन्तु श्रवणवेल गोलाके शिलालेखमें वालेन्दु पण्डितको अभयचन्द्रका शिष्य वतलाया है । और एक गुरु अपनी टीकामें अपने शिष्यके मतका उल्लेख 'इति वालचन्द्र पण्डित देवाना तात्पर्यार्थ' इस रूपमें नहीं कर सकता ।

किन्तु उसमें^३ अभयचन्द्रको 'सिद्धान्ताम्भोधि सीतद्युति' विशेषण दिया है जो वतलाता है कि अभयचन्द्र सिद्धान्तरूपी समुद्रके लिये चन्द्रमाके तुल्य थे । अतः ई० सन् १३१३ के शिलालेखमें निर्दिष्ट अभयचन्द्र मन्द प्रबोधिकाके कर्ता होना चाहिये । प्रश्न केवल वालचन्द्र पण्डितदेवको उनका शिष्य वतलानेका रह जाता है ।

इस सम्बन्धमें परमागमसारके रचयिता श्रुतमुनिने जो अपनी प्रशस्ति उसके अन्तमें दी है वह^३ भी यहाँ उल्लेखनीय है । परमागमसारकी समाप्ति शक स० १२६३ में हुई है । प्रशस्तिमें लिखा है—श्रुतमुनिके अणुव्रत गुरु वालेन्दु, महाव्रत

१ 'उच्यते, 'नेष्ट विहंतुं शुभभावभग्नरसप्रकर्ष प्रभुरन्तराय । तत्कामचारेण गुणानुरागान्तुत्यादिरिष्टार्थकृदार्हदादे ।' इति वचनेन ।—म० प्रबो० ।

२ 'तच्छिष्यश्चरुकीर्ति प्रथितगुणगण पण्डितस्तस्य शिष्य , ख्यात श्रीमाघनन्दिन्रतिपतिनुतभट्टारकस्तस्य शिष्य । सिद्धान्ताम्भोघिसीतद्युतिरभयशशी तस्य शिष्यो महीयान् वालेन्दु पण्डितस्तत्पदनुतिरमलो रामचन्द्रोऽमलाङ्ग ॥१६॥'

—शिला० स०, भा० १, पृ० ३२ ।

३ 'अणुवद गुरुबालेदू महव्वदे अभयवद सिद्धति । सत्येऽभयसूरि पहा (भा) चदा खलु सुयमुणिस्स गुरु ॥२२५॥ सिरिमूलसघ-देसियगण-पुत्थयगच्छ कोडकुदाणं । परमण्ण-इंगलेसर बलिम्मि जादस्स मुणिपहाणस्स ॥२२६॥ सिद्धंताहयचदस्स य सिस्सो बालचंद मुणिपवरो । सो भविय कुवल्याण आणंदकरो सया जयउ ॥२२७॥

प्रश्न० सं० भा० १, पृ० १९१ ।

गुरु अभयचन्द्र सिद्धान्तिक, और शास्त्र गुरु अभयसूरि और प्रभाचन्द्र थे। आगे लिखा है—सैद्धान्तिक अभयचन्द्रके शिष्य बालचन्द्र मुनि जयवन्त हो। शब्दागम, परमागम, तर्कागमके वेत्ता तथा सकल अन्यवादियोंके जेता अभयसूरि सिद्धान्ती जयवन्त हो।

विचारणीय यह है कि श्रवणबेल गोलार्के शिलालेखमें निर्दिष्ट अभयचन्द्र और उनके शिष्य बालचन्द्र पण्डित तथा श्रुतमुनिकी प्रशस्तिमें स्मृत अभयचन्द्र और उनके शिष्य बालचन्द्र मुनि क्या एक ही व्यक्ति हैं। यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना उचित होगा कि उक्त शिलालेख मूलसघ देशीगण और पुस्तक गच्छके आचार्योंसे सम्बद्ध है तथा श्रुतमुनिकी प्रशस्तिभी मूलसघ, देशीगण और पुस्तक गच्छकी इगलेश्वर शाखासे-सम्बद्ध है। अन्तर इतना ही है कि एक जगह बालचन्द्र-को पण्डित लिखा है और एक जगह मुनि। हो सकता है कि मन्दप्रबोधिकाकी रचनाके समय वे केवल बालचन्द्र पण्डित हो और पीछे उन्होंने मुनिपद धारण कर लिया हो।

किन्तु इन दोनों उल्लेखोंके समन्वयमें सबसे बड़ी बाधा बेलूरके शिलालेख है जिनमें शक स० १२०१ में अभयचन्द्रकी और उनसे ५ वर्ष पूर्व बालचन्द्रकी मृत्यु बतलाई है। क्योंकि परमागमसारकी रचनाके समय यदि श्रुतमुनिकी अवस्था ५० वर्ष भी मान ली जाये तो शक स० १२१३ में उनका जन्म हुआ होगा। उस समयसे बहुत पहले अभयचन्द्र और बालचन्द्रका स्वर्गवास हो चुका था।

किन्तु श्रवणबेलगोलार्के जस शिलालेखमें अभयचन्द्र और उनके शिष्य बालचन्द्र पण्डितका नाम है वह शिलालेख शक स० १२३५ का है। शक स० १२३५ में शुभचन्द्र त्रैविद्यकी मृत्यु हुई और उनकी स्मृतिमें उनके शिष्योंने उनकी निपट्या निर्माण कराई। शिलालेखके अनुसार शुभचन्द्रके शिष्य चारुकीर्ति थे, चारुकीर्तिके शिष्य माघनन्दि थे, माघनन्दिके शिष्य अभयचन्द्र और अभयचन्द्रके शिष्य बालचन्द्र पण्डित थे। ऐसी स्थितिसे अभयचन्द्र और बालचन्द्रकी मृत्यु शक स० १२०१ में या उससे पूर्व कैसे हो सकती है? अधिक सम्भव यही प्रतीत होता है कि अपने दादा गुरु शुभचन्द्रकी मृत्युके समय अभयचन्द्र और उनके शिष्य बालचन्द्र जीवित थे और ऐसा होनेसे परमागमसारके रचयिता श्रुतमुनिके वे दोनों व्रतगुरु हो सकते हैं। अतः मन्दप्रबोधिकाकी रचनाका काल ईस्वी सन् की तेरहवीं शताब्दीके तीसरे चरणकी अपेक्षा चौदहवीं शताब्दीका प्रथम चरण होना चाहिये।

श्रुतमुनिके विद्यागुरु अभयसूरि सिद्धान्ती थे और गोमट्टसारकी कर्नाटक

वृत्तिके रचयिता केशववर्णीके गुरु अभयसूरि सिद्धान्त चक्रवर्ती थे । परमागमसार शक स० १२६३ में पूर्ण हुआ और गो० कर्णाटक वृत्ति शक स० १२८१ में । दोनोंमें केवल १८ वर्षका अन्तर है । अतः ये दोनों अभयसूरि भी एक ही व्यक्ति प्रतीत होते हैं । इन्हें श्रुतमुनिने परमागम आदिका पूर्ण ज्ञाता बतलाया है । ऐसी स्थितिमें मन्दप्रबोधिकाके रचयिता अभयचन्द्र सिद्धान्तीका अभयसूरिके साथ साक्षात्कार हो सकता है और सम्भवतया उसीके फलस्वरूप मन्दप्रबोधिकाके आधार पर केशववर्णीके द्वारा कर्णाटक वृत्ति रची गई हो । अस्तु, जो कुछ हो पर इतना सुनिश्चित है कि अनगर धर्मावृत्तकी टीकाके समाप्तिकाल वि० स० १३०० के पश्चात् और कर्णाटक वृत्तिकी समाप्तिके समय शक० स० १२८१ (वि० स० १४१६)से पूर्व अर्थात् विक्रमकी चौदहवीं शताब्दीमें मन्दप्रबोधिकाकी रचना हुई ।

२ जीवतत्त्व प्रदीपिका

वर्तमानमें पूरे गोम्मटसार पर उपलब्ध होने वाली पूरी और सुविस्तृत संस्कृत टीका जीवतत्त्व प्रदीपिका ही है । गोम्मटसारके अध्ययनके यथेष्ट प्रचारका श्रेय जीवतत्त्व प्रदीपिकाको ही प्राप्त है । पं० श्री टोडरमल जीने उसीको न केवल आधार बनाकर, बल्कि अनुदित करके अपनी हिन्दी टीका सम्यग्ज्ञान चन्द्रिकाकी रचना की थी । उन्होंने अपनी टीकाकी पीठिकामें लिखा है—‘ऐसे विचारि श्रीमद् गोम्मटसार द्वितीयनामा पञ्चसग्रह ग्रन्थकी जीवतत्त्व प्रदीपिका नामा संस्कृत टीका ताकै अनुसारि सम्यग्ज्ञान चन्द्रिका नामा यहु देशभाषामयी टीका करनेका निश्चय किया है ।’ और गोम्मटसारके हिन्दी अंग्रेजी और मराठीके सभी आधुनिक अनुवाद पं० टोडरमल जीकी टीकाके आधार पर हुए हैं । अतः इस सबका परम्पराश्रेय जीवतत्त्व प्रदीपिका को ही है ।

किन्तु इस टीकाके कर्तृत्वको लेकर कुछ भ्रम फैल गया था । पं० टोडरमल जी ने अपनी हिन्दी टीकामें इस टीकाको केशववर्णीकी बतलाया है । उसीके आधार पर गोम्मटसारके आधुनिक टीकाकारोंने भी उसे केशववर्णीकी बतलाया । पं० टोडरमल जीके उक्त उल्लेखका कारण जीवकाण्डकी जीवतत्त्व प्रदीपिकाके अन्तमें पाया जानेवाला एक श्लोक है जो इस प्रकार है—

श्रित्वा कर्णाटिकी वृत्ति वर्णिश्रीकेशवं कृति ।
कृत्यमन्यथा किंचिद् विशोध्यं तद्बहुश्रुतं ॥१॥

इसका अनुवाद पं० टोडरमलजी ने इस प्रकार किया है—

केशववर्णी भव्यविचार । कर्णाटक टीका अनुसार ।
संस्कृत टीका कीनी एहु । जो अशुद्ध सो शुद्ध करेहु ॥१॥

डा० उपाध्येके जिस लेख^१का उल्लेख पहले किया गया है उस लेख में जीव-तत्त्व प्रदीपिकाके कर्तृत्वके विषयमें फँले हुए इस भ्रमका निराकरण करते हुए डा० साहवने सुन्दर विचार प्रस्तुत किया है ।

असलमें उक्त श्लोक जो इस भ्रम फैलानेका कारण बना, अशुद्ध है । श्री ऐलक पन्नालाल दि० जैन मरस्वती भवन बम्बईकी जीवतत्त्व प्रदीपिका सहित गोम्मटसारकी लिखित प्रतिमें उक्त श्लोक इस प्रकार पाया जाता है—

‘श्रित्वा कर्णाटिकी वृत्तिं वर्णिश्रीकेशवै कृताम् ।

कृतेयमन्यथा किञ्चित्तद्विशोध्य बहुश्रुतं ॥’

इसके साथ एक श्लोक और है जो इस प्रकार है—

श्रीमत् केशवचन्द्रस्य कृतकर्णाटवृत्तित् ।

कृतेयमन्यथा किञ्चिच्चेत्तच्छोध्य बहुश्रुतं ॥’

इन पद्योंसे यह विल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि इन पद्योंमें टीकाके कर्तानि अपना नाम नहीं दिया बल्कि यह लिखा है कि उसने अपनी टीका केशववर्णीकी कर्णाटवृत्ति परसे लिखी है और साथ ही यह आशा व्यक्त की है कि यदि उसकी टीकामें कुछ अशुद्धियाँ हो तो बहुश्रुत विद्वान् उन्हें शुद्ध करके पढ़नेकी कृपा करें ।

जीवतत्त्व प्रदीपिकाको कर्णाटक वृत्तिके अनुसार रचनेकी प्रतिज्ञा टीकाकारने अपनी टीकाके प्रथम मंगल श्लोकमें ही की है—

‘नेमिचन्द्र जिन नत्वा सिद्ध श्रीज्ञानभूषणम् ।

वृत्तिं गोम्मटसारस्य कुर्वे कर्णाटवृत्तित् ॥’

केशववर्णीकी कर्णाटक वृत्तिकी लिखित प्रतिया आज भी उपलब्ध है । उस वृत्तिका नाम भी जीवतत्त्व प्रदीपिका है और वह स०जी०प्र० से कुछ बड़ी है । अतः इसमें तो कोई सन्देह नहीं रहता कि स०जी०प्र०का के रचयिता केशववर्णी नहीं है ।

तब प्रश्न होता है कि उसके रचयिता कौन है और कब उसकी रचना हुई है ? गोम्मटसारके कलकत्ता संस्करणके अन्तमें एक प्रशस्ति^२ दी हुई है । उससे

१ अनेकान्त, वर्ष ४, कि० १, पृ० ११३ आदि ।

२ ‘यत्र रत्नैर्त्रिभिर्लब्ध्वार्हन्त्य पूज्य नरामरै । निर्वाणं मूलसघोष्य नंदादा-
चन्द्र तारक ॥४॥ तत्र श्रीशारदागच्छे बलात्कारगणोज्ज्वय । कुन्दकुन्द
मुनीन्द्रस्य नद्याम्नायोऽपि नन्दतु ॥५॥ यो गुणैर्गणभृद्गीतो भट्टारक शिरो-
मणि । भक्त्या नमामि त भूयो गुरुं श्रीज्ञानभूषणम् ॥६॥ कर्णाटप्रायदे-
शेशमल्लिभूपाल भक्तित । सिद्धान्त पाठितो येन मुनिचन्द्र नमामि तम् ॥७॥
योऽभ्यर्थ्य धर्मवृद्धचर्थं मह्य सूरिपद ददौ । भट्टारकशिरोरत्न प्रभेन्दु स

पता चलता है कि सस्कृत जी०प्र० टीकाके कर्ता मूलसघ, शारदागच्छ बलात्कार गण, कुन्दकुन्दान्वय और नन्दि आम्नायके नेमिचन्द्र हैं । वे ज्ञानभूषण भट्टारकके शिष्य थे । प्रभाचन्द्र भट्टारकने उन्हें सूरिपद प्रदान किया था । कर्णाटकके जैन राजा मल्लिभूपालकी भक्तिवश उन्हें मुनिचन्द्रने सिद्धान्त पढाया था । लाला वर्णीके आग्रहसे वे गुर्जर देशसे आकर चित्रकूटमें जिनदास शाह द्वारा निर्मापित चैत्यालयमें ठहरे । वहाँ उन्होने सूरि श्री धर्मचन्द्र, अभयचन्द्र भट्टारक और लाला वर्णी आदि भव्य जीवोंके लिये, खण्डेलवाल वशके साह सागा और साह सहेसकी प्रार्थना पर कर्णाट वृत्तिके अनुसार गोम्मटसारकी वृत्ति लिखी । उसकी रचनामें विविध विद्यामें विख्यात विशालकीर्ति सूरिने सहायता की और उसे प्रथम बार हर्ष पूर्वक पढा । त्रैविद्य चक्रवर्ती निर्गन्थाचार्य अभयचन्द्रने उसका सशोधन करके उसकी प्रथम प्रति तैयार की थी ।'

अत उक्त प्रशस्तिके अनुसार सस्कृत जीव तत्त्व प्रदीपिका टीकाके कर्ता नेमिचन्द्र हैं । गोम्मटसारके अन्तर्गत अध्यायोके अन्तमे जो सन्धि वाक्य है उनसे भी इस बातका समर्थन होता है । यथा—'इत्याचार्य श्री नेमिचन्द्रकृताया गोम्मटसारपरनामपञ्चमग्रहवृत्ती' यहाँ नेमिचन्द्रकृताया पद 'वृत्तिका विशेषण है न कि गोम्मटसारका, क्योंकि वृत्तिकी तरह वह भी स्त्रीलिंगमे प्रयुक्त हुआ है । किन्तु गोम्मटसारके रचयिताका नाम भी आचार्य नेमिचन्द्र था । अत किन्ही सन्धिवाक्योंमें नेमिचन्द्रके साथ सिद्धान्तचक्रवर्ती पद जोड दिया गया है । यथा—'इत्याचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीविरचिताया गोम्मटसारपरनामपञ्चमग्रह वृत्ती जीवतत्त्वप्रदीपिकाख्याया कर्मकाण्डे त्रिकरणचूलिका नाम अष्टमोऽधिकार ।' किन्तु यहाँ भी 'विरचिताया' पद जीवतत्त्व प्रदीपिका नामक वृत्तिका विशेषण है । अत ग्रन्थकार और टीकाकारके नाम साम्यके कारण उक्त प्रकारकी भूल हो गई है ।

नमस्यते ॥८॥ विविधविद्याविख्यात विशालकीर्तिसूरिणा । सहायोऽस्या कृता चक्रेऽधीता च प्रथम मुदा ॥९॥ सूरेश्रो धर्मचन्द्रस्याभयचन्द्रगणेशिन । वर्णि लालादिभव्याना कृते कर्णाटवृत्तित ॥१०॥ रचिता चित्रकूटे श्रीपार्श्वनाथालयेऽमुना । साधुसागासहेसाम्या प्रार्थितेन मुमुक्षुणा ॥११॥ गोम्मटसारवृत्तिर्हि नद्याद् भव्यं प्रवर्तिता । शोधयन्त्वागमात् किञ्चित् विरुद्ध चेद् बहुश्रुता ॥१२॥ निर्गन्थाचार्यवर्येण त्रैविद्यचक्रवर्तिना । सशोभ्याभयचन्देणालेखि प्रथम पुस्तक ॥१३॥'—गो०क०का०, पु० २०९७-९८ ।

इसके नीचे गद्य प्रशस्ति है जिसमें संक्षेप में वही बात प्राय कही है जो पद्योंमें कही गई है ।

तथा टीकाका आद्य मंगलाचरण भी इसी वातका समर्थक है। उसका पूर्वाद्धि 'नेमिचन्द्र जिन नत्वा सिद्ध श्रीज्ञानभूषण' में जिनके विशेषण रूपसे प्रयुक्त नेमिचन्द्र और ज्ञानभूषण पद द्व्यर्थक है। इन दो पदोंके द्वारा टीकाकारने अपना और अपने गुरु ज्ञानभूषणका निर्देश किया है। ज्ञानभूषण और उनकी परम्परामें होने वाले ग्रन्थकारोंने प्रायः मंगल पद्योंमें अपना और अपने गुरुका नाम विशेषण रूपसे प्रयुक्त किया है। उदाहरणके लिये भ० ज्ञानभूषणने सिद्धान्तसार भाष्यके आदिमें जो मंगलाचरण किया है उसमें उन्होंने अपना और अपने गुरु लक्ष्मीचन्द्र और वीरचन्द्रका नाम विशेषण रूपसे दिया है। यथा

श्री सर्वज्ञ प्रणम्यादौ लक्ष्मी-वीरेन्दु-सेवितम् ।

भाष्य सिद्धान्तसारस्य वक्ष्ये ज्ञानभूषणम् ॥

इस तरहके उदाहरण बहुत मिलते हैं। अतः यह निर्विवाद है कि जीवतत्त्व प्रदीपिकाके रचयिताका नाम नेमिचन्द्र था और वह ज्ञानभूषणके शिष्य थे।

अब विचारणीय यह है कि वे हुए कब हैं ?

समय विचार

नेमिचन्द्रने अपनी प्रशस्तिमें जीवतत्त्व प्रदीपिकाकी रचनाके समयका निर्देश नहीं किया है। किन्तु केशववर्णीने अपनी कर्णाटवृत्तिको शक सम्वत् १२८१ में समाप्त किया था और चूँकि नेमिचन्द्रकी जीवतत्त्वप्रदीपिका उसीका अनुसरण करते हुए रची गई है अतः यह निश्चित है कि उसकी रचना शक स० १२८१ (वि० स० १४१६) के पश्चात् किसी समयमें हुई है। और ५० टोडरमलजीने सं० जी० प्र० का आधार पर हिन्दी टीकाका निर्माण वि० स० १८१८ या शक स० १६८३ में किया था अतः जीव० प्र० उससे पहलेकी है यह भी निश्चित है। अब देखना यह है कि वि० सं० १४१६ से लेकर १८१८ तकके चार सौ वर्षोंके अन्दर कब उसका निर्माण हुआ।

उक्त प्रशस्तिमें कर्णाट प्रायः देशके स्वामी मल्लिभूपालका नाम आया है। डा० उपाध्येने उसीके आधार पर सस्कृत जी० प्र० की रचनाका समय ईसाकी १६ वीं शताब्दीका प्रारम्भ ठहराया है। उन्होंने लिखा^१ है 'जैन साहित्यके उद्धरणों पर दृष्टि डालनेसे मुझे मालूम होता है कि मल्लि नामक एक शासक कुछ जैन लेखकोंके साथ प्रायः सम्पर्कको प्राप्त है। शुभचन्द्र गुर्वावलीके अनुसार विजय कीर्ति (ई० सन् की १६ वीं शताब्दीके प्रारम्भमें) मल्लिभूपालके द्वारा सम्मानित हुआ था। विजयकीर्तिका समकालीन होनेसे उस मल्लिभूपालको १६ वीं शताब्दी के प्रारम्भमें रखा जा सकता है। उसके स्थान और धर्म विषयका हमें परिचय

नही दिया गया। हमारे विशालकीर्तिके गिण्य विद्यानन्द स्वामी^१के विषयमें कहा जाता है कि ये मल्लिरायके द्वारा पूजे गये थे। और ये विद्यानन्द ई० सन् १५४१ में दिवंगत हुए हैं। इसमें भी मालूम होता है कि १६ वीं शताब्दीके प्रारम्भमें एक मल्लिभूपाल था। हमचका शिलालेख इस विषयको और भी अधिक स्पष्ट कर देता है। वह बतलाता है कि यह राजा जो विद्यानन्दके सम्पर्कमें था सालुव मल्लिराय कहलाता है, यह उल्लेख हमें मात्र परम्परागत किंवदन्तियोंसे हटाकर ऐतिहासिक आधार पर ले आता है। सालुव नरेशोंने कनारा जिलेके एक भाग पर राज्य किया है और वे जैनधर्मको मानते थे। मल्लिभूपाल मल्लिरायका संस्कृत किया हुआ रूप है। और मुझे इसमें कोई सन्देह नहीं है कि नेमिचन्द्र सालुव मल्लिरायका उल्लेख कर रहे हैं। यद्यपि उन्होंने उनके वंशका उल्लेख नहीं किया है। १५३० ई० के लेखमें उल्लिखित होनेसे हम सालुव मल्लिरायको १६ वीं शताब्दीके प्रथम चरणमें रख सकते हैं। और यह उसके विद्यानन्द तथा विजयकीर्ति विषयक सम्पर्कके साथ भी अच्छी तरह सगत जान पड़ता है। इस तरह नेमिचन्द्र के सालुव मल्लिरायके समकालीन होनेसे हम स० जीव० प्रदीपिकाकी रचनाको ईसाकी १६ वीं शताब्दीके प्रारम्भकी ठहरा सकते हैं।

श्रीयुत नाथूरामजी प्रेमीने 'जिनचन्द्र ज्ञानभूषण और शुभचन्द्र' शीर्षक अपने लेखके टिप्पणीमें लिखा है कि २६ अगस्त १९१५के जैन मित्रमें गोम्मटसार टीकाकी प्रशस्ति प्रकाशित हुई थी। उसके अनुसार यह टीका वीरनिर्वाण संवत् २१७७ में समाप्त हुई। प्रेमीजीने उस प्रशस्तिका जो आशय दिया है उससे यही ज्ञात होता है कि वह प्रशस्ति वही है जो गोम्मटसारके कलकत्ता संस्करणके अन्तमें प्रकाशित हुई है। किन्तु उसमें उसका रचनाकाल नहीं दिया, जबकि जैनमित्रमें प्रकाशित प्रशस्तिमें रचनाकाल दिया हुआ है। किन्तु वह वीर निर्वाण संवत्के रूपमें है। प्रेमीजी ने लिखा है—'गोम्मटसारके कर्ताके मतसे २१७७में विक्रम संवत् (२१७७ - ६०५ = १५७२ + १३५) १७०७ पड़ता है अतएव उक्त नेमिचन्द्रके गुरु ज्ञानभूषण कोई दूसरे ही ज्ञानभूषण है जो सिद्धान्त सारके कर्तासे सौ सवा सौ वर्ष बाद हुए हैं।'

उसका उल्लेख करते हुए डॉ० उपाध्येने लिखा है यह समय (अर्थात् वि० सं० १७०७ या ईस्वी सन् १६५०) मल्लिभूपाल और नेमिचन्द्रको समकालीन नहीं ठहरा सकता। चूँकि असली प्रशस्ति उद्धृत नहीं की गई है अतः इस उल्लेखकी विशेषताओका निर्णय करना कठिन है। हर हालतमें ई० सन् १६५० जी०

१ 'विशालकीर्ति' श्रीविद्यानन्द स्वामीति शब्दतः।

अभवत्तनय

साधुर्मल्लिरायनृपाचित ॥'

—प्रश० सं० [आरा], पृ० १२५।

प्रदीपिकाकी वादकी प्रतिलिपिकी समाप्तिका समय है, न कि स्वयं जी० प्रदीपिका रचनाकी समाप्तिका समय ।

अर्थात् डॉ० उपाध्येके लेखके अनुसार वि० स० १७०७ से पहले ही टीकाकी रचना हो चुकी थी । ऐसी स्थितिमें इस समस्याको सुलझानेके दो साधन हो सकते हैं, प्रथम, प्रशस्तिमें निर्दिष्ट वीर नि० सम्बत् की समीक्षा और दूसरा नेमिचन्द्रके द्वारा उल्लिखित अपने समकालीन व्यक्तियोंकी छानबीन, जिनकी ओर डॉ० उपाध्येने इसलिये ध्यान देना उचित नहीं समझा कि चूँकि इन नामोंके अनेक आचार्य और साधू जैन परम्परामें हो गये हैं । अतः केवल नामोंकी समानताके आधार पर कोई निर्णय करना खतरनाक हो सकता है ।' किन्तु जब हम अन्य किसी आधारसे किसी निर्णय पर पहुँच जाते हैं तब यदि उसको आधार बना कर इस बातकी खोज की जाये कि उस समय पर इस नामके व्यक्ति हुए हैं या नहीं तो उससे निर्णयकी सारता या निस्सारता पर प्रकाश पड़े बिना नहीं रह सकता । अतः हम उक्त दोनों साधनोंसे प्रकृत समस्याको सुलझानेका प्रयत्न करते हैं

दक्षिणमें प्रचलित वीर निर्वाण सम्बत्के सम्बन्धमें मतभेद है । और उस मतभेदका कारण है 'विक्रमाक शक' को विक्रम सम्बत् या शक सम्बत् समझा जाना, क्योंकि त्रिलोकसारकी गाथा ८५० की टीकामें लिखा है कि वीर निर्वाणसे ६०५ वर्ष ५ मास पश्चात् विक्रमाक शक राजा होगा । और विक्रम सम्बत् तथा शालिवाहन शक सम्बत्के बीचमें १३५ वर्षका अन्तर है । उत्तर भारतमें जो वीर नि० स० वर्तमानमें प्रचलित है वह उक्त कालको शालिवाहन शकका सूचक मानकर ही प्रचलित है और अनेक शास्त्रीय उल्लेख उसके पक्षमें हैं यहाँ उनकी चर्चासे प्रयोजन नहीं है । यहाँ तो यह बतलानेका प्रयोजन इतना ही है कि प्रेमीजी ने जो २१७७ वी० नि० स०में ६०५ वर्ष घटाकर जो १३५ जोड़े हैं यदि वे दक्षिणके मतभेदको दृष्टिमें रखकर न जोड़े जायें, और उसे ६०५ घटानेसे जो शेष रहता है उसे विक्रम सम्बत् मान लिया जाये तो डॉ० उपाध्येके द्वारा निर्णीत और प्रशस्तिमें उल्लिखित कालमें जो सौ सवा सौ वर्षका अन्तर पड़ता है वह नहीं पड़ेगा । अथ त् २१७७ - ६०५ = १५७२ विक्रम सम्बत्में और १५७२ - ५७ = १५१५ ई० में नेमिचन्द्रने गोम्मटसारकी टीका समाप्त की । डॉ० उपाध्येने यही काल उसका निर्णीत किया है ।

अब हम दूसरे साधनको देखेंगे—

मूलसंघ, सरस्वतीगच्छ और बलात्कारगणके भट्टारक श्रीज्ञानभूषण सागवाडे-

की गद्दीके भट्टारक थे । नन्दिसघ^१की पट्टावलीमें उनका विस्तारसे परिचय दिया है । उनके द्वारा रचित तत्त्वज्ञानतरंगिणीकी प्रशस्तिमें उसका रचनाकाल विक्रम सवत् १५६० दिया है । नेमिचन्द्रकी गोमटसार टीकाका जो रचनाकाल ऊपर दिया है उसके साथ इसका बराबर मेल खाता है । तत्त्व ज्ञान तरंगिणीसे गो० टीकाकी रचना बारह वर्षके पश्चात् हुई है । यह ज्ञानभूषण गुजरातके रहनेवाले थे और दक्षिण तथा उत्तरके प्रदेशोंमें सम्मान्य थे । नेमिचन्द्र भी गुजरातसे ही चित्रकूट गये थे ।

नेमिचन्द्रको सूरिपद भट्टारक प्रभाचन्द्रने प्रदान किया था । वादिचन्द्रने वि० स० १६४० में अपना पार्श्व पुराण रचा था और वि० स० १६४८ में ज्ञान सूर्योदय नाटक रचा था, उन्होंने अपने गुरुका नाम भट्टारक प्रभाचन्द्र लिखा है । तथा अपनेको ज्ञानभूषणका प्रशिष्य और प्रभाचन्द्रका शिष्य बतलाया है । इन्होंने स्व रचित श्रीपालाख्यान नामके गुजराती ग्रन्थमें अपनी गुरु परम्परा^२ इस प्रकार दी है—विद्यानन्दिके पट्टपर मल्लिभूषण, उनके पद पर लक्ष्मीचन्द्र, फिर वीरचन्द्र, ज्ञानभूषण, प्रभाचन्द्र और उनके पद पर वादिचन्द्र । ज्ञानभूषणके शिष्य सुमति-कीर्तिने अपनी पचसग्रह^३ वृत्तिमें भी एक पद्यके द्वारा यही गुरु परम्परा दी है । तथा प्रेमीजीने लिखा है कि इस श्रीपालाख्यानकी प्रशस्तिमें जो लक्ष्मीचन्द्र और वीरचन्द्र है वे वही हैं जिनका उल्लेख ज्ञानभूषणने अपने सिद्धान्तसार भाष्यके मंगलाचरणमें 'लक्ष्मीवीरेन्दु सेवित' पदसे किया है । अर्थात् तत्त्व ज्ञान तरंगिणीके रचयिता उक्त भट्टारक ज्ञानभूषणके शिष्य प्रभाचन्द्र भट्टारक थे और इन्हीं प्रभाचन्द्र भट्टारकने नेमिचन्द्रको सूरि पद दिया था । अतः इनकी सगति भी उक्त कालके साथ ठीक बैठ जाती है ।

इस तरहसे प्रेमीजीके द्वारा निर्दिष्ट प्रशस्तिमें जो गोमटसार टीकाका रचना काल वीर निर्वाण स० २१७७ दिया है उसमें ६०५ वर्ष कम करनेसे १५७२ को शक सम्बत् न लेकर वि० स० लेनेसे, वह टीकाका रचनाकाल उचित ठहरता है और उसकी सगति नेमिचन्द्रके द्वारा निर्दिष्ट समकालीन व्यक्तियोंके साथ भी

१ जै० सि० भा० की कि० ४, पृ० ४३-४५ ।

२ जै० सा० ३०, पृ० ३८७ ।

३ 'विद्यानन्दि गुरुर्यतीश्वर महान् श्री मूलसघेज्जघे,
श्रीभट्टारक मल्लिभूषणमुनिर्लक्ष्मीन्दुवीरेन्दुकौ ॥
तत्पट्टे भुवि भास्करो यतिव्रति श्रीज्ञानभूषो गणी
तत्पाद द्वयपकजे मधुकर श्रीमत्प्रभेन्दुर्यति ॥१॥'

ठीक बैठती है। अतः वि० स० १५७२ या ई० सन् १५१५ टीका समाप्तिका काल जानना चाहिये।

टीकाका परिचय

इसमें तो सन्देह ही नहीं कि जीव तत्त्व प्रदीपिका टीका एक महत्त्वपूर्ण टीका ग्रन्थ है। गोम्मटसारके गहन विषयोंको उसमें बहुत सरल रीतिसे स्पष्ट करनेका प्रयत्न किया गया है। सैद्धान्तिक विषयोंकी चर्चाके साथ ही साथ गोमटसारमें जो अलौकिक गणित-सख्यात, असख्यात, अनन्त, श्रेणि, जगत्प्रतर, धनलोक आदि राशियोंका कथन है, उसे सहनानियोंके द्वारा अकसदृष्टिके रूपमें स्पष्ट किया गया है। और अपने जानतेमें टीकाकारने किसी विषयको गूढरूपमें नहीं रहने दिया है। जीव विषयक और कर्मविषयक प्रत्येक चर्चित विषयका सैद्धान्तिक रूपमें सुन्दर विश्लेषण किया गया है। जिससे प्रतीत होता है कि टीकाकार श्री नेमिचन्द्राचार्यको जैन सिद्धान्तका गम्भीरज्ञान था। उनकी टीकामें प्रसङ्गवश चर्चित विषयोंकी यदि तालिका बनाई जाये तो एक लम्बी सूची तैयार हो सकती है।

उनकी शैली स्पष्ट और सस्क्रुत परिमार्जित है। उसमें दुरुहता और सदिग्धता नहीं है। साथ ही साथ न अनावश्यक विस्तार है और न आवश्यक विस्तारका सकोच है। सक्षेपमें गोम्मटसार ग्रन्थके हृद्यके समझनेके लिये जिस ढंगकी टीका आवश्यक हो सकती है, जी० प्रदीपिका तदनुरूप ही है।

उसके देखनेसे टीकाकारके बहुश्रुतत्वका भी परिचय मिलता है। उसमें सस्क्रुत और प्राकृतके लगभग एक सौ पद्य उद्धृत हैं। जो समन्तभद्राचार्यकी आप्त-मीमांसा, विद्यानन्दकी आप्तपरीक्षा, सोमदेवके यशस्तिलक, नेमिचन्द्रके त्रिलोक-सार और आशाधरके अनंगार धर्मागत आदि ग्रन्थोंसे लिये गये हैं। तथा टीकामें यतिवृषभ, भूतबली, भट्टाकलक, नेमिचन्द्र, माधवचन्द्र, अभयचन्द्र और केशववर्णी आदि ग्रन्थकारोंका नामोल्लेख है।

किन्तु यह टीका केशववर्णीकी कर्नाटवृत्तिके आधार रची गई है। अतः दोनोंका मिलान किये बिना यह कहना शक्य नहीं है कि उक्त विशेषताओंका श्रेय केवल नेमिचन्द्रको ही है, केशववर्णीको नहीं। संभव है केशववर्णीकी कर्नाटवृत्तिमें भी वे सब विशेषताएँ हो। फिर भी नेमिचन्द्रकी वृत्तिका जो रूप हमारे सामने है वह एक प्रशसनीय टीकाके सर्वथा अनुरूप है।

सुमतिकीर्तिकी पञ्चसग्रह वृत्ति

प्राकृत पञ्चसग्रह पर एक वृत्ति सुमतिकीर्तिकी रची हुई है। इसकी एक प्रति देहलीके पचायती जैन मन्दिरमें वर्तमान है। यह प्रति सवत् १७११की

लिखी हुई है। टीकाकी प्रशस्तिमें उसके रचयिताने अपनी गुरुपरम्पराके साथ उसका रचनाकाल भी दिया है। तदनुसार 'संवत् १६२० में टीकाकी रचना हुई थी। अतः उक्त प्रति टीकाकी रचनासे ९० वर्ष पश्चात् की लिखी हुई है।

रचयिताका परिचय

टीकाकी अन्तिम प्रशस्तिसे ज्ञात होता है कि सुमतिकीर्ति मूलसंघके अन्तर्गत नन्दिसंघ, बलात्कारगण और सरस्वती गच्छके भट्टारक ज्ञानभूषणके शिष्य थे। प्रशस्तिमें ज्ञानभूषणकी गुरुपरम्परा इस प्रकार दी है—पद्मनन्दी, देवेन्द्रकीर्ति, विद्यानन्दी, मल्लिभूषण, लक्ष्मीचन्द्र, वीरचन्द्र फिर ज्ञानभूषण। लक्ष्मीचन्द्र और वीरचन्द्रने तथा ज्ञानभूषणने सुमतिकीर्तिको दीक्षा और शिक्षा दी थी। ज्ञानभूषणके कहनेसे ही सुमतिकीर्तिने पञ्चसंग्रहकी यह वृत्ति रची थी और ज्ञानभूषणने उसे शुद्ध किया था। अतः यह ज्ञानभूषण भी वही है जिन्होंने मिद्धान्तसार भाष्य और कर्मप्रकृति टीका रची है। तथा सुमतिकीर्ति भी उन्हींके शिष्य है।

जैसा कि ऊपर लिखा है विक्रम^२ सं० १६२०में भाद्रपद शुक्ल दशमीके दिन ईलाव (?) स्थानमें वृषभालय (ऋषभदेव मन्दिर)में टीकाकी समाप्ति हुई थी। ५० परमानन्द^३ जीने 'ईलाव' को गुजरातका ईडर नामक स्थान बतलाया है। और लिखा है कि सुमतिकीर्ति भी ईडरकी गद्दीके भट्टारक थे। इन्होंने अपने गुरु ज्ञानभूषणके साथ कर्मकाण्ड^४ (कर्मप्रकृति) की भी टीका रची थी, जैसा कि पहले लिखा जा चुका है।

भ० सकलभूषणने वि०स० १६२७में अपनी उपदेश रत्नमाला समाप्त की थी। उसकी प्रशस्तिमें अपनी गुर्वावली देते हुए उन्होंने भट्टारक शुभचन्द्रका उत्तराधिकारी सुमतिकीर्तिको बतलाया है और अपनेको सुमतिकीर्तिका गुरुभाई कहा है। यह सकलभूषण शुभचन्द्रके शिष्य थे।

१ 'दीक्षा शिक्षापद दत्त लक्ष्मीवीरेन्द्र (न्दु) सूरिणा । येन मे ज्ञानभूषेण तस्मै श्री गुरवे नम ॥९॥ आगमेन विरुद्धं यद् व्याकरणेन दूषितम् । शुद्धीकृतं च तत्सर्वं गुरुभिर्ज्ञानभूषणै ॥१०॥—जै०प्र०स०, पृ० १५६।

२ 'श्रीमद् विक्रम भूपते परिमिते वर्षे शते षोडशे, विशत्यग्रगते सिते शुभतरे ॥ भाद्रे दशम्या तिथौ । 'ईलावे' वृषभालये वृषकरे सुश्रावके धार्मिके, सूरि श्रीसुमतीशकीर्तिविहिता टीका सदा नन्दतु ॥१३॥—जै०प्र०स०, पृ० १५६।

३ जै०प्र०स०, प्रस्ता० पृ० ७५।

४ 'तदन्वये दयाम्भोधिर्ज्ञानभूषो गुणाकर । टीका हि कर्मकाण्डस्य चक्रे सुमतिकीर्तियुक् ॥२॥—जै०प्र०स०, पृ० १५३।

पचसंग्रह वृत्ति

इस वृत्तिकी जो प्रति हमें देखनेको प्राप्त हुई उसके प्रारम्भके ४८ पत्र नहीं हैं और उनके स्थानमें पचसंग्रह मूलके ४९ पत्र रख दिये गये हैं। अतः टीकाके प्रारम्भके विषयमें कुछ कहना शक्य नहीं है। टीकाके अन्तका सन्धिवाक्य इस प्रकार है—

‘इति श्री पचसंग्रहापरनाम-लघुगोम्मटसार सिद्धान्तग्रन्थटीकाया कर्मकाण्डे सप्तति नाम सप्तमोऽधिकार । इति श्री लघुगोम्मटसारटीका समाप्ता ।’

सर्वत्र सन्धि वाक्योमे ग्रन्थको लघु गोम्मटसार कहा गया है और उसका दूसरा नाम पचसंग्रह बतलाया है। गोम्मटसारकी टीकाकी प्रशस्तिमें भी गोम्मट-सारका अपर नाम पचसंग्रह बतलाया गया है। यथा—‘इत्याचार्य श्री नेमिचन्द्र-विरचिताया गोम्मटसारपरनामपचसंग्रहवृत्ती जीवतत्त्वप्रदीपिकाया ।’

शायद पचसंग्रहके टीकाकारने पचसंग्रहको लघु गोम्मटसार समझा है। किन्तु अपनी टीकामें उन्होंने पचसंग्रहका निर्देश पंचसंग्रह नामसे ही किया है। यथा—‘इदमुपगमविधान गोम्मटसारे प्रीक्तमस्ति । पचसंग्रहोक्त भावोऽयं कथ्यते ।’

फिर भी उक्त सन्धिवाक्य इस बातका साक्षी है कि उस समय भी गोम्मट-सारको कितना ऊँचा स्थान प्राप्त था। शायद लोग इस बातकी कल्पना ही नहीं कर सकते थे कि गोम्मटसारसे भी कोई महान सिद्धान्त ग्रन्थ हो सकता है जिस-परसे गोम्मटसार संग्रहीत किया गया है। अस्तु,

धर्मपुरा दिल्लीके नये मन्दिरके शास्त्र भण्डारमें सम्बत् १७९९ की लिखी हुई इसकी एक प्रति हमें देखनेको मिली। इस प्रतिमें उसकी अन्तिम प्रशस्ति नहीं है। किन्तु प० परमानन्दजीने अपने प्रशस्ति संग्रहमें उसकी प्रशस्ति दी है। प्रशस्ति के पश्चात् अन्तिम सन्धिवाक्य इस प्रकार दिया है—‘इति श्री भट्टारक श्री ज्ञान भूषणविरचिता कर्मकाण्डग्रन्थटीका समाप्ता ।’

नीचे टिप्पणमें लिखा है कि जयपुर और देहलीकी कितनी ही प्रतियोंमें ज्ञान भूषणनामाकिता सूरिसुमतिकीर्ति विरचिता’ ऐसा पाठ पाया जाता है जो ग्रन्थकी दोनो भट्टारको द्वारा संयुक्त रचना होनेका परिणाम जान पड़ता है (जै० प्र० पृ० १५६)।

ऐ० प० सरस्वती भवन झालरापाटनकी ग्रन्थ नामावलिमें भी कर्म प्रकृति टीका ‘सुमति कीर्ति युग्म ज्ञानभूषणकृता’ ऐसा लिखा हुआ है। ज्ञानभूषणके साथ ‘सुमतिकीर्तियुक्’ विशेषण लगानेका कारण यह है कि टीकाके आदिवाक्य और प्रशस्तिमें यही पद पाया जाता है—

यथा—

विद्यानन्दि सुमत्यादि भूप लक्ष्मीन्दुसद् गुरुन् ।

वीरेन्दु-ज्ञानभूषं हि वन्दे सुमतिकीर्तियुक् ॥२॥

इसमें विद्यानन्दि, मल्लिभूषण, लक्ष्मी चन्द्र, वीरचन्द्र, ज्ञानभूषण और सुमति कीर्तिको नमस्कार किया है ।

प्रशस्तिमें लिखा है

मूलगघे महासाधुर्लक्ष्मीचन्द्रो यतीश्वर ।

तस्य पट्टे च वीरेन्दु विबुधो विश्ववन्दित ॥१॥

तदन्वये दयाम्भोधि ज्ञानभूषो गुणाकर ।

टीका हि कर्मकाण्डस्य चक्रे सुमतिकीर्तियुक् ॥२॥

अर्थात् मूलसधमे महासाधु लक्ष्मी चन्द्र यतीश्वर हुए । उनके पट्ट पर विश्व-वन्द्य वीरचन्द्र हुए । उनके वक्षमें दयालु गुणाकर ज्ञानभूषण हुए । उन्होंने सुमति कीर्तिके साथ कर्मकाण्डकी टीका रची ।

इसमें स्पष्ट है कि टीकाके रचयिता ज्ञानभूषण और सुमतिकीर्ति दोनों हैं । यह ज्ञानभूषण ईडरकी गद्दी वाले ज्ञानभूषण नहीं हैं किन्तु सूरतकी गद्दीवाले ज्ञानभूषण हैं । उन्हींके शिष्यका नाम सुमतिकीर्ति था ।

टीकाके आदि और अन्तिम श्लोकोमें इसे कर्मकाण्डकी टीका कहा है और इसी लिये मूल ग्रन्थका कर्ता सिद्धान्तपरिज्ञानचक्रवर्ती श्रीनेमिचन्द्र कविको बतलाया है । सिद्धान्त और चक्रवर्तीके बीचमें जो परिज्ञान पद डाल दिया गया है वह सिद्धान्त चक्रवर्तीका अर्थ स्पष्ट करनेके लिये ही डाला गया जान पड़ता है । किन्तु वास्तवमें यह कर्मकाण्डके आधार पर संकलित कर्मप्रकृतिकी टीका है ।

यह टीका गोम्मटसारकी टीकाको देखकर बनाई गई है क्योंकि प्रशस्तिमें इस बातको स्वीकार किया है । यथा

टीका गोमट्टसारस्य विलोक्य विहित ध्रुव ।

पठन्तु सज्जना सर्वे भाष्यमेतन्मनोहरम् ॥३॥

अर्थात् गोम्मट्टसारकी टीकाको देखकर रचे गये इस मनोहर भाष्यको सब सज्जन पढ़ें ।

गोमट्टसारकी नेमिचन्द्र कृत जीवतत्त्व प्रदीपिका टीकाके साथ मिलान करनेसे यह बराबर स्पष्ट हो जाता है कि एकको देखकर दूसरीकी रचनाकी गई है । उदाहरणके लिये यहाँ केवल दूसरी गाथाकी दोनों टीकाएं देते हैं—

नेमि० टी०—प्रकृति शील स्वभाव इत्यर्थ । सोऽपि कारणान्तरनिरपेक्षता अग्निवायु जलाना उर्ध्वतिर्यग्निग्नगमनवत् । सहि स्वभाववन्तपेक्षते इति । कयो

स । जीवागयो जीव कर्मणो । तत्र रागादिपरिणमनमात्मन स्वभाव रागाद्यु-
त्पादकत्व तु कर्मण । तदेतरेतराश्रयदोष तत्परिहारार्थं तयो जीवकर्मणो सम्बन्ध
अनादिरित्युक्त । क इव । कनकोपले मलमिव स्वर्णपाषाणे स्वर्णपापाणयो सम्ब-
न्धस्य अनादिरिव । अनेन अमूर्तो जीव मूर्तेन कर्मणा कथं वक्ष्यते इत्यपास्त ।
तयोरस्तित्वं कुत सिद्ध । स्वतः सिद्ध । अहं प्रत्ययवेद्यत्वेन आत्मन दरिद्र श्री-
मदादिविचित्रपरिणामात् कर्मणश्च तत्सिद्धे ॥२॥

ज्ञान० टी०—प्रकृति शील स्वभाव इति प्रकृतिपर्यायिनामानि । स्वभाव-
स्य लक्षणं किं । इति चेत् कारणान्तरनिरपेक्षत्व स्वभाव । यथा अग्निरूर्ध्वगमन
स्वभाव वायो तिर्यग्गमन स्वभाव जलस्य च निम्नगमन स्वभाव । स च स्वभाव-
वन्तं अपेक्षते । स स्वभाव कयो जीवागयो जीवकर्मणो इत्यर्थः । तत्र जीवकर्मणो-
र्मध्ये आत्मन रागादि परिणमन स्वभाव कर्मण रागाद्युत्पादकत्व स्वभाव । स्व-
भावो हि स्वभाववन्तमन्तरेण न भवति, स्वभाववान् स्वभावं विना न भवति
इत्युच्यमाने इतरेतराश्रयदोषप्रसंगः स्यात् । तत्परिहारार्थं अनयो जीवकर्मणो-
रनादि सम्बन्धः । कयोरिव कनकोपलयोर्मलमिव । यथा कनकपापाणे मलसम्बन्ध
अनादि तथा जीव कर्मणोरनादिसम्बन्धः । तयो जीवकर्मणोरस्तित्वं कथं सिद्धं ?
स्वतः सिद्धं । कथमिति चेत् अहं प्रत्ययवेद्यत्वेन आत्मनोऽस्तित्वं एको दरिद्रः एकः
श्रीमान् एकः सुखी एको दुःखी इति विचित्र परिणमनात् कर्मणोऽस्तित्वं सिद्धमिति ।

चू कि कर्मप्रकृति टीकाके रचयिता ज्ञानभूषण और मुमतिकीर्ति हैं अतः
उसका रचनाकाल विक्रमकी सोलहवीं शताब्दीका अन्तिम चरण और १७ वीं का
प्रथम चरण है ।

इस तरह दूसरी टीका पहली टीकाका अनुकरण मात्र है ।

यह हम पहले लिख आये हैं कि कर्म प्रकृतिमें जीवकाण्डकी भी गाथाएँ
सकलित हैं । कर्म प्रकृतिके टीकाकारने उन गाथाओंकी टीका भी जीवकाण्डकी
जीवतत्त्व प्रदीपिका टीकाके अनुसार ही की है । यहाँ एक उदाहरण दे देना
पर्याप्त होगा—

ज सामण्य ग्रहण भावाण णेव कट्टमायार ।

अविसेसिदूण अट्टे दसणमिदि भण्णदे समए ॥४३॥—जीवका० गा० ४८२

जी० प्र०—भावाना सामान्यविशेषात्मकवाह्यपदार्थाना आकार भेद-
ग्रहण अकृत्वा यत्सामान्य ग्रहण-स्वरूपमात्रावभासनं तत् दर्शनमिति परमाणमे
भण्यते । वस्तु स्वरूपमात्रग्रहणं कथं । अर्थान्-वाह्यपदार्थान् अविशेष्य-जाति
क्रियाग्रहणविकारैरविकल्प्य स्वपरसत्तावभासनं दर्शनमित्यर्थः ।

क० प्र० टी०—भावाना पदार्थाना सामान्यविशेषात्मकवाह्य वस्तुना आकार

भेद ग्रहण (अ) कृत्वा यत् सामान्यगृहणं स्वरूपमाणावभासन तद्दर्शनमिति परमा-
गमे भण्यते । यन्मुस्वरूपमात्रग्रहण कथं ? अर्थान् बाह्यपदार्थान् अविवेच्य
जातिद्वयगुणक्रियाप्रकारैर्विवेच्य स्वपरमत्तावभासन दर्शनमित्यर्थः ।

वामदेवका सस्कृत^१ भावसग्रह—

प्राकृत भाव सग्रहको मस्कृत अनुवाद रूपमें उन भाव सग्रहकी रचना हुई है ।
दोनों ग्रन्थोंकी आगने नामने रगार पड़नेसे यह नाम स्पष्ट हो जाती है । यहाँ
दोनोंमें कुछ उद्धरण दे देना उचित होगा ।

पण्डित मुग्धेणप्य मृण्मिणहन्त्रद्वय महावीर ।

गोत्रमि भावसग्रहमिणमो भव्यवोदृष्ट ॥१॥

श्रीमतीर जिनाभोग मत्नीन विद्वान्निताम् ।

नत्ता भव्यप्रवोपाय व-मेष्टं भावसग्रहम् ॥१॥

×

×

×

जीवन्त होनि भावा जीवा पुण दुविहभेगमजुत्ता ।

मत्ता पुण मनागी मत्ता मिदा निरन्तेया ॥२॥

भावा जीवपरीणामा जीवा भेदगान्त्रिता ।

मुत्ता मनाग्निन्नाय मुपना मिदा निरन्त्यया ॥२॥

×

×

×

लोकमगिहन्त्रायामो केवलणाणेण मृण्मिणनल्लोया ।

असरीय गहरहिया मुणिन्वला मुद्रभावट्टा ॥३॥

कर्माष्टकविनिर्मुत्ता गुणाष्टकधिराजिता ।

लोकाग्रवागितो नित्या ध्रौव्योत्पत्तिव्ययान्विता ॥३॥

यह शब्दश अनुवाद नहीं है, भावानुवाद है जो प्राकृत भाव सग्रहको सन्मुख
रखकर मस्कृत भाषामें अनुष्टुप् श्लोकोंके द्वारा किया गया है । रचयिताने
प्राकृत भावसग्रहका अधरश अनुकरण नहीं किया है, जगह जगह उभय परिवर्तन,
परिवर्धन और सशोधन आदि भी किये हैं । उसके भी यहाँ कुछ उदाहरण दे
देना उचित होगा ।

१ प्रा० भा० स० में (गा० १६) मिथ्यात्वके पाँच भेद इस प्रकार बतलाये
हैं—एकान्त, विनय, सशय, अज्ञान और विपरीत । ये ही पाँच भेद जैन परम्परा-
में प्रसिद्ध हैं । किन्तु स० भा० स० में (श्लो० ३२) उनके नाम इस प्रकार दिये
हैं—वेदान्त, क्षणिकत्व, शून्यत्व, विनय और अज्ञान । प्रा० भा० स० में ब्राह्मण-

१ सस्कृत भाव सग्रह भी प्राकृतभावसग्रहके साथ श्रीमाणिकचन्द दि० जैन
ग्रन्थमाला बम्बईके २०वे ग्रंथ भावसग्रहादिमें प्रकाशित हो चुका है ।

को विपरीत मिथ्यात्वी बतलाया है। स० भा० सं० में वेदवादीको वेदान्त-मिथ्यावी कहा है और ब्राह्मणकी तरह ही तीर्थस्तान, मासभक्षण आदिकी बुराईया बतलाई हैं। अन्तमें लिखा है 'इति वेदान्तोक्त विपरीत मिथ्यात्वम्'। सम्भवतया ग्रन्थकार वेद और वेदान्तके भेदसे परिचित नहीं थे ऐसा लगता है। प्रा० भा० सं० में सशय मिथ्यात्वका निरूपण करते हुए श्वेताम्बर मतकी उत्पत्तिका कथन किया है किन्तु स० भा० सं० में चूँकि इस नामका कोई मिथ्यात्व नहीं है और उसके स्थानमें जो एक शून्य मिथ्यात्व नाम गिनाया है उसकी उसमें कोई चर्चा नहीं की गई है। अतः शेष मिथ्यात्वोका कथन प्रा० भा० सं० की ही तरह करनेके बाद पृथक् रूपसे श्वेताम्बर मतकी उत्पत्तिका कथन किया है और उसे स्वमतोद्भूत^१ (अपने मतमें उत्पन्न हुआ) मिथ्यात्व कहा है।

प्रा० भा० सं० में स्थविर कल्पका कथन करते हुए वर्तमान कालके मुनियोंके सम्बन्धमें कहा गया^२ है कि पहलेके मुनि उक्त सहननसे एक हजार वर्षमें जितनी कर्मनिर्जरा करते थे, आजकल हीन सहननमें उतनी कर्मनिर्जरा एक वर्षमें कर लेते हैं। स० भा० सं० में इस गाथाका अनुवाद नहीं किया गया और यह उचित ही किया गया क्योंकि इस प्रकारका कथन पूर्वशास्त्र सम्मत नहीं है।

इसी तरह प्रा० भा० सं० में काष्ठा सघ आदिके विरोधमें एक भी शब्द नहीं कहा गया है किन्तु स० भा० सं०^३ में एक श्लोकके द्वारा उन्हें मिथ्यात्वका प्रवर्तक कहा है।

प्रा० भा० सं० (गा० २८० आदि) में सम्यग्दर्शनके आठो अगोमें प्रसिद्ध व्यक्तियोंके नाम गिनाये हैं। किन्तु स० भा० सं० में आठों अगोका स्वरूप रत्नकरड श्रावकाचारके अनुसार उसीके शब्दोंमें कहा है (श्लो० ४१०-४१७) अन्य भी कई विशेष कथन सम्यक्त्वके सम्बन्धमें हैं।

पचम गुणस्थानका कथन करते हुए स० भा० सं० में ग्यारह प्रतिमाओंका कथन है यह कथन प्रा० भा० सं० में नहीं है। उसमें तो केवल बारह व्रतोके नाम गिनाये हैं प्रतिमाओंके तो नाम तक भी नहीं गिनाये।

स० भा० सं०में दूसरी व्रत प्रतिमाका कथन करते हुए पूज्य पूजक और पूजा

१ 'अथोर्ध्वं स्वमतोद्भूत मिथ्यात्व तन्निगद्यते। विहित जिनचन्द्रेण श्वेताम्बर मताभिधम् ॥१८७॥'—स० भा० सं०।

२ 'वरिससहस्सेण पुरा ज कम्म हणइ तेण काएण। त सपइ वरिसेण हु णिज्ज-रयइ हीणसहणणे ॥१३१॥'—प्रा० भा० सं०।

३ येचान्ये काष्ठसघाद्या मिथ्यात्वत्त्य प्रवर्तनात्। आयत्या प्राप्नुयुर्दुख चतुर्गतिषु सन्ततम् ॥२८५॥—स० भा० सं०।

पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—पूज्य तो निर्दोष केवली जिन हैं। और पूजक^१ वेश्या आदि व्यसनोका त्यागी ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शीलवान् शूद्र होता है। अपने इस कथनकी पुष्टिमें ग्रंथकारने जिनसहिताका प्रमाण भी उद्धृत किया है। यह कथन प्रा० भा० स० में नहीं है।

प्रा० भा० स० की तरह स० भा० स० में भी प्राभातिक विधिमें शौच आचमनका निर्देश है और नागतर्पण, क्षेत्रपालतर्पण गण अष्ट दिग्पालोकी स्थापनाका भी कथन है किन्तु प्रा० भा० स० में जो शस्त्रसहित यानसहित और प्रियासहित आह्वान करनेका विधान किया है। वह यहाँ नहीं है। इसी तरह प्रा० भा० स० में जिन चरणोमे चन्दनलेपनका जो कथन है वह भी स० भा० स० में नहीं है।

पूजनके कथनमें स० भा० सं० के कर्तनि आशाधरके सागरधर्मामृतका अनुकरण विशेषरूपसे किया है। प्रतिमाओके कथनमें भी यत्रतत्र उसकी छाया है। वैसे रत्न करडको मुख्य रूपसे अपनाया गया है।

पूजा, गुरुपासना, स्वाध्याय, सयम, तप और दान इन श्रावकके पट्कर्मोंका भी कथन है वो प्रा० भा० स० में नहीं है।

छठे और तेरहवें गुणस्थानके कथनमें भी प्रा० भा० स० से विशेषता है। इस तरह स० भा० स० प्रा० भा० स० का छापानुवाद होते हुए भी अपनी कुछ विशेषताओको लिये हुए है। रचना सरल और स्पष्ट है। श्लोक संख्या ७८२ है।

रचयिता और समय

संस्कृत भावसंग्रहके अन्तमें उसके रचयिता ने अपना नाम वामदेव और अपने गुरुका नाम लक्ष्मीचन्द्र बतलाया है। लक्ष्मीचन्द्रके गुरुका नाम त्रैलोक्यकीर्ति था और त्रैलोक्यकीर्तिके गुरुका नाम विनयेन्दु या विनयचन्द्र था। वे मूलसघी थे। तथा ग्रन्थकार वामदेव^२का जन्म 'शशिविशदकुले नैगम श्री विशाले' में हुआ था। प्रेमीजीने लिखा^३ है कि 'निगम कायस्थ जातिका एक भेद है। आश्चर्य

१ 'भव्यात्मा पूजक शान्त वेश्यादिव्यसनोज्झित । ब्राह्मण क्षत्रियो वैश्य स शूद्रो वा सुशीलवान् ॥४६५॥—स० भा० म० ।

२ 'श्रीमत्सर्वज्ञपूजाकरणपरिणतस्तत्त्वचिन्तारसालो, लक्ष्मीचन्द्राह्लिपद्म मधुकर श्रीवामदेव सुधी । उत्पतिर्यस्य जाता शशिविशदकुले नैगमश्रीविशाले सोऽय जीयात् प्रकम जगतिहसलसद्भावशास्त्रप्रणेता ॥७८१॥—स० भा० सं० ।

३ भावसंग्रहादिके प्रारम्भमें ग्रंथ परिचय, पृ० ३ ।

नहीं जो प० वामदेवजी कायस्थ ही हों। दिगम्बर सम्प्रदायमें महाकवि हरिचन्द्र, दयासुन्दर आदि और भी अनेक विद्वान् कायस्थ जातिके हो चुके हैं।'

इस प्रकार वामदेवने अपने त्रैलोक्य^१ दीपक नामक ग्रन्थके अन्तमें भी अपना उक्त परिचय दिया है। उसमें उन्होंने अपनेको जैन प्रतिष्ठा विधिका आचार्य बतलाया है। यह ग्रन्थ उन्होंने पुरवाडवशके कामदेवके पौत्र तथा जोमनके पुत्र नेमिदेवकी प्रेरणासे बनाया था। इस तरह अपने ग्रन्थोंमें वामदेवने अपना सामान्य परिचय देकर भी उसके समयके विषयमें कोई निर्देश नहीं किया

परन्तु त्रैलोक्य दीपक ग्रन्थकी एक हस्तलिखित प्रति श्रीमहावीरजी^२ के शास्त्र भण्डारमें है। उसमें उसका लेखनकाल सं० १४३६ और लेखन स्थान योगिनीपुर दिया है। तथा लेखकने फिरोजशाह तुगलकके शासनकालका भी उल्लेख किया है। अतः यह निश्चित है कि वामदेवका समय 'सं० १४३६ के बाद का नहीं हो सकता।'

द्विसन्धानकाव्यकी नेमिचन्द्र रचित टीकाकी प्रशस्तिमें नेमिचन्द्रने अपनेको विनयचन्द्रका प्रशिष्य और देवनन्दिका शिष्य बतलाया है। तथा त्रैलोक्यकीर्तिके चरण कमलोको भी नमस्कार किया है। वामदेवने भी अपने गुरु लक्ष्मीचन्द्रके गुरुका नाम त्रैलोक्यकीर्ति और त्रैलोक्यकीर्तिके गुरुका नाम विनयचन्द्र बतलाया है। अतः नेमिचन्द्रके गुरुके गुरु विनयचन्द्र और वामदेवके दादा गुरु विनयचन्द्र एक ही व्यक्ति प्रतीत होते हैं। उन्हींके शिष्य त्रैलोक्यकीर्ति थे। किन्तु वे कब हुए इसका कोई पता नहीं चलता क्योंकि द्विसन्धान टीकामें भी उनके समयका निर्देश नहीं है और न अन्यत्रसे ही उनके सम्बन्धमें कोई ऐसी जानकारी प्राप्त हो सकी जिससे उनके समय पर प्रकाश पड़ सकता हो।

१ जै०ग्र० प्र०सं०, भा० १, पृ० २०३-२०५।

२ 'आमेर शास्त्र भण्डारकी ग्रन्थ सूची'—पृ० २१८।

नाम सूची

अकोटक २५५	अमृतचन्द्र ३७४
अंकलेश्वर ७, ४४, ५०	अमितगति ३४७, ३५०, ३७२ आदि ३८०, ३९५
अगपण्णत्ति २४४	अमितगति श्रावकाचार ३८१
अगुत्तर निकाय ७७	अमोघवर्ष २१५, २४५, २४९, २५५, २९१, २९२
अकलक भट्टा० ५२, २४४, २४७, २७६, ३५०, ३५१, ३७३, ४७७	अर्हद्वलि २१, २३
अकलक चरित्र २४७	अवचूर्णि २०
अगल कवि ३८७	अवधेशनारायण सिंह २२४
अग्रायणी पूर्व १२, ४८, ६१, ६३, १००, २९५, ३०५, ३५८	अश्वघोष २४५
अजितनाथ पुराण ३९४	अष्टपाहुड २४४, २६४
अजितसेनाचार्य ३८९	अष्टसहस्री २७८
अणहिल्लपुर ३२४	अष्टाग महानिमित्त २३
अत्तिमव्वे ३९४	असूत्र गाथा ३२
अनगार धमामृत ४२६, ४२८, ४६८, ४७०, ४७७	आचाराग निर्युक्ति २४४
अनुयोगद्वारसूत्र ९१, ९२, १०२, १०३, १८४, १९५, २००, २४४	आप्त परीक्षा ४७७
अनेकान्तवाद प्रवेश २४३	आप्त मीमासा २४४, २७८, ४७७
अपवाइज्जमाण उपदेश ९, १४, १५, १७, २०१	आराधना कथाकोश २०४
अपराजित सूरि २०५	आराधना भगवती २०४, २४३, २४४, ३१६, ३२६, ३३२, ३३४, ३४७, ३६३, ३८१, ४४५
अभयचन्द्र ३९२, ४४४, ४६५, ४६७, ४६९, ४७०, ४७२, ४७७	आराधनासार ४२०, ४२१, ४२६
अभयदेव सूरि ३६६, ३७०	आर्यदिन्न १९
अभयनन्दि ३८२, ३८३, ३८५, ३८७	आर्यधर्म १९
अभिघम्मपिटक ३५	आर्यनन्दि २४०, २४१
अभिन्नदसपूर्वी ३१	आर्यनन्दिल १२, १३
अमरकीर्ति ३८०	आर्यमक्षु ९, १४-१८, २०-२५, ३४, ३५, १७८, २००, २०१, २४१

आर्यमंगु ९, १०, १२-१४, १८, १९,
२०

आर्यरक्षित ४, १२, १३, १९, २००

आर्यवज्र ४

आवश्यक चूर्ण ३१०

आवश्यक टीका २०

आवश्यक दीपिका २०

,, निर्युक्ति १०, १२, १८१, २४४,
३१९

आवश्यक सूत्र ६८

आशाघर २०५, ३२६, ३४७, ४२६,
४६२, ४६८, ४७७, ४८४,

आस्रव त्रिभंगी ४४३, ४६०-६२,
इन्द्रविन्त १९

इन्द्रनन्दि ७-९, १४, २१-२५, ३३,
३४, ४४-४६, ५०, ५१, ५३,
५९, १५२, २१५, २३४, २६२-
२६४, २७३, २७४ २७६, २७७
२७९, २८०, २८२, २८३

इन्द्रराज २५५

ईडर ४५८, ४५९, ४७७

उच्चारणाचार्य १७८, २४४, २६२

उच्चारणावृत्ति १७९, २४४, २५०,
२५४, २८३

उत्तरपुराण २४६, २५०, २५५, २६१
२९१

उदय त्रिभंगी ४४१

उपदेश रत्नमाला ४५५, ४५९, ४७८

उपाध्ये ए० एन० २७३, ३९१, ४४५
४६४, ४६६, ४६७, ४७१. ४७३
४७५

उपमिति भवप्रपञ्चकथा ३६१, ४३२

उमास्वामी २७६

एलाचार्य २१५, २४२,

ओषनिर्युक्ति २४४

कनक नन्दि ३८३-३८५, ४०८, ४४२

करहाट ४५

करणानुयोग ४

कर्कराज २५५

कर्नाटक कवि चरिते २७७, ४५१

कर्नाटक वृत्ति ४६६-४६९, ४७१,
४७३, ४७७

कर्नाटक शब्दानुशासन २७५, २७६,
२७७

कर्मकाण्ड गो० ५३, २८९, ३०७,
३८२, ३८४, ३८५, ३८८ ३९५
३९७, ३९९ आदि, ४०५ आदि
४११, ४३७, ४३९, ४४३, ४६४

कर्म प्रकृति २९४, २९५, २९७-२९९
३०१, ३०३-३०६, ३०८, ३१०
३११, ३२१, ३२२, ३२४, ३२५
३४५, ३५२, ३६८, ४०९, ४३६
४३७, ४३९,

कर्म प्रकृति प्राभृत १०, १२, १३, १५
१६, २२, २३, ४५, ४८, ५०,
६३, ७८, ११३, १४९, १५१,
३०५,

कर्म प्रकृतिचूर्ण २०९, ३०१, ३०४,
३०६, ३०७, ३०९-३११ ३१६
३२४,

कर्म प्रकृति टीका ४५४

कर्म प्रकृति सग्रहणी १६, १५१, २०९
२९३, ३१६

कर्म ग्रन्थ नव्य १३०, २९४, ३०३,
३२४

४८८ : जैनसाहित्यका इतिहास

कर्मविपाक २९४, ३६१, ३६२, ३६६
४२९ आदि, ४३४

कर्म प्रवाद ३२०

कर्म स्तव ३२२, ३२४, ३२५, ३३४,
३३६, ३५२, ३५४, ४३४,

कर्मस्तव टीका ३०७

कल्पसूत्र १८, १९

कल्पसूत्र स्थविरावली ३०३

कल्याण विजय मुनि १३, १४

कसायपाहुड कषायप्राभृत ६-८, १४-
१७, २२-२५, २७-३१, ३४-
३६, ४२, ५३-५५, १४५ आदि,
१७०, १७१, १७८, १८२,
१९५, १९९, २०१, २११,
२१६, २४३, २५०, २५६,
२६४, २९०, २९७-२९९, ३०१,
३०६, ३१७, ३३४, ३६८,
३७०

कामताप्रसाद ४५७

कामराज ब्र० ४५५

कारजा ४५४

कृति अनुयोग ४९, ५१, ६०, ६३, ६८,
१००, १०२, ३२२

कालकाचार्य ११, १९

कुण्डकुन्दपुर २६४

कुन्दकुन्द २१५, २४४, २६३, २६४,
२७३, ३१०, ४२४

कुमारपाल ४३१

कुमारिल भट्ट २४५

केशववर्णी ४४५, ४६४, ४६७, ४७०,
४७१, ४७३, ४७७

कौलिकमत ४१८

क्षपणासार ४४१

खण्डसिद्धान्त ५१, ५२

खारवेल ६८

खुदाबन्ध ५१, ५२, ५८, ५९, ६१,
६२, ९२, १९९, २४४, २८६

गगराज २७७

गणधर वश १०, १२, १८

गणितानुयोग ४

गन्धहस्ति (सिद्धसेन) ३६५

गन्धहस्ति महाभाष्य २७८

गर्गषि ३०७, ३६१, ३६६, ४२९,

गृद्धपिच्छाचार्य २४४

गिरिनगर ६, ४४, ५०

गुणकीर्ति ४५६, ४६०

गुणधर ६, ८, ९, १४, १५, १७,
२०-२५, २८-३१, ३४, ३६,
३७, ४२, १४६, १७४ आदि
१८१, २०५, २१०, २४४

गुणभद्र २४२, २५०, २५५, २६१,
२९१

गुण सुन्दर १९

गुर्वावली ४३६

गोविन्द १९

गोविन्द पै० २७६

गोविन्दराज २५५

गोविन्दाचार्य ३२४, ४३२

गोम्मटसार २७६ ३९०, ३९१, ३९३,
३९५, ४६३, ४६७, ४६९,
४७०, ४७४, ४७७, ४७९

गोम्मटसार जीवकाण्ड १३१, ३७३,
३७४, ३८९, ३९२, ३९६,
३९८, ४२३, ४२४, ४२७,
४३३, ४६५, ४६६, ४८१

गोम्मटेश्वर ३९४

गोशालक ७७, ४१८
 गौतम गणधर १, ५, ३५, ६१, ६३,
 ६४, ७८, २२२, ४४६, ४६६
 चक्रवर्ती प्रो० २७३
 चन्द्रगिरि ३९१, ४४५
 चन्द्रगुफा ६, ४४, ५०
 चन्द्रप्रभवचित ३८२, ३८३, ३८८,
 चन्द्रर्षि महत्तर २८४, २८९, ३१०,
 ३१२, ३१८, ३२२, ३२४ ३२५
 ३२७, ३४९, ३५६, जादि ३६१
 ३६६
 चन्द्रसेन २४१
 चरणकरणानुयोग ४
 चरणानुयोग ४
 चामुण्डराय २७७, ३९०-३९२, ४२६,
 ४६३, ४६४
 चामुण्डपुराण २७७, ३९३-३९५,
 चारित्रसार ४२६
 चित्रकूट २१३, ४७२, ४७६
 चिरन्तनाचार्य १७८
 चूडामणि टीका २६३, २७४, ३७७,
 २८३
 चूर्णिसूत्र ९, १४, १६, १७, २२, २४,
 २५, २९, ३५, १४९, १७०,
 आदि, १८१, १९५, २०३,
 २४४, २५०, २५४, २८३,
 ३०४, ३०७, ३७०, ४१५
 चूर्णिसूत्रकार ३३-३५, ३७, १४८,
 १७९, १८७, २०२, २१०, २५६
 चूलिकावधिकार ४८, ४९, ५२, ८४,
 १४७, २९६, ३३५, ४०५
 छक्कमोवएस ३८०

जगन्चन्द्रसूरि ४३६
 जगत्तुगदेव २४८, २४९, २९१,
 जम्बूद्वीपपण्णत्ति २४४, ४४९
 जम्बू स्वामी ५, १७
 जम्बूस्वामी चरित्र ४५३
 जयतिलक सूरि ४३६
 जयधवला ७-९, १५-१७, २०, २३-
 २५, २८, ३१, ३५, ५२, ५३,
 ५८, १७२, १९६, २०३, २०५,
 २१६, २४३, २४५, २४६,
 २५४, २६१, ३७०
 जयधवलाकार १४, १५, २९-३२,
 १७०, १७९, १८१ आदि, १९३,
 २०२, २५६, २८७, ३०५
 जयपुर (भण्डार) ४७९
 जयपुराण ४५२, ४५४
 जयसिंहदेव ३२४
 जयसेन आचार्य ३७४
 जिनचन्द्र ४५१
 जिनदासब्र० ४५२, ४५६
 जिनदास शाह ४७२
 जिनपालित ७, २३, ४४-४६, ५०,
 ५१
 जिनभद्रगणि १२, ३११, ३२० ३२५
 जिनरत्न कोश ४३६, ४४२
 जिनवल्लभ गणि ४३३
 जिनेश्वर सूरि ४३३
 जिनसेन २१६, २४२, २४५, २४६,
 २५४, २६१, २६२, २९१
 जीवतत्त्व प्रदीपिका टीका ४६३-४६६
 ४७०, ४७१ ४७३, ४८०
 जीवसमासप्रकरण ३३३, ३५४

४९० जैनसाहित्यका इतिहास

जीवस्थान जीवद्वण ४७-५०, ५२,
५८, ५९, ६२, ६७, ६८, ७६,
७७, ७९, ८४, ९१, ९३, ९४,
९६, १००, १४०, १४७, १९६,
१९८, २१८, २४४, २६५,
२६८, २७२, ३३५, ३५०,
४०९

जुगलकिशोर मुख्तार २०८, २७५,
३२७, ३९३, ४००, ४०२,
४४०

जैनधातु प्रतिमालेख सग्रह ४५५, ४५७

जैनेन्द्रमहावृत्ति ३८५, ३८७

जैनेन्द्रव्याकरण

जोणिपाहुड योनिप्राभूत २१, ४३, ४४,
१००, २४४

ज्योतिप्रसाद डा० २४८

ज्वालामालिनी ४८३

ज्ञाताधर्मकथा ९८

ज्ञानप्रवाद २४, २५, २५६

ज्ञानभूषणभट्टारक ४४०, ४५१, ४५३-
४५९, ४७२-४७६, ४७८,
४८०

ज्ञानसूर्योदयनाटक ४७६

टोडरमल्लपण्डित ४०५, ४१६, ४६४,
४६५, ४७०, ४७३

डड्ढा (लक्ष्मणसुत) ३५०, ३५१,
३७२ आदि

तत्त्वज्ञानतरङ्गिणी ४५५, ४७६

तत्त्वसार ४२०, ४२१

तत्त्वार्थमहाशास्त्र २७५, २७६, २७७

तत्त्वार्थवार्तिक ५२, २४४, २४७,
३४९, ३५०, ३८७

तत्त्वार्थसार ३७४

तत्त्वार्थसूत्र ९८, ११४, २४४, २७६,
२७८, ३०२, ३१२, ३३२,
४५१

तत्त्वोपप्लव २४३

तपागच्छ ११, १९, ४३६

तुम्बूलराचार्य २१५, २६३, २६४,
२७४, २७६, २७८, २८३

त्रिपिटक ४१८

त्रिभगीसार ४४२

त्रिभगीसारटीका ४६०, ४६१

त्रिलोकप्रज्ञप्ति तिलोपण्णत्ति ८, १४,
२०, १३१, १७२, २०३, २०६,
२०८, २२१, २२८, २४४

त्रिलोकसार २४७, ३८२, ३९२, ४७५,
४७७

त्रिवर्णाचार ४६३

त्रैलोक्यकीर्ति ४८४, ४८५

त्रैलोक्यदीपक ४८५

दण्डी कवि २७७

दर्शनविजय १०, १९

दर्शनसार ३८०

दशवैकालिक २४४

दसकरणीसग्रह ४०९

दसपूर्वी २१

दिगम्बर २, ४, १०, १३, १५-१८,
४३, ११३, १३१, १७०, २२०,
३०२, ३०८, ३१८, ३५५,
४८५

दृष्टिवाद १३, १६, १८, ६१, १५१,
३०३, ३०४, ३२०, ३५८

दिल्ली (भण्डार) ४६०, ४६१, ४७७,
४७९

दीघनिकाय ७७

द्वयगणि १९

देवद्विगणि १३, १८, १९, ३०३

देवसेन ३०८, ४१७, ४२०, ४२१

देवेन्द्रकीर्ति ४५८, ४७८

देवेन्द्रसूरि २९४, २९५, ३०३, ३०४,

३१५, ४३३, ४३४, ४३६

द्रमिलदेश ७, ४४, ४५

द्रव्य प्रमाणानुगम ४८

द्रव्यसंग्रह ३१७, ३६२, ४२५, ४२६

द्रव्यानुयोग ४८

द्वादशांग १, ४, ३१, ७८, १०१,

१९८

द्विसप्तानकाव्य टीका ४८५

घनेश्वर सूरि ४३३

घनञ्जय २४४, २४७

घन्यकुमार चरित्र ४५३

घरसेन ६-८, १३, १७, २०-२४,

४३-४५, ५०, ६३, १००, २८०

धर्मकथानुयोग ४

धर्मचन्द्रसूरि ४७२

धर्मकीर्ति वौ० ७८, २४५

धर्मप्रश्नोत्तर श्रावकाचार ४५३

धर्मभूषण भट्टारक ४६७

धर्मरत्नाकर ३७४, ३७५

धर्मसूरि १९

धर्मसंग्रह श्रावकाचार ४५१

धवला ७, १०, १७, २०, २१, २३,

४६-४८, ५०-५९, ६२, ७७,

७८, ८०, ८१, ८३, ९२, ९५,

९६, १००-१०२, १२४, १३०,

१३७, १३८, १४०, १४४,

१७२, १९५, २१५, २४३,

२४५, २४६, २६४, २६५,

२८०, २८४, २९१, ३२५,

३७३, ४४६

धवलाकार ५९, ७८, ८४, १००,

२७३, २८७, ३२७

ध्रुवराज २५५

नन्दिल १८, १९, २७

नन्दिवृत्ति १३

नन्दिसंघ २०, ४५६, ४७६

नन्दिसंघ पट्टावली २१, २२, ४३,

२७३, ३०३, ३०६

नन्दिसूत्र ९-२०, १३०, १३१, २००,

२४४, ३०३, ३१०

नन्दिसूत्र चूर्णि १३

नयचक्रवृत्ति २४३

नरसिंहाचार्य ४६४

नव्यकर्म ग्रन्थ ४३३

नागहस्ति ९-२०, २२-३०, ३४, ३५,

१७८, २००, २०१, ३०६

नागार्जुन १०, १३, १९

नाथारग गान्धी ३९७

नाममाला २४४

नियमसार २६४, २७३

नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य ३९४

नेमिचन्द्रटीकाकार ४७२-४७७, ४८०

नेमिचन्द्रसिद्धान्त चक्रवर्ती ५३, १७४,

२७६, २८९, ३८१ आदि, ३८८,

३९०, ३९२, ४०८, ४४२,

४६०, ४७७

नेमिचन्द्रसैद्धान्ति ४३७, ४४०-४४२

न्यायकुमुदचन्द्र ३८८

न्यायदीपिका २७६

४९२ • जैनसाहित्यका इतिहास

पट्टावली ९-११, १७, १९, २१, ४४,
३०३

पट्टावली समुच्चय २०

पट्टावली सारोद्धार ११

पञ्जिका २८५

पञ्चस्तूयान्वय २४१

पञ्चसग्रह (दि०) २४०, २९०, ३१७,
३२२-३२८, ३४६, ३४७, ३४९,
३५०, ३६२, ३७२, ३७६,
३९५, ४०५, ४०८, ४१०,
४११, ४२२, ४४७, ४५३

पञ्चस० प्रा०टी० ४४५

पञ्चस० वृत्ति ४५७, ४५९, ४७६,
४८०

पञ्चसग्रह (श्वे०) २८४, २८९,
३०९, ३११, ३१२, ३२२,
३४१, ३४९, ३१६, ३५३,
३५५, ३५६, ३५८ आदि ३६६

पञ्चस० स्वोपज्ञवृत्ति ३२२, ३२४,
३२८, ३५१, ३५३, ३६०

पञ्चस० (अमित०) ३४०, ३४७,
३५०, ३९५, ३९६

पञ्चसंग्रह (डड्ढा) ३७२ आदि

पञ्चवस्तुटीका ३८७

पञ्चास्तिकाय २४४, २६४, २७३,
४२५

पञ्चास्तिकाय टीका ३७८

पतञ्जलि भाष्यकार ३०, १८२

पद्मनन्दिमुनि २६४, २७३, ४४९

पद्मनन्दि भट्टा० ४५४-४५६, ४७८

पद्धति टीका २६३, २७४

पन्नालाल सोनी ४५०

परिकर्म २४४, २६३ आदि, २७३,
२८३

पवाइज्जमाण ९, १४, १५, १७,
२०१

परमानन्द पण्डित ३२६, ३२७, ३४३,
४००, ४२१, ४२२, ४२९,
४५२, ४५६, ४६३, ४७८,
४७९

परमानन्दसूरि ४३१

परमागमसार ४४४, ४६२, ४६८,
४७०

पाटलिपुत्र २

पृच्छासूत्र ३३-३५, १८५

पाण्डवपुराण ४५१,

पार्श्वनाथपुराण ४५१, ४७६

पार्श्वनाथवसदि २७७

पार्श्वाम्बुदय २४६, २९१

पुन्नाटसघ २४२, २४६

पुण्यविजयमुनि ३१८, ३५७

पुराणसार ४५३

पुरातनवाक्य सूची ४०२

पुष्पदन्त ७, १२, १७, २०, २१, २२,
२३, २४, ४३-५५, ५९-६१,
६३, ६४, ६८, ७८, ८४, १००,
१३१, १४०, १४४, १५२,
२३४, २७९, २८०, ४७७

पूज्यपाद देवनन्दि ३७३, ३८७

पूरणकाश्यप ७७, ४१८

पेज्जपाहुड ६, ८, ९, २५, ३५, १८८,
२११

प्रज्ञाश्रमण ४४

प्रज्ञापनासूत्र ११, १३४, १३९, १४९,
१५०, २८२, ३१८, ३५४ आदि

प्रथमानुयोग ४
 प्रभावक चरित्र १२
 प्रत्येकबुद्ध ३१
 प्रभाचन्द्र ३८८, ४२९
 प्रभाचन्द्र भ० ४७२, ४७६
 प्रमाणवार्तिक २४५
 प्रमेयकमलमार्तण्ड ३८८, ४२९
 प्रवचनसार २४४, २६४, २७३
 प्राचीनजैनलेखसंग्रह ४५७
 प्रेमी नाथराम २०४, ३८८, ३९३,
 ३९५, ४२१, ४५१, ४५३-
 ४५५, ४७४-४७६, ४८४
 फिरोजशाह तुगलक ४८५
 फूलचन्द्र सिद्धांतशास्त्री ३४५
 वधेरवाल ४६२
 वडोदा २५४, २५५
 वन्धविभगी ४४१
 वन्धस्वामित्व ३२४, ४३४
 वन्धस्वामित्व टीका ३२४
 वन्धस्वामित्व विचय ५८, ६० ६२,
 ६३, ९५, ९८, ९९
 वालचन्द्रमुनि ४४४, ४४५,
 वालचन्द्र पंडितदेव ४६७, ४६८
 बाहुवलि चरित ३९४, ३९५
 बृहत्कर्म चूर्णिका २९४
 बृहत्कर्म प्रकृति २९४, २९५, ३०५
 बृहद्विष्णुपणिका २१, ४३
 बृहद्द्रव्य संग्रह ३७४, ३९४
 बृहत् संग्रहणी ३६३
 बुद्धघोष ७७
 ब्रह्मदेव सूरि ३७४
 भगवतीसूत्र ३५, ६८, १४९
 भण्डारकर ५

भद्रगुप्त १९
 भद्रवाहुश्रुतकेवली २, ४, ६, १७, १८
 भावविभगी ४४२, ४४३
 भावसंग्रह प्रा० ४१७, ४२०, आदि
 ४२५, ४२७ आदि, ४८२, ४८३
 भावसंग्रह (मं०) ४२९, ४८२, ४८३
 भाष्यगाथा ३६
 भास्करनन्दि ३७४, ४५१
 भुजवलिगतता ३९५
 भुवनकीर्ति ४५४-४५७
 भूतदिन १९
 भूतवली ६, ७, १३, १७, २०-२४,
 ४३-४६, ४८-५१, ५३-५५,
 ५९-६४, ६८, ७८, ८४, १००,
 १३१, १४०, १४४, १५२,
 २३४, २७९, २८०, ४७७
 मत्र शास्त्र २१
 मथुरा २
 मन्दप्रबोधिकाटीका ३९२, ४६४-४७०
 मलयगिरि १०-१२, २०, २९३,
 ३०३, ३०७, ३०९, ३११,
 ३१५, ३१६, ३१८, ३१९,
 ३२५, ३४१, ३५१-३५३ ३६०,
 ३६६, ३६८, ३६९, ४३३
 मल्लिनाथ पुराण ४५३
 मल्लिभूपाल ४७२-४७४
 मल्लिभूपण ४५४, ४५८, ४७३, ४७६,
 ४८०
 महाकर्मप्रकृति प्राभूत ७, १६, १७,
 २३, ४४, ५०, ५१, ५४-६४,
 ६८, ९४, १००, १४९, १९९,
 २१६, २३४, २८०, २८४,
 २८६, ३८५ ४६६

४९४ . जैनसाहित्यका इतिहास

महाखवण ९

महागिरि १८, १९

महापुराण २४२, २५१

महाबन्ध ५१, ५४, ५६-६१, १३१,
१४४, १५२ आदि १९५, २३४-
२३६, २६४, २७९, २८४,
२८६, ३८५, ३८६

महावाचक ९, १५, १६, १८, २३,
२४०

महावीर भ० १, २, ५, ११, १९,
३५, ६१, ७८, ७९, २२२,
२२७, ४१९, ४४६

महिमा नगरी ६, ४५

महीचन्द्र ४५९

महेन्द्र कुमार न्या० ३८८, ४२९

माघकवि ३८७

माघनन्दि २१, २३,

माघवचन्द्र त्रैविद्य २४७, ३९३, ४१६,
४४१, ४७०

मान्यखेट २५५

माथुरीवाचना १३

माथुर सघ ३८०

मीमांसा श्लोक वार्तिक २४५

मुञ्जराज ३८०

मुनिचन्द्र सूरि ४३३

मूडविद्री २१८, २८४, ४०१, ४०३,
४६१

मूलगाथा ३३

मूलाचार १३१, २४४

मूलाचार प्रदीप ४५३

मूलाराधना दर्पण २०५, ३२६, ३४७

मेधावि पण्डित ४५१

मेरुतुग ११, १९

मोहेञ्जोदडो ७०

यतिवृषभ ८, ९, १४, १६, १७, २०,
२२, २४, २५, २९, ३३, ३५,
१४९, १७० आदि, १७८, १८१,
१८५, १९० आदि, २०१, २०५,
२०६, २१०, २४४, २५०,
२८३, २८९, ३०४, ३०५,
३०८, ३०९, ४१५, ४७७

यशस्तिलक ४२७, ४७७

यशोधर चरित्र ४५३

यशोभद्र सूरि ४३३

यशोविजय २९३, ३०३, ३०७, ३०९,
४३७

युधिष्ठिर मीमांसक ३८८

योग दर्शन ७६

योगिनीपुर ४८५

योग वाशिष्ठ ७६

रतनलाल प० ४२८

रत्नकरण्ड ४८४

रन्न कवि ३९४

रवि नन्दि २६४, २७९

राजगृही १

राम पुराण ४६३

राय मल्ल गग ३९१, ३९३, ३९५

राष्ट्रकूट २५५

रेवती नक्षत्र १०

रेवती मित्र १९

लक्ष्मीचन्द्र भ० ४५३-४५५, ४५८,
४५९, ४७३, ४७६, ४७८,
४८०, ४८४

लघीयस्त्रय ३५१, ३७३

लघु समन्तभद्र २७८

लब्धिसार १७४, ३९२, ४१२, ४१३

लालावर्णी ४७२

लोहाचार्य २०, २२, ४४६
लोहित्य १९
वज्रसेन १९
वज्रस्वामी १२, १९
वटपद्रक २५५
वट्टकेराचार्य २४४
वनवास देश ७, ४४, ४५
वप्पदेव २१५, २३४, २६३, २६४,
२७९, २८०, २८२ ३८०
वद्धदेव २७७
वर्धमानपुराण ४५३
वर्णाखण्ड ५१, ५२, ५५, ५७, ५८,
६०-६२, १३१, १४४, १४६,
१४९, १५३, १९५, २३०,
२४४, २८६, २९६
वलभी १३, ४१८
वलिस्सह १८, १९
वसुनन्दि श्रावकाचार ४२५, ४२६,
४२७
वाचक १०, २३
वाचकवश १०-१२, १६, १८
वाटकग्राम २४५, २५४
वामदेव ४२९, ४८२, ४८४, ४८५
वागरणसुत्त ३३, ३४, १८५
वादिचन्द्र ४५९, ४७६
वादिभूषण ४५६
वासुदेवशरण अग्रवाल १८२, ३८५
विंटरनिट्स ३, ४, ५, ३०
विक्रमाक शक ४७५
विचारश्रेणि ११, १९
विजयकीर्ति ४५५-४५७, ४७३
विजयोदया टीका २४३, ४४६

विद्यानन्द २७५, ४७७
विद्यानन्दि भ० ४५८, ४७४, ४७६,
४७८, ४८०
विनयचन्द्र ४८४, ४८५
विन्ध्यागिरि ३९१, ४४५
विपुलाचल १
विबुध श्रीधर ४४, ५१, २६४
विभाषा १८१
विमलसेन गणि ४२०, ४२१
विशालकीर्ति ४७२, ४७४
विशेषणवती ३२०, ३२५
विशेषावश्यकभाष्य १२, १८१, १९५,
२३२, ३१०, ३११, ३१७,
३२५, ३६१, ३६५
विस्तरसत्त्वत्रिभगी ३८४, ३८५, ४०८,
वीरचन्द्र ४५३-४५९, ४७३, ४७६,
४७८, ४८०
वीरनन्दि ३८२, ३८३, ३८५, ३८८
वीरनिर्वाण ५, ८, ११, १४, २०,
२१, २२, ४३, ४७४, ४७५
वीरसेन ७, ८, १०, १७, २१-२४, २८,
२९, ३१, ३५, ४६, ४८, ४९,
५०, ५३, ५६, ५७, ५८, ६२,
६३, ६७, ६८, ७७, ८४, १००,
१२४, १३७, १४०, १४४,
१५२, १५३, १७३, २०५,
२१५, २२२, २२५ आदि, २४१,
आदि, २५०, २६१, २६२,
२६४, २७९, २८०, २८३,
२९०, ३२७, ३४७, ३७३,
३८६
वृत्तिगाथा ३०
वृत्तिसूत्र १७०, १७९

४९६ · जैनसाहित्यका इतिहास

वृषभचरित्र ४५३

वेदनाखण्ड ५१, ५२, ५४, ५८, ५९—
६४, १००, १०४, १२८, १३१,
१४६, १५२, १५३, १९५,
२३०, २४४, २८६, २९५,
३०२, ३२२, ३९९, ४६६

वेवर डा० २०

व्याख्यानाचार्य २६२

व्याख्याप्रज्ञप्ति २१५, २३४, २६३,
२६४, २७९, २८०, आदि,
३८६

शतक, वन्धशतक २९६, ३०३, ३११,
३१२, ३१८, ३२०, ३२२,
३३८-३४१, ३४५, ३६७, ३६९

शतकचूर्णि २०९, २९३, २९४, ३०४,
३१०, ३१५, ३४०, ३४८,
३४९, ३५७, ३५९, ३६३,
३६६, ३६९

शतकटीका ३१६

शतक बृहच्चूर्णि ३१६, ३६६, ३६८

शतक नव्य ४३५

गब्दानुशासन २७६

शब्दाम्भोज भास्कर ३८८

शान्तिराज शास्त्री ४५१

शाङ्खिल्य १९

शामशास्त्री ३९४

शामकुण्ड २१५, २६३, २६४, २७४,
२७८

शालिवाहन शक ४७५

शिवशर्मसूरि १६, ३०३, ३०४, ३६८

शिवार्य २४४, ३८१

शिशुपालवध ३८७

शीलाक ३६५, ४११

शुभचन्द्र ४५१, ४५५, ४५६, ४५९,
४७८

शुभनन्दि २६४, २७९

श्रवणवेलगोला २७७, ४४५, ४६७—
४६९

श्रीकण्ठ शास्त्री ३९४

श्रीगुप्त १४

श्रीपालचरित ४५३

श्रीपालाख्यान ४७६

श्रुतकीर्ति ३८७

श्रुतकेवली २१, ३१

श्रुतमुनि ४४२-४४५, ४६०-४६२,
४६८-४७०

श्रुतावतार ७-९, १७, २१, २३, २४,
३३, ३४, ४४, ४५, ५०, ५२,
५९, १५२, २१५, २३४, २६२,
२६३, २७७, २७९, २८०

श्वेताम्बर २, ४, ५, ९, १०, १३—
२०, २२, ६८, ९९, १०४ ११३,
१५०, १७०, १८५, २२०,
२३०, २३२, २८२, २८९,
२९३, २९४, ३०२, ३०४,
३०८, ३१०, ४१८, ४३४,
४४७

षट्करण स्वरूप २०८

षडशीति ४३२, ४३३

षट्खण्डागम ७, १०, १३, १७, २२,
२४, २५, ४३-४५ ४९, ५०,
५२-५९, ६४, ७८, ७९, ९५,
९८, ९९, ११३, १३१, १४५
आदि, १७२ १९५, १९९, २१५,
२३४, २५०, २६३, २६४,
२७३, २७४, २७६, २८०,
२९५, २९६, ३०२, ३२२,
३५०, ३८६, ३९९, ४०८

सकलकीर्ति ४५२, ४५५, ४५६, ४५८
 सकलभूषण ४५५, ४५९, ४६०, ४७८
 सत्कर्मपञ्जिका ५७, ५८, ६१, २८४
 सत्कर्मप्राभूत-सतकसापाहुड ५३-५९,
 १९७, २४४, २७९, २८०,
 २८६
 सत्परूपणासूत्र ७, २३, ४५-४७ ५०,
 ५४, ५९, ७८, १४०, २२२
 सत्त्व त्रिभगी ४४१
 सद्भाषितावली ४५३
 सन्मति सूत्र २४४, ४११
 सप्ततिका भाष्य ३७०
 सप्ततिका-सित्तरी २८४, ३१८-३२०
 ३२१-३२५, ३४१, ३४५,
 ३५२, ३५३, ३६६
 सभास गाहा-सभाष्यगाथा ३२, ३३
 समवायाग १३, २२९
 समयसार २४४, २६४, ३१०
 समुद्र १८, १९
 समन्तभद्र २१५, २६३, २७८, ४७७
 सम्यग्ज्ञान चन्द्रिका ४६३, ४७०
 सवार्थ सिद्धि ३७३
 सागार धर्माभूत ४२६-४२८, ४८४
 सार चतुर्विंशतिका ४५३
 सार सग्रह २४४
 सार्धशतक ४३३
 साह सहेस ४७२
 साह सागा ४७२
 साख्यकारिका २४५
 सित्तरी चूर्णि १७, २०९, २९३,
 ३१९, ३२१, ३२४, ३२५
 ३६६, ३६८, ३७०
 सिद्धसेन २४४

सिद्धसेन गणि ३६३, ३६५, ३६६
 सिद्धपि ३६१, ४३२
 सिद्धान्तसार ४५०, ४५१, ४७४
 सिद्धान्तसार भाष्य ४५३, ४५४, ४५८
 ४७३, ४७६, ४७८
 सिद्धान्तसार दीपक ४५३
 सिद्धि विनिश्चय २४४
 सिद्धिभू पद्धति २५०
 सिंह गणि २४३
 सिंह गिरि १९
 सिंह सूर ३६५
 सुकुमाल चरित्र ४५३
 सुखलाल पद्धति ३६५
 सुख बोधिनी ३७४, ४५१
 सुत्तफास १८५
 सुत्तगाहा ३०-३३, ३६
 सुदर्शन चरित्र ४५३
 सुधर्मा ५, ११, १८
 सुप्रबुद्ध १९
 सुभाषित रत्न सन्दोह ३८०
 सुमतिकीर्ति ४४०, ४५३-४५५,
 ४५७, ४५९, ४६०, ४७६ आदि
 सुलोचना चरित्र ४२१, ४२२
 सुस्थित १९
 सुहृस्ती १८, १९
 सूचनासूत्र ३४
 सूत्र ३०, ३१
 सूत्रकृताग ४११
 सूरत ४५७ आदि,
 सोमदेव पं० ४३२
 सोमसेन भ० ४६३
 सोमदेव उपासकाध्ययन ४२७
 सोमदेव ४७७

४९८ : जैनसाहित्यका इतिहास

सौन्दरानन्द २४५

सौराष्ट्र ६

संभूतिविजय १८

संस्कृतकर्मग्रन्थ ४३६

संस्कृत व्याकरणका इतिहास ३८८

स्कन्दिलाचार्य १९

स्थविरावली ९, १३, १७, १८

स्थानाग २४४

स्थूलभद्र १८, १९

स्वाति ११, १८, १९

हरिभद्र १३, २४३

„ (देवसूरिशिष्य) ३२४, ४३२,
४३३

हरिवंशपुराण २४६, २४७, २९१

हरिषेण कथाकोश-२०५

हार्नले ७७

हिमवन्त १३, १९

हीरालाल प्रो० ५४, ५९, २४६,
२४८, २७६

हीरालाल सि० शा० २०९, ३०४,
३०९, ३७२

हुमच ४७४

हेमचन्द्र ब्रह्म १५२

हेमचन्द्र मलधारी १९५, २९४, २९५,
३१५, ३१६, ३६६, ३६७

राष्ट्रीय श्रुति-दर्शन केन्द्र
जयपुर



भारतीय श्रुति-दर्शन केन्द्र
जयपुर

